॥ श्रीपरमात्मनेनमः ॥

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा

जिसमें—

निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की सम्पूर्ण कथायें सरल और सुन्दर भाषा में सम्पादित की गई हैं।

सम्पादक—
महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, नारी धर्म-विधान, और अनेक पौराणिक उपाख्यानो के
सिद्धहस्त लेखक—
प० रामलग्न पाण्डेय 'विशारद'

प्रकाशक—
लाला श्यामलाल, हीरालाल
प्रोप्राइटर, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा।

सन् १९३८

प्रकाशक—

लाला श्यामलाल हीरालाल,

प्रोप्राइटर, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा।

मुद्रक—

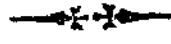
गिरिजाशंकर,

राम प्रेस, गोलादीनानाथ, बनारस सिटी।

श्रीपरमात्मने नमः ।

श्री योगवाशिष्ठ-भापा की विपयानुक्रमणिका ।

निर्वाण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध प्रकरण



❋ समाप्त ❋

हर प्रकार का पुस्तक मिलने का पता—

लाला श्यामलाल हीरालाल,

प्रोप्राइटर, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ

योगवाशिष्ठ-भाषा

निर्वाण-प्रकरण ।

पहला सर्ग ।

दिवस-रात्रि-व्यापार-वर्णन ।

वाल्मीकिजी ने कहा,—हे भरद्वाज ! अब तुम निर्वाण प्रकरण सुनो। इसको सुनकर तुम निर्वाणपद को प्राप्त होवोगे। इसमे मुनिवर वशिष्ठजीने रामजी को ऐसा उपदेश किया है कि उसे सुनकर राजा रामचन्द्र और अन्य श्रोतागण निस्पन्द हो चित्रितसे रह गये थे। उस समयउन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो जगत् कुछ हैही नही। वे तेज रहित और शीतल होगये। सभाके लोग और पक्षी तथा देवगण इत्यादिक वहाँ जितने प्राणी एकत्रित थे, सब प्रसन्न और शान्त होगये। तदनन्तर अनेक प्रकार के मङ्गलवाद्य बजने लगे कि जिसको सुनकर सब लोग प्रसन्न होगये और उपदेश-कर्ता मुनिवर वशिष्ठजी भी मौन होगये। कुछ क्षण के पश्चात् जब बाजो का बजना बन्द हुआ तब वशिष्ठजी ने रामजी से कहा,—हे रामजी ! तुमको आत्मपद मे स्थित होने ही के लिये मैंने यह वाक्य-जाल की रचना रची है, अत. इसे सुनकर अब तुम आत्मपद मे स्थित होजावो। यदि तुम मेरे इन वचनो पर अहर्निश चिन्तन और मनन करोगे तो निश्चय ही संसार-सागर का पार करके परमपद के भागी बनोगे। अन्यथा जो प्राणी इसपर आचरण न करेंगे वह संसाररूपी गढ़े मे गिरकर अनेक कष्ट

को प्राप्त होवेंगे। पर यदि तुम इसको ग्रहण कर सङ्गरहित हो व्यवहारानुकूल विचरण करोगे तो तुम्हे आत्मसिद्धि प्राप्त होते देर न लगेगी। शास्त्र बतलाता है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनारहित हो जावे तो ऐसे अभ्याससे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस कारण हे राम, लक्ष्मण, और नृपतिजन ! आप लोग मेरे उपदेश पर वारम्वार विचार करो। यही मेरा अन्तिम कथन है। अब जो कुछ कहना है, कल कहूँगा।

यह कहकर विश्वामित्र सहित मुनिवर वशिष्ठजी उठ खडे हुये। उनके खडे होतेही सारी सभा भी उठ खडी हुई। तदुपरान्त विश्वामित्र को साथ ले वशिष्ठजी अपने आश्रम को चले और श्रोतागण भी अपने-अपने मण्डलों को प्रस्थानित हुये। राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न जी वशिष्ठजी को आश्रम तक पहुँचाने गये। वहाँ से पुन राजसदन को लौट अपने नित्यनैमित्तिक कर्मों को समाप्त कर भोजनोपरान्त रात्रि समय एकान्त आसन पर विराजमान हो वशिष्ठजी के उपदेशों पर विचार करने लगे। इसी प्रकार अन्य श्रोतागण भी अपने-अपने धामों में वशिष्ठजी के उपदेशों पर विचार किये। राम आदिक राजकुमार तो रात्रि के तृतीय प्रहर तक विचार करते ही रहे और चौथे प्रहर मे विश्राम किये।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग।

विश्राम दृढीकरण वर्णन।

प्रात:काल होने पर राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्नादिक सध्यावन्दन कर वशिष्ठजी के आश्रम पर गये। उस समय वशिष्ठजी सध्यादि करके हवन कर रहे थे। आश्रम जनसमूह से शून्य था। पर रामजी के पहुँच जाने पर सहस्रों प्राणी एकत्रित हुये। तदुपरान्त हवन करके वशिष्ठजी उठे और रत्नादिक को लेकर राजा दशरथ के द्वार पर पहुँचे।

राजा दशरथ पहले ही से मुनि वशिष्ठ के स्वागतार्थ खड़े थे। इससे वशिष्ठजी के पहुँचने पर आदर-पूजन के साथ मुनि को सभा भवन मे ले जाकर व्यासासन पर बिठाये। तत्पश्चात् अनेक श्रोताजन आगे आकर यथा स्थान विराजमान हुये। तब रामजी की ओर देखकर वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी! कल मै जो उपदेश कर गया था क्या आज तुमको उसका स्मरण है? वे उपदेश बड़े गम्भीर और आनन्द देनेवाले परमार्थके रूप है। उनको तुम सदैव स्मरण रखो। अब आगे मै आत्म-सिद्धान्त शास्त्र का वर्णन करता हूँ तुम ध्यान देकर मेरे इन अज्ञानरूपी शत्रुओ के नाशकर्ता इन्दुप्रभा वचनो को सुनो। इस वैराग्य और तत्व के विचार मात्र से ससारसागर को पार कर जाओगे। यह उपदेश सम्यक तत्व से पूर्ण है। इसको मनन करने से दुर्बोधता का नाश हो वासनाओं का क्षय हो जायगा और तुम दुःख रहित पद को प्राप्त करोगे। वह पद ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत रूप होकर स्थित हुआ है, केवल भ्रमवश द्वैत के समान भासित होता है। अन्यथा वह सब भावों से परे अविछिन्न सर्व ब्रह्म है। ऐसे महत् स्वरूप को जानकर तुम शान्तिमान होवोगे। चित्त, अविद्या, मन और जीव आदिक कुछ नही हैं। ब्रह्म से ही यह कलनायें मात्र स्फुरित हुई है। इससे आकाश, पाताल और पृथ्वी मे शिव से तृण तक जो भी दृश्य हैं, सब उस ब्रह्म चिद्रूप से ही है। मित्र और बन्धुजन इत्यादिक सब ब्रह्म ही हैं। जगत मे बुद्धि की स्थिरता अज्ञान कलना से है और जब तक शरीर मे अहंभाव एव आत्मरहित दृश्यों मे मोह है तब तक चित्त आदिक कलना और भ्रम होता रहेगा। यह मूर्खता विना सतसङ्ग और विना सत्शास्त्र के क्षीण नहीं होने की और मूर्खता के क्षीण हुये विना चित्त आदि के भ्रम दूर न होगे और उच्च पद भी नहीं प्राप्त होगा। जब तक शरीराभिमान शिथिल न हो जाये और सम्यक् ज्ञानसे जब तक स्थिरता न प्राप्त हो जाये तब तक ससार की भावनायें नही मिटती हैं। चित्तादि की भावनायें और विषयो

की आशा ने ही प्राणियों को अज्ञान से अन्धा और मोहसे मूर्छित कर दिया है। हे रामजी! इस मोह वनको जब तक विचाररूपी चकोर नही प्राप्त होता तब तक भोग वासनायें नहीं शान्त होतीं। यदि यह शांत ही रहे तो प्राणी इतने दु खी न हों। हे रामजी! जो पुरुप अपने स्वरूप मे स्थित हैं, वे अपने को शरीर से दूर देखते हैं और उनके लिए सारा ससार ब्रह्ममय ही दिखलाई पडता है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुषो मे जीव आदि का भ्रम नही रहता। क्योंकि वे अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर चुके हैं और उनका चित्त नष्ट हो गया है। ऐसे महात्मा और समदर्शी पुरुषों को सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है। उनको वासनायें नही दिखलातीं। उनका मन चैतन्य है और उनका चित्त सत्य पदको प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानी को जगत लीलामात्र भाषित होता है। उसको सदैव आत्मा की ही ज्योति का दर्शन होता है और वह सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहता है। वह सब कर्मों मे लगा भी रहता है पर मोह को नहीं प्राप्त होता। क्योंकि उसकी सब वासनायें जल गई है और सारी आशक्तियो का नाश हो गया है। ऐसे पुरुप जन्म मरण के चक्कर मे नहीं पडते। वह ब्रह्म और जगत को दो नहीं समझते। हे रामजी! तुम भी ऐसे ही ब्रह्म हो। इसलिये तुम अपने स्वरूप को स्मरण करो तब शान्ति पावोगे। तुममे वासना का स्मरण कैसे हो सकता है, तुम तो महाघन रूप हो। तुम जो हो, वही हो। तुममे और उसमे कुछ अन्तर नहीं है। जिसके अन्तर सारे पदार्थ हैं। जिसमे मै तुम और अन्य की कलना है और जो सत् असत रूप होकर भासता है, तुम वही हो। ऐसे सत्यस्वरूप, चिद्घन आत्मा को मेरा नमस्कार है। हे रामजी! तुम वही हो, इसलिये तुम्हारी जय हो। तुम्हारा कोई आदि अन्त नहीं, तुम विशाल हो और तुम्हारा स्वरूप अगाध के समान निर्मल है। अतएव तुम अपने घनस्वरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग ।

ब्रह्मैक प्रतिपादन



वशिष्ठजी बोले,-हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप चिदात्म है, उस चेतन रूपी स्वरूप मे जगतरूपी लहरें उठती और लीन होती रहती हैं। इससे तुम्हारा जो स्वरूप है वही रूप जगत का भी है। उसमे वासना आदिक आवरण नही है। जीवादि की अन्यान्य वासनायें केवल आत्म-किंचन मात्र हैं अन्य कुछ वस्तु नही। तब इनका प्रसङ्ग ही क्या है ? हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त सरल गम्भीर और प्रकाशरूप है। उस समुद्र मे रामरूप तुम एक तरङ्ग हो। ऐसा आत्मतत्व ही जगतरूपी व्यापारी जान पडता है। किन्तु वह ब्रह्म है और नित्यरूप है। उस अनुभव से अहं भिन्न नहीं और अहं से जीव भिन्न नही। जीवसे मन भिन्न नहीं। मनसे इन्द्रियॉ भिन्न नहीं। इन्द्रियों से शरीर भिन्न नही और शरीर से जगत भिन्न नही है। ऐसे महाचक्र मे न कोई न्यून है न अधिक है, केवल अखण्डसत्ता जो परम तत्व है और जिसे ब्रह्मसत्ता भी कह सकते हैं वही अपने आपमे स्थित है। उसमे द्वैत कल्पना कुछ नहीं, केवल वही सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण भाव से अटल स्थित है। जो महान् पुरुष अपने ऐसे स्वरूप मे स्थित हैं वे जीवन्मुक्त है। ऐसे पुरुष को मन और इन्द्रियॉ विचलित नहीं कर सकतीं। ऐसे ज्ञानी को ग्रहण और त्याग कुछ नहीं है, वह सबसे परे है। ग्रहण और त्याग की बुद्धि तो दुःख प्रदान करती है। हे रामजी ! जगत की वस्तुओ मे आत्मतत्व के अतिरिक्त और कुछ नही है। आत्मा से नाना प्रकार की उपाधियों को पाकर ही यह जगत रूप भासता है। इसलिए जगत का ऐसा स्वरूप जानकर तुम उसीमे स्थित हो अपने वर्णाश्रमीय धर्मो का पालन करते हुए पाषाणवत भय हर्ष और शोकसे रहित होवो। ऐसे सम्यक् ज्ञानसे अज्ञान और मोह नष्ट हो जाते हैं। आत्मज्ञान अज्ञान

को काट डालता है। हर्ष, शोक आदिक राग-द्वेष के विकार तो चित्त तक ही है। पर ज्ञानी के पास तो चित्त रहता ही नहीं। ज्ञानी तो सोते हुए भी जागता रहता है। इसमे अनात्मा मे अहं भाव की नष्टता से वह कहीं बन्ध्यायमान नहीं होता। कारण कि ज्ञान से उसकी सारी वासनायें नष्ट हो गयी हैं और चित्त अचित्त हो गया है। ऐसे पुरुष ही जीवन्मुक्त हैं और उनको सुख दुःख में ग्रहण त्याग कुछ नहीं है और सदैव आत्मा मे ही स्थित हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग।

चित्त भावाभाव वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! जगत का कारण तभी तक है जबतक चित्त अज्ञान है। जब अज्ञान का नाश होता है तब मन, बुद्धि, चित्त, अहकार और इन्द्रियादिको का नितात अभाव हो जाता है। पर अज्ञान बिना वेदान्तशास्त्र एवं आत्मविद्या के अभ्यास के वह दूर नहीं होता और अज्ञानका कारण है तृष्णा। जब तक तृष्णा उपशम न हो, तब तक अज्ञान नहीं मिट सकता। जिसको तृष्णा मिटाने की इच्छा हो वह अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करे। इससे यह तृष्णारूपी विषूचिका रोग अवश्य शांत हो जाता है। जब आत्मचिन्तन और अभ्यास से मन शात हो जायगा, जब विचार से मूर्खता नष्ट हो जायगी जब चित्त अचित्तभाव को प्राप्त होगा तब वासनाओं का भ्रम वैसेही छिन्न-भिन्न होजायगा, जैसे तागेमे मोतीकी पिरोई हुई लड़ियाँ टूटने पर वे भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार अज्ञान के नष्ट होने पर मान आदिक नष्ट हो जायँगे। जो पुरुष ऐसे उत्तम अध्यात्मशास्त्र को ग्रहण नहीं करते वे पापी कीटादिक नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। हे कमलनेत्र रामजी! तुम मे जो अज्ञान और चञ्चलता थी वह अब नष्ट हो गई है और अब तुम आकाश के समान निर्मल और स्थिर पदको

प्राप्त हुये हो। अब मुझे विश्वास है कि तुम मेरी वाणी के द्वारा अज्ञान रूपी निद्रासे जागकर बोधवान होगये हो। क्यों न हो जब साधारण जीव भी हमारी वाणी से जाग जाते हे तब उदार बुद्धि तुम पर इसका प्रभाव क्यों न होगा? एक बात यह भी है कि जब गुरु दृढ होता है तब शिष्य शुद्धपात्र हो जाता है। क्योंकि गुरुके वचन उसके हृदय मे प्रवेश कर जाते हैं। मैं समर्थ गुरू हूँ, मुझे अपने स्वरूप का सदा प्रत्यक्ष ज्ञान है। फिर मैने जो वचन कहा है वह शास्त्र के अनुसार कहा है, तुम्हारा हृदय भी शुद्ध है, इससे मेरी वाणी को उसमे स्थान मिल गया। अब तुम चिन्ता से रहित होकर अपने प्राकृतिक आचार को करो।

यह कह कर वाल्मीकिजी बोले कि, जब वशिष्ठ ने ऐसा कहा—तब सूर्य अस्त होने लगे। तब सभा के लोग परस्पर नमस्कार कर अपने २ स्थानों को गये और दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होते ही यथास्थान आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पाँचवाँ सर्ग।

राघव विश्रन्ति वर्णन

इस प्रकार महाज्ञानी गुरुवर वशिष्ठजी सहित सभामंडली के यथास्थान विराजमान होनेपर रामजीने वशिष्ठजी से कहा,—हे मुनीश्वर! आपके अमृतमय उपदेशों को सुनकर मैं तृप्त नहीं होता हूँ। साथही संसार जाल मे रहित हुये अब मुझे शांति मालूम होती है। अब मुझको चारो ओर से आत्मा का ही दर्शन होता है। अब मुझे नानात्वकी कोई भावना नहीं है। आप द्वारा प्राप्त सम्यक्ज्ञान से अब मुझको शुद्ध आत्मा का दर्शन हो रहा है और मेरा मोह नष्ट हो गया है। अब तक रागद्वेष रूपी धूलि जो मेरे हृदय मे उड रही थी वह आप द्वारा दिये गये ज्ञानरूपी वर्षासे शान्त हो गई है। इससे

अब मैं आदि अन्त से रहित अमृत तुल्य आत्मानन्द को प्राप्त हुआ हूँ। यही नहीं उसके आगे अमृत का स्वाद भी तुच्छ सा जान पडता है। अब मुझे ज्ञात हो रहा है कि मैं 'राम' सब में रमने-वाला हूँ। मेरा मुझे नमस्कार है। अब रागद्वेष से रहित होकर मैं अपने हृदय कमलमे स्थित हूँ। जिस प्रकार चक्कर लगाता हुआ भ्रमर कमल मे प्रवेश कर स्थिर हो जाता है उसी प्रकार मैं आत्मारूपी सार मे स्थित हूँ और अपने पूर्व प्रकृति को देखकर अब मुझे हँसी आती है इत्यादि। हे मुनीश्वर! आप के उपदेश-सागर में स्नान कर अब शोक रहित, परम शुद्ध, सम, शील और अद्वैत भाव और अनुभव को प्राप्त हुआ हूँ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठवाँ सर्ग।

अज्ञान महातप वर्णन



रामजी का वचन सुनकर वशिष्ठजी बोले,—हे महाबाहो! निश्चय ही अब तुम आत्मपद को प्राप्त हुए हो। पर अब बोधवृद्धि के लिये मेरे ऐसे उपदेश को पुन: श्रवण करो कि जिसको सुनकर अल्पबुद्धि वाला भी आनन्द को प्राप्त होगा। हे रामजी! जिसको अनात्मा मे अभिमान है और आत्मज्ञान नहीं है उसको इन्द्रियरूपी शत्रु दु:ख देते रहते हैं। पर जिनको आत्मा का साक्षात्कार हो गया है उनको इन्द्रियाँ दु:ख नहीं देतीं बल्कि उनका मित्र हो जाती हैं। किन्तु जो विषयों का सेवन करते हैं उनको तो महान दु:ख प्राप्त होता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कैसा? इन दोनों मे तो तम और प्रकाश जैसा अन्तर है। आत्मा विकार रहित, नित्य मुक्त, निर्लेप और उदय अस्त से भी रहित है। तब उस प्रकाशरूप भगवान्

आत्मा का सम्बन्ध शरीरसे केसे हो सकता है? शरीर तो जड़, अज्ञान-रूप, असत्य और नाशवान् है। पर आत्मा चेतन, ज्ञान, सत और प्रकाश रूप है। फिर शरीर के साथ उसका क्या संयोग? संयोग तो अज्ञानवश जान पड़ता है। मेरे ये वाक्य अटल हैं। यदि इन वाक्यो पर वारम्वार अभ्यास करोगे तो संसार का मोह छूट जायगा और संसार का मोह छूट जाने पर तुम्हे आत्माकी सद्भावना होगी। पर जब तक अज्ञानरूपी निद्रा से न जागोगे तव तकआवरण न हटेगा। इसको हटाने के लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है और उस अभ्यास मे भी आवरण वार-वार आकर घेरता हं, पर दृढ़ता पूर्वक करते रहने से एक दिन उसका समूल नाश अवश्य होगा। इसलिये अज्ञान और मोहनाश के लिये दृढ अभ्यास करो। हे रामजी! जब तक शरीरके गुणोंका समूल नाश न होगा, तवतक आत्मदेव कभी प्रसन्न नही हो सकते। क्योकि शरीर के गुणों पर प्रसन्न होना उनका स्वभाव नहीं। यदि वह ऐसा करें तो वह भी जड़ शरीर के ही समान हो जायॅ। इसी प्रकार यदि यह शरीर आत्मा के गुणो को ग्रहण करे तो यह भी चेतन हो जाने पर इस जड को कुछ ज्ञान नही। अतएव शरीर और आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। फिर उससे सम्बन्ध करके व्यर्थ के लिये दु:ख मे क्यों पड़ते हो? आत्मा चेतन है और शरीर जड है। फिर आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कैसा? और जब सम्बन्ध नही तब संयोग किससे? हे रामजी! सूक्ष्म और स्थूल, दिन और रात्रि, ज्ञान और अज्ञान का सयोग नहीं होता। ऐसे ही आत्मा और शरीर का भी सयोग नहीं हाता है। शरीर के सुख दु:ख से आत्मा सुखी और दुखी नहीं हो सकता। उसमे विकार कोई नहो। वह सर्वदा निर्लेप है। यदि उसका ज्ञान हो जाये तो शरीर भी भ्रम मे न पडे। तब उसे सत्यासत्यका ठीक २ ज्ञान होजायगा है। जिस प्रकार दीपक हाथमे रहनेसे सत् और असत् पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ज्ञान रहने से सत्यासत्य की यथार्थता प्रगट होती हे।

पर अज्ञान से मोह और भ्रम होता है और उसमें पडकर अज्ञानी जीव कदापि स्वस्थता नही प्राप्त करता। ऐसे अज्ञानी प्राणी नटके समान अनेक रूप धारण किया करते हैं। उनकी गति कठपुतली के समान है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को अपनी चेष्टा से ग्रहण करते रहते रहते हैं। पर जड़ वस्तुओंकी चेष्टा के समान ही उनकी चेष्टायें होती हैं। क्योंकि उनके वचन आदि को चेष्टाये अनर्थ और दुःख के लिए हैं उनसे कोई कल्याण और सुख की आशा नहीं। इसीमे अज्ञानी जीव का साथ कभी सुखदायी नहीं हो सकता। उनको दान देना व्यर्थ है, उनके साथ बोलना ऐसाही है जैसे यज्ञ में श्वान को बुलाना निष्फल है। अज्ञानी जीव शरीर की आस्था करके संसारमें जन्मते मरते और पुत्र स्त्री बन्धु-बान्धव से मोह बुद्धि करते हैं जिससे वे सर्वदा दुःख पाते हैं। उनको मुक्ति कदापि नहीं मिलती, कारण कि वे अज्ञानी सदैव दृश्य-पदार्थो मे लगे रह कर यथार्थ वस्तुकी ओरसे नेत्र बन्द किये रहते हैं। फिर उनको वह परमार्थ धन कैसे प्राप्त हो सकता है। वे मूर्ख तो स्त्रीको देखकर प्रसन्न होते हैं और यह नहीं जानते कि यह स्त्री रूपी वेलि उनका समूल नाश करदेगी। वह उसके नेत्र रूपी पुष्प, अधररूपी पत्र और स्तन रूपी गुच्छे पर भँवरों के समान मँडराया करते हैं। फिर तो उस बुद्धिरूपी सरोवर के कमल मे दुःखरूपी तरङ्गो मे पड कर मरण रूपी वडवानल द्वारा भँवाभार हो जाते हैं। हे रामजी! एक तो यह गर्भाग्नि से ही जलता हुआ जन्म लेता है, दूसरे जन्मसे लेकर युवा और वृद्धावस्था तक विषय सेवन करता हुआ तृष्णा की अग्नि में जलता है। ऐसे जन्म-मरण की अवस्था में यह जीव सदा भ्रमता रहता है। इसको तृष्णा और वासना रूपी टिड्डियाँ सदैव खाया करती हैं। पर ज्ञानी को ससार का कोई दुःख नहीं प्राप्त होता और अज्ञानी का ससार सागर पार करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वह अपने भीतर ही भीतर भ्रमता है और उससे

निकल नहीं पाता। उसको अल्प दुःख भी महान हो जाता है। जिस प्रकार कोल्हू के बैलको गृह मे ही अधिक मार्ग चलना हो जाता है, वैसेही अज्ञानी को भी तुच्छ संसार बड़ा हो जाता है। उसके लिए पञ्चभौतिक पदार्थ सुन्दर मालुम होते हैं और वह उन्हीं में प्रीति करता है, यद्यपि वे पदार्थ सारे अनर्थो की जड हे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का छठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सातवाँ सर्ग।

अज्ञान-माहात्म्य-वर्णन।

हे रामजी! यह जगत अज्ञान से स्थित है। अज्ञान रूपी चन्द्रमा जब पूर्ण होकर स्थित होता है तब कामना रूपी क्षीर-समुद्र अनेक तरङ्गो सहित उछलने लगता है। तब तृष्णारूपी मञ्जरी पुष्ट होकर काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी चकोर को अपने ओर आकर्षित करती है। इसलिए अभिमान रूपी रात्रि को निवृत्त कर विवेक रूपी सूर्य को उदय करने की आवश्यकता है। उस सूर्य के उदय होने पर अज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो जायगा, अन्यथा नहीं। हे रामजी! अज्ञानसे ही जीव भ्रमते और विपर्यय चेष्टा करते हैं। इसीसे निकृष्ट और दुःखरूपी पदार्थो को देखकर वे सुखी होते हैं और स्त्री को देखकर तो उनके प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रहती। यद्यपि कविजन स्त्री की विशेष प्रशंसा और स्तुति करते हे पर वह स्त्री रक्त मांस की पुतली के सिवा और कुछ नही है। मूर्ख उसको व्यर्थ ही रमणीक जानकर मोहसे मोहित होते और नाश को प्राप्त होते हैं। भला कोई सर्पिणी से भी सुख प्राप्त कर सकता है? जिस प्रकार कदली वनका हाथी कामके वश अंकुश पाता हुआ अपमानित होता है, उसी प्रकार मूर्ख भी स्त्री की इच्छा करके अनेक दुःख पाते हैं। स्त्री की इच्छा करके मूर्खजीव पतङ्ग के समान नाश को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी का आश्रय करने वाला भी दुःख को प्राप्त होता है। देखने और भोग करने

मे तो लक्ष्मी बहुत ही सुन्दर जान पडती है, परन्तु सुख की इच्छा करनेवाले को यह सुख नहीं देती, दुःख ही दे जाती है। लक्ष्मी की प्राप्ति अनेक दुःख, अनर्थ और पापों की जड है। इसलिए हे रामजी! जगत मे सुख की इच्छा करना व्यर्थ है। जन्मकाल और बाल्यावस्था से लेकर युवा और वृद्धावस्था तक जीव को अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं, शान्ति नाम मात्र का भी नहीं मिलती। सारा जगत अज्ञान से पूर्ण है। जन्म मरण बाल्यावस्था, युवावस्था, और वृद्धावस्था आदिक विचार अज्ञान से जान पड़ते है। इस कारण अज्ञान को नष्ट कर आत्मविचार के द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवा सर्ग।

अविद्यालता वर्णन

हे रामजी! यह संसार एक वृक्ष है, जिसमे अविद्यारूपी वेलि लगी हुई विकसित हो रही है। सुख, दु ख, भाव अभाव और अज्ञान आदि उस वृक्षके फूल और फल है। उस वृक्षसे अविद्या ही सुख और दु ख दिया करती है। जबविचाररूपी घुन उस अविद्यारूपी वृक्षमे लग जाता है। तब वह वृक्ष नष्ट हो जाता है। उस अविद्या की जड है सवित अर्थात् प्रकाश। उसी सवित से यह नाना प्रकार का विस्तार करती है। जब उस अविद्यारूपी वृक्ष मे विचार रूपी घुन लगे तब कहीं वह नष्ट होती है, अन्यथा नही। स्थावर जगम रूपी जगत का जितना प्रसार है और मानव जीवन से लेकर देव-जीवन ब्रह्माविष्णु तक जितने शुभ अशुभ कर्म और भाव कुभाव आदिक रूप और भूत, भविष्य वर्तमानकाल इत्यादि जो कुछ भी देखने और सुनने मे आता है-सर्वत्र इसी की महिमा विद्यमान है। हे रामजी! इसके दृश्यजालसे जो परे हो उसे आत्म-लाभ का भागी हुआ समझो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग।

अविद्या निराकरण

यह सुनकर रामजीने वशिष्ठजीसे पूछा कि हे भगवन्! विष्णु और महेश आदिक तो शुद्ध निराकार वर्ण के हैं, आप उनको अविद्या कैसे कहते हैं? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह जानने के लिए पहले अविद्या और उसका तत्व जानो। अविद्यमान का विद्यमान प्रतीत होना अविद्या है और जो सदैव विद्यमान है वह तत्व है। हे रामजी! जो चिन्मात्र सत्ता शुद्ध संवित और कलना से रहित है वह तत्व है। उस तत्व मे अहं की भावना से जो सवेदन हुआ वही उसका आभास है। वही सवेदन फुरकर स्थान-भेद से सूक्ष्म स्थूल और मध्य भाव को प्राप्त हुआ है। फिर वही दृढ़ स्पन्द से मनभाव हुआ है। उस मन के सात्विकी, राजसी और तामसी तीन स्वरूप हैं। वही तीनो त्रिगुणात्मक प्रकृतिधर्मिणी अविद्या है। उन तीनो के तीन-तीन गुण पृथक-पृथक हैं। इसलिए अविद्या के कुल नौ गुण है। जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते है सब मे अविद्या के नवो गुण विद्यमान हैं। ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर और देवगण इत्यादिक अविद्या के सात्विक अंश से हैं। नाग सात्विक-तामस से और शेष ऋषि, मुनि आदिक देवता सात्विक-राजस से तथा भगवान और महादेव केवल सात्विक अंश से उत्पन्न हुए है। हे रामजी! सात्विक अंश प्रकृत भाग है, उसमे जो तत्ववेत्ता उत्पन्न हुए हैं वह मोह को नही प्राप्त होते और वह मुक्ति के साक्षात् स्वरूप है। भगवान और महादेवजी आदिक शुद्ध सात्विक हैं, इससे वह जगत मे रहते हुए भी सर्वदा मुक्तिस्वरूप है। जब जगत मे रहते है तब जीवन्मुक्त भाव से रहते है और जब विदेहमुक्त होते है, तब परमेश्वर को प्राप्त होते है। उस अविद्या के दो रूप है। एक अविद्या और दूसरी विद्या। अविद्या से ही विद्या उत्पन्न होती है और विद्या से ही अविद्या का

नाश होता है। पर यह दोनों ही भावना मात्र है। इससे तुम इस तम और प्रकाश को त्यागकर आत्मसत्ता मे स्थित होवो। क्योंकि वही सत्ता सर्वत्र व्याप्त है और वही ब्रह्मतत्व सर्वशक्ति है और वह आकाश से भी शून्य है। पर वही दूध मे घृत के समान जगत में सर्वत्र व्याप रहा है। जिस प्रकार दूध को मथे विना मक्खन नहीं निकल सकता, उसी प्रकार विना विचार किये आत्मा नहीं भासता। वह अविनाशी है। उसके निकट जगत का कोई भाव नहीं। उसी आत्मा की सत्ता से जगत देहादिक चेष्टा करते हैं अर्थात् चेतन्यता आती है। पर वह आत्मा सदैव अकर्ता है। इससे जगत का बीज चेतन आत्मसत्ता है। वही तुम्हारा स्वरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

दसवाँ सर्ग।

अविद्या-चिकित्सा-वर्णन



शिष्ठजी बोले,—हे रामजी! यह सारा जगत चिदाकाश रूप है, इसमे जीवादि की भावाभाव सम्बन्धी कोई कल्पना नहीं है। जो भाव प्रतीत होता है वह ऐसा ही असत्य है जैसे जेवरी का सर्प असत्य है। केवल आत्म-अज्ञानवश भेदकल्पना भासती है। आत्मज्ञान होने से भेद कल्पना निवृत्त हो जाती है। जब उस शुद्ध चेतन से चित्त का सम्बन्ध होता है, तब अविद्या होती है। किन्तु उस पुरुष का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। चाहे शरीर रहे चाहे नाश हो, वह सर्वदा जैसा है वैसा ही रहेगा। केवल चित्त की चञ्चलता वश मूर्ख कहते हैं कि हमारी आत्मा व्याकुल है। जब उनके चित्त की वृत्ति शान्त होती है तब वह उसीको अचल कहते है। वे मूर्ख यह नहीं जानते कि यह सब खेल चित्त का है। उनको पता नहीं कि हम अपनी वासना वश मकडी के समान आप ही आप वेष्ठित हो रहे है।

इतना सुनकर रामजीने पूछा कि—हे मुनीश्वर! जो अपनी मूर्खता

वश स्थावर आदिक शरीर पाये हैं, कृपा कर बतलाइए कि उनकी वासना कैसी है ? वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! स्थावर आदिक मनरहित सत्ता में स्थित हैं और उनकी पुर्यष्टक सुषुप्ति रूप और दु:ख का कारण है। मनरहित अर्थात् उनका मन नही नष्ट हुआ और वे सुषुप्ति अवस्था में जड़रूप स्थित हैं। कभी समय आने पर वे भी जागेंगे। रामजी ने कहा, स्थावर शरीर की सत्ता अद्वैतरूप है, इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति अवस्था उसके निकट है। वशिष्ठ जी ने कहा,—मुक्ति का निकट होना क्या सरल है? क्या बिना बुद्धि-पूर्वक विचारे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है? मुक्ति तो बिना आत्म-पद को प्राप्त किये नहीं मिलती। इसके लिए पहले आध्यात्मिक शास्त्रोंका चिन्तन करते हुए उनसे जो सारवस्तु प्राप्त हो और जब बार-बार उसका चिन्तन करे तब वह सत्ता प्राप्त होती है और वही सत्ता परब्रह्मसत्ता है। क्या स्थावर जीव की वासना नहीं है ? उसमे भी वासना है। वह बाहरसे न दिखलाई पडेपर उसमे भी सुषुप्ति वासना लगी हुई है। वह वासनाओं के जाग्रत होने पर उगते और जन्म लेते हे। दिखलाई नहीं पड़ते। पर उनमे भी जगत की वासना लगी हुई है। वे भी अनेक जन्म पाकर दु:खी हुआ करते है। कोई भी जीव क्यों न हो, जब तक उसमें वासनाओं का अणुमात्र भी अंश रहेगा, मुक्तिपद प्राप्त होना कठिन ही नहीं असम्भव है। सुषुप्ति अवस्था ही वह अवस्था है जिसमें वासनायें तो रहती हैं पर प्रकट रूपसे दिखलाई नहीं पड़ती और नितान्त वासना रहित पदको तुरीयापद कहते हैं और वही पद सिद्धता एव मुक्तिदा है। उसी को जन्म मरणसे मुक्त होना भी कहते है। यह स्थावर जङ्गम जितने भी जीव हैं सब मे वासना भरी पडी है और घटपट आदिक सब पदार्थों मे आत्मसत्ता समान भाव से स्थित है। वही सर्वत्र व्यापमान है। ऐसी समदृष्टि एवं आत्मदृष्टि जिसको प्राप्त होती है वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। परन्तु जो असम्यर्कदर्शी हैं और जिन्हे पण्डितजन

अविद्योपासक कहते है अथवा जिनकी ऐसी दृष्टि ही अविद्या है, वही अविद्या जगत का कारण है और उसी से यह सारा जाल फैला हुआ है। उससे परे जो अपना स्वरूप है जब उसका प्रत्यक्ष हो तब वह अविद्या नष्ट होती है। उसका शुद्ध स्वरूप जान लेने पर वह अविद्या कदापि नहीं रह सकती और उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। उस शुद्ध स्वरूप के अभ्यास से सारा भ्रम नाश हो जाता है और अविद्या नष्ट हो जाती है। उसके लिये पहले यह विचारना चाहिए कि मेरा शरीर तो रक्त-मांस और अस्थियोंसे बना हुआ एक यन्त्रमात्र है, तब मे क्या वस्तु हूँ ? सत्य क्या है और असत्य भी क्या है ? ऐसा अनेक विचार करते हुए आत्मतत्त्व का अभ्यास करे और असत् शरीरादि से वैराग्य करे। तब असत् अविद्या नष्ट हो जाती है। फिर तो उसके नष्ट होनेपर निष्किञ्चन स्वरूप जो सत् वस्तु है वही ग्रहण करने योग्य रह जाती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग।

जीवन्मुक्ति निश्चयोर्वर्णनम्

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! तुमको ज्ञान होने के लिये मेरा यही बार-बार उपदेश है कि भावना सहित अभ्यास बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता। जन्म जन्मान्तर से जो अज्ञान अविद्या का पर्दा उसपर पडा है और जो आत्मा इन्द्रियों से अगोचर है वह मन के षटविकारो सहित अभाव हुए बिना शान्ति कैसे प्राप्त होगी ? उसके अविद्या और निकृष्ट दो रूप हैं। वहिर्मुखवृत्ति प्रधानरूप विद्या है। इसलिये तुम अविद्या का नाश करो। इसके लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास के बिना कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। अभ्यासरूपी वृक्ष से ही किसी को कुछ फल मिलता है। अन्यथा अविद्या तो जन्म जन्मान्तर से दृढ़ हुई है वह नाश कब होने को। जब ज्ञान-कृपाणसे हृदयरूपी वृक्ष

की अविद्यारूपी लता को अपने प्राकृतिक आचार से निरन्तर काटते रहोगे तब तुमको कोई दुःख न होगा। जैसे ज्ञात ज्ञेय होकर राजा जनक अपने सब व्यवहारों को करते हुए भी आत्मज्ञान का दृढ़ अभ्यास करते थे, वैसे ही तुम भी विचरो। हे रामजी! इसी निश्चय से लेकर आगे के ऋषि मुनि और देवता व्यवहार करते हुए विचरते थे। यह जितना भी विस्तृत जगत तुमको भास रहा है, वह केवल ब्रह्मसत्ता की महिमा से स्थित है। ग्रहण करनेवाला, भक्षण करनेवाला और शत्रु मित्र जो कुछ भी है सब ब्रह्म ही ब्रह्म अपने मे स्थित है। ज्ञानी जन सर्वदा ऐसा ही विचार करते हैं और इसलिए ब्रह्म ही को सर्वत्र स्पर्श करते हैं। ऐसे निश्चयवान पुरुष को राग-द्वेष नहीं रहता। उसके लिये भाव अभाव सब कुछ ब्रह्म ही है। तब राग-द्वेष कहाँ से हो? उसके लिये मृत्यु भी ब्रह्म है, शरीर भी ब्रह्म है और मरण भी ब्रह्म है। भोग भोक्ता आदिक सब कुछ ब्रह्म ही है। वह सर्वदा ब्रह्म मे ही स्थित रहता है। आत्मा मे मेरे तेरे का कुछ भेद नहीं होता। इससे आत्मा मे जो जगत है वह भी आत्मा ही है, यथार्थदर्शी पुरुष को सदैव ऐसा ही निश्चय रहता है। पर जिनको सम्यक ज्ञान नही हुआ है उनको उलटा ही भासता है। पर वह सदा एक रूप है। उसमे द्वैतभावना तो ऐसे ही है जैसे जेवरी में सर्प। ऐसे ही भ्रमवश अज्ञानी को जगत दुःख रूप जान पड़ता है। पर ज्ञानी को वही सुखरूप है। मैं भी यही जानता हूँ मैं नित्य शुद्ध और सबमे स्थित हूँ। मेरे लिये न किसी का विनाश होता है और न कोई उत्पन्न होता है। संसार की समस्त भूत जातियाँ एक आत्मा ही मे स्थित है और सारा जगत आत्मा है। वही आत्मब्रह्म अपने आप मे स्थित है। शरीर का नाश हो जाय, पर आत्मा का नाश कदापि नही होता। वह आत्मा ही अनेक रूप धारण कर भासित हो रहा है। उस आत्मा से जगत व्यतिरेक नहीं। शरीर कलना और इन्द्रियाँ तथा देवगण आदिक उस आत्मा से भिन्न नही है और

ब्रह्मरूप हैं। उस ब्रह्ममे सुख और दु ख कोई नहीं। मन बुद्धि, चित्त, अहकार ओर इन्द्रियाँ आदिक सब ब्रह्म ही के नाम हैं। उसमे अह आदिक शब्दों की कल्पना करनी मूर्खता और व्यर्थ हे। क्योंकि ब्रह्म सर्व शक्तिमान हे। उसमे जैसी भावना करे वैसा भास आता है। इसलिये सम्यकदर्शी उसे निरहकार, सुप्रकाश और सर्व शक्तिमान ही देखते हैं। ऐसे ज्ञानी के लिये ब्रह्म ही अर्पण, ब्रह्म ही हवि ओर ब्रह्म ही अग्निहोत्र होता और ब्रह्म ही फल देनेवाला है। जो ऐसा नहीं जानते हें वे अज्ञानी हैं। हे रामजी! यदि कोई जन्म-जन्मान्तर का बन्धु हो तो उसे बन्धु कहा जाय, पर जो देखने मे न आवे और उसका अभ्यास भी दूर हो गया हो तो वह बान्धव भी अबान्धव के समान हो जाता है। ऐसे ही अपना आप ही ब्रह्मस्वरूप है। जब उसकी भावना दृढ हो जाती है तब ऐसा ही जान पडता है कि मै ब्रह्म हूँ और द्वैतभाव छूट जाता है। जो ऐसा अमृत पान करे वह स्वय अमृतमय हो जाता है। ऐसा ही, मैं ब्रह्म हूँ, जो ऐसा जानता हे वह ब्रह्म ही हो जाता है और जो नहीं जानता, वह नाना प्रकार की कल्पनाओं और जन्म मरण के चक्र मे पडा रहता हे। उसको प्राप्त ब्रह्म भी अप्राप्त भासता है। हे रामजी! ब्रह्मभावना के अभ्यास के बल से शीघ्र ही ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। उस ब्रह्मरूपी निर्मल दर्पण मे जो जैसी भावना करता है उसे वैसा ही रूप भासता है। इसलिए मन भावना मात्र है। दुर्वासनाओं से स्वरूप ढँका हुआ है। जब वासनाका क्षय होता है तब आत्मतत्व भासता है। जैसे सफेद कपडे पर केशर का रङ्ग शीघ्र चढ जाता है, वैसे ही वासना रहित चित्त में ब्रह्मस्वरूप शीघ्र भास आता है। हे रामजी! आत्मा सब कलनाओं से रहित तीनों कालमे नित्य शुद्ध सम और शान्तरूप है। जिसको ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि मै ब्रह्म हूँ। वह सारे जगत मे अपने को आकाशवत व्याप्तमान समझता हे। वह जानता है कि न मुझको दुःख है और न मेरे लिये कोई कर्म है। त्याग

और वाञ्छा भी मुझे कुछ नही है, मैं सब कलनाओ से रहित और निरामय हूँ। उज्वल और श्याम रक्त पीव मांस और अस्थियों वाली शरीर भी मै ही हूँ और तृणपर्यन्त पुष्प, वन, पर्वत समुद्र और नदियाँ ग्रहण और त्याग तथा भूत आदिक शक्तियाँ भी मैही हूँ। मैंने ही सर्वत्र विस्तार किया है और मेरे ही आश्रय सब फुर रहे है। सर्वरूप रस मे मै ही हूँ। जिसमे और जिससे सब है, और जिसको सब हे जो ही सब है ऐसा चिदात्मा ब्रह्म मै ही हूँ। चेतन आत्मा, ब्रह्म, सत्य, अमृत, ज्ञानरूप आदिक मेरे ही नाम हैं। मै ही सब भूतों का प्रकाशक मन बुद्धि और इन्द्रियों का स्वामी हूँ। सारी भेद कलनाये तो इसने ही की थी, अब इसकी कलना को त्यागकर मै अपने प्रकाश मे स्थित हूँ। मै ही निर्लेप, सबका साक्षी और मै ही द्वैत कलना से रहित हूँ। मुझे कोई क्षोभ नही है। सारे जगत मे शान्तरूप से मैं ही फैला हूँ और सारी वासनाओ से रहित क्षोभ रहित अनुभव भी मै ही हूँ। मुझसे ही समस्त स्वादो का अनुभव होता है ऐसा चेतन रूप आत्मा मै हूँ पर जिसका चित्त स्त्री मे आसक्त है और जो उसे चन्द्रमा की कान्ति से भी अधिक प्रिय है और जिससे उस स्त्री के स्पर्श और प्रसन्नता का अनुभव होता है ऐसा चेतन ब्रह्म मै ही हूँ। खजूर और नीम आदि मे स्वादरूप मै ही हूँ। मुझे पश्चाताप, आनन्द, हानि और लाभ एक समान है। जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया आदिक अवस्थाओ मे से अनेक वृत्त होते हैं उसी प्रकार एक ब्रह्म सत्तासे अनेक मूर्तियाँ स्थित हैं, मैं सूर्य के समान सबका प्रकाशक रूप ब्रह्म सब शरीरो मे व्याप रहा हूँ। मोती की माला के गुप्त तागो के समान मोती रूपी शरीर में तन्तु रूपसे मै ही गुप्त हूँ। मैं ही जगतरूपी दूध मे ब्रह्मरूपी घृत से व्याप रहा हूँ। हे रामजी! सुवर्ण से जो अनेक प्रकार के आभूषण बनते हैं सो सब सुवर्ण से भिन्न नहीं है ऐसे ही कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न नही हैं। समस्त पर्वत समुद्र और नदियाँ सत्तारूप आत्मा ही है। समस्त

संकल्पों का परिणाम और सबका प्रकाशक आत्मा ही है और सब पाने योग पदार्थों का वही अन्त है। हे रामजी! जो ज्ञानी पुरुष हैं वह अपने को ऐसा जानकर अपने अद्वैतरूप मे विगत-ज्वर होकर सर्वदा स्थित रहते है और उन ज्ञानवानों का वही निश्चय है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

बारहवाँ सर्ग।

जीवन्मुक्ति निश्चय वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जो पूर्ण बोधवान् हैं उनको सदा यही निश्चय रहता है कि आत्मतत्व ही सत्य रूप है। उस बोधवान पुरुष को न किसी मे राग है और न किसीमे द्वेष। उसके लिये मृत्यु और जीवन दु:ख और सुख नहीं देते। वह सदा एक रस रहता है। वह सदा अभेद, अचल और साक्षात विष्णुनारायण का ही रूप है। उसे कोई भी दुख विचलित नहीं कर सकते, वह सदा सुमेरु पर्वत के समान अचल रहता है। ऐसे ज्ञानवान पुरुष को वन और नगर का वास एक समान सुखदायक है। उनकी किसी मे आसक्ति नही है। ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी भी सासारिक पदार्थ मे बन्धायमान नहीं होते और उसमे नहीं डूबते। इष्ट अनिष्ट उनके लिये कुछ नही। आपदा और सम्पदा उनके लिये समान है। वे प्राकृतिक आचार करते हुए भी सब आरम्भों से रहित रहते हैं। हे रामजी! इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी विचरो। यह दृष्टि समस्त पापो की नाशकर्ता है। चाहे जो करो पर अहकार से सर्वदा रहित रहो। इस प्रकार यथाभूतदर्शी होने से बन्धरहित हो जावोगे। तब कैसा भी पतित प्रवाह क्यों न आवे तुम विचलित नही हो सकोगे। हे रामजी! इस चिन्मात्र जगत मे सत्य, असत्य कुछ नहीं है, वह जैसा है तैसा ही है। ऐसी दृष्टि का आश्रय करके तुम नीच दृष्टि का परित्याग करो। हे रामजी! अब तुम सावधान होकर आशक्ति

रहित बुद्धि से भावाभाव में स्थित हो राग-द्वेष से चलायमान न होवो।

यह सुनकर रामजी बहुत प्रसन्न हुए और वशिष्ठजी से बोले— हे भगवन् ! अब आपके अमृतरूपी वचनों के प्रसाद को पाकर मैंने पाने योग्य पद को पाया और अब मेरे सब संशयोंका नाश होगया। आपके वचनों से मेरा सब सन्देह और मान, मोह, मद, मत्सर आदिक सब नाश हो गये। इससे अब मुझे पूर्ण शान्ति प्राप्त होगयी।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग।

ज्ञानक्षेत्र-विचार-वर्णन

यह कह कर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि, हे भगवन् ! विलास पूर्णज्ञान से तो वासनायें उदय होती है, अब कृपाकर यह बतलाइए कि जीवन्मुक्त पद मे किस प्रकार शान्ति प्राप्त होती है ?

वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी ! ससार तरने की युक्ति का नाम योग है। वह दो प्रकार की है। एक सांख्य बुद्धि ज्ञानयोग और दूसरी प्राण से रोकने को। इस पर रामजी ने पूछा कि—इन दोनों में सुगम कौन है ? वशिष्ठजी कहने लगे, दोनों प्रकार योग शब्द है। फिर भी प्राण रोकने का नाम योग है। योग और ज्ञान दोनो प्रकारसे ससार तरा जा सकता है। शिव भगवान्‌ने दोनोका फल एक ही बतलाया है। हे रामजी ! यह दोनों युक्तियॉ जिज्ञासु पर निर्भर हैं। किसी जिज्ञासु को योग सरल है और किसी को ज्ञान। पर मुझे तो ज्ञान ही सुगम है। क्योंकि इसमे यत्न और कष्ट थोडा है। यदि पदार्थों की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान हो जाये तो स्वप्न मे भी भ्रम नहीं हो सकता। वह सब पदार्थोंको साक्षीभूत होकर देखता है और उसमे उसे कुछ यत्न नहीं होता। बुद्धिमान और योगीजन स्वभावत. उनकी एक युक्ति निकाल कर शान्तचित्त हो जाते हैं। पर दोनो योगोमें अभ्यास और यत्न की आवश्यकता है । अभ्यास के कुछ प्राप्त नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि ज्ञान कहते किसे हैं ? उत्तर यह है कि हृदय मे जो ज्ञेय हे, उसका जानना ही ज्ञान है। वह ज्ञेय प्राण-अपानरूपी रथ पर आरूढ़ हृदयरूपी गुफा मे सर्वदा स्थित रहता है। हे रामजी ! अब उस योग का भी क्रम सुनो जो परम सिद्धता को देने वाला है। यह प्राण वायु जो नासिका और मुख के मार्ग से आती जाती है उसके रोकने का भी क्रम आगे कहूँगा। इससे भी चित्त उपशम हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चौदहवाँ सर्ग

सुमेरु-शिखर-लीला वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! एक समय जब नक्षत्र चक्रसे उडता हुआ मैं इन्द्र की सभा मे पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि वहाँ सब ऋषीश्वर बैठे हुए हैं। वहाँ पहुँचकर मैं भी बैठ गया। तब नारद आदि चिरञ्जीवी का प्रसङ्ग चलने पर शतातप नामक एक बुद्धिमान ऋषीश्वर ने कहा,—सब मे चिरञ्जीवी तो एक ही है। सुमेरु पर्वत के एक कोने मे जो पद्मराग नामक गुफा है और जिसके शिखर पर एक कल्पवृक्ष महासुन्दर और अपनी शोभा से पूर्ण है उस पर अन्य बहुत प्रकार के पक्षियों में एक महा श्रीमान् कौवा रहता है, उसका नाम भुशुण्डि है। वह भुशुण्डि वीतराग और बुद्धिमान है। उसका घोंसला उसी वृक्ष की एक शाखा पर है। उसके जीवन के समान किसी का जीवन नहीं है। वह महान आयुर्बलवाला, बुद्धिमान और शान्तमूर्ति तथा काल का भी ज्ञाता है। वास्तव मे उसका जीवन सुफल है और वह बडा पुण्यशाली है। उसको ससार की आस्था नहीं है और वह आत्मपद में विश्रान्ति पाये हुए है। हे रामजी ! ऐसा प्रसङ्ग उस सभा मे बहुत देर तक होता रहा। पश्चात सब लोग उस कौवे को चिरजीवी निश्चयकर जब अपने-अपने आश्रम को गये

तब मैं आश्चर्यवान् हो उसको देखने का विचार कर सुमेरुपर्वत की कन्दरा की ओर चला। क्षणभर मे वहाँ पहुँचकर मैने क्या देखा कि कन्दरा गेरू के रङ्ग से रङ्गी है और उसमे लगा हुआ मणि रत्न अत्यन्त शोभा दे रहा है। इससे तथा और भी प्रकारों से रची हुई वह कन्दरा महान् प्रकाश को दे रही थी। उसके ऊपर गङ्गा की धवलधारा प्रवाहित हो रही थी। उसके इर्द-गिर्द देवियों के वास-स्थान बने थे और गन्धर्व गान करते थे। विधाता द्वारा निर्मित उस महासुन्दर स्थान देखकर बड़ा हर्ष होता था।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

भुशुण्डि दर्शन

उस कन्दरा के शिखर पर मैने देखा कि कल्पवृक्ष महासुन्दर फलों से पूर्ण है और उसमे मणियों के गुच्छे और सुवर्ण की बेलें लगी हुई है। तारागणों से दुगने उसमे फूल लगे थे और बादल से दूने उसमे पत्ते दृष्टि आते थे। उन पत्तों पर देवता, किन्नर, विद्याधर और देवियाँ बैठी थीं और उनके समक्ष अप्सराये आकर नृत्य और गान करती थी। नाना प्रकार के पक्षी उस पर वास करते थे। गरुड़ उस पर बैठकर ऐसे शब्द करते थे मानो ब्रह्मा कमलसे उत्पन्न होकर ॐकार का उच्चारण कर रहे है। कई कौवे तो ऐसे थे जिनके दो-दो चोंचें थीं। यह देखकर मै आगे बढ़ा तो वहाँ अनेक कौवो को वैसे ही देखा। वे कौवे अचल भाव से ऐसे बैठे थे जैसे प्रलयकाल मे मेघ और लोकालोक पर्वतों पर आ बैठते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कौवे जो इन्द्र, वरुण, कुबेर और सोम तथा सूर्य के यज्ञ की रक्षा करनेवाले और पुण्यशील स्त्रियों को प्रसन्नता सूचक पति सन्देश देनेवाले थे वे भी यत्र तत्र विराज रहे थे। उन सबके मध्य मे ऊँची गर्दन किये एक और महान् तेजस्वी कौवा बैठा था। उसके

गर्दन की चमक नीलमणि से भी अधिक चमकीली थी। वह प्राण अपान को जीतनेवाला था। ऐसा ज्ञात होता था कि उसे संसार की आगमापायी गति के बहुत कल्प तक का स्मरण और अनुभव है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो अकस्मात न जाने कैसे वह जान गया कि यह वशिष्ठ हैं, वह खड़ा होकर बोला, हे मुने! कहिए कुशल तो है। ऐसा कहकर उसने संकल्प का हाथ रचा और मेरा पूजन कर अर्घ्यपाद्य दे वृक्ष के एक बड़े पत्र पर आसन रचकर मुझे बैठाया और बोला—हे मुनीश्वर! आज मेरा बड़ा भाग उदय हुआ है कि आपका दर्शन मिला। हे मुनिनाथ! आप देवताओं के भी पूज्य हैं, कृपाकर कहिए कि आपका आगमन किस लिये हुआ है। आपके चरणों का दर्शन पाकर आज मैंने सब कुछ जानने योग्य वस्तु को जाना है। जब इन्द्र की सभा मे चिरञ्जिवियों का प्रसङ्ग चला था तब मैं भी वहाँ गया था और आप भी वहाँ उपस्थित थे। अब वहाँ से आप मेरे यहाँ आये तो मैं समझता हूँ कि श्रीमान् कृपाकर मुझे कृतार्थ ही करने आये हैं। इससे आपके श्री मुख से कुछ अमृत-रूपी उपदेश सुना चाहता हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग।

भुशुण्डि समागम वर्णन

हे रामजी! जब कागभुशुण्डि ने मुझसे ऐसा कहा तब मैंने कहा,—हे पक्षिराज! तुम्हारा कथन सत्य है। जब इन्द्र सभा मे चिरंजीवियों का प्रसङ्ग आया था तब उसमे सर्व सम्मति से तुम श्रेष्ठ निर्णय किये गये। इससे मैं तुम्हारे जैसे शीतल चित्त और कुशल मूर्ति का दर्शन करने चला आया। निसन्देह तुम संसार जाल से मुक्त हुये दीखते हो। इससे मुझे बतलाओ कि तुमने कब जन्म लिया है और कैसे ज्ञात, ज्ञेय हुये हो तथा तुम्हारी आयु कितनी है और कितने वृत्तान्त

आपको स्मरण है। हे मुने! आपके सब प्रश्नों का सक्षिप्त उत्तर मैं देता हूँ। क्रमशः आप ध्यान देकर सुनिये। यद्यपि आप स्वयं ही त्रिकालदर्शी हैं तथापि आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जैसे महात्मा पुरुष का दर्शन होने से तो समस्त पाप क्षय हो जाते है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ सर्ग।

भुशुण्डि स्वरूप वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! ऐसे कहकर भुशुण्डि मुझसे कहने लगा। वह भुशुण्डि कैसा है, वह सर्वज्ञ और सुन्दर तथा समता युक्त है, वह स्निग्ध और गभीर वाणी कहने लगा, जिसने ब्रह्माण्ड को भी तौल डाला है और जगत जिसको तृण के समान तुच्छ भासता है, क्योंकि उसने अनेक लोकों की उत्पत्ति और प्रलय को देखा है। उसका चित्त किसी वृत्ति से लेपायमान नहीं होता। जैसे क्षीर-सागरसे निकला हुआ मन्दराचल पर्वत परिपूर्ण और सम शुद्ध है, वेसे ही उसका मन शुद्ध है। जैसे क्षीर समुद्र उज्वल है वैसेही उसका मन आत्मपद मे विश्राम पाकर उज्वल और आनन्द से परिपूर्ण है। ऐसा श्रेष्ठ योगीश्वर भुशुण्डि मुझसे कहने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अट्ठारहवाँ सर्ग।

भुशुण्ड्योपाख्यान मांस व्यवहार वर्णन

भुशुण्डिजी बोले,—हे मुने! शिवजी सब देवताओ मे श्रेष्ठ है। भगवती उनकी अर्धाङ्गिनी हैं और उनके तीन नेत्र है। उनकी जटा बहुत लम्बी है और वह मस्तक पर चन्द्रमा धारण किये है जिससे सदा अमृत टपकता है और जटा के चारो ओर गङ्गा फिरती है तथा पुष्पों की माला कण्ठ मे [illegible]। कालकूट के पान से वे नीलकण्ठ

एवं विषविभूषण भी कहे जाते हैं। वह सब अङ्ग में विभूति रमाये और सदा मुण्डों की माला धारण किये रहते हैं। उन शान्तरूप महात्मा का गृह श्मशान भूमि है और दिशायें ही उनके वस्त्र हैं। उनके सेवक तथा सैनिक बडे विकराल और भयानक मुखाकारवाले हैं। वे रक्त मांस के भक्षण करनेवाले बडे-बडे भयानक स्थानों मे रहते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी भयानक देवियाँ भी उन शिवजी के साथ रहती हैं। उनकी चेष्टा और उनके आचार बडे भयानक हैं और वह बडे भयानक स्थानों मे वास करती हैं ऐसे कुछ भयानक भूत और देवियाँ सर्वदा शिवजी के साथ भी रहा करती हैं। जया, विजया, जित और अपराजित वाम दिशा मे और सिद्धा, मुखका, रक्तका और उतला दक्षिण दिशा मे भैरव रुद्र के आश्रित रहती हैं। इन सब देवियों के मध्य में रुद्राणी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, वाराही, वायवी, कौमारी, वासवी और सौरी आदिक अष्टनायिकायें और शतसहस्र देवियाँ वास करती हैं। यह सब देवियाँ अनेक प्रकार का भयंकर रूप धारणकर पृथ्वी के जीवों का भक्षण करती हैं। उन देवियो मे कई तो पशुधर्मिणी अर्थात् शूद्रकर्म में प्रवृत्त जीवन्मुक्त पद मे स्थित रहती हैं और कई विदित वेद जीवन्मुक्त पद मे स्थित हैं। इन सबकी नायक अलम्बसादेवी हैं। अलम्बसादेवी का वाहन काक है और यह देवी अष्टसिद्धि के ऐश्वर्यसे सयुक्त है। एक बार इन देवियों ने विचार किया कि हम अहर्निश शिव भगवान् के साथ रहती हैं तो भी यह हमसे प्रसन्न न रहकर हमको तुच्छ जानते हैं, और उमा से बहुत प्रेम करते हैं, इससे इनको कुछ अपना प्रभाव दिखलाना चाहिए। बिना ऐसा किये अब काम नहीं चलने का। तब यह कैसे प्रभाव दिखलाया जाय देवियाँ उमा को वश करके चुरा ले गईं और मार करके उनका मास पकाकर भक्षण कर डाला। यही नहीं उस मांस मे से शिवजी को भी थोडा सा दिया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग ।

भुशुण्ड-आत्मबोध वर्णन

मांस के आगे जाते ही अन्तर्यामी शिवजी जान गये कि इन्होंने उमा को मारा है। फिर तो शिवजी ने महान कोप किया। उस कोपसे डरकर सब देवियों ने उमा का अङ्ग निकालना आरम्भ किया। सौरी ने नेत्र, कौमारी ने नासा और भिन्न-भिन्न देवियों ने उमा के भक्षण किये अन्यान्य अङ्गों को निकालकर पार्वती की जैसी मूर्ति थी वैसी बनाकर पुन. शिवजी से नवीन व्याह कर दिया। तब शिवजी प्रसन्न हुए और चारो ओर आनन्द हुआ। देवियाँ भी अपने-अपने स्थान को गईं। एक दिन अलम्बसादेवी का चन्द्रनामक काक ने ब्रह्माणीदेवी के हंसिनी के साथ क्रीड़ा की जिससे उसको गर्भ रहा। जब वह ब्रह्माणीदेवी को कहीं ले जाने के अभिप्राय से गई तब ब्रह्माणी ने यह कहकर उसे लौटा दिया कि अब तू गर्भवती होगयी मेरे वाहन के योग्य नहीं है, जा फिर आना, वह चली गई। उसके चले जाने पर ब्रह्माणी ने समाधि लगाकर तालकमल पत्र पर निवास किया। इधर कुछ काल बीतने पर उस हंसिनी ने तीन-तीन अण्डे दिये। फिर क्रमपूर्वक उन अण्डों से इक्कीस अण्डे उत्पन्न हुये। हे मुनीश्वर! कुछ दिन बाद जब उन अण्डो को हंसिनियो ने फाड़ा तो उनसे हमारे अङ्ग उत्पन्न हुए। जब मै बडा हुआ तब मेरी माता मुझे ब्रह्माणीजी के पास लेकर गयी। उसी समय ब्रह्माणीजी समाधि से जागरित हुई थी, मैंने उनके चरण मे मस्तक टेका और उन्होंने दुधारी वृत्ति धारणकर मुझपर अपना हाथ रख दिया। उनके हाथ रखते मेरी समस्त अविद्या नष्ट हो[illegible] और मन तृप्त होकर शान्ति को [illegible] जीवन्मुक्त द[illegible] [illegible] हुआ। उसी क्षण हमारी ऐसी [illegible] कि हम [illegible]

मे स्थित होवें। तव देवी ने हमसे कहा जाओ। मे वहाँ से चलकर अपने पिता के पास आया। पिताजी ने मेरा बडा प्यार किया। मैने अलम्बुसादेवी का पूजन किया। तव पिताजीने मुझसे कहा,– वेटा! तुम संसाररूपी जाल मे नहीं फँसोगे और जो कुछ फँसाव है वह मेरी देवीजी के कृपा से नहीं रहेगा। उसी क्षण मैने पिताजी से कहा कि हे पिता! हम तो स्वय ही ज्ञातज्ञेय हुये है और हमने जानने योग्य सव पदार्थों को जाना है। जो नहीं जाना था वह भी ब्रह्माणीदेवी की कृपा से अव जान लिया। अव हमको केवल एकान्त वास करने की इच्छा शेष है, आप ऐसा कोई स्थान वतलाइए तो मैं वहाँ जाकर वास करूँ। तव पिता ने मुझे इस सुमेरु पर्वत का स्थान वतलाया। उसी समय विन्ध्याचल मे पिताजी के चरणों मे मस्तक नवाकर मैने आकाशमार्ग से यात्रा की और ब्रह्मलोक मे पहुँच देवीजी को प्रणाम किया। देवीजी ने अनेक प्रकार से आशीर्वाद देकर कण्ठ लगाया और मेरा मस्तक चुम्बन किया। पश्चात् अनेक देवलोकों को पार करते हुये मैं सुमेरुपर्वत के इस कल्पवृक्ष पर पहुँचा। हे मुने! यही मेरे जन्म, ज्ञान और यहाँ के वास का अखण्डित समाचार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग।

सन्त-माहात्म्य वर्णन



यह कहकर भुशुण्डिजी वोले, हे मुनीश्वर! यह प्राचीन इतिहास जिस सृष्टिमें हुआ वह इस सृष्टि से वहुत दूर है, परन्तु मैंने अपने अभ्यासवल से आपको वर्तमान के समान ही सुनाया है। यह तो मेरा कोई पुण्य था कि आज आपका दर्शन हुआ कि जिससे यह वृक्ष और आश्रम पुनीत हुआ। अव और जो पूछिये, मै वर्णन करूँ। हे रामजी! यह कह कर उसने भलीभाँति मेरा पूजन किया। तव मैंने उससे

कहा,—हे पक्षिराज ! तुम्हारे तत्त्ववेत्ता वे सब भाई तो यहाँ दृष्टि नही आते, कहाँ हैं? यहाँ तो अकेले तुम्हीं दिखलाई पडते हो। भुशुण्डि ने कहा,—हे मुनीश्वर! यहाँ मैं अकेले बहुत दिन से रहता हूँ। पहले मेरे सब भाई भी यही रहते थे, पर बहुत अधिक समय व्यतीत हुआ कि वह शरीर त्याग कर शिव लोक को चले गये। तब से चिरकाल व्यतीत हुआ, मै उसी शरीरसे यहाँ एकाकी वास करता हूँ। यह काल बडा बली है। सन्त महन्त किसी को नहीं छोडता। तब मैंने पूछा,—हे साधो! प्रलय काल मे तो सूर्य, चन्द्रमा वायु और मेघ आदि सब अपनी २ मर्यादा को त्याग देते हैं और महान क्षोभ होता है। पर क्या कारण है कि तुमको खेद नहीं होता। इसपर भुशुण्डि ने कहा,—संसार मे बहुत जीव आधार से रहते हैं। पर दोनों ही हमारे लिये तुच्छ हैं, सत् कोई नहीं। इनमें पक्षी जाति तो और भी तुच्छ है, क्योंकि उनका वास और दाना-पानी सब उजाड़ वन मे है। ईश्वर ने उनकी जीविका निरावलम्ब बनाई है। पर हे मुनीश्वर! मै सदा सुखी और आपमे स्थित रहता हूँ। मुझे कभी क्षोभ और खेद नही होता, मै सर्वदा कष्ट से मुक्त रहता हूँ। हमको जगत का इष्ट अनिष्ट कभी चलायमान नहीं कर पाता। हमको जीवन और मृत्यु की भी कोई इच्छा नहीं है। क्योंकि यह दोनों अवस्थायें शरीर की हैं, आत्मा की नही। हमको किसी में राग द्वेष भी नहीं है, यथा प्राप्त मे ही हम सन्तुष्ट रहते है। कारण कि इस कल्पवृक्ष पर बैठे हुये हम सदा प्राण अपान की गतिको ही देखा करते हैं, इस अवस्था मे मुझे रात दिनकी गति का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और में प्राणादि की सूक्ष्म कलनाओं का ज्ञाता हूँ। मै अपनी सद्-बुद्धि से सार असार को भली भाँति जानता हूँ। इसलिये मुझे सांसारिक असत्य दृश्य पदार्थों की कोई इच्छा नहीं रहती। कारण कि मैं सदा उपशम पद मे स्थित रहता हूँ। इमसे सारा जगत हमारे लिये शान्तरूप है। अन्यथा जगज्जाल का आश्रय करना तो महान् दुःख है। क्योंकि यह चञ्चलरूप और अस्थिर है। इस

कारण हम इसको चञ्चल समझ कर पाषाणवत स्थिर रहते हुए किसी से राग-द्वेष नही करते। हमारे लिये सारा जगत तुच्छ है। इसीसे अन्य जीवों के समान हम कालरूपी समुद्र मे नहीं डूबते। इस निर्विकार पदको पाकर मै क्षोभ रहित हूँ और आत्मसत्ता को प्राप्तकर उपशम रूप हूँ। तिस पर आपके दर्शन से और भी आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। क्योंकि सन्त दर्शन से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं। सत्सगति से सब आनन्द प्राप्त होते है। फिर आप तो परमसत्ता और ज्ञानियों मे सर्वश्रेष्ठ है। आज आपके दर्शन से मेरा सब दुःख छूट गया और जन्म भी सार्थक हो गया। आप जैसे सन्तों का समागम आत्मपद को देनेवाला और दु ख नष्ट करके निर्भीकता प्रदान करता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग।

भुशुण्ड्योपाख्याने जीवित वृत्तान्त वर्णन



हे महामुने। आपने यह पूछा था कि प्रलय काल मे सूर्य वायु और मेघ को भी क्षोभ होता है, तुम क्षोभवान क्यों नहीं होते, अब उसका भी उत्तर सुनिये। हे मुने! यह मेरे कल्प वृक्ष की स्थिरता का प्रभाव है कि न तो यह कभी नष्ट होता है और न उसके कारण मेरा ही नाश होता है। क्योंकि यह मेरा वृक्ष सर्व लोकों को अगम है। जब सारे भूत प्राणी नष्ट हो जाते है, तब भी मैं सुखी रहता हूँ। मेरा यह वृक्ष उस समय भी कम्पायमान नहीं हुआ कि जब हिरण्यकशिपु समस्त द्वीपो को पृथ्वी सहित खैंचकर पाताल लोक ले गया और जब देव और दैत्यों मे वहाँ सग्राम हुआ तब भी इस पर्वत के अचल रहने से मेरा वृक्ष स्थिर रहा। यहाँ तक कि जब विष्णु भगवान् इस सुमेरु को अपनी विशाल भुजाओं से उखाडने लगे और जब क्षीरसागर का मन्थन

होने लगा, जब प्रलय मे पवन और मेघको क्षोभ हुआ। तब भी मेरा वृक्ष कम्पित न हुआ। ऐसे अनेक उपद्रवों के होने पर भी मेरा वृक्ष सदा स्थिर रहा है। वशिष्ठजी ने कहा, यही तो मेरा भी प्रश्न है कि वायु और मेघ को भी क्षोभ होने पर तुम विगत-ज्वर कैसे रहे। भुशुण्डि ने कहा—उस प्रलयकाल की अवस्थामें कृतघ्नी के समान अपना यह गृह त्याग कर, सब अङ्गों को समेट कर आकाश मे जा स्थित होता हूँ। जिस प्रकार वासना रहित होने से मन सिमट जाता है वैसे ही मै भी अङ्गो को समेट लेता हूँ और जब जैसी अवस्था आती है वैसी धारणा बाँधकर स्थित हो जाता हूँ। फिर जब अनेक तत्त्वों को क्षोभ प्राप्त होता है तब मै सबका परित्यागकर ब्रह्माण्ड खप्पर के परे परमपद में सुषुप्ति, अचल और गम्भीर हो जाता हूँ। फिर जब ब्रह्मा उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं तब मै फिर आलय मे आ स्थित होता हूँ। इसपर मैने पूछा कि—तुम्हारे समान अन्य योगीजन क्यों नहीं स्थित हो पाते। तब भुशुण्डि ने कहा—ईश्वर का नियम अथाह है, कोई नही जान सकता। उन योगीजनो की नीति वैसी ही है और मेरी उत्पत्ति ऐसी ही है। इसीसे कहा जाता है कि ईश्वर के नियम का थाह नहीं। इस कल्प वृक्ष के सम्बन्ध मे उसकी यही नीति है और उस नीतिके अनुसार मैं इसमे आ पहुँचा हूँ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवाँ सर्ग।

चिरातीत वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा,—हे पक्षिराज! आप बडे दीर्घ आयु वाले और ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण और अनुभवी हैं। इस अनुभव मे आपने बहुत आश्चर्यमय घटनायें देखी होगी, जो स्मरण हों उनका वर्णन कीजिए। इस पर भुशुण्डि ने कई एक ऋषियों की उत्पत्ति का सक्षिप्त इतिहास बतलाते हुये कहा, कि—ऐसी बहुत सी सृष्टियाँ

मैने देखी है, पर वह सभी मिथ्या हैं, उनमें कुछ सार नहीं। आत्म-दर्शी के लिये सृष्टि नहीं भासती वह सब में आत्मसत्ता का ही प्रकाश देखता है। अन्यथा एक से एक सृष्टियाँ हैं कि जिनका वर्णन अपार है। किसी-किसी सृष्टि मे एक समान ही आकार और आचार होते हैं। किसी सृष्टि मे पुत्र पिता हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाते हैं। बन्धु अबन्धु और अबन्धु बन्धु हो जाते हैं। इस भाँति उस सृष्टि मे सब उलटे ही प्रतीत होते हैं। कभी इस कल्पवृक्ष पर ही हमारा गृह रहता है और कभी मन्दराचल, हिमालय और कभी मालव पर्वत पर भी हो जाता है। पर इधर चिरकाल से तो इसी सुमेरु के कल्पवृक्ष पर ही है। प्रलयकाल मे मेरा शरीर भी ऐसा ही रहता है। कारण कि मैं आसन मार कर ब्रह्मसत्ता मे स्थित रहता हूँ। इसलिये मुझे फिर यही शरीर प्राप्त होता है। अन्यथा यह जगत तो संकल्प मात्र है। सकल्प से ही इसका स्फुरण होता है। इससे यह भ्रममात्र है। फिर भी इस जगत भ्रम में अनेक आश्चर्य दिखलाई पड़ते हैं। इसीसे तो कभी-कभी पिता पुत्र, मित्र-शत्रु, स्त्री पुरुष, पुरुष स्त्री, कलियुग सतयुग, सतयुग कलियुग, द्वापर त्रेता और त्रेता द्वापर हो जाता है। ऐसे अनेक आश्चर्य इस जगत मे भासते रहते हैं। हे मुनीश्वर! ब्रह्मा का एक दिन एक युग की एक सहस्र चौकड़ी के बराबर है। इतनी अधिक अवधि रहने पर भी एक समय ब्रह्मा दो दिन तक समाधि लगाये बैठे रहे जिससे सृष्टि शून्य हो गयी थी। क्या-क्या कहूँ, अनेक देश, क्रिया और विचित्ररूप हृदयमे आ रहे हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का बाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेईसवाँ सर्ग ।

संकल्प निराकरण

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब भुशुण्डि ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मैंने पूछा कि हे पक्षिराज ! महाप्रलयमें मृत्यु तो सबको ग्रस लेता है, फिर तुम्हारे शरीरको क्यो नही ग्रसता ? मेरे इस प्रश्नपर भुशुण्डिने कहा,—हे मुने ! आप सब कुछ जानते है, फिर भी जिज्ञासा के लिये जानना चाहते है। अतः जैसे गुरुके समक्ष शिष्य नम्रतापूर्वक निवेदन करता है वैसे ही आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मै कहता हूँ कि हे मुनीश्वर ! मृत्यु किसको मारता है और किसको नही मारता इस प्रसङ्ग को सुनिये। दुःखरूपी मोती वासनारूपी धागे मे पिरोई हुई है। यह माला जिसके गले मे है उसीको मृत्यु मारता है और जिसके गलेमे यह माला नही है उसको नही मारता। शरीररूपी वृक्षमे चित्तरूपी सर्प बैठा है। जिसको आशारूपी अग्नि नही जलाती, वह मृत्यु के वश मे नही होता है। परन्तु जो राग-द्वेषरूपी विषसे पूर्ण है और जिसको तृष्णा चूर्ण कर रही है, उसको मृत्यु ग्रस लेता है। किन्तु जिनको यह दुःख स्पर्श नहीं करते उनको मृत्य नही नाश करता। हे मुने ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, तृष्णा, चिन्ता, चञ्चलता और प्रमाद आदिक दुःख जिसमे होते हैं उनको मृत्यु मारता है। पर जिनको यह रोग नही है उनको आधि व्याधिरूपी मल नही स्पर्श करते और वह ससार बन्धन का कारण नही हो सकता। ऐसे पुरुष जो देते, लेते और सब कार्य करते हुए सदा सम शान्त रहते है और इष्ट अनिष्ट उनके लिए कुछ नही हैं, वह समाहित चित्त कहलाते है। हे मुने ! संसारमे जिनके भी ऐश्वर्यवान और सुन्दर पदार्थ है सब असत् और नाशरूप है। सत् वही है जहाँ सन्त का मन स्थित हो। बोधवान पुरुष इसी श्रेष्ठ मार्ग

को ग्रहण करते हैं। पर मूढ जगत् के चल पदार्थों मे रमते है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

प्राण विचार वर्णन

हे मुने! वह श्रेष्ठमार्ग केवल एक आत्मदृष्टि है कि जिसको पाने से सब दुःख नाश हो जाते हैं और परमपद की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! यह दृष्टि जीवों के अनेक जन्ममार्गों के श्रम का दूर करती और त्रयताप मिटाकर शीतलता उत्पन्न करती हैं। ऐसी आत्म-चिन्तना से सारे सङ्कल्पों का नाश हो जाता है और सुन्दर प्रकाश का उदय होता है। हे मुने! इस आत्मचिन्तन में यदि एक भी कोई सखी मिल जाये तो सारे दुःख सहज ही में नष्ट हो जायें। मुझे केवल एक ही सखी प्राप्त हुई है, सो मेरे समस्त दुःखों को नाशकर सौभाग्य देनेवाली और जीवनमूरि है और वह है—प्राणचिन्ता। यह चिन्ता मुझे प्राप्त हुई है। हे रामजी! जब भुशुण्डि ने मुझसे ऐसा कहा तब मैंने उससे पूछा कि हे पक्षिराज! सत्य कहो, वह प्राण-चिन्ता किसे कहते हैं। तब भुशुण्डि ने कहा,—हे वेदवेत्ता और सर्व संशयग्रसन! आप बार-बार मुझसे पूछकर मेरा उपहास क्या करते हैं। आप तो सर्व ज्ञाता हैं। फिर भी गुरु के समक्ष निवेदन करना ही उचित है। इससे मैं कहता हूँ कि प्राण और अपान के संसरण की गति को कि जिसके आश्रय से मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ और मुझे कोई बन्धन नहीं है, सब अवस्थाओं मे मेरा चित्त सावधान रहता है और बन्धन कोई नहीं रहता, वही प्राणचिन्ता है। हे साधो! जिसको प्राण अपान की गति प्राप्त हुई है वह सर्व आरम्भ कर्म को करे अथवा न करे परन्तु सदा शान्तरूप रहता है और उसका समय बड़े सुख से व्यतीत होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग ।

समाधि वर्णन

इसके पश्चात् वशिष्ठजीके दो एक प्रश्नों का उत्तर देकर भुशुण्डि जीने कहा,–हे मुनीश्वर! आत्मदृष्टि ही सबसे श्रेष्ठ है। इसको पाकर समस्त दुःख नाश हो जाते है। इस आत्मचिन्तन द्वारा संकल्पों का क्षय होकर हृदय शीतल हो जाता है। वही आत्मचिन्तन हमारे जैसे का प्राप्त होना कठिन है, आपने प्राप्तकर लिया है। पूर्ण प्राप्ति का महत्व तो महान है ही, यदि उसका कोई एक अङ्ग भी प्राप्त हो जाय ता अवश्य ये सारे तापों का नाश हो जाय और परम शान्ति प्राप्त होवे। मुझको एकही अङ्ग प्राप्त हुआ है तो भी मुझे कोई दुःख नहीं व्यापता। वह प्राणचिन्ता मुझको प्राप्त हुई है। वशिष्ठजी कहते है कि जब भुशुण्डि ने मुझसे ऐसा कहा तब मैने उससे पूछा कि प्राणचिन्ता क्या है? इस पर भुशुण्डि ने कहा,–महाराज! आप तो स्वयं सब संशयों को निवृत्त करनेवाले है, पूछकर मेरा उपहास क्या करते हैं। फिर भी आप सदृश शिक्षक एव गुरु के समक्ष अपने कल्याण के हेतु कहता हूँ कि जो मुक्ति मेरे जीने का कारण और आत्म लाभ देनेवाली है, वही प्राणचिन्ता है। इसी दृष्टि ने मुझे परमपद दिया है और इसीसे मुझे बन्धन नहीं होता। सोते, जागते, उठते, बैठते सर्वत्र मैं बन्धन रहित सावधान रहता हूँ। उस मुक्तिका नाम है प्राण अपान का संसरण। यह मुक्ति जिसको प्राप्त हुई है, वह सदा शान्त रूप और काल से वंचित रहता है। इस युक्ति मे प्राण हृदय से उत्पन्न होकर बारह अंगुल दूर बाहर जाकर स्थिर होता है और फिर अपानरूप होकर हृदय मे आ स्थित होता है। हृदय से बाहर निकला हुआ प्राण अग्नि के समान उष्ण होता है और जो बाहर से भीतर हृदय मे आता है वह शीतल होता है। इस [illegible] अपान की उपमा चन्द्रमा से है और उस उष्ण प्राण की [illegible] मे है। प्राण वायु हृदय को तप्त-

कर पाचन क्रिया ठीक कर अन्न को पचा देता है और अपान उसको चन्द्रमा के समान शीतल कर देता है। वह अपानरूपी चन्द्रमा जब प्राणरूपी सूर्य के साठ तत्वों मे लीन होता है तब उसमे स्थित हुआ मन फिर शोक को नहीं प्राप्त होता । अर्थात् जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है । हे भगवन् ! वाह्य आकाश के बारह अंगुल की दूरी से अपानरूपी चन्द्रमा उत्पन्न होकर हृदय के प्राणरूपी सूर्य में लीन होता है । पर जब तक वह सूर्यभाव को नहीं प्राप्त होता उसके मध्य-भाव अवस्था मे जिसका मन लगा है वह परमपद को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के उदयास्त भाव का ज्ञाता होने से इसके आधारभूत आत्मा को जान लेने पर फिर मन नहीं उत्पन्न होता । जब प्राण अपानरूपी सूर्य चन्द्रमा हृदयाकाश मे उदय और अस्त होते है तब उनके प्रकाशमे हृदय के भास्करदेव को जो देखता है वास्तव मे वही देखता है । अन्यथा बाहर के सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त होने से कुछ सिद्धि नहीं होती । वास्तविक सिद्धि तो तब हो जब हृदय के तम नष्ट हों। फिर आत्मप्रकाश उदय होने एवं अज्ञान नष्ट होने पर परमपद को पाकर प्राणी मुक्त हो जाता है । यह तभी संभव है जब प्राण अपान की युक्ति जानी जाय इसमे कुछ परिश्रम नहीं । विना यत्न ही यह दोनों उदय और अस्त हो सकते हैं । हे मुनीश्वर ! हृदयाकाश से प्राण उदय होते ही प्राण का रेचक और अपान का पूरक होता है और फिर जब वही प्राण अपान मे स्थित होता है तब उसी को अपान का कुम्भक कहते हैं । उस कुम्भक में स्थिरता लाभ करने से तीनों ताप नहीं तपाते । अपान के रेचक और प्राण के पूरक के पश्चात् जब अपान स्थित होता है तब प्राण का कुम्भक होता है । कुम्भक मे स्थित होनेसे प्राणी त्रैताप से मुक्त हो जाता है । क्योंकि वह अवस्था आत्मतत्व की स्थिति की है । उसमें स्थित होने से मन तत्व नहीं होता । उस कुम्भक अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता है वही आत्मतत्व है । उसमे स्थित

होनेसे वह कठिन होजाताहै और प्राणकी स्थिरतावाली देश कालादिकी अवस्था में स्थिर हुआ मन का मनत्वभाव नष्ट हो जाता है। उस कुम्भक में जो शान्त तत्व है वही आत्मा का स्वरूप है और वही शुद्ध परम चैतन्य रूप है। उसका प्राप्त हुआ कदापि शोकित नहीं होता। हे मुनीश्वर! शरीर के उस आधारभूत चिदात्मा की हम उपासना करते हैं जो प्राण का भी प्राण और अपान का भी अपान है। जो सब है, जिससे यह सब है और जिसमें ही सब है ऐसे चिदात्मा के हम उपासक हैं इत्यादि। यह मेरे प्राण समाधि की अवस्था है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग।

चिरंजीविहेतुकथन वर्णन

हे मुनीश्वर! इस समाधि की अवस्था से मुझे आत्मपद प्राप्त हुआ है। इस निर्मल दृष्टि के आश्रय मे स्थित रह कर मैं एक पल भी चञ्चल नहीं होता। चलते फिरते भी मेरी यह समाधि लगी रहती है और इस प्रकार मैं सर्वदा आत्मसमाधि मे तल्लीन रहता हूँ। मुझे संसारके नित्य और अनित्यभावों की आवश्यकता नहीं। मैं सर्वदा अन्तर्मुख हो अपने आप मे स्थित रहता हूँ। मुझमे प्राण अपान-कला की धारा अहर्निश प्रवाहित होती रहती है। उस प्रवाहमे मेरी प्रगाढ़ समाधि मुझे सर्वदा सुखी बनाये रहती है। उसमे कष्ट ता नाममात्र को भी नहीं रहता। कष्ट तो उनको होता है जो इस कला से अनभिज्ञ होते हैं। इसी से अज्ञानी जीव कल्पपर्यन्त बारम्बार गोते खाते रहते हैं। पर जो पुरुषार्थ बलसे आत्मपद का प्राप्तकर चुके हैं वह सर्वदा सुखसे विचरते हैं। इसी नियम को पालन करमै भूत भविष्य और वर्तमान की चिन्ता से रहित होकर निर्विघ्न विचरता हूँ। मुझे स्वरूप मात्र में भावाभाव पदार्थ नही भासते। इसीसे मै दुःख रहित और चिरजीवी हूँ। आज ... कुछ नही है और न मैं किसी की प्रशंसा

करता हूँ न किसी की निन्दा। मेरे सुखी रहनेका यही कारण है कि मैं सब मे एक आत्म भाव ही देखता हूँ। इष्ट अनिष्ट का मुझे कोई हर्ष और शोक नहीं होता। इसी कारण मैं निर्दुख जीवित हूँ। मेरे मनमे चञ्चलता और रागद्वेष नष्ट होगया है। मेरे लिए काष्ठ, सुन्दर स्त्री, तृण, पर्वत, अग्नि और सुवर्ण सब एक से हैं। मुझे जरामरण के दु.ख और राज्य-लाभ के सुख का कोई हर्ष विस्मय नहीं, मैं सर्वदा समभाव मे स्थित रहता हूँ। बन्धु-बान्धव और मेरे पराये की मुझको कोई भावना नहीं है। यहाँ तक कि मुझे शरीर का भी कोई अभिमान नही है। मैं सर्वदा और सब पदार्थों मे समभाव रहता हूँ। मेरे लिए कोई विषमता नहीं और न मैं किसी मे सुखी हूँ और न किसी से दु खी हूँ कि मैं ही सर्वात्मा हूँ। इसमे मेरी वाणी और मेरा निश्चय सबको मधुर और हृदय गम्य है। ऐसी दृष्टि ही मुझे सर्वदा दु ख रहित बनाये रहती है इत्यादि इस प्रकार की और भी बहुत सी बातें भुशुण्डि ने वर्णन किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग।

भुशुण्डि उपाख्यान समाप्ति वर्णन

भुशुण्डजी के इन आत्म उदित रूपी वचनो को सुनकर वशिष्ठजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुये उन्हे अनेक प्रकार का धन्यवाद दिया और अपने को भी उनका दर्शन पाने से भाग्यवान माना। उसके पश्चात आज्ञा लेकर जब वशिष्ठजी चलनेको तैयार हुये तब कल्पलता से उठकर भुशुण्डि ने अयन्त विनम्र भाव से उनका पूजन किया और अर्घपाद्य दे प्रणाम किया। उत्तर मे वशिष्ठ जी भी भुशुण्डिजी को नमस्कार कर अपने योगबल से आकाशमार्ग को उडकर चले। साथमे भुशुण्डिजी भी पहुँचाने को उडे। जब दोनों एक योजन उड चले तब वशिष्ठजीने बहुत कह सुनकर उन्हे लौटाया।

वशिष्ठजी कहते हैं कि—मैं जब तक अदृश्य न होगया तब तक वह मुझे बार-बार देखते रहे। पश्चात् मैं उडता-उडता अपने मण्डल मे जा पहुँचा और अरुन्धतीने मेरा पूजन किया। हे रामजी! भुशुण्डिका और मेरा यह समागम सतयुग के दो सौ वर्ष बीत जानेपर हुआ था। अब सतयुग क्षीण होगया और त्रेतायुग चल रहा है जिसमे तुम उत्पन्न हुये हो। अभी आठ वर्ष होता है कि हमारा और उसका मिलाप फिर हुआ था। वह अब भी उसी वृक्षलता पर निवास करता है। हमारा और भुशुण्डि का यह समागम बडे महत्त्व का था। जो इसपर विचार करेंगे वे संसार-सागर से तर जायँगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग।

परमार्थ योग-उपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे निष्पाप रामचन्द्र! जिस बोध द्वारा भुशुण्डि ने महान संकटो को पार किया है, उस प्राण मुक्ति का अभ्यास करके तुम भी भवसागर के पार होवो। प्राण-अपान के अभ्यास बल से ही भुशुण्डि को परम तत्व प्राप्त हुआ है, इससे तुम भी ज्ञानयोग से पाने योग्य पद को प्राप्त करो। फिर जैसी इच्छा हो वैसा करना।

इसपर वशिष्ठजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुये रामजी ने पूछा कि, हे भगवन! भुशुण्डि का यह चरित्र जो आपने परमार्थ बोधके लिये वर्णन किया है उसमे रक्त, मास और अस्थिरूपी गृह किसने निर्माण किया है। वह कहाँ से उत्पन्न हुआ, कैसे स्थित हुआ और उसमे कौन स्थित है? वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी! अस्थियाँ ही इस शरीररूपी गृह की स्तम्भ हैं। इसमे नव द्वारे है। यह रक्त, मांस से लेपन किया हुआ है। इसका निर्माणकर्ता कोई नहीं, यह आभास मात्र और मिथ्याभ्रम से भासता है। शरीर का भास होना तो अज्ञानता है। ज्ञान होने से वह असत्यरूप भासता है। जिस प्रकार सूर्य

की किरणों मे मरुस्थल का जल भासता है वैसे ही आत्मा में देह भासता है। हे रामजी! यह सारा जगत आभास मात्र है, इसमें अहं, त्वं आदिक कल्पनायें सब मननमात्र मन में फुरी है। तुम जिस अस्थि मांस और रक्तरूपी शरीर (गृह) के सम्बन्ध मे पूछते हो, वह अस्थि मांस से नहीं रचा गया है, वल्कि सकल्प मात्र है। संकल्प नाश होने से इसका पता नहीं चलता। जैसे स्वप्न मे शरीर धारण कर देशकाल आदिक क्रियायें देखने मे आती है और जाग्रत होने पर उस शरीर का पता नहीं चलता वैसे ही इस शरीर की भी दशा है। यह धन, यह शरीर और यह देश मेरा है ऐसी कल्पना मनने की ही है। इससे सबका बीज मन है। जगत की वास्तविकता मे मनोराज के सिवा और कुछ नहीं है। पर इसको नि स्सारता तब प्रकट होती है जब परमात्मतत्व का दृढ अभ्यास किया जाय। अन्यथा हृदय की दृढ भावना का अभाव होना सरल नहीं, जब उसका विपर्यय अभ्यास किया तब अभाव होता है। पर वह अभ्यास तीव्र होना चाहिए तब उसकी भावना फलदायक होती है। तीव्र भी ऐसा, जैसे कामी पुरुष को सुन्दर स्त्री की तीव्र भावना रहती है। जब जीवको आत्मपद की ऐसी चिन्ता रहे तब वैसा रूप प्रकट होता है। उस रूप के प्रकट होने पर प्राणी आत्मज्ञान से पूर्ण होकर निर्भय हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य अभ्यास द्वारा जब जीव निर्मलपद को प्राप्त होता है तब उसे क्षोभ नहीं प्राप्त होता और रागद्वेषरूपी आवरण उसको नहीं स्पर्श करते। जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा सुवर्ण हो जाता है वैसे ही जीव निर्मल हो जाता है। इससे अह, त्व आदिक जो जगत् है, वह केवल आभासमात्र है। इसलिए चित्त को शान्त करने के लिये सत्यासत्य की छान-बीन करके असत् का परित्याग और सत् का अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से ही तत्त्ववेत्ता और सम्यक्दर्शी को जगत्‌के इष्टानिष्ट पदार्थ हर्ष और शोकदायक नहीं होते और किसी की स्तुति और निन्दा न करते हुए सर्वदा हृदय में शीतल और शान्त भाव

रखते हैं। क्योंकि जितना भोग है वह अवश्य प्राप्त होगा फिर हर्ष और शोक किस लिये ? सुख और दुःख तो शरीर के व्यवहार हैं और यह बराबर आते-जाते रहतेहैं और अमिट है। फिर शोक क्यों किया जाय ? क्योंकि सत्य असत्य नहीं हो सकता और असत्य सत्य नहीं होता। फिर संसारमे आकर किसलिये द्वेष किया जाय। फिर दु:ख तो कोई वस्तु नहीं। विचार रहित होना ही दु:ख है। सत्यासत्य के मीमांसक जो सम्यकदर्शी और मुनीश्वर है उनको दु:ख नही होता। कारण कि समदर्शिता से उनका हृदय शीतल होता है और वे कर्तव्य के कर्त्तापन का अभिमान नहीं रखते। इस कारण ससार के पदार्थोंको हृदयसे आभासमात्र समझकर जैसे आचार हो वैसाही ग्रहण और त्याग कर आभास रहित होकर स्थित रहो। मै ही नित्य और शाश्वत हूँ चाहे ऐसा एकान्तिक अभ्यास कर,निर्मल अपने आपको देखो। अथवा न मै हूँ, न यह भोग है और न यह जगत जाल कुछ है, मै ही सब कुछ हूँ, चाहे ऐसा अभ्यास करो तब तुमको सिद्धता प्राप्त हो। इन दोनो मे तुमको जो सुगम हो उस अभ्यास को करो। पर यह दोनों चितवन मिथ्याहैं, इनका परित्यागकर तुम आभासरहित होजावो। क्योंकि तुम सर्वव्यापी हो इससे तुमको विधि और निषेध का आश्रय करके निर्मल अद्वैत मे ही रहना चाहिए। सारी क्रियायें करो, पर रागद्वेष से रहित रहो। रागद्वेष से रहित रहने पर तुमको उत्तमपद ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी और परम अधिष्ठान तत्व को प्राप्त करोगे अन्यथा रागद्वेषरूपी अग्निसे यदि बारम्बार तुम्हारा हृदय जलता ही रहेगा तो सन्तोष वैराग आदिक गुण नही प्राप्त होंगे। जिस प्रकार जलती हुई पृथ्वीके वनमे हिरण पॉव नही रखते वैसे ही रागद्वेष वाले हृदय मे सन्तोष आदि नही प्रविष्ट करते। यह हृदय ही कल्प वृक्ष है। जब इस कल्पतरु मे रागद्वेष रूपी नाग नहीं लिपटेंगे तब ऐसा कौन पदार्थ है कि न प्राप्त हो। शुद्ध हृदयवाले को सब कुछ प्राप्त होता है। चाहे कैसा भी धु[illegible] और शास्त्रज्ञ क्यो न हो यदि वह रागद्वेष से जल रहा [illegible] स्यार के समान नीच है और

उसको बारम्बार धिकार है। रागद्वेष करके वह जिन पदार्थों का सग्रह करता है वे आते तो अवश्य है पर उनको और ही ले जातेहैं फिर रागद्वेष किससे किया जाय। जो भोग है वह अवश्य प्राप्त होगा फिर धन के लिये व्यर्थ का यत्न क्या किया जाय। बान्धव और वस्त्र ता आते-जाते रहते है। यह जानकर ही ज्ञानी जगतके पदार्थों का आश्रय नहीं करते। भगवान की माया भावाभाव रूप धारण करती रहती है, इससे ससार की सारी रचना असत्य है। केवल संकल्प रूप अभ्यास के वश से दृढ़ता को प्राप्त हुआ है। इसकी जा भित्ति आकारवत भासती है वह आकार रहित प्रकाशरूप है और आत्मपद सुपुप्ति के समान अद्वैतरूप है। उस सुपुप्तिरूप पद से जब गिरता है तब दीर्घ स्वप्न को देखता है। आशय यह कि अज्ञान वश प्राणी ससार स्वप्न को देख रहा है। ज्ञान होने से आत्मपद को प्राप्त होजाता है। वह आत्मपदरूपी सूर्य सब दुःखोंसे रहित है। पर जो पुरुप घोर निद्रा में पडा हुआ है वह सूक्ष्म वचनों से नहीं जागता, बडा शब्द करने और जल डालनेसे जागता है सो मैंने तुमपर मेघ की नाईं गरजकर वचनरूपी जल की वृष्टि की है। मेरे ये वचन ज्ञानपूर्ण और शीतल हैं उनसे अब तुमको बोध प्राप्त हुआ है। अतएव अब तुम ज्ञानरूपी सूर्य से जगत को भ्रमरूप देखोगे। हे रामजी! तुम्हारे लिये जन्म, मरण, दुःख और भ्रम कुछ नहीं है। तुम सकल्प रहित आत्म-पुरुप अपने आप में स्थित हो। तुम्हारी वृत्ति समशान्त और सुपुप्ति के समान है। इससे तुम अपने शुद्ध-स्वरूप मे ही स्थित रहो।

श्री योगवाशिष्ट भाषा निर्वाण प्रकरण का अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त॥ २८॥

उन्तीसवाँ सर्ग ।

ईश्वरोपाख्यान जगत् परमात्म रूप वर्णन

वाल्मीकिजी कहते है कि वशिष्ठजी के इस कथन को सुनकर रामजी सम, शान्त और चेतनतत्व मे विश्राम पाकर परम आनन्द को प्राप्त हुये और सभा मे भी जितने श्रोताजन बैठे थे वह भी आत्मसमाधि मे स्थित हो शान्त हो गये। तब एक घण्टे के पश्चात् वशिष्ठजी फिर कहने लगे—हे रामजी ! ससाररूपी चक्र का नाभिस्थान ही चित्त है। जब उस नाभि मे स्थिरता प्राप्त हो तब ससार शान्त प्रतीत होता है। अन्यथा इस ससार-चक्र का वेग वडा ही तीव्र है और बार-बार यत्न करने पर भी यह फुर आता है। परन्तु दृढ़ अभ्यास से रुक भी जाता है। इसमे सत्सङ्ग और सच्छास्त्र के वाक्य बडे सहायक होते हैं। ऐसे पुरुपार्थ का आश्रय करने से परम शान्तपद की प्राप्ति अवश्य होती है। हे रामजी ! संसार असत्य है, अज्ञान और भ्रम से सत्य की नाईं भास रहा है। जो मूर्ख इन असत्य रूप पदार्थो मे रागद्वेप करते हैं वह तो पत्र पर चित्रित चित्र से गिरे हुए हैं। क्योंकि वे दिन रात इष्ट अनिष्ट की चिन्ता और हर्ष मे रागद्वेप किया करते हैं। पर चित्र का पुरुप ऐसा नही करता। वह पत्र सदृश नाशवान वस्तु के आधार रहते हुए भी सदा अचल रहता है। किन्तु यह मनुष्य अविनाशी के आधार रहते हुए भी अपने को नाश हुआ मानता है। इसलिये यह चित्र के पुरुप से भी गिरा हुआ है। मनुष्य की यह शरीर भी मनोराज के उस शरीर से जो संकल्पों की केवल रचना मात्र है-तुच्छ है। क्योंकि मनोराज की शरीर मे यदि कदाचित दु:ख आ भी गया तो वह दीर्घ काल तक न रहकर झट अन्य सङ्कल्प के खड़ा होते ही नष्ट हो जाता है परन्तु इस स्थूल शरीर से ऐसी आशा नही। इसलिये यह भी महान् तुच्छ है। हे रामजी ! इसकी तुच्छता का एक यह भी प्रमाण जानो कि मूर्ख इसके भोग के लिये अनेक यत्न करते हुए कष्ट पाते हैं।

उनको अभिमान वश यह पता नही कि सुख दु:ख तो केवल शरीर का है, इसके नष्ट हाने से मैं नही नष्ट हो सकता। क्योंकि मैं आत्मा हूँ और स्थूल शरीरसे मेरा क्या सम्बन्ध। शरीर की रचना तो सङ्कल्पो से हुई है और यह सङ्कल्प रचना विनाशरूप है। यद्यपि यह स्वप्नमय देह दीर्घकाल की रची हुई है तथापि इसके दु:ख और नाश से आत्मा दुखी और नष्ट नहीं होता। यह आत्मसत्ता सर्वदा अचल अविकारी, शुद्ध और अच्युत रूप अपने आप में स्थित है। केवल अज्ञानके दृढ अभ्यासने ही देही धर्मको स्वीकार कर अपने समान बना लिया है। किन्तु आत्मा का दृढ अभ्यास होनेसे इस देही धर्म का लोप हो जाता है। यह अज्ञान-भ्रमके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं। इसीसे यह कहता है कि मेरा सर्वनाश हो गया और मुझको दु:ख हो रहा है इत्यादि। पर यह सारी कल्पनायें अज्ञान से भासती है और इस भ्रमदृष्टि को धैर्य से निवृत्त करने से नष्ट हो जाती है। आत्मा मे शरीर रस्सी मे सर्प के समान ही असत्य है। इसको कुछ कर्म करने और मुक्त होने की इच्छा नहीं है। ईश्वर परमात्मा भी कुछ नहीं करता केवल शुद्ध द्रष्टा और सबको प्रकाश देनेवाला है। इसलिये तुम शुद्ध स्वरूप अपने आप मे स्थित होवो। क्योंकि आत्मा ही सबका साक्षीभूत है और आत्मा के आश्रय ही शरीर आदि की चेष्टा होती है किन्तु वह पाप पुण्य से रहित है। यह शरीररूपी शून्य गृह केवल अहंकाररूपी पिशाच की कल्पना करके जीव को दु:ख दे रहा है। वह पिशाच बड़ा नीच और निन्द्य है। यदि अहंकाररूपी वेताल इस शरीरसे निकल जाय तो फिर आनन्दही आनन्द है। इस नीच के पीछे चलकर ही पुरुष नरक को प्राप्त होते है, इसलिये तुम इसका आज्ञाकारी मत बनो। आत्मा और अहंकार का सम्बन्ध नहीं है। चित्त को आत्मा समझनेवाले बडे मूर्ख हैं। क्योंकि चित्त मूढ है और आत्मा चेतनरूप है। इसलिये तुम चित्तके मोहसे तरो। जो चित्तरूपी वेताल के वश में पडा है उसको बान्धव और शास्त्र भी नहीं छुडा सकते। परन्तु जो शरीराभिमान से रहित है उसको गुरु और शास्त्र

मुक्त कर देते है। यो तो कोई भी शरीरगृह ऐसा नही है कि जिसमे अहंकार रूपी पिशाचने अपना आसन न लगाया हो, परन्तु उसका दृढ़ वास उसी गृहमे जानो कि जिसमे सन्तोष, विचार, अभ्यास और सत्सङ्ग का अभाव होवे। पर जहाँ इनका अभाव न होवे उस शरीरमे यह नहीं वास कर सकता। हे रामजी! समस्त शरीरधारियो को चित्तरूपी वैताल, जगतरूपी महावन मे भुलाकर मोह देता रहता है। इसलिये तुम सत्य, विचार और धैर्यबल से शीघ्र अपना उद्धार करो। क्योंकि यह जगतरूपी पुरातन बन है और इसमे भोगरूपी तृष्णा बहुत सुन्दर है पर उसके नीचे बहुत बडी खाई है। जीवरूपी मृग भोगो की रमणीयता पर मुग्ध होकर उनके भोगनेकी लालसा एवं तृष्णा से नरक आदिक जन्मों मे गिरते है पर तुम ऐसा मत होवो। क्योकि भोग-तृष्णा तो नरक मे गिरानेवाली है। इससे तुम इसकी तृष्णा का परित्याग कर दो। हे रामजी! देखने मे जो स्त्री रमणीय भासती है उसका आलिङ्गन अल्पकाल ही के लिये सुखदायक है, अन्त मे वह कीचड़ के ही समान है। जो पुरुष इस खाई मे गिरता है उसका निकलना अत्यन्त दुस्तर है। इसलिये तुम सत्वृत्ति का आश्रय कर ग्रहण और त्यागवाली असत्वृत्ति का परित्याग कर केवल आत्मतत्व का आश्रय करो। अन्यथा इस अस्थि मांस और रक्त से पूर्ण अवित्र शरीर तो दिन रात दुष्ट आचार मे ही सलग्न रहेगी। इसके लिये भोगेच्छा परमार्थ साधन मे सहायक नही हो सकती। क्योकि इस शरीर को तो सकल्प ने रचा है और प्राण से चेष्टा करता हुआ इसमे अहंकाररूपी पिशाच बैठकर गर्जन करता है। जिससे मन की वृत्तियाँ सुख और दु.ख को ग्रहण करती हैं और जीव को दु.ख होता है। यह बडा आश्चर्य है। किन्तु परमार्थसत्ता एक है और सर्व समान है। उसमे द्वैतभाव नही, जड और चेतन की कल्पना भी असत्य है। ऐसी कल्पना तो यथार्थ दृष्टि के अभावसे ही प्रकट होती है। पर जब यथार्थ दृष्टि प्राप्त होजाती है तो यह भेद कल्पना स्वयं ही नष्ट हो जाती है। भला, विचारने की बात है कि जो सत्य है वह असत्य कैसे ... है और जो असत्य है वह सत्य

केसे हो सकता है। फिर जो आत्मा सर्वदा सत्य रूप अपने आप में स्थित है उसमे यह भारी भेद कहाँ से आया। द्वैत को कौन कहे उसमे तो एकका भी अभाव है। पर यह कल्पना तब नष्ट हो जाती है जब चित्त नष्ट हो। यह चेतन है, यह जड है यह उत्पन्न होता है, यह नाशवान है इत्यादि समस्त कल्पनायें असत्य है। गुरु और शास्त्र भी आत्मा को ही चेतन बतलाते है और आत्मस्वरूप में स्थित्त करने के लिये ऐसे ही दृष्टान्त देते है। उनके उपदेश द्वारा जब स्वरूप मे स्थिति प्राप्त हो जाती है तब यह जड और चेतनकी भेद कल्पना नष्ट हो जाती है और केवल तत्व वस्तु भासती है। परन्तु जो मूर्ख होते है वे गुरु द्वारा जड और चेतन का विभाग किये जाने पर भी उस उपदेश को नहीं ग्रहण करते। हे रामजी। वडा आश्चर्य तो यह है कि चित्त, इन्द्रियाँ और शरीर भिन्न भिन्न है और शरीर का कोई कर्ता दृष्टि नही आता फिर भी अहकार से वेष्ठित हो यह जीव दुःख पाया करता है। किन्तु जो विचारवान पुरुष आत्मपद मे स्थित है उनको कोई क्रिया दुःखदायक नहीं होती। हे रामजी! शीश, नेत्र, रक्त, मास, अस्थि, मन और समस्त भूत जातियों से भी परे चित्त रहित केवल चिन्मात्र और साक्षी रूप हो। इसलिये इस देह की ममता त्याग कर नित्य शुद्ध और सर्वगत आत्मस्वरूप मे स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

तीसवाँ सर्ग।

रुद्र वशिष्ठ समागम्

वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी! ऐसी दृष्टि का आश्रय करने से तुमको आत्मानन्द की ऐसी प्राप्ति होगी कि उसके आगे तुमको अष्ट सिद्धियो का ऐश्वर्य भी फीका लगेगा। एक दृष्टि और है। यह मोह का नाश करके पाने योग्य कठिन आत्मपद को सुख से प्राप्त कराती है। इस दु.ख रहित दृष्टि को शिवजी से मैने सुना

है। हे रामजी! वन हिमालय पर्वत के कैलाश शिखर पर जहाँ शिव जी स्वामिकार्तिक और अपने गणो सहित अत्यन्त रमणीय शून्य स्थान मे बैठे तपस्या कर रहे थे वहाँ जाकर मैने उनकी पूजा की और फिर एक कमण्डल और फूल माला लेकर पास ही मे एक गुफा बना कर मै तप करने लगा। उस समय मै केवल जल पी कर और कुछ फल खाकर रहता था। मेरे साथ कुछ विद्यार्थी भी थे, समय निकाल कर उनको पढ़ाता था और शास्त्रोके अर्थ पर भी विचार करता था। इसी क्रम से मै अपना तप काल करने लगा। एक बार मैने लम्बी समाधि लगाई। और श्रावण वदी अष्टमी की अर्द्ध रात्रि को मै समाधि से जाग्रत हुआ। जाग्रत होने पर मैने देखा कि समस्त दिशाये शान्त हैं और प्रकृति की अनोखी छटा यत्र तत्र जगमगा रही है। कुछ देर के घोर अन्धकार के पश्चात् निर्मल चन्द्रमा उदय होकर अपनी अमृतमय किरणो से चन्द्रमुखी कमलो को प्रफुल्लित कर रहे है। सप्तर्षि और तारागण उपर ऐसे मँड़रा रहे थे मानो मेरे तप को देखने आये हो। उन सप्तर्षियों के पीछे तीनतारे है और उनके मध्यमे उस समय का मेरा मन्दिर है। उसी मन्दिर मे मै सदा विराजमान रहता हूँ। इस अवस्था के कुछ देर बाद मुझे अनेक अनोखी छटा दिखलाई पडने लगी। कही माखन का पहाड खड़ा था, कही शखो की तुमुल-ध्वनि हो रही थी और कही मोतियों का समूह एक चित होकर उड रहा था और कही गंगा का प्रवाह उछल रहा था। इन दृश्यो को देखकर मैं विचारने लगा कि यह क्या है। तब तक मुझे दिखलाई पड़ा कि शिवजी अपने गणो के साथ गौरी भगवती का पाणि पकडे हुये चले आ रहे हैं। इस प्रकार मन से ही देखकर मैने मन से ही मन्दार पुष्प लेकर मन से ही प्रणाम किया और मन से ही प्रदक्षिणा कर आसन से चल खड़ा हुआ। तब चन्द्रकलाधारी शिव जी ने मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखकर कहा,—हे विप्र! अर्घ्यपाद्य

ले आवो, में तेरे आश्रम में अतिथि होकर आया हूँ। हे निष्पाप ! तुम्हारा कल्याण हो। यह कह कर शिवजी अपने भृत्यों सहित मेरी गुफा में आये। तब मैंने यथाविधि चरण से सिर पर्यन्त गणों सहित शिवजी का पूजन किया। इस प्रकार जब पूर्ण भाव भक्ति सहित शशिकलाधारी भगवान शिवजी का पूजन कर चुका तब शिवजी ने मुझसे कहा, हे विप्र ! अनेक प्रकार की चिन्तन करने वाली जितनी चित्तवृत्तियाँ हैं अब तेरे स्वरूप मे विश्रान्त को प्राप्त हुई है और तेरी सवित आत्मपद मे स्थिति हुई है। पर यह तो कहो कि तुम्हें इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति मे खेद तो नहीं होता ? अ र इस पर्वत पर कुवेर के जो निशाचर विचरते हैं वह तुमको कष्ट तो नहीं देते ? हे रामजी ! शिवजी के ऐसा पूछने पर मैंने कहा,– हे भगवन् ! आपका स्मरण करनेवाले को इस लोकमे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जो न प्राप्त हो और ऐसा कौन है जो आपके सेवक को कष्ट दे सके। जो आपके चरणों का स्मरण करते हैं उनको सब ओर से पूर्ण आनन्द है और वे जगत मे किसी प्रकार दीन नहीं होते। जिस समय और जिस दिशा मे एकान्त बुद्धि बैठ कर आप का ध्यान किया जाय वही समय और वही दिशायें वन्दनीय है। हे प्रभो ! आप का ध्यान समस्त आपदाओं का नाश करने वाला और सर्व सम्पदारूपी लता को बढाने वाला वसन्त ऋतु है। आपका स्मरण ज्ञान खानि और अघ की हानि करनेवाला है। यदि एक क्षण भी शान्त चित्त से आप का स्मरण किया जाय तो सारे दु ख और क्लेश नष्ट हो जाँय। वाल्मीकि जी कहते हैं कि यह कथा समाप्त भी न हो पायी थी कि इतने मे दिन का अन्त हुआ और सभा के लोग परस्पर प्रणाम आदि करके अपने-अपने स्थानको गये। दूसरे दिन सूर्य भगवानके उदय होतेही फिर अपने २ स्थानों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग

देवार्चन-विधान वर्णन।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! मेरे ऐसा कहने पर माता गोरी ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक मुझसे पूछा कि हे वशिष्ठजी! पतिव्रताओं मे श्रेष्ठ अरुन्धतीजी कहाँ हैं? उनको ले आइए वह मेरी प्रिय सखी है, मै उनसे कुई वार्ता करने आई हूँ। हे रामजी! जब पार्वतीजी ने मुझसे ऐसा कहा तब मे जाकर अरुन्धती को बुला लाया। फिर दोनों परस्पर वार्तालाप करने लगीं। इधर मैंने शशिकलाधारी शिवजीसे अनेक अनुनय विनय करके पूछा कि, हे प्रभो! देव अर्चन का विधान क्या है, कृपाकर मुझे बतलाइए। तब शिवजो कहने लगे,—हे विप्रश्रेष्ठ! तुम देव किसको मानते हो? ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सहस्र नेत्रधारी इन्द्र देवजी नहीं है और पवन, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और तुम तथा मै भी देव नहीं हूँ। यह देह और चित्त भी देव नहा है। सच्चा देव वह है जिसमे कलनारूप नहीं है और जो अकृत्रिम, अनादि तथा अनन्त है। उसीका नाम देव है। देव शब्द से उसी का पूजन किया जाता है। वह सत्ता शान्त और आत्मरूप है। उसीको सब में सर्वत्र देखना यही उसका पूजन है। परन्तु जिसको उस सचित तत्व का ज्ञान नहीं है, उसके लिये आकार अर्चना की आवश्यकता है। जैसे जो पुरुष योजनपर्यन्त नही चल सकता उसके लिए एक दो कोस चलना भी अच्छा है। इस प्रकार जो पुरुष अकृत्रिम देव की उपासना नहीं कर सकता उसको आकार की उपासना करना अच्छा है। उस उपासनामे भावना के अनुसार उपासक को भोग के लिये फल प्राप्त होता है। जो उस अकृत्रिम अनन्तदेव की उपासना करता है, उसको परमात्मा वही फल देता है। जो अकृत्रिम फल को त्यागकर कृत्रिम फल की कांक्षा करते है वह ऐसे हें जैसे ही कोई मन्दार वृक्ष को त्यागकर कञ्ज के वन को प्राप्त हो। उस देव की पूजा क्या है और कैसे होती हे सुनो।

बोध, साम्य और शम यह तीन पुष्प हैं। बोध कहते हैं सम्यक्ज्ञान को अर्थात् आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान और साम्य कहते हैं सब में पूर्ण देखने को और शम कहते हैं चित्त निवृत्तिको और चित्त निवृत्ति का अर्थ है आत्मतत्व से भिन्न कुछ न फुरना। इन्हीं तीनों पुष्पोंसे चिन्मात्र देव की पूजा होती है। उसके अर्चन के लिये आकार अर्चन की आवश्यकता नहीं। जो प्राणी आत्मसवित चिन्मात्र को त्याग कर जड़ की उपासना (पूजा) करते हैं। वे चिरकाल तक क्लेश भोगते हैं। इसीसे तो ज्ञान-ज्ञेय पुरुषों ने आत्मज्ञान से भिन्न पूजन अर्चन को बालकों का खेल कहा है। अस्तु, निराकार भगवान आत्मा जो परम कारणरूप है उसका सर्वदा ज्ञान रखना ही देव का पूजन है, अन्य कोई पूजा नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग।

शरीरपात-विचार वर्णन

शिवजी ने कहा,—हे विप्र! सारा विश्व परमात्मा का ही स्वरूप है और परमात्माकाश ब्रह्म ही एक देव कहलाता है। उसी का पूजन मुख्य है और उसी से सब फल प्राप्त होते हैं। वही देव सर्वज्ञ है और उसी में सब स्थित है। वह अकृत्रिम देव अज और अखण्ड है। जो परमसुख के अभिलाषी हों उनको चाहिए कि साधन द्वारा उसे प्राप्त करें। हे वशिष्ठ! तुम श्रेष्ठ जिज्ञासु हो इससे मैंने देव अर्चन का यह प्रकार तुमसे बतलाया है। पर जो जिज्ञासु नहीं है और जिनकी बुद्धि बालकों के समान अनिश्चयात्मक है उनके लिये धूप, दीप और पुष्पादि की अर्चना ही योग्य है। पर उनकी यह आकार युक्त कल्पित देवकल्पना मिथ्या है। हे मुने! जो प्राणी अपने सङ्कल्पों में देवता की रचना करके उसपर धूप, दीप, चन्दन और दूध चढ़ाते फिरते हैं वह उनकी केवल भावना मात्र है। इसीसे उनको सङ्कल्परचित फल भी प्राप्त होता है।

पर यह अर्चना केवल वाल विनोद है। वह वाल विनोद अर्चना तुम्हारे लिये नहीं है। तुम्हारे जैसों के लिये तो सर्व आत्म भावना का ही अर्चन श्रेष्ठ है। स्वय मेरा सिद्धांत भी ऐसा ही है कि एक देव ही तीनो लोकों मे व्याप्त है। मुझ मे तुझ मे और चार प्रकार के समस्त भूत जातियो मे वही स्थित है। समस्त त्रैलोकी उसी देव से चैतन्य हो रहा है। वही चिन्मात्र देव जगत का सार भूत, पूजनीय और सब अभीष्ठों का सिद्धिदाता है। वह देव दूर नही है और उसको प्राप्त करना भी कठिन नही है। क्योंकि वह सब मे स्थित सब की आत्मा ही है। शास्त्रकारो ने उसी को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। चराचर भूतप्राणियोंके मन की जितनी क्रियाये मन करता है सब आत्मा के ही आश्रय होती हैं। वह आत्मा समस्त संसार का प्रकाशक, सब से रहित, नित्य शुद्ध और अद्वेत रूप है। वह एक रूप आत्मा ही अनेक रूप हो कर भासती है। देव, दानव और मनुष्य सब उसी एक देव मे स्थित हैं। यही नहीं समुद्र पहाड़ आदि सब में वही एक तत्व विद्यमान है, सारा जगत उस आत्मा का ही चमत्कार है। उसी परमात्मा मे समस्त जीव प्रवाहित हो रहे हैं। चतुर्भुज रूप धारण कर वही चेतन सत्ता दैत्यो का संहार करती है। जैसे एक सुवर्ण से अनेक रूप के भूषण होते हैं। वैसे ही एक चेतनतत्व अनेक रूप होकर स्थित होता है। इन्द्र और ब्रह्मा आदिक सब उसी एक चेतन सत्ता से हुये है और समस्त शरीर उस एक चेतन तत्वसे ही बने है। हे मुनीश्वर। उस एक चेतन सत्ता ने ही समस्त जगत के प्रतिबिम्ब को धारण किया है और समस्त क्रिया उसी एक देव से सिद्ध हो रही है तथा सूर्य आदि मे प्रकाशित उसी का प्रकाश है। भाव अभाव प्रकाश, अन्धकार सब उसी चेतन से है। आशय यह कि समस्त पदार्थ उस एक आत्मा ही से सिद्ध हो रहे हैं। हे मुने। इस शरीर वृक्ष मे शाखायें तो अनेक हैं, पर चेतन रूपी मञ्जरी के बिना शोभायमान नही होता और

रसहीन वृक्ष बढ नहीं सकता, वैसे ही चेतन बिना शरीरोन्नति का विकार आत्मा बिना सिद्ध नहीं होता।

यह कह कर वशिष्ठ जी ने कहा,–हे रामजी! जब शिवजी ने मुझसे ऐसा कहा, तब मैंने पूछा कि–हे देवेश! यह तो हमने माना कि चेतनतत्व ही सर्वत्र व्याप्त है पर इस प्रकार विस्तृत होने के पूर्व वह तत्व था, अब तो विस्तृत हो जाने पर वह चैतन्यता से शून्य है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव कैसे हो, कृपा कर मुझे बतलाइये? शिव जी ने कहा–हे ब्राह्मण! शरीरमे दो चेतन स्वरूप हैं। एक चैतन्योमुखत्व अर्थात् जीव दूसरा निर्विकल्प आत्मा। जो चैतन्योमुखत्व दृश्य से मिला हुआ है वह जीव है पर वह जीव भी चेतन स्वरूप से पृथक नहीं है। केवल चित्तसत्ता के फुरने से अन्यरूप हो जाता है। आदि मे चित्त स्पन्द चित्तकला मे हुआ है, तब शब्द को ग्रहण करके आकाश से स्पर्श और स्पर्श से वायु आदि पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। फिर देश का विभाग हुआ जिसमे जीव प्रतिबिम्बित हुआ। फिर निश्चयात्मक वृत्ति उत्पन्न हुई जिसका नाम बुद्धि पडा। उस बुद्धिमें जब अहं वृत्ति उत्पन्न हुई तब उसका नाम अहङ्कार हुआ। तदुपरान्त सङ्कल्प विकल्प वृत्ति उठी जिसका नाम मन हुआ। मन के चिन्तन से चित्त हुआ जिससे संसार की भावना हुई तब ससारका अनुभव हुआ और फिर अभ्यासवश ससार भासने लगा। जैसे उलटे ज्ञान से ब्राह्मण अपने को शूद्र माने, वैसे ही भावना के उलटे ज्ञान से चेतन अपने को जीव मानने लगा। इस प्रकार संकल्प विकल्प आदि विकार के वश होकर चैतन्य शरीर भाव को प्राप्त हुआ चित्त-मन मोहित हो जड़ता का आश्रय लेकर जन्म मरण के चक्कर में पडा हुआ गर्भ आदिक अनेकों दुःख भोगता रहता है। और इस प्रकार स्वरूप से गिर कर कभी स्थिर नहीं होता। स्वरूप से गिरा हुआ अनात्मामे अहं करके दुःख का अनुभव करता है। पर यह उसकी भूल है। क्योंकि शुद्ध चेतन में चित्तभाव होकर चित्तकला के फुरने से जगत का कारण हुआ है,

परन्तु वास्तवमे स्वरूपसे भिन्न कुछ नही है। हे मुने! चेतन सत्ता ही जड दृश्य को अङ्गीकार कर जीवत्व को प्राप्त हुआ है। वही जीव अर्थात् मन प्राणरूपी रथ पर चढ़ कर पदार्थों की भावना से अनेक भेद को प्राप्त हुये के समान स्थित हुआ है। आशय यह है कि चेतन ही अनेक प्रकार होकर स्थित हुआ है और यह जीव कला ही आत्मा की सत्ता को प्राप्त कर वृत्ति मे फुरन रूप होती है। जैसे सूर्य की सत्ता को पाकर नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं, वैसे ही परमात्मा की सत्ता को पाकर जीव वृत्ति में फुरता है और चित्ततत्व मे स्थित परमात्मा से फुरणरूप जीवित रहता है। यह जीव आधि व्याधियों से जो दुःखी रहता है, उसका कारण यही है कि इसने अपने स्वरूप को भुला दिया है और सांसारिक भोग पदार्थों की ओर लगा है। फिर तो दुःख और दीनता का प्राप्त होना अनिवार्य है। अत. सूर्य पर बादलों के घिरने के समान ही मूढता ने आत्मा को घेर लिया है। जब तक प्राण रूपी वायु का अभ्यास न होगा तब तक यह जडता कैसे निवृत्त होगी? अस्तु प्राणों का अभ्यास करके जडता को दूर कर आत्म स्मरण करना चाहिए। इसके लिये वासनाओं को निर्मल करने की आवश्यकता है। इसमे भी कई प्रकार हैं। पर जिनकी वासनाये निर्मल हुई हैं किन्तु उनका समूलनाश नहीं हुआ है, वह स्थिर होकर एक रूप हो जाती है और वे जीव जीवन्मुक्त होकर चिरकाल तक जीवित रहतेहैं और हृदयकमल मे प्राणों को रोक कर शान्ति को प्राप्त होते हैं। फिर तो काष्ठ और लोष्ठ के सदृश उनकी शरीर गिर पडती है और पुर्यष्टका आकाश मे सदा के लिये लीन हो जाती है। पर जिनकी वासनाओं का नाश नही होता, मरणोपरान्त उनकी पुर्यष्टका आकाश मे स्थित हो फिर उठती है और तब उस वासना के अनुसार वह स्वर्ग, नरक का देखने लगता है। किन्तु जब शरीर मन और प्राणसे रहित होता है, तब शून्य रूप हो जाता है। जैसे एक घर को त्याग कर प्राणी अन्यत्र चला जाये तो वह शून्य हो जाता है, वैसे ही मन और प्राण

त्याग देने पर शरीर शून्य हो जाता है। हे मुने ! यों तो चित्तसत्ता सर्वत्र है, किन्तु जहाँ पुर्यष्टका होती है वहाँ ही भासती है और वहाँ ही चेतन का अनुभव होता है अन्यत्र नहीं। हे मुने ! जब जीव शरीर को त्याग देता है तब पञ्चतन्मात्राओं को ग्रहण करके साथ ले जाता है और जहाँ इसकी वासना होती है वहाँ को प्राप्त होता है। पहले इसका अन्तवाहक शरीर होता है, फिर मोह के दृढ़ अभ्यास से स्थूल भाव को प्राप्त होता है। फिर तो स्थूल में अहं भाव करके विपर्यय वृत्ति धारण करता है, जिससे भ्रम को प्राप्त होता है। शरीर से पुर्यष्टका के निकल जाने एवं आकाशमें लीन हो जाने पर शरीर-स्फुरण बन्द हो जाता है और उसीको मृतक हुआ कहते हैं। हे मुने ! इस प्रकार अपने स्वरूप का विस्मरण कर यह जीव बार-बार शरीर को धारण करता और नष्ट होता रहता है। फिर उनका शोक करना व्यर्थ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तैंतीसवाँ सर्ग।

दैव-प्रतिपादन वर्णन

शिवजी के ऐसा कहने पर वशिष्ठजी ने पूछा कि हे भगवन् ! जब वह चेतनसत्ता अर्थात् परमात्मा पुरुष एक है तब उसमें अनेकता कहाँ से प्राप्त हुई और भूत भविष्यकाल भी कहाँ से दृढ़ हो रहे हैं? इसका उत्तर देते हुए शिवजीने कहा—हे विप्र ! वह चेतनसत्ता सर्व शक्तिमान है। एक के भाव से दो भी प्रकट होता है और दो की अपेक्षा से एक कहाता है। पर यह दोनों ही कल्पना मात्र है। यह कल्पना चित्त के फुरने से है। चित्त न फुरे तो दोनों की कल्पना मिट जाती है। जैसे बीज से लेकर फल पर्यन्त वृक्ष का जो विस्तार है सो एकही रूप है और घटना-बढ़ना उसमें कल्पना मात्र है, वैसे ही चेतन में चित्त कल्पना होने से जगत रूप भास रहा है पर

वह वही एक रूप है। जैसे वृक्ष संयुक्त भी बीज एक वस्तु रूप है और कुछ नहीं हुआ परन्तु बीज के फुरने से ही वृक्ष हो भासता है ऐसे ही जब शुद्ध चेतन मे चेतन कलना फुरती है, तब जगत रूप हो भासता है। अतएव यह कारण कार्यरूपी जगत जो भास रहा है केवल असम्यक दृष्टि से भास रहा है अन्यथा जैसे जल मे तरङ्ग कोई वस्तु नही है, वैसे ही आत्मा मे जगत कोई भिन्न वस्तु नही है। वह चेतनरूपी एक लता ही अनेक रूप होकर भास रही है। हे मुने। जब सब कुछ चेतन ही है, तब मेरे प्रश्न का स्थान ही कहाँ है? क्योंकि देश, काल, क्रिया, नीति आदिक जितनी शक्तियाँ हैं, सब मे एक चिदात्मा ही है। उस ब्रह्म मे जगत के स्फुरण से ही अहं, त्वं आदिक–नाना प्रकार के नाम हुए हैं, पर वह ब्रह्म, शिव, परमात्मा आदिक नामो से पुकारा जाता है जो वाणी का विषय नहीं है। वही निर्विकल्प तत्व सदा अपने आप मे स्थित है। और सारे जगत मे वही चेतन तत्व भास रहा है। हे मुने! जब उस महाचेतन मे किञ्चनता आती है तब वही जीवरूप होकर स्थित होता है और तब द्वैत कलना को देखता है। पर वह भ्रममात्र है। जब यह जीव अभ्यास द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप की ओर सावधान होता है तब वही रूप हो जाता है। हे मुने! यह हम पहले बतला चुके हैं कि इस जीव का आदि शरीर अन्तवाहक है और सकल्प उसका रूप है। अतः जब उस अन्तवाहक शरीर मे अहं की तीव्र भावना होती है तब वही शरीर आधिभौतिक हो जाता है। आधिभौतिक मे दृढ़ता होने पर और उसकी भावना द्वारा रागद्वेषसे शोभायमान होता है। फिर जब हृदय मे विचार उत्पन्न होता है तब सकल्परूपी आवरण हट जाता है और जीव अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो जाता है। अन्यथा जीव अपने सकल्प विकल्प से आपही भय पाता रहता है। हे महामुने! परमार्थतः द्वैत कुछ है ही नहीं। सब संकल्प रचना है। सकल्प से रचे दृश्य सकल्प के अभाव से हो जाते हैं। संकल्पों का अभाव हो जाने पर तो दुःख कुछ नही रहता। केवल सकल्प की

दृढता ही दु ख दे रही है। तब इस सकल्पमात्र की इच्छा त्यागने में क्यों आलस्य किया जाय ? हे महामुने ! सकल्प विकल्प ने ही जीवों को दुखी बना रखा है। इसके हटनेपर तो उसके चिह्न का पता नहीं लगता और यह जीव उच्चपद पर जा विराजता है। यह देखी हुई बात है कि जिस पुरुष ने विवेकरूपी वायु से संकल्परूपी मेघ को दूर किया है वह निर्मलता को प्राप्त हुआ है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही सकल्प विकल्प से रहित जीव निर्मल भाव को प्राप्त होता है। और सकल्प त्याग के पश्चात जो शेष रहता है वही सत्तामात्र परमानन्द तुम्हारा स्वरूप है। आत्मा सर्वशक्तिमान है, जैसी भावना होती है वैसा ही वह अपनी भावना से देखता है। इससे सब सकल्पमात्र है, भ्रम से उदय हुआ है। संकल्प लीन होने से सब लीन हो जाता है। हे मुने ! संकल्परूपी लकडी है और तृष्णारूपी घृत है और जन्मरूपी अग्नि है। जब असङ्कल्परूपी वायु और जल में इसका अभाव करे तब यह शान्त हो जाता है। अन्यथा सङ्कल्परूपी वायु से तृण के समान भ्रमता है। हे मुने ! तृष्णारूपी वेल को जीव सङ्कल्परूपी जलसे सींचता है, जब असङ्कल्परूपी तेज उस जल का शोषण करे और विचाररूपी खड्ग से उस वेल को काटे तब उसका अभाव होता है। जिसका भाव नहीं है, उसका आभास नष्ट होने से उसका अभाव ही हो जाता है। यह जगत केवल असम्यक ज्ञान से भास रहा है। सम्यक ज्ञान होने से लीन हो जाता है। जब जीव को अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है तब यह अपने को दीन और दु खी जानता है पर स्वरूप का ज्ञान होने से समस्त दु ख मिट जाते हैं। तब यह अज्ञानरूपी मल से रहित जीव निर्मल होकर शुद्धपद का प्राप्त होता है। मै एक आत्मा हूँ, मुझमें द्वैत कुछ नहीं है—जो ऐसी युक्ति की भावना करता है उसका द्वैत भाव मिट जाता है और वह उत्तमपद, ब्रह्मदेव पूज्य, किञ्चित और निष्किञ्चन के समान एक रूप हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग।

परमेश्वरोपदेश वर्णन

शिवजी के मुख से इस तत्व मय वाणी को सुन लेने पर वशिष्ठ जी ने पूछा,–हे भगवन्! जिस महा सत्ता में समस्त पदार्थ लीन हो जाते है वह सत्ता कैसी है? और आपने जैसा कहा है कि मनसे ही मन क्षीण हो जाता है, और इन्द्रियाँ मनमे ही लीन हो जाती है सो वह पद कैसा है? कृपा कर मुझे बतलाइये। शिवजी ने उत्तर दिया, कि हे मुनिवर! मन की क्षीणता के तीन पद है। जिनमे प्रथम पदकी व्याख्या तो यह है कि जब प्राणी मन और इन्द्रियों को उन्हीं से छेद कर विचार द्वारा वश करके और किसी अपर उपासना को करके जब आत्मज्ञानी होता है, तब उसका एक और द्वैत की कल्पना नहीं रहती जिस प्रकार भुना हुआ बीज नहीं उगता, उसी प्रकार मनके उपशम होने पर मन मे जगत् सत्ता के भाव नहो उठते। फिर तो प्राणी आत्मतत्त्व के प्रकाश से प्रकाशित होता है और उसके चित्तकी चंचलता नष्ट हो जाती है और वह परम निर्मल सत्ता को प्राप्त हो जाता है। उसका ज्ञान सुषुप्ति के समान निर्भय हो जाता है और वह संसार सागर को पार करने वाला शांति रूप आत्मा को पाकर शांति रूप हो जाता है। हे मुनिवर वशिष्ठ! अब दूसरा पद सुनो। दूसरा पद यह हैकि जब चित्तरूपी शक्तिमे सङ्कल्प विकल्प नहीं उठते और वह अनेक भावनाओ में नहीं दौडता तब चन्द्रमा के समान शीतल हो कर सुषुप्ति रूप हो जाता है और तब वह अपने को आकाश के समान विस्तृत रूप समझने लगता है। तब उसका चित्त आत्मा मे ऐसा लीन हो जाता है कि उसे दृश्य आदिक उत्पातों का कोई भी प्रबल वायु नहीं डिगा सकता। उसकी चित्त-वृत्ति आत्मा मे ऐसा विश्राम पाती है, जैसे गन्ध पुष्पमे स्थित होता है। वह आत्मसत्ता न जड़ है न चेतन है, अ[illegible] उसमे कोई कलना है। वह सत्ता

समस्त सत्ता को ध्यान करने वाली चिन्मात्र तथा अंकुर रूप है। जो उस सत्ताको प्राप्त करलेता है अर्थात् जिसको वह पद प्राप्त होता है, उसको तुरीया पद कहते है। वह पद समस्त दुःखों से रहित है। उस सत्ता को पानेवाला सर्वत्र और प्रत्येक अवस्था में सम भाव से साक्षीरूप स्थित रहता हुआ शांति स्वरूप है। हे मुनिवर वशिष्ठ! तीसरा पद यह है कि जब वृत्तियाँ आत्मतत्व में लय हो जाती हैं और भावाभाव की कोई कलना नहीं उठती तथा वृत्ति अत्यन्त अचल हो जाती है उस समय उसको वह परम शान्त तुरीया पद से भी आगे जो एक अद्वैत और परमपद है जहाँ वाणी को भी गम नहीं, वह उस पद को प्राप्त होता है। हे मुने! यह पद समस्त कलनाओं से रहित और श्रेष्ठ है। तुम उसी पद मे स्थित होओ। उसमें प्रवृत्ति निवृत्ति कुछ नहीं है। वह अद्वैत समसत्ता प्रकाशरूप अपने आपमे स्थित है। उसमे और जगतमे कोई अणुमात्र भी भेद नहीं।

वाल्मीकिजी कहते है, हे भारद्वाज! जब शिवजी ने ऐसा कहा तब उस शान्ति रूप परमतत्व के प्रसङ्ग को सुनकर वशिष्ठ जी की वृत्तियाँ आत्मतत्व मे स्थित हो गई और वह लिखित कीर्ति के समान चुप होगये। शिवजी तो पहलेसे ही चुप थे फिर एक घड़ी तक चित्त की वृत्ति वैसी ही बनी रही। फिर शिवजी जागे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग।

देवनिर्णय

वाल्मीकिजी कहते हैं कि जब एक घडी पश्चात् शिवजीने नेत्र खोले तो क्या देखते हैं कि वशिष्ठजी आँख मूँदे पडे हैं। तब शिवजी ने कहा—हे मुनिवर! अब आँख क्यों मूँदे हो, जागो। जो कुछ देखना था सो तो देख चुके हो। अब समाधि में बैठने का क्या प्रयोजन? तुम्हारे जैसे तत्ववेत्ता पुरुष को तो हेयोपादेय कुछ नहीं है। तुम तो बडे आत्मदर्शी

हो और तुमको जो प्राप्त करना चाहिये था सो तुम प्राप्त भी कर चुके हो, फिर चुप क्यों हो ? हे रामजी! ऐसे शब्दों द्वारा मुझमें प्रवेशकर शिवजी ने वृत्तियों को जगाया। जब मैं जागा तब शिवजी ने मुझसे कहा, कि हे वशिष्ठजी ! इस शरीर की चेष्टा प्राणों द्वारा होता है। उसमें आत्मा उदासीन होकर बैठा रहता है। उसको करना भोगना कुछ नहीं होता। जीव का शरीर के प्रमाद में अहं भाव उठता है। जिससे वह अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। फलस्वरूप अनेक दुःखों को प्राप्त हो अन्तर आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है किन्तु जब उसको आत्मा का विचार उत्पन्न होता है तब उसके सारे दुःख निवृत्त हो जाते हैं और शरीराभिमान का अन्त हो जाता है। वह आत्मसत्ता अथवा ब्रह्मसत्ता सर्व है परन्तु जहाँ सात्विक भाव अधिक होता है वहाँ ही भासती है। परन्तु मलीन शरीरवालों में आत्मसत्ता नहीं भासती यों तो वह शुभसत्ता सब में और सर्वत्र है और ब्रह्मा, विष्णु महेश भी वही हैं। अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्यादि कारण और सब देवों का देव वही एक देव है। अन्य सब उसके टहलुये हैं। समस्त पृथ्वी सहित देश कालादिक उसी से सम्पन्न है। हे वशिष्ठजी ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदिक सबका आदि कारण वही है और उसी से सब उत्पन्न हैं। इसलिये वह सबका पूजनीय सब में प्रकाशमान और चेतन तथा अनुभवस्वरूप है। उसका आवाहन करने के लिये किसी मन्त्र आसन और पदार्थ की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो सर्वत्र विद्यमान है। पाँव उठाया नहीं कि वह सामने खड़ा है। फिर उसके पाने का भी यत्न किया। मनसा, वाचा, कर्मणा ये तीनों रूप से वही सर्वदा भास रहा है। अतः वही सबके प्रणाम करने और पूजन तथा जानने योग्य है। उसका साक्षात्कार होने पर सब शान्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

महेश्वर वर्णन

शिवजी बोले,—हे मुनीश्वर ! वह चिद्रूप तत्व सबके भीतर स्थित है। वही सबका चेतन और भौतिक प्रकाश से रहित परम प्रकाशरूप है। वही समस्त कर्मों का कर्म, समस्त धर्मों का धर्म, समस्त सारों का सार और अनुभवगम्य शुद्ध देव ईश्वर है। वह अलौकिक प्रकाश देनेवाला है और सत् असत् से रहित महान् सत्यरूप है। वही सर्वसत्ता की सत्ता चिन्मात्र तत्व नाना रूप धारण कर रहा है। जैसे सूर्य की किरणोंमें मरुस्थल की नदी हो भासती है वैसे, ही यह जगत उसमें भासता है। हे मुनिवर वशिष्ठ ! उसी आत्मतत्व का यह आभास प्रकाश है। उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से जगत भिन्न नहीं है। उस सत्ताके आगे सुमेरु भी परमाणु रूप है और सम्पूर्ण काल भी उसका निमेषरूप है। सप्त समुद्रों सहित पृथ्वी उसके एक रोमके अग्रभागके समान तुच्छ है। हे मुनिवर ! यद्यपि वह देव बडेसे बडे सब कर्मों का कर्ता भासता है तथापि वह कुछ नहीं करता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उस देव से सत्य न हो। अत उस देव को, जो सब है और जिससे यह सब कुछ है और जो सब में नित्य है, उस सर्वात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग।

नियति नृत्य वर्णन

हे मुनिवर ! वह देव सब मे स्थित, है। और सब धर्मों का धर्म और सब कर्मों का कर्म है। समस्त भूमण्डल ही क्या, समस्त त्रिलोकी उसके आगे परमाणु रूप है। वह महान शुभकर्मा होते हुये भी कर्तृत्व भाव को नहीं प्राप्त होता। वह द्रव्य रहित और शरीर रहित होते हुये भी

द्रव्यवान और शरीरवान् है। ऐसा कोई भी पदार्थ नही है जो देव की सत्ता से सत्य न हो। नाना प्रकार के जितने भी शब्द हैं सब उस सर्व शक्तिमानरूप रत्नके डब्बे से ही निकले है। घ्राणेन्द्रिय, और त्वचा और श्रवणेन्द्रिय संयुक्त जितनी इन्द्रियाँ और तत्व सम्बन्धी जितने पदार्थ तथा इन्द्रियों के जितने व्यवहार हैं सब उसी की रचना है। वह सर्व शक्तिमान सत्ता ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिमे स्थित है। और उसीने समस्त नीतियों को रचा है। उसीकी प्रेरणामयी नीति-न्याय पर समस्त जगत नृत्य कर रहा है। उसकी नीति शक्ति से कुछ भिन्न नही है। वह एक रसदेव सदा प्रकाशमान और साक्षीरूप मे सर्वत्र स्थित है। अतः उस एक देवमे द्वैत कुछ नही है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग।

बाह्यपूजा वर्णन

शिवजी बोले,—हे वशिष्ठजी! उस सर्वात्मा शान्तरूप देव की पूजा दो प्रकार की होती है। एक बाह्य की, दूसरी अन्तर की। साधु और योगिजन इसी मार्गका अनुसरण करते हैं। दोनो प्रकार की उपासनाये ध्यान द्वारा होती हैं। ध्यानही पूजन है और पूजन ही ध्यान है। ध्यान भी किसका? आत्मा का! क्योंकि आत्मा ही तो त्रिभुवन का आधारभूत और सबको प्रकाश देनेवाला है। अत. उस आत्मा का ध्यान कर मन जहाँ-जहाँ जावे वहाँ-वहाँ उसके रूप को देखे। वही दृष्टि विराट रूप और सब का सार भूत है। बाह्य रूप मे उसका विराट स्वरूप अनन्त है, अपार है। परमाकाश उस विराट स्वरूप की ग्रीवा है। अनन्त पाताल उसके चरण हैं। अनन्त दिशायें उसकी भुजा हैं। सर्व-प्रकाश उसके शास्त्र हैं और वह हृदयाकाश के एक कोण में स्थित रह कर समग्र ब्रह्माण्ड समूहों की परम्परा को प्रकाश देता

है। उस परमाकाश का अपार रूप है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादिक देवता आदि जीव उसकी रोमावलि हैं। इतना ही क्या, समग्र त्रिलोकी जितने भी शरीरधारी यत्र हैं, सबमे वह व्याप्त है और सब उसी के द्वारा चेष्टा करते हैं। इसलिये वह देव एक भी है और अनत भी है। पर उसका स्वरूप सत्ता मात्र है। काल उसका द्वारपाल है और पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत उसके शरीर के किसी एक कोण मे स्थित हैं। तुम उसी देवका चिंतन करो। उस देवके सहस्रों चरण, सहस्रो नेत्र, सहस्रों सिर और भूषण युक्त सहस्रों भुजायें हैं तथा सर्वत्र जिसके श्रवणेंद्रिय हैं। सब ओर जिसका मन है, जो सब कल्पना से परे है, जो सर्वदा सबका कर्ता, सब सकल्पो के अर्थ का फल दाता और जो सब ओर मङ्गल स्वरूप, समस्त प्राणियों मे स्थित और जो समस्त साधनों का सिद्धदाता है, वह सबमे सब प्रकार सब काल मे स्थित है। हे मुनीश्वर! तुम उसी देवका चितन करो। उपरोक्त प्रकार का जो ऐसा देव है तुम उसीके ध्यानमे सदा सावधान रहो। यही उस देव का पहिला पूजन है । दूसरे पूजन का प्रकार यह है कि जो सवित मात्र देव है और जो सदा अनुभव रूप होकर प्रकाशित होता है उसका पूजन दीपक और धूप से नहीं होता। उसकी पूजा न तो पुष्प से होती है, न दान से होती है, न केशर के लेप से होती है और न अर्घ्य न पाद्यादि पूजा की सामग्रियों से होती है। उसकी क्लेश रहित पूजा नित्य ही और हर घडी होती रहती है। चलते, फिरते, उठते, बैठते, देते, लेते, स्पर्श करते, सूँघते और श्रवण करते हुये आदि जितनी शुभ क्रियायें होती रहती हैं सब उस प्रत्यक्ष, चेतन और साक्षीमे अर्पण कर उसके परायण रहना ही आत्मदेव की पूजा करना है। आत्मदेव की पूजा के लिये ध्यान ही धूप-दीप और ध्यान ही सब सामग्री है। ध्यान से ही वह देव प्रसन्न होता है और ध्यान सेही परमानन्द की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! इस प्रकारके ध्यान से कैसा भी मूढ़ क्यों न हो उसके सब दोष मिट जाते हैं। यदि एक एक घड़ी भी ऐसा शुद्ध ध्यान किया जाय तो राजसूय यज्ञ करने

जैसा फल प्राप्त होता है। ऐसा ध्यान जितना भी अधिक समय लगा कर किया जायगा उतना ही अधिक और महान् फल प्राप्त होगा। यही परम योग है, यही परम क्रिया है और यही परम प्रयोजन है। जिनको मेरी यह बतलाई हुई दोनों पूजायें प्राप्त होती हैं, वह परम-पद के भागी होते हैं और समस्त देवता उसको नमस्कार करते हैं तथा वह पुरुष सबका पूजनीय हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग।

देवार्चन विधान वर्णन

शिवजी बोले,—हे मुनिवर! अब मैं तुमको आत्मा की पूजा का एक और प्रकार सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। यह अभ्यन्तर का पूजन है। यह पूजन सर्वत्र, सब प्रकार और सब काल मे होता रहता है। चलते, बैठते, जागते, सोते और सब व्यवहारोंमे रहते हुए वह नित्य ही ध्यानमे रहता है, कभी व्यवधान नहीं पडता। हे मुने! इस शरीर मे जो बोधरूप एक चिह्न है, वही तुम्हारा इष्टदेव है। तुम सब कुछ करते हुए भी उसी की पूजा करो। रागद्वेष से रहित रहकर यथालाभ मे सन्तुष्ट होना और सर्वदा उस साक्षीरूप अनुभव मे स्थित रहना ही उसकी पूजा है। वही सूर्य, वही चन्द्रमा है। उसी से समस्त पदार्थों को प्रकाश मिल रहा है और वही सब पदार्थों का समूह है और वही एक देव अनेक स्वरूप होकर स्थित है। ऐसी भावना करके किसी अन्य प्रकार की वृत्ति को न लगाना और ऐसा समझना कि वह देव प्राण अपानरूपी रथ पर आरूढ शरीररूपी गुफा मे पूर्ण ज्ञान सहित स्थित है और वह सब कर्मों का कर्ता और भोक्ता तथा सर्व भाव का स्मरणकर्त्ता और भगवतरूप है।

हे मुने! इस प्रकार उस देव को समझकर जो उसकी पूजा करता है वही वास्तविक पूजक है। उसको बाह्य पूजा कहाँ और

कब की जाय। वह तो सर्वत्र स्थित है। स्वय तुम्हारे शरीर के रोम-रोम मे वह विद्यमान है। हॉ, उसका प्रकाश प्राणरूपी आलय मे अवश्य स्थित है, किन्तु हृदय-कण्ठ, तालु, जिह्वा, नासिका और पीठ आदि मे सर्वत्र व्याप्य है। शब्द आदिक विषयों को वह मन द्वारा प्रेरणा करता है। पर अनेक स्थानो मे व्यापक होने के कारण वह देव अनेक नहीं एक है। किन्तु उसका साक्षात्कार केवल हृदय में ही होता है। केवल अपनी भावना से ही शीघ्र द्वैत भाव भासित होता है। अन्यथा यह स्वप्न जगत जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है केवल एक विराट आत्मा ही है। इसलिये तुम अपने को उसी विराट की भावना करो। मेरा ही शरीर समग्र ब्रह्माण्ड है और मै ही सबका प्रकाशक हूँ। नीति और इच्छा आदिक मेरी ही शक्तियॉ हैं और वह शक्तियॉ मेरी ही उपासक हैं। मेरा मन ही द्वारपाल है और नाना प्रकार के ज्ञान ही मेरे शरीर के आभूषण है। कर्मेन्द्रियॉ मेरे द्वार हैं और ज्ञानेन्द्रिय मेरे गण है। मैं ही अछेद्य, अभेद और अखण्ड रूप सदा अपने मे स्थित हूँ। हे मुने। ऐसी भावना करके जो एक देव का पूजक है, उसे परमात्म देव की प्राप्ति होती है जिससे दु:ख दारिद्रय का निसन्देह नाश हो जाता है। फिर तो उसे इष्ट, अनिष्ट का कोई भी भाव नहीं आता। तब उसको न तो किसी मे हर्ष करना है और न शोक। आशय यह कि वह प्राप्ति और अप्राप्ति में सदा एक रस रहता है। कितनी भी कठिन आपदा क्यो न आवे, कैसी भी सुख की सामग्री क्यों न उपस्थित हो, उस ज्ञानी और साधु पुरुष के लिये क्या है? उसको तो जो भी आकार प्राप्त हुआ सब मे आनन्द है, समदृष्टि भाव है। वह सदैव प्रारब्ध भोग को प्रधान मानकर किसी मे हर्ष शोक नहीं करता। जब भी, जैसा आ उपस्थित होता है। उसी मे सन्तुष्ट रहता है। वह समझता है कि यह भोग आपातरमणीय और नष्ट-वान भी है। इसलिये वह हेयोपादेय से रहित होकर केवल आत्म-चिन्तन मे लीन रहता है। कारण कि इस समदृष्टि ने ही तो उसे

आनन्द दिया। हे मुने! तुम भी इसी दृष्टि का ध्यान करो। यही उस देव का यथार्थ पूजन है। देश कालादिक क्रिया और शुभाशुभ कैसा भी प्राप्त हो उसमें संसरण विकार को न प्राप्त होना। सारा द्रव्य कोप अनर्थ रूप हो जाने पर उक्त सिद्धान्त से विचलित न होवे तो वह अनर्थ रस समदृष्टिरूपी रस से मिलकर अमृतमय हो जाता है। इस प्रकार से साक्षीरूप रहना ही उस देव की वास्तविक अर्चना है। हे मुने! ऐसी दृष्टिवाला प्राणी जीवरूपी चेतनसत्ता को भी लाँघकर परम चेतनसत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है। बस, यही वास्विक देव अर्चन है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ सर्ग।

देवतत्व विचार वर्णन

शिवजी बोले,—हे मुनिवर-वशिष्ठ! इस प्रकार से जो मैने देव अर्चन का रूप वतलाया है, वह सर्व श्रेष्ठ है और देव को प्रसन्न एव अमर करने वाला है। उसके प्राप्त होने पर तो राग द्वेष का कहीं अणुमात्र भी पता नहीं चलता। फिर ऐसे ही रूप से देव की अर्चना क्यों न की जाय। जिस मार्ग से चलने पर वृहद्काय और घोर दु:ख की प्राप्ति का सुख दु:ख लेश मात्र भी नहीं होता वह मार्ग तो वहुत ही श्रेष्ठ है। हे मुने! जैसे अर्चन का रूप मैने वतलाया है उस विराट मार्ग का अनुसरण करनेवाले को अवश्य शान्ति प्राप्त होगी। क्योंकि आत्म अर्चन ही वास्तविक देव अर्चन है और आत्मशक्ति ही अनन्तरूप धारण कर त्रैलोक्य मे विद्यमान है। हमको तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि आत्मदेव से पृथक कुछ नहीं है। हे मुनिवर! तुम दया से इसी दृष्टि का आश्रय ग्रहण करो और प्रारब्धवश जो कुछ सुख दु:ख आकर प्राप्त होवे, शोक रहित हो आत्मदेव का अर्चन करो तो अवश्य शान्ति को प्राप्त होवोगे। यही वास्तविक देवपूजन है।

इस दृष्टि का आशय करने से तुम्हारे जन्म जन्मान्तर के दुःख नष्ट हो जायेंगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ सर्ग।

जगन्मिथ्या-तत्व-प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले,—हे भगवन्! शिव किसको कहते हैं और ब्रह्म किसे कहते हैं तथा आत्मा और परमात्मा किसे कहते है। फिर कृपा कर बतलाइए कि निष्किञ्चन, शून्य विज्ञान आदिक और सज्ञा किस निमित्त हुई है? शिवजी बोले—हे मुनिवर! महा-प्रलय मे जब समस्त वस्तुओ का अभाव हो जाता है तब वह सत्ता जो इन्द्रियों का विषय नही उसे निष्किञ्चन कहते हैं। वशिष्ठजी ने पूछा, हे देव! जब वह इन्द्रियो का विषय नहीं तब उसको कैसे पाया जा सकता है। शिवजी ने उत्तर दिया,—हे मुनिवर! जो मुमुक्षु है और वेदाश्रय से जिसकी वृत्ति सात्विक हो गई है और जिसको सद्गुरु—शास्त्र की प्राप्ति हुई है, उसकी अविद्या नष्ट हो जाती है और उसको आत्मतत्व का प्रकाश होजाता है। इस प्रकार जब कितनी ही बार अविद्या नाश होती है तब अपना आप दिखलाई पडता है। जैसे वायु से बादल और जैसे मृत्तिका से हाथ की लगी स्याही और मैल से मैल दूर होता है, वैसे ही अविद्या के सात्विकी भाव गुरु शास्त्र अविद्या के आवरण को नष्ट करदेते हैं और जब इस प्रकार जब गुरुशास्त्रको मिलकर विचार प्राप्त होता है तब विचार से स्वरूप की प्राप्ति होती है और द्वैत भ्रम का लोप होजाता है। पुन सर्वात्मा ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार जब विचार द्वारा आत्मतत्व का निश्चय हुआ तब अविद्या कहाँ रह सकती है? हे मुनीश्वर! मैंने कहा कि आत्मप्राप्ति गुरुशास्त्र के द्वारा होती है इसका आशय आपने क्या समझा। गुरु नाम है इन्द्रियों के समूह का। पर ब्रह्म तो सब इन्द्रियोसे परे हैं, फिर उसकी प्राप्ति

कैसे हो ? वह अकारण होते हुए भी कारण है क्योंकि यह गुरु शास्त्र के अभावमे ही अज्ञान की सिद्धना हो रही है। गुरु-शास्त्र विना बोध की सिद्धि नहीं होती। पर आत्मा तो निर्लेप है और अदृश्य है तो भी गुरु-शास्त्रसे पाया जाता है। इस सम्बन्धमे दोनो निर्णय है यथा—आत्मा गुरुशास्त्र से पाया भी जाता है और नही भी पाया जाता। वह आत्मतत्व अपने आपही पाया जाता है। जैसे अँधेरे की वस्तु दीपक के प्रकाश मे प्राप्त की जाय पर उसे दीपक ने नहीं दिया अपने आप यत्न मे पाया, वैसे ही गुरुशास्त्र भी है। यदि दीपक हो और नेत्र न हो और नेत्र न हो दीपक न हो तब वस्तु नही प्राप्त होती वैसे ही गुरुशास्त्र भी हो और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि युक्त पुरुषार्थ भी हो तब आत्म तत्व की प्राप्ति होती है। जब शिष्यका गुरु, शास्त्र, और शुद्ध बुद्धि यह तीनों प्राप्त होती है तब ससार के सुख दु.ख निवृत हो जाते हैं। उसीको आत्मपद की प्राप्ति कहते हैं। हे मुनिवर! अब नाम के भेद सुना। जब बोध होने पर कर्मेन्द्रियो और बुद्धेन्द्रियों का नाश हो जाता है, तब उसके पीछे जो शेप रहता है उसको संवित तत्व, आत्मसत्ता आदि नाम से संबोधित करते हैं और जहॉ यह सम्पूर्ण नहीं, वहॉ इनकी वृत्ति भी नही। उसके बाद जो शेप सत्ता रहती है, वह आकाश से भी सूक्ष्म निर्मल, अनन्त और ऐसी परम शून्य रूप है कि जहॉ शून्य का भी अभाव है। हे मुनिवर! अब जो शांतरूप है मुमुक्षु और मनन कलना से संयुक्त हैं उनको जीवन्मुक्ति पद के बोध हेतु शास्त्र ने मोक्षोपाय भी रचे है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, लोकपाल, पण्डित, पुराण, वेद और शास्त्रों ने सिद्धान्तो की रचना की है उनमे चेतन ब्रह्म, शिव, आत्मा, परमात्मा और रात्रि, पुन. सत, चित, और आनन्द आदिक यह तीन संज्ञा ही अनेक प्रकार से रही है उसी को शिव, आत्मा, ब्रह्म और परमात्मा, आदि भिन्न नामों को शास्त्रकारोने कल्पित किया है, जिसमे ज्ञानी कुछ भेद नही मानते। उस देव के हम टहलुये है और उस देव को प्राप्त हो इस प्रकार कह कर हम ज्ञानी जन उसकी अर्चना करते है।

इस प्रकार शिवजी से अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर वशिष्ठ जी ने पूछा कि हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जगत को गन्धर्व नगर और स्वप्नपुरके समान कैसे कहा जाता है? क्यों- कि यह जगत् तो प्रत्यक्ष दिखलाई पडता है। शिवजी बोले,—हे मुनीश्वर ! यह जगत अविद्यमान है। जैसे मृगन्तृष्णा का जल असत्य है, वैसेही जगत भी असत्य है। उसमें वासना और वासक तथा वासना करने योग्य, यह तीनों ही वृथा हैं। जैसे मृग-तृष्णा का जल पी कर कोई तृप्त नहीं होता, वैसे ही यह जगत भी असत्य है इसके पदार्थों की वासना करना व्यर्थ है। ब्रह्मा से आदिकम पर्यंत सब जगत मिथ्या है। जब वासना और वासक तथा वासना करने योग्य इन तीनोंका अभाव हो, तब केवल आत्मतत्व ही शेष रहता है, शेष सब भ्रम शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर ! यह सारा जगत भ्रममात्र है। जैसे बालक को अपने परछाईं में बैताल भासता है और जब विचार कर देखे तो बैताल का अभाव हो जाता है, ऐसे हो अज्ञान से यह जगत भासता है, आत्म विचार से इसका अभाव हो जाता है। अतएव देहादिक भी आत्मा में अज्ञान वश हो बस रहे हैं। जिसको बुद्धि है, वह हमारे उपदेश के योग्य नहीं। उपदेश विचारवान को करना चाहिए। ज्ञानी को उचित है कि जो मूर्ख, असत्कर्मी और अनार्य है उसको उपदेश करे, जिससे उसमें विचार, वैराग्य और नम्रता आदिक गुण उत्पन्न हों। पर जो इन गुणों से रहित विपर्यय हो उसको उपदेश करना ऐसा ही है जैसे किसी की महासुन्दरी सुवर्ण के समान कन्या के साथ कोई स्वप्न में विवाह करने की इच्छा करे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ सर्ग ।

परमार्थ-विचार वर्णन

इतना सुनकर वशिष्ठजी ने शिवजी से पूछा कि हे भगवन् ! वह जीव जो आदि स्वरूप उत्पन्न होकर इस शरीर के अन्दर स्थित है सो कैसे हुआ ? तब शिव जी ने वशिष्ठजी से कहा कि हे मुने ! जैसा मै तुमसे कह चुका हूँ कि इस जीव की उत्पत्ति परमाकाश से हुई है वही ठीक है। आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होकर जीव ने अपने को शरीर रूप मे देखा पर वह आदिसत्ता ज्यों की त्यो स्थित रही, उसमे केवल जीव का स्फुरण हुआ किन्तु वह स्वयं प्रमाद को न प्राप्त हुआ और अपने स्वरूपहीमे अहं करके ईश्वर होकर स्थित हुआ। उसको केवल यही निश्चय हुआ कि मैं नित्य, शुद्ध, परमानन्द रूप और अव्यक्त परम पुरुष और सनातन हूँ। इस प्रकार उसे आदि जीव भी कह सकते है। हे मुनीश्वर! उसी आदि जीवने विष्णुरूप होकर कही ब्रह्मा को नाभिकमल से उत्पन्न किया है और कही वही विष्णु से रुद्र हुये है। उस चेतन आकाश मे जैसे-जैसे सङ्कल्प उठा है, वैसा ही रूप होकर स्थित हुआ है। पर वास्तव मे वह सब असत रूप है केवल अज्ञान और भ्रमवश सत्यरूप होकर भासता है। यह नाना प्रकार की जितनी सृष्टियाँ है ता सउ परमाकाश के एक निमेष मात्र से ही उत्पन्न हुई हैं किन्तु वह सब असत्य हैं। हे मुनीश्वर ! प्रत्येक जीव की अपनी २ सृष्टि है और सब अपने ही सङ्कल्पमे स्थित हैं किन्तु सबमे आत्मा ही का चमत्कार है। उस आत्मा मे देश और काल का सद्भाव नहीं, सब अपने-अपने सङ्कल्प मे फुरते हैं। जैसे आदि तत्व से जीव होकर ईश्वर फुरे हैं, वैसे ही समस्त कर्मो का स्फुरण हुआ है। रुद्र से लेकर वृक्ष पर्यन्त सब उसी तत्वसे एक क्षण मे फुर आए हैं। इससे आत्मा मे सृष्टि केवल आभास रूप है और यह मायामय ससार भावना से ही भासित हो रहा है। जब

आत्मा का अभ्यास होता है तब भेदकल्पना मिट जाती है और केवल उपसम रूप शिव तत्व ही भासता है। हे मुने! इस सत्य और असत्य रूप जगत का बनानेवाला केवल मन है, आत्मतत्त्व नहीं। वह आत्मतत्त्व न दूर है न निकट, न पूरब है न पश्चिम। वह तो केवल सत्य और असत्य के मध्य में अनुभवरूप और सबका ज्ञाता है। उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण सब व्यर्थ हैं। हे मुनीश्वर! आपने जो पूछा था वह मैंने बतलाया इसमें चित्त लगाओगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब पार्वती सहित अपने वांछित स्थान को जाता हूँ। हे रामजी! जब भगवान शिवजीने ऐसा कहा, तब मैंने अर्घ्य पाद्य से उनका पूजन किया और वह पार्वती को साथ लेकर अपने गणों सहित आकाशमार्ग को चल दिये। फिर जहाँ तक वह दिखाई पड़े मैं उनकी ओर देखता रहा। पश्चात् अपने कुशासन पर आ बैठा और जो कुछ शिवजी ने कहा था, उसपर स्मरण शक्ति द्वारा विचार करने लगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग।

विश्रान्त्यागमन वर्णन



रामजी! शिवजी के ऐसा कहने पर मैंने अर्घ्यपाद्यादिक द्वारा उनका पूजन किया और वे पार्वती सहित चले गये। तब मैं अपने कुशासन पर चला आया। शिवजी ने जो उपदेश दिया था उसपर विचार करने लगा। विचार करते-करते मुझे ज्ञात हुआ कि विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध सब जीवों के लिये एक समान है। इसीसे ज्ञानी पुरुष सावधान रहकर देखते, सुनते, बोलते, खाते, सूँघते और स्पर्श आदि क्रियाओं को करते हुये भी आत्मतत्व की ही अर्चनामें रहते हैं। पर जो अज्ञानी हैं, उनको कर्त्तापन, भोक्तापन का अभिमान होता है जिससे वे सदैव दुःखी बने रहते हैं। इसलिए अज्ञा-

नियो का मार्ग निन्दनीय है। तुम उनकी दृष्टिको त्यागकर ज्ञानियो की दृष्टिका आश्रय कर संसाररूपी वन मे विचरो। इस प्रकार असङ्ग रहने से तुमको दुःख नहीं प्राप्त होगा। ऐसी समान वृत्तिवालों के लिये चाहे कैसा ही सङ्कट क्यो न उपस्थित हो वे दु:ख को नही प्राप्त होते। क्योंकि सुख और दुःख तो अनित्य हैं। यह बराबर आते जाते रहते हैं। इनको ऐसा ही आगमापायी जानकर हर्ष और विषाद करने की आवश्यकता नहीं। यह चाहे जैसे जावें। जिसे जाना है वह अवश्य जावेगा और जिसे आना है, वह अवश्य आवेगा। इसके लिये अपने को तप्त करना ठीक नहीं। क्योंकि जब समस्त जगत् तुमसे है और तुम्हीं जगत् के रूप हो तब हर्ष और शोक किसके लिये करोगे। अस्तु, इसी दृष्टिका ही आश्रय करके समारमे सुषुप्तिरूप होकर विचरण करो। इस प्रकार सम अवस्था को प्राप्तकर सम-प्रकाश रूप हो जावोगे। बस, इस सम्बन्ध मे मुझे और कुछ नहीं कहना है। जो कुछ कहना था कह दिया। अब आगे तुम्हारी इच्छा। जैसा चाहो वैसा करो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी का हृदय गद्गद हो गया और वह क्षण भरके लिये मौन होगये। पश्चात् मृदुशब्दोमे वशिष्ठजी से बोले—हे मुनीश्वर! आपकी अमृतमय वाणीसे मेरा कलुषित हृदय निर्मल होगया और समस्त संशयोका नाश होकर अब मे ऐसा अचल और स्थित होगया जैसे सुमेरुपर्वत अचल और स्थित है। अतएव अब मुझे किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है। साथ ही अब मै ऐसा होगया हूँ कि मुझे किसी पदार्थ के ग्रहण और त्याग की इच्छा नहीं रही। जिस प्रकार इच्छा नही, उसी प्रकार अनिच्छा भी कोई नहीं है। मै शान्त और स्थित हूँ। अब मेरे लिये स्वर्ग और नरक दोनों समान है। अब मुझे सब कुछ ब्रह्ममय प्रतीत होता है। हे महाज्ञानिन्! अब तक जो इस ससाररूपी महासागर की रागद्वेषरूपी तरङ्गे हैं जिसमे शुभ और अशुभरूपी मच्छ भरे हुये हैं और जो मुझे अहर्निश भयभीत करते हैं, वह अब आपके प्रसाद से अब भयभीत नही

करते और अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं इससे पार होगया। यही नहीं, सबकी सार वस्तु को प्राप्त कर अब मैं पूर्ण आत्मा हूँ मुझमे कोई भेदसत्ता नहीं और मैं परमशान्त हूँ—अब मुझे ऐसा ठीक-ठीक प्रतीत हो रहा है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग।

चित्तसत्ता वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! अब मै तुमसे यह कहूँगा कि अपनी इस अवस्था को स्थिर रखने के लिये प्रति क्षण सतर्क रहा करो। कभी चूक न होने पावे। क्योकि लक्ष्य चूक जाने पर सिवा पश्चाताप के और कुछ हाथ नहीं आता। और तत्सम्बन्धी जो कुछ भी यत करना है वह मन से करना। बिना प्रेमपूर्वक मनसे किये केवल इन्द्रियों से हठात् यत्न करने से कुछ लाभ नहीं होता। और कदाचित् लाभ होवे भी तो वह क्षणस्थायी होता है, दृढ़ नहीं। जो उस क्षणिक स्थिरता से प्रसन्न हो जाता है, वह महान् मूर्ख है। ज्ञानी जन ऐसे क्षणिक सुख मे नहीं बँधते। हे रामजी! प्रत्येक जीवों का वाञ्छा ही दु:ख देती है। अनेक कष्ट करके प्राणी वाञ्छा को सिद्ध करते है। पर जब वह प्राप्त हो जाती है तब उसका सुख क्षण भर होता है पुन. वियोग होने पर कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। तब महान् कष्ट देनेवाली वाञ्छा का क्यो न त्याग दिया जाय? अब यहाँ प्रश्न यह है कि वाञ्छा होती क्यों है? उत्तर यह कि स्वरूप के अज्ञान और शरीरादिक की दृढ़ भावना से अहभाव होता है जिसम वाञ्छा आदिक अनेक अनर्थो की उत्पत्ति होती है। अस्तु सर्वदा ही ज्ञानरूपी पर्वत पर चढ़े रहना चाहिए और उसपर पहुँच कर फिर उससे नीचे कदापि न गिरना चाहिए। अभिमान वश अहन्तारूपी गढ़े मे गिरना बडी मूर्खता है। हे रामजी! जब तक दृश्यभाव

विद्यमान रहता है तब तक उपशान्तरूप अपने स्वभाव सत्ता को, जिसको पाकर सारे विकल्पजालों का नाश हो जाता है,–उसे प्राप्त करना दुष्कर है। यदि उस स्वभावसत्ता की प्राप्ति हो जाये तो फिर कोई द्वैतभाव न फुरे और सारे विकल्प नाश हो जायँ। यथार्थ ज्ञान होने से मन निरस हो जाता है। आत्मा का अज्ञान ही तो बन्धन है और आत्मा का बोध ही मोक्ष है। अतः मुक्त होने के लिये अपने आपको जागृत करो। जागृत करने के लिये पहले सर्व वासनाओं का त्याग करना होगा। वासना रहित पुरुष की समस्त क्रियायें विकार रहित होती हैं। चाहे उसके मार्गमे कितने ही क्षोभ क्यों न आ उपस्थित हों, पर उस पुरुष को कोई विकार नही प्राप्त होता। ऐसे अभ्यासी के लिये ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन अवस्थाये आती है। जब तीनों उसे आत्मरूप भासती हैं तब उसे ससार मे किसी का भय नहीं रहता। क्योंकि चित्त के फुरने से ही जगत उत्पन्न होता है। जब चित्त ही, जो वासना संयुक्त प्राणों से उदय हुआ है–लय हो जायेगा तब जगत भी लय हो जायगा। इसलिये अभ्यास करके वासना और प्राणों को स्थित करना चाहिए। मूर्खता से कर्म उदय होते है और मूर्खता नष्ट होने से कर्म नष्ट हो जाते हैं। अतएव सतसङ्ग और सत्‌शास्त्रों के विचार से मूर्खता को ही नष्ट करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वायु के ससर्ग से धूल उडकर आकाश का स्वरूप धारण करती है, उसी प्रकार चित्त के फुरने से जगत हाता है। हे रामजी! जब चित्त फुरता है तभी नाना प्रकार का जगत भासता है, अन्यथा नही। हे रामजी! परमपद की प्राप्ति तभी होती है, जब वासना रहित प्राणों का निरोध हो। वह परमपद जो दर्शन और दृश्य के मध्य मे एकान्त सुख ब्रह्मरूप है, उसका साक्षात्कार होने से मन का क्षय हो जाता है। मन के क्षय होने के समान सुख स्वर्गमे भी दुर्लभ है। जिसप्रकार मरुस्थलमे वृक्षका होना असम्भव है, उसी प्रकार विषयी चित्त को सुख प्राप्त होना असम्भव है। चित्त

के उपक्रम का सुख अकथनीय है। सांसारिक विषयके बडेसे बडे सुख उसके आगे तुच्छ हैं। क्योंकि सांसारिक सुख तो नष्ट हो जाते है, पर आत्मसुख का नाश नहीं होता। वह अविनाशी है और उत्पन्न तथा नष्ट होने से रहित है। हे रामजी! अज्ञानता वश चित्त की उत्पत्ति होती है और आत्मज्ञान होने से चित्त शान्त हो जाता है। यही बात जगत के सम्बन्ध मे भी है। जगत अज्ञान से ही भासता है, ज्ञान से नहीं। ज्ञान होने पर चित्त अचित्त हो जाता है और यह जड जगत ब्रह्मसत्ता होकर भासता एव सत्पद को प्राप्त होता है। हे रामजी! देखने मे ज्ञानी का चित्त भी क्रिया करता है पर वास्तव मे उनका चित्त अचित्त रहता है। जो अज्ञान से भासता है वह ज्ञान से शून्य हो जाता है और फिर नहीं उत्पन्न होता। वह चित्त शान्त पद को प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ समय तक तो वह तुरीया अवस्था मे स्थित हो विचरता है, फिर तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है। नीचे, ऊपर और मध्य मे सर्वत्र वह एक ब्रम्ह ही अनेक होकर स्थित है और वही सर्वात्मा है-चित्तादिक कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का चवालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

बिल्वोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! अब तुम सक्षेपमे एक और अपूर्व ज्ञान सुनो जिसको जानकर पूर्ण बोध हो जायगा। एक बेल का फल जिसको हुये अनन्त युग व्यतीत हो गये और जो कभी जर्जरी भाव को नहीं प्राप्त होगा और जिसका विस्तार अनन्त योजन पर्यन्त है। वह चन्द्रमा के समान सुन्दर वृक्ष अनादि है और उसमें अविनाशी रस है जिस कारण उसका कभी नाश नहीं होता। महाप्रलय की वायु सुमेरु आदिक महान् से महान् पर्वतों को तृण के समान उडा देता है पर इस वृक्ष को हिलाने में वह कभी समर्थ नहीं होता। योजनादि की तो अनेक संख्यायें गणना

मे आती है पर उसकी सख्या अगणित है। इस प्रकार का वह वृहद् वेल फल है। उसकी वृहदता के वर्णन मे केवल यही बहुत है कि उस वेल फल के आगे ब्रह्माण्ड भी सूक्ष्म और तुच्छ भासता है। उसका आदि अन्त और मध्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्रादिक भी नहीं जान सकते। उसका आकार और फल भी अदृष्ट है। वह निज प्रकाससे प्रकाशमान होता है, घन उसका स्वरूप है और वह विकार-रहित सदा अचल है। वह चन्द्रमा के समान शीतल और सुन्दर है। वह सबका प्रकाशक है और उसमे सवितरूपी रस है सो अपना रस वह आपही लेता और सबको देता है। उसमे अनेक चित्र रेखाओ का वास है पर वह अपने स्वरूप को नहीं त्यागता। वह स्पन्दरूपी रसों का आगार है तथा वह एक ही रूप होकर भी अनेक रूप से भासता है। हेयोपादेव वस्तुयें और भूत, भविष्य, प्रकाश, तम, विद्या, अविद्या, देश, काल, क्रिया, नीति और रागद्वेपादिक कलना काल सब उसी के रस से फुरते हैं। कारण कि वह वेल आत्मरूप है और वह अनुभवरूपी रस से पूर्ण है। इससे वह सदैव अपने आप मे स्थित और नित्यशान्त स्वरूप है। जो पुरुष उसको जान लेता है वह धन्य हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग।

शिला कोपोपदेश वर्णन

यह सुनकर रामजी बोले—हे भगवन्! आपके [illegible] से मुझे यह निश्चय हुआ कि मज्जारूप [illegible] तादिक जगत मे कुछ भेद नहीं है, [illegible] ही सर्वत्र है। वशिष्ठजी ने कहा,—हे [illegible] प्रकार ब्रह्माण्ड की मज्जा सुमेरु आदिक पर्वत [illegible] उस चेतन वेल की मज्जा [illegible] है। अतः [illegible] का चेतन है और [illegible] नहीं [illegible] के वीज में जगत [illegible] तीनों [illegible]

समान निर्मल है। हे रामजी! इसके अतिरिक्त इसी प्रकार का एक और आश्चर्यमय आख्यान सुनो। वह अत्यन्त सुन्दर प्रकाशयुक्त और शीतल है। हे रामजी! एक विस्तृत रूप शिला है जिसमें कहीं छिद्र नाममात्र को भी नहीं है और उसका रूप बादल के समान है। उसकी बेल बडी ऊँची है और जड बहुत नीची है। उसमें कमल उत्पन्न होते है और उसकी अनेक शाखाये है। रामजी ने कहा,–हे भगवन्! आपका कहना सत्य है। मैंने भी उस शिला को देखा है। वह शालिग्राम की मूर्ति है जो नदी मे विद्यमान है। वशिष्ठजी ने कहा,–हाँ, तुम उस शिला को देखे हो परन्तु यहाँ मै जिस शिला का वर्णन कर रहा हूँ, वह अपूर्व है। उसके भीतर ब्रह्माण्ड के समूह है और कुछ नहीं। वह अत्यन्त घन रन्ध्ररहित है। आकाश, पृथ्वी, पर्वत, देश और नदियाँ आदि सभी उस शिला के अन्दर स्थित है। यही उस शिला का वर्णन है। पर जैसे ही इस शिला से भिन्न कुछ नहीं है, वैसे ही यह जगत आत्मारूपी शिला से भिन्न नहीं है। भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल इस आत्मारूपी शिला की पुतलियाँ है। जैसे शिल्पकार पुतलियाँ कल्पता है वैसे ही वैसे यह जगत आत्मा मे कल्पा हुआ है। इसका शिल्पी मन है, जिसने जगतरूपी नाना प्रकार की पुतलियाँ की कल्पना की है। अन्यथा आत्मा से कुछ भिन्न नही। जिस प्रकार शिला मे पुतलियाँ होती हैं और उनका उदय अस्त नहीं होता, वह शिला सहित ज्यों की त्यों होती है, उसी प्रकार आत्मा मे जगत का न तो उदय होता है और न अस्त होता है। कारण कि आत्मा निर्लेप है उसमे द्वैत की कल्पना नहीं हो सकती। जो कुछ कल्पनायें होती है वह केवल अज्ञानवश होती हैं। ज्ञान होने से शान्त हो जाती है। हाँ, यह ठीक है कि विकार भी आत्मा के ही आश्रय से भासते है किन्तु आत्मा विकार रहित है। उस ब्रह्म मे विकार केवल आभास मात्र हैं। जिस प्रकार बीज मे पत्ते, डाल और फल फूल का विस्तार मौजूद रहता है, उसी प्रकार चिद्घन

आत्मा मे जगत का विस्तार मौजूद है, उससे भिन्न नही। वही अपने आप मे स्थित है और जगत उसी का रूप है। जब वह एक मौजूद है तब द्वैत भी कहा जायगा, जब एक नही होगा तब द्वैत कहाँ से होगा। अस्तु जगत और आत्मा मे कुछ भेद नही है। जिस प्रकार शिला मे भिन्न-भिन्न अनेक मूर्तियाँ है और उसका आधार शिला अभेद्य है, उसी प्रकार आत्मा मे जगत् मूर्ति अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न भासती है पर चेतन रूप जो आधार है वह अभेद है। वह ब्रह्म-सत्ता समान और समस्थित है। दृष्टिमात्र मे उसमे बडे-बडे विकार उत्पन्न हो जाते है पर वास्तव मे वह सर्व विकारों से रहित और स्थित है। जैसे जल और तरङ्ग मे तथा भूषण और सुवर्ण मे भेद नही है वैसे ही इस अधिष्ठान सत्ता और जगतमे भेद नही है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग ।

सत्तोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! जिस प्रकार बीज के अन्दर वृक्ष होता है, उसी प्रकार जगत भी आत्मा मे है। किन्तु सर्वदा अच्युत और सम होते हुए भी उसमे कोई भेद विकार और परिणाम नही है। जगत के आदि अन्त और मध्य मे वह आत्मा ही अपनी सत्ता से स्थित है। देश, काल और कर्म आदिक कलनायें एक और अर्थ संयुक्त जितने भी प्रकार की कलनाये है सब का सम्बन्ध आत्मा ही से है और सब उसी का रूप है। जिस प्रकार वृक्ष के आदि अन्त और मध्य में सब बीज की ही सत्ता माननीय है उसी प्रकार जगत के आदि अन्त और मध्य मे आत्मसत्ता ही भास रही है, वह उसी का स्वरूप है। उस चैतन्य स्वरूप-माहान-आदर्श आत्मा मे ही सारा जगत प्रतिबिम्बित हो रहा है और यह समस्त जगत संकल्पमात्र है [illegible] स्फुरण जिसका होता है आत्मा के आश्रित होकर वैसा उसे [illegible] हे रामजी ! आत्मरूपी इच्छा

है और उससे जगतरूपी रत्न निकलते है। जैसा स्फुरण होता है, वैसा भास आता है। यद्यपि आत्मरूपी शिला निरन्ध्र है तथापि जैसे जलमे तरङ्ग जलरूप है, वैसे ही ब्रह्म सत और शान्तरूपसे स्थित है। उसमे जगत का कोई स्फुरण नहीं। वह शिला की रेखा के समान ही है। जिस प्रकार आकाश शून्य है, जल द्रवित है, वायु स्पन्द है, उसी प्रकार ब्रह्ममे जगत भी है। अस्तु ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं है। ब्रह्म ही जगत है और जगत ही ब्रह्म है।। इसमे भावाभाव भेद की कोई कल्पना नहीं। वह ब्रह्म सत्ता ही सबको प्रकाशती और जगत्रूप होकर भासती है। सुमेरु आदिक पर्वत और तृण से लेकर वन पर्यन्त भूत प्राणियो से संयुक्त जितना भी चित्त परिचय है सब उस परमसत्तासे ही भास रहे है। वही समस्त पदार्थों मे सूक्ष्म और स्थूल भाव से व्याप्त है। वह एक ही ब्रह्मसत्ता जल थल आदि मे अनेक रूप से भास रही है। जिस प्रकार मोर के अण्डे मे ही अनेक रूप विद्यमान है और शनै. शनै उसमे अनेक रङ्ग प्रकट होते है, वे क्या है, उसका रस एक ही है, पर वही अनेक रूप होकर भासता है। इसी प्रकार यह जगत एकरस ब्रह्मसत्ता ही से है। जैसे मोर के अंडे से एक ही रस रहते हुए भी अज्ञानी उसमे अनेक रङ्ग का होना मानते हैं वैसे ही यह अनउपमा नानात्व जगत अज्ञानी के हृदय मे स्थित है। पर वास्तव मे यह जगत परमात्मामे छिपा है। किन्तु छिपा रहने पर भी परमात्मा ही है। नाना रूप होने से उसका परिमाण नही हो सकता। इतने पर भी अज्ञानी का नानात्व ही भासता है किन्तु ज्ञानवान को एक सत्ता ही भासता है। हे रामजी। जिसको दिव्य दृष्टि नही है उनको तो नानात्व ही भासेगा, पर जैसे मोरके अंडे अनेक रङ्ग दिखाते है तो भी वह एक ही रस है वैसे ही इस जगत मे भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं तो भी एक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का संतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग।

ब्रम्हैक प्रतिपादन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी! जिस प्रकार बिना उपजे ही कान्ति-रङ्ग मयूर के अण्डे में होते हैं और वह बीज से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार अहं, त्व आदिक जगत आत्मा में बिना उदय हुये ही उदय रूप भासता है। अतः आत्मसत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहते नहीं बनता। आत्मसत्ता में स्थित होने के समान सुख न तो स्वर्ग में है और न किसी अन्य स्थान में है। इसी से तो ऋषि, मुनि और महान् से महान् योगीजन दृश्यदर्शन सम्बन्धी स्फुरण को त्याग कर आत्मसुख में विश्रान्ति पाने के लिये स्थित होते हैं। अतएव, आत्म सुख के समान उत्तम सुख कोई नहीं। जिनका उस संवित में संवेदन का कोई स्फुरण नहीं है उन प्राणियों का कोई दृश्यभावना नहीं फुरती और न कोई कर्म उनको स्पर्श करता है। उनके प्राण निस्पन्द होते हैं और वे चित्त तथा चेतन से रहित हो चित्रवत स्थित होते हैं। हे रामजी! चित्तकला के फुरने से ही तो जगज्जाल प्राप्त होता है। अन्यथा वह तो शान्तरूप और स्थित है। जिस प्रकार युद्ध सैनिक करते हैं राजा नहीं, पर जीत-हार राजा की कही जाती है, उसी प्रकार चित्त के फुरने द्वारा बन्ध और मोक्ष आत्मा ही में होता है। यद्यपि-आत्मा अच्युतरूप और सत् है तथापि मन, बुद्धि और चित्त उसमें बन्ध और मोक्ष भी होता है। अन्यथा आत्मा तो सब का प्रकाशक है। उसमें न दृश्य है, न विस्तर है, न दूर है और न वह उपदेश का ही विषय है। वह केवल अनुभव मात्र चैतन्य स्वरूप स्वयं सिद्ध है। देह, इन्द्रिय, गुण, चित्त, वासना, जीव, स्पन्द, स्पर्श, आकाश, सत्, असत्, मध्य, शून्य, अशून्य, देश, काल, वस्तु और अहं इदं इत्यादि कुछ नहीं है। वह सर्वशब्द रहित हृदय स्थान में प्रकाशित अनुभवरूप है। उसका आदि अन्त कुछ नहीं। न उसे

शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है, न वायु सुखा सकती है, न कोई उसे चलायमान कर सकता है और न वह यह है, न वह है, वह केवल चित्तरूपी आत्मतत्व है जो जन्म मरण से रहित है। शरीर बार-बार उत्पन्न और नष्ट होता है और आत्मरूपी आकाश सबके भीतर और अखड अविनाशी है। जिस प्रकार अनेक घरो मे एक ही आकाश स्थित है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों मे एक ही ब्रह्मसत्ता आत्मरूपसे स्थित है। हे राम जी! स्थावर जङ्गम रूपी जगत् जो कुछ देखने मे आता है, वह सब ब्रह्म का ही स्वरूप है। वह ब्रह्म निर्मम, निर्गुण, निराकार, निर्मल, निर्विकार और आदि अन्त से रहित, सम और शान्तरूप है। हे रामजी! तुम इसी दृष्टि का आश्रय करो। इस दृष्टि का आश्रय करने से तुमको महान् से महान कार्य भी स्पर्श न कर सकेंगे। क्योंकि काल, क्रिया, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति और सहार आदिक जो कुछ भी ससरण रूप ससार है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। अस्तु, तुम इसी दृष्टि का आश्रय करके सुख पूर्वक विचरो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का अड़तालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

उनचासवाँ सर्ग।

स्मृति-विचार-योग वर्णन

इतना उपदेश सुन चुकने पर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे भगवन्! आपने कहा है कि ब्रह्म मे विकारता नहीं है तो जब विकार नहीं है तो यह जगत किससे भासता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुये वशिष्ठजी रामजी से कहने लगे—हे राघव! पहले यह सुनो कि विकार है क्या? जिस वस्तु ने अपने पूर्व रूप को त्यागकर उलटा, अन्यरूप धारण किया हो, वह विकार कहलाता है। जैसे दूध दही होने पर फिर दूध नही होता और बाल्यावस्था के व्यतीत हो जाने पर पुन बाल्यकाल नहीं आता

उसीको विकार कहते हैं। किन्तु ब्रह्म तो ऐसा नही है। न तो उसके आदि मे विकार है, न अन्त मे और न मध्य मे। पर जो विकार भासता है वह केवल अज्ञान वश है। अत. ब्रह्म-सत्ता ज्यो की त्यो अद्वैतरूप है और आत्म अनुभव से उसका प्रकाश होता है। अन्य सब वस्तुयें तो बार-बार रूप-परिवर्तन करती रहती है। पर ब्रह्म-सत्ता ऐसी नही है। फिर उसमे विकार कैसे कहा जाय। हे रामजी! विचार और ज्ञान से जिस वस्तु की निवृत्ति हो जाय उसे भ्रम कहते है और इस कारण वह कुछ है भी नहीं। पर यह सब विकार आदि तो तभी तक भासता है कि जब तक आत्मबोध का अभाव है। जब जिसका बोध होते ही समस्त विकार नाश हो जाते है, तब उसे विकार कैसे कहा जाय। जब उसका नाम ही ब्रह्म है और जब जिसका आदि अन्त सत् है तब उसके मध्य को भी सत् जानना चाहिए। यदि इससे भिन्न प्रतीत होता है तो उसे अज्ञान कहना चाहिये। क्योंकि वह आत्मरूप सर्वदा समरूप है। आकाश और वायु तक अन्य भाव को प्राप्त हो जाते है, पर आत्मसत्ता कदापि अन्यभाव को नही प्राप्त होती।

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! यह तो हमारी समझ मे आगया कि ब्रह्मसत्ता सदा निर्विकार और निर्मल हे पर उस ब्रह्मतत्व मे यह अविद्या कहाँ से घुस आई। वशिष्ठजी ने कहा,— हे रामजी! उस ब्रह्म मे अविद्या तो कोई नही है। वाच्य वाचक शब्द से तो उसमे अविद्या नही है। अहं, त्वं, अग्नि, वायु और भ्रम आदिक तो सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही है। अविद्या का कहीं नाम भी नही है। यहाँ तक कि जिसका नाम ही अविद्या है वह भी तो केवल एक मात्र है।

इस पर रामजी ने कहा—हे भगवन्! आपने उपशम प्रकरण मे कहा था कि अविद्या है, फिर आप कैसे कहते हैं कि अविद्या नही है। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! उस समय तुम अबोध थे तब युक्तिपूर्वक [illegible] जाग्रत करने के लिये वैसा [illegible] था, पर अब तुम [illegible] हो इसलिये स्पष्ट कह दिया

अविद्यमान है। हे रामजी! वेदवादियों ने अबोध जनों को जागरण करने के लिये अविद्या, जीव और जगत आदिका क्रम वर्णन किया है। अबोध मनको जब तक युक्तिपूर्वक अनेक उपदेश नहीं किया जाता तब तक उसकी अविद्या दूर नहीं होती और भ्रम नाश नहीं होता तथा अज्ञान दूर नहीं होता। पर बोधवान् हो जाने पर फिर उसे युक्तिपूर्वक सिद्धांत न भी समझाया जाय तो भी वह समझ जाता है किन्तु अप्रबोध मन बिना युक्ति और अनेक यत्न के बोधवान् नहीं होता। हे रामजी! जिस कार्य की सिद्धि करना चाहे उसे युक्तिपूर्वक सिद्ध करे अन्य यत्न से नहीं। युक्तिरूपी दीपक से ही अन्धकार दूर होता है, बल और यत्न से नहीं। फिर अज्ञाननिद्रा तो बिना युक्तिपूर्वक यत्न के नहीं जाती। जैसे अप्रबोध के आगे सर्व-ब्रह्म का उपदेश देना व्यर्थ है और जैसे किसी दुःखी का दीवाल के आगे जाकर दुःख कहना व्यर्थ है, वैसे ही अप्रबोध को सर्वब्रह्म का उपदेश देना व्यर्थ होता है। अस्तु, अब तुम यह धारण करो कि त्रिकाल और त्रिजग मे सर्वदा अहं, त्वं आदिक सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। उसमे द्वैत की कोई कल्पना नहीं है। यह दृष्टि रखते हुये तुम जो चाहो करो। साथ ही दृश्यसंवेदन के स्फुरण से बचते हुए सर्वदा आत्मा मे स्थित रहो। इस दृष्टि से तुम्हे कोई कार्य स्पर्शित न करेंगे। हे रामजी! परमात्मा सदा चैतन्य वपु प्रकाश स्वरूप और सर्वदा अहंवृत्ति से फुरता है। इसलिये तुम चलते, बैठते, खाते पीते और सोते हुये प्रति क्षण उसी अनुभव रूप में स्थित रहो। इस प्रकार तुम्हारा सब अहं और ममभाव नष्ट हो जायगा और तुम उस शान्तरूप ब्रह्म मे जो समस्त भूतों मे स्थित है उसको प्राप्त होवोगे। फिर तुम्हे आदि अन्त से रहित शुद्ध संवित मात्र प्रकाश स्वरूप आत्मा ही का दर्शन होगा। आत्मा मे प्रकृति भिन्न नहीं है। जैसे जेवरीमे सर्प भासता है वैसे ही आत्मामे सब कुछ भासता है। हे रामजी! यह चित्तरूपी वृक्ष कल्पनारूप जैसा बीज बोता है, वैसा ही चित्तरूपी अँखुआ उत्पन्न होकर भाव रूप

ससार को उत्पन्न करता है। पर जब आत्मज्ञान से कल्पना रूप बीज जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं तब चित्तरूपी अँखुये का नाश हो जाता है और उस चित्तरूपी अँखुये मे सुख दु:खरूपी वृत्त नहीं उत्पन्न होता। हे रामजी! यह द्वैत का भ्रम जो कुछ है सब केवल अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, ज्ञान होने से नष्ट हो जाता है। अस्तु, संसार-भ्रम से निवृत्त होने के लिये तुम परमार्थ वस्तु आत्मा की भावना करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

पचासवाँ सर्ग

सवेदन-विचार-वर्णन

इतना उपदेश सुन चुकने पर रामजी विनय पूर्वक वशिष्ठ जी से बोले कि हे महाज्ञानिन! अब आपके ज्ञानरूप अमृत से सिचित होकर मै पूर्णपद मे स्थित हुआ हूँ। मेरे जानने और देखने योग्य जो कुछ था सो मैने देख और जान लिया। इससे अब मै उस परमपद मे पूर्ण हूँ कि जिस पद ने इस विश्व को पूर्ण किया है। यह जानकर भी हे मुनिवर! अब मैं आपसे अपने बोध के लिये नम्रतापूर्वक यह पूछता हूँ कि यह कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और घ्राण आदिक पाँचो इन्द्रियाँ तो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती है पर यह जैसे जीवित रहने पर अपने-अपने विषयो को ग्रहण करती है, वैसे ही मरे पर क्यो नही ग्रहण करती कृपया यह मुझे समझाइए। दूसरा प्रश्न यह कि घटादि की नाई बाहर से तो यह जड़ स्थित हैं पर इनका अनुभव हृदय मे कैसे होता है। तीसरे यह कि ये पाँचो पृथक-पृथक होते हुए भी इकट्ठी कैसे हुई? चौथे यह कि देखने सुनने आदि की यह सब वृत्तियाँ एक आत्मा मे कैसे एकाकार हो जाती हैं? साधारणतया तो मै इनको जानता हूँ, पर आप कृपाकर इनका विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

वशिष्ठजी कहने लगे, [illegible] ! आत्मतत्व आकाश से भी

सूक्ष्म और स्वच्छ है, इससे इन्द्रियाँ, चित्त और घट, पट आदिक पदार्थ उससे भिन्न नहीं है। जब चेतनतत्त्व से पुर्यष्टका चेत्यता की स्फूर्ति करके फुरी तब उसने आगे इन्द्रियों को देखा और इन्द्रियगण चित्त के आगे हुये। इनकी घनता से चेतनसत्ता पुर्यष्टकाभाव को प्राप्त हुई। फिर तो उसमे सब घटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित हुये पुर्यष्टका मे भासने लगे।

इसपर रामजी ने प्रश्न किया कि हे मुनिवर! उस पुर्यष्टका का रूप क्या है कि जिसने इस अनन्त जगत की रचना को इस महान् आदर्श मे किया प्रतिबिम्बित है? वशिष्ठजी ने कहा,—हे राघव! जगत का बीजरूप ब्रह्म, आदि अन्त से रहित निरामय, प्रकाश स्वरूप, कल्पना और कलना से रहित चिन्मात्र और अनादि है। कलना के सम्मुख होने से उसी का नाम जीव हुआ है। जब उस जीव ने शरीर को चेता तब अहङ्कार हुआ इससे वह मनन करने लगा। मनन करने से वह मन हुआ। जब निश्चय करने लगा तब बुद्धि हुई। बुद्धि से इन्द्रियाँ हुई और इन्द्रियों से जब शरीर की भावना करने लगा तब शरीर हुई। फिर वही जब घट पट की भावना करने लगा तब घट पट हुये। इस प्रकार जैसी-जैसी भावना हुई वैसे ही पदार्थ होते गये। हे रामचन्द्र! इसी स्वभाव का नाम पुर्यष्टका है। स्वरूप के उलटे ज्ञान अर्थात् दृश्यभाव होने से कर्ता, भोक्ता और सुख, दुःख आदि की भावना, कलना और अहङ्कार जो चित्तशक्ति मे हुई इससे उसको जीव कहा जाता है। वह जीव भावना-स्वरूप होने से वैसी-वैसी वासना करता है। वासनाओं से सिंचित होने के कारण जीव, जीव-स्वरूप के प्रमाद से महाभ्रमजाल मे गिरता है जिससे वह अपने को शरीरधारी मनुष्य मानता है अथवा यह जानता है कि मैं सुर और स्थावर हूँ किन्तु यह नहीं जानता कि मै चिदात्मा हूँ। यही मिथ्याज्ञान उसे डुबाता है और शरीरादि मान करके वासना के वश हो चिरकाल तक अर्द्ध उर्द्ध और मध्य मे भ्रमता फिरता है। किन्तु

जब वही जीव विचार और अभ्यास करके आत्मबोध को प्राप्त करता है तब संसार बन्धन से मुक्त हो आत्मपद को प्राप्त करता है। यही स्वरूप से गिरना और उठना है। हे रामजी! यह तो हुआ आत्म-विवेचन। अब तुम अपने प्रश्न का उत्तर सुनो कि मृतक होने पर इन्द्रियाँ विषय को क्यों नहीं ग्रहण करतीं। उत्तर यह है कि—चित्त कलना का स्फुरण शुद्धतत्व में होता है और स्फुरण होने से ही वह जीवरूप होती है और मन के साथ षटेन्द्रियों को लेकर शरीररूपी गृह में स्थित हो बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं। आशय यह कि मन के साथ रहने ही पर षटेन्द्रियों को विषय का ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं। अब यह सुनो कि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न रहती हैं तो भी उनकी एकता कैसे होती है। इसका उत्तर यह कि अहंकाररूपी तागे से वे एकाकार (एकत्रित) हो जाती हैं। हे रामजी! इन्द्रियाँ शरीर और मन आदिक सब जड़ हैं। किन्तु आत्मसत्ता को पाकर यह सब अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। और इनका ग्रहण करना तभी तक होता है, जब तक पुर्यष्टका शरीर में होती है। शरीर से पुर्यष्टका के निकल जाने पर इन्हें विषय-ग्रहण की शक्ति नहीं रहती। हे रामजी! यह जो श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा भासते हैं इनको इन्द्रियाँ नहीं कहते, इन्द्रियाँ तो एक सूक्ष्म तन्मात्रा हैं। शरीररूपी गृह है जिसमें श्रवणादिक झरोखे लगे हुये हैं और जैसे किसी कृत्रिम गृह के झरोखों में जो वस्तु रखी जाय अथवा आ जाय तो उसका अधिकारी वह झरोखा नहीं प्रत्युत उस गृह का स्वामी है उसी प्रकार शरीर-गृह का स्वामी आत्मदेव है और श्रवण, नासिका आदि केवल झरोखा मात्र हैं, इससे उनको इन्द्रियों का पद नहीं प्राप्त होता। सर्व शरीर में विद्यमान जो आत्मदेव है और जिनसे जीव का रूप हुआ है उनके भाव (ख्याल) मात्र को इन्द्रियाँ कहते हैं अथवा जब तक जीवकला पुर्यष्टकारूप को शरीर धारण किये रहती है और उनमें आत्मदेव जब तक विराजमान रहते हैं तब तक उसमें ग्रहण करने-

वाली जो सूक्ष्म तन्मात्रा होती है वही विषयों को ग्रहण करती है और उसी को इन्द्रिय कहते है। हे रामजी! देखो, कोई कथामे बैठा है और कथा की ओर उसका ध्यान न होकर कहीं दूसरी ओर है तो वह प्रत्यक्ष श्रोता समूह मे बैठे रहने पर भी कुछ नहीं सुनता क्योंकि उसकी श्रवणेन्द्रिय किसी के साथ गई हुई है। इसी प्रकार जब पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक हो जाता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को नहीं ग्रहण करतो। हे राघव! अहं त्व आदिक जितने भी दृश्य है सब आत्मरूपी समुद्र से ही तरङ्ग के समान फुरे हैं। तत्पश्चात दृश्यकलना हुई है। अत. देश, काल और क्रिया आदिक कुछ नहीं है, सब असत्य हैं। यह जानकर सांसारिक सुख, दुख, हर्ष, शोक और राग-द्वेष से रहित होकर विचरण करो। फिर तुम्हारे निकट माया नहीं आवेगी और तुम उससे मुक्त हो जाओगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग।

यथार्थोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! वास्तव मे इन्द्रियादिकों की भी कोई उत्पत्ति नहीं है। जैसे कमलज ब्रह्मा की उत्पत्ति को मैने तुमसे कहा है जो पुर्यष्टका रूप ही उत्पन्न हुये है, वैसे ही अन्यो की भी उत्पत्ति हुई है। हे रामजी! पुर्यष्टका मे स्थित होकर यह जीव जैसी-जैसी भावनाओं को करता गया वैसा ही वैसा भासने लगा। पुन. उसकी सत्ता पाकर सब अपने-अपने विषय को ग्रहण करने लगे अन्यथा इन्द्रियों की तो कोई भी वास्तविकता नही है। इनका स्फुरण तो केवल आत्माभास से है। इनकी उत्पत्ति केवल सवेदन से है जैसा कि अगले अध्याय मे बतला चुके है। उस शुद्ध सत्ता मे जो अहं अर्थात् सवेदन (कम्प) हुआ वही कम्प जीव रूप पुर्यष्टका भाव को प्राप्त हो बुद्धि मन और पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न कर जीवकला स्वय

उसमे स्थित हुई है। उसी को पुर्यष्टका कहते है। पर इसकी उत्पत्ति आत्मा में नहीं बल्कि स्पन्द मे है। आत्मा एक अनेक कुछ नहीं है, वह अनामय होते हुये भी उसमे अनेक सवेदन है। उसमें न तो कोई द्वैत कलना है और न कुछ मन शक्ति ही है। वह सत्ता केवल शान्त और चिन्मात्र है। वही परमात्मा है और वही मन सहित षटेन्द्रियो से परे अचेतन है। समस्त जीव उसी से उत्पन्न हुये है। परन्तु यह भी में केवल उपदेश हेतु कहता हूँ, अन्यथा कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल अह विपर्यय भाव के होने से ही उसमे जीव उत्पन्न हुआ है और इसी का नाम अविद्या है। सो यह अविद्या भी उपदेश को पाकर लीन हो जाती है। उपदेश भी कैसा, गुरु और शास्त्र का। जब सद्गुरु और सत्शास्त्र का इसे उपदेश प्राप्त होता है तब यह भ्रमरूप आकार शान्त हो जाता है और ज्ञानरूप आत्मा शेष रहता है। वह भी कैसा कि आकाश से भी सूक्ष्म, किन्तु उसके आगे आकाश जैसा सूक्ष्म वस्तु भी स्थूल भासता है। वह भी भ्रम है। हे रामचन्द्र! आत्मा मे जगत है, ऐसी कहावत है, परन्तु यह मिथ्या है। क्योंकि जो वस्तु अबोध मे भासती है और प्रबुद्ध ज्ञान से नहीं पायी जाती, वह माया नही तो क्या है? जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल पीने में नहीं आता उसी प्रकार जगत के कोई भी पदार्थ परमार्थ साधन मे नहीं आते। हे रामजी! ज्ञान सहित जिस वस्तु की प्राप्ति हो वही तो सत् और अन्य सब कुछ भ्रम है। अत. यह जीव-पुर्यष्टका असत् होने पर भी भ्रम वश सत् भासती है। इसको जब तक सद्गुरु और सत् शास्त्रों का उपदेश विचार नही प्राप्त होता तब तक जगत्-भ्रम का नाश नही होता। पर जब प्राप्ति हो जाती है तब उसी पुर्यष्टका मे स्थित होकर यह जैसी भावना करता है वैसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार बालक अपनी परछाईं मे वैताल की कल्पना करता है उसी प्रकार जीवकला अपने आप से देश कालादि को कल्पती है। पर वह सवेदन भी आत्मा

के साथ अनन्यरूप है। जैसे आकाश में शून्यता अनन्यरूप है वैसे ही आत्मा में संवेदन भी अनन्यरूप है। उस संवेदन में उत्पन्न हो कर—यह पदार्थ ऐसा है, यह ऐसा होगा और ऐसा ही स्थित है इत्यादि स्फुरण होकर जीव ने जैसा निश्चय धारण किया है उसीका नाम नीति है। पर स्वरूपत. सब आत्मा ही है। आत्मसत्ता ही रूप धारण कर स्थित है। जैसे गुड और शकर आदिका रूप एक गन्ने के ही रस से है और जैसे मिट्टी के सब प्रकार के वर्तन एक मिट्टी से ही है, वैसे ही घट, पट आदिक भिन्न भिन्न रूप होते हुये भी सब एक आत्मसत्ता हीसे है। आदिजीवने जैसा निश्चय किया है, वैसा ही स्थित है, अन्य नहीं। चिदानन्द ब्रह्म अपने आप मे स्थित है, इससे शरीरादिक सब चिन्मात्र है। हे रामजी! यह सारा जगत आत्मा का किंचन मात्र है। इसमे दृश्यों को कोई वास्तविकता नहीं। जेवरी के सर्प समान ही सब कुछ भ्रम से भास रहा है। जैसे स्वप्न मे पतन होना असत्य ही है, वैसे ही इस जीव को अन्य शरीर भासित होता है। अन्यथा आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है केवल स्फुरण से ही अनेक रूप धारण कर रही है। जैसे अनेक स्वांगों को धारण करनेवाला नट एकही है, वैसे ही अनेक स्वांगों को धारण करते रहने पर भी आत्मसत्ता एक ही है। हे रामजी! सब मे एक ही सत्ता विद्यमान है। परन्तु सत् स्वरूप प्रमाद वश जीव अपने को जन्मने और मरनेवाला मानते है। किन्तु वह जन्म मरण असत्य है। केवल भ्रम-भावना वश उसे ऐसा विपरीत ज्ञान होता है। जैसे निद्रा का स्वप्न जाग्रत अवस्था मे मिथ्या ही प्रतीत होता है वैसे ही अधिष्ठान रूप आत्मा का ज्ञान होने पर जगत-भ्रम निवृत हो जाता है। जैसे सुकृत कर्म पूर्व दुष्कृत कर्मो को ध्वस कर देते है वैसे ही पूर्व की निकृष्ट वासना को भी आत्म सत्ता का अभ्यास कर पुरुष प्रयत्न द्वारा मलिन वासनाओं को नष्ट कर देता है। पर जब तक मलिन वासनायें साथ हैं तब तक जन्म

मरण का गोता लगता ही रहेगा। किन्तु जब साधु सगति और सत्शास्त्रों का अभ्यास व विचार होकर आत्मज्ञान का उदय होता है तब ससार-बन्धन अवश्य छूट जाता है। हे रामजी! वासना रूपी कलंक को लेकर ही यह जीव अवतरित हुआ है। जैसे बालक अपनी परछाई मे ही भूत की कल्पना करता है, वैसे ही वासनाओ से घिरा जीव पुर्यष्टका मे स्थित हुआ है। पुर्यष्टका कहते है मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि की तन्मात्राओ का। उसका शरीर अन्तवाहक है। किन्तु चेतन आत्मा इतना सूक्ष्म अमूर्त है कि निर्मल आकाश भी उसके आगे स्थूल है। फिर स्थूल शरीर तो उसके समक्ष सुमेरु पर्वत ही है। अतः जीव बहुत सूक्ष्म है। केवल स्वप्न-भ्रम और जड़रूप सुषुप्ति इन दोनो अवस्थाओ मे ही पड़े रह कर स्थावर जङ्गम रूपी जीव अहर्निश भटक रहे है। अन्यथा सबका शरीर तो अन्तवाहक ही है। पर खेद है कि ऐसी सूक्ष्मता को लेकर भी जीव कभी स्थावर मे पाते है तो कभी वृक्ष और पत्थरादिक योनिमे प्रवेश करते है। इस प्रकार समस्त जीव कर्म-वासना वश भिन्न-भिन्न योनियो का प्राप्त करते है। जब स्वप्न मे होते हैं तब कर्मानुसार जङ्गम योनि को और जब अधिक तामसी वासना होती है तब कल्पवृक्ष चिन्तामणि आदिक स्वरूप को प्राप्त होते है। किन्तु जब तामसी स्वभाव का उदय होता है जो महान अन्धकार एवं मोहरूप है तब वह वृक्ष और पाषाण आदि योनि को प्राप्त होते हैं। यह मोहरूप सुषुप्ति अवस्था है। इसके अतिरिक्त एक विशेष रूप स्वप्न अवस्था है। यह जीव कभी होता है, कभी सुषुप्तिरूप स्थावर होता है। हे रामजी! सुषुप्ति मोहरूप है और उससे उतर कर विशेषरूप स्वप्न अवस्था होती है। स्वप्न अवस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था होती है। यह जाग्रत अवस्था बोध होने पर की अवस्था है और वह अवस्था भी दो प्रकार की होती है। एक जाग्रत का नाम और दूसरी का विदेह-मुक्ति है।

तुरीयारूप जीवनमुक्ति है और दूसरी तुरीयातीत विदेह मुक्ति है। जब-जब पुरुष यत्न करके बोध को प्राप्त करता है, तब-तब जीव को इस अवस्था की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। हे रामजी! जीव का स्फुरण ज्ञानरूप है, जब यह सत्, असत्, और नेकानेक जिन दृश्यों की ओर झुकता है तब उसी दीर्घभ्रम को देखता है। अतः जीव मे जितनी भी सृष्टियो का स्फुरण होता है सब आत्मसत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे बटलोही मे दाल के समान ही जल उछलता है वह जल के सिवा और कुछ नही है, ऐसे ही जीव मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है। जो अन्य वस्तु भासती है वह केवल मायामात्र है। हे रामजी! यह समस्त जगत संकल्प—रचना है। जो घट पट आदिक बाहर से देखता ग्रहण करता है, वही एक देह मे स्थित हुआ बाहर भी घट पट आदिक होकर स्थित हुआ है। इसी से वह ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध को देखता है और कहता है कि यह मैंने ग्रहण किया, यह मैंने लिया है। किन्तु ज्ञानी जन ग्रहण और त्याग का कुछ अभिमान नहीं करते। उनको भीतर बाहर सब चिदाकाश ही भासता है। वास्तव मे यही सत्य भी है। आत्मा में द्वैत वस्तु कुछ नहीं। आत्मा ही जगतरूप हो कर भास रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

बावनवाँ सर्ग।

नारायण अवतार

वशिष्ठजी बोले हे रामजी! यह जाग्रत अवस्था भी भ्रममात्र है। इससे स्वप्न और जाग्रत एक ही रूप है। जैसे स्वप्न मे जाग्रत का एक क्षण भी बहुत अधिकाल होता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमादवश जाग्रत दीर्घकाल का भ्रम ही है जिससे सत् असत् और असत् को सत तथा जड़ को चेतन और चेतन को जड जानता है। यह विपर्यय ज्ञान से इस प्रकार

जानता है, जैसे स्वप्न मे एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है। ऐसे ही जीव आदिक एक से अनेक होकर भासते हैं। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न-भ्रम का उदय होता है, ऐसे ही अद्वैत आत्मा मे जगत भ्रम होता है। अत: आत्मा अनन्त और जीवो का बीजरूप है। जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही भासता है। पर जिन पुरुषों को स्वरूप की स्थिति हुई है वे सदा निःशङ्क होकर विचरते है, जैसे अब नारायण विष्णु आकर निःशङ्कता का उपदेश करेंगे और उसको पाकर अर्जुन मुक्त होकर विचरेगा। ऐसे ही हे महाबाहो! तुम भी विचरण करो। हे रामजी! जैसे अब पाण्डुपुत्र अर्जुन सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करेगा और सब व्यवहार मे भी सुखी और स्वस्थ रहेगा ऐसे ही तुम भी निःशङ्क होकर विचरो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा कि हे भगवन्! पाण्डुपुत्र अर्जुन कब होवेगा और नारायण विष्णुजी उसे निःशंकता का उपदेश कैसे करेंगे? कृपाकर इस वृतान्त को मुझे सुनाइए। वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी! जैसे पक्षी जल मे भ्रमते है, ऐसे ही ससार जाल मे भूतप्राणी भ्रम रहे है। पर उन समग्र अस्थि तन्मात्राओं मे आत्मसत्ता ही अपने आप मे स्थित है। उस निर्मल तत्व मे आत्म-सत्ता अपने आपही स्थित है। उन्हीं मे से कोई चन्द्रमा, कोई सूर्य और कोई लोकपाल होकर स्थित हैं। पञ्चभूतो का क्रम उन्हींने रचा है। यह ग्रहण है, यह त्याज्य है, पुण्य से स्वर्ग और पापसे नरक प्राप्त होता है इत्यादिक मर्यादाको उन्ही लोकपालोंने स्थापना की है। समस्त जीव इसी प्रकार की ससार सरिता मे प्रवाहित हो रहे हैं। वह सरिता अविच्छिन्न रूप होते हुये भी क्षण मे नष्ट हो जाती है। उसका नष्ट होना क्या है, आत्मा की अपेक्षा और अविछिन्न रूप है सत्। ऐसे ही जगत मे वैवस्त सूर्य का पुत्र यमराज बडा प्रतापवान स्थित है। वह महान् तेजस्वी और सब जीवों को मारनेवाला, ऐसे नियमधारी प्रजा मे स्थित है। उसी का नाम यमराज है। जीवों को मारना और

दण्ड देना यही उसका कार्य है। इस नियम से वह चित्त मे पहाड की नाईं स्थित है। किन्तु चतुर्युग से उस यमराज का यह भी नियम है कि कुछ दिनों तक किसी जीव को नहीं मारना। इस प्रकार उदासीन के सदृस वह कभी आठ वर्ष, कभी बारह वर्ष और कभी सोलह वर्ष का नियम धारणकर पर्वत के समान चित्त में स्थित है और किसी को नहीं मारता। तब पृथ्वी निरन्ध्रभूत हो जाती है और चलने को मार्ग नहीं रहता और अनेक दुष्ट जीव अन्य जीवों को दु:ख देते हैं जिससे धरा व्याकुल और दु:खी हो जाती है, तब उस पृथ्वी के भार को उतारने के लिये नारायण विष्णु अवतार धारण कर दुष्ट जीवों का नाशकर धर्म की स्थापना करते हैं। हे रामजी! इस प्रकार के नेमधारी यमदेव को अनन्त युग अपने व्यवहार को करते व्यतीत हो गये हैं। भूत और जगत भी अनेक हो चुके हैं। अब वर्तमान दशामे इस सृष्टि मे यम का नाम वैवस्त है। अब यह यम आगे चलकर अपने नियम का पालन करेगा और बारह वर्ष तक किसी को न मारेगा। परिणाम यह होगा कि जीव क्रूर कर्म करने लगेंगे और पृथ्वी भूतों से निरन्ध्र हो जावेगी, तब जैसे चोर से दु:खित होकर स्त्री अपने पति की शरण मे दौडकर जाती है वैसे ही प्राणियों से सघटित हो पृथ्वी पापभार से व्याकुल और दु:खित होकर विष्णु जी की शरण मे जाती है। तब विष्णुजी नर शरीर धारणकर पृथ्वी का भार उतारते और धर्मकी स्थापनके लिये देवताओं सहित अवतार लेकर आते हैं। वही भगवान विष्णु नरों मे नायकभाव को प्राप्त हो एक शरीरसे वसुदेव के गृहमे पुत्ररूप कृष्ण नामसे उत्पन्न होंगे और दूसरी शरीर से राजा पाण्डु के गृह अर्जुन नाम मे जन्म लेंगे। उन्हीं राजा पाण्डु को युधिष्ठिर नाम से एक धर्म का पुत्र उत्पन्न होगा और जिसकी मेखला समुद्र है ऐसी पृथ्वी का वह राज्य करेगा। उस धर्मपुत्र के चचा को भी पुत्र होंगे जिनमे दुर्योधन सबसे श्रेष्ठ होगा और जिसके साथ भीम का बडा युद्ध होगा। समय आने पर दोनों

पक्ष युद्ध की इच्छा करेंगे। उस युद्ध के लिये अट्ठारह अक्षौहिणी सेना एकत्रित होगी। फिर तो उनमे महाभयानक युद्ध होगा और उनके वल से हरि भगवान् पृथ्वी के भार को हरण करेंगे। हे रामजी। उन सेनाओं के युद्ध मे अर्जुन नामधारी जो विष्णु का ही शरीर होगा वह गाण्डीवधारी होगा और वह प्राकृत स्वभाव मे स्थित रह हर्ष, शोक और विकारादि भावों मे रहित होगा। जब दोनों सेनायें समक्ष खडी होगी तब वह अपने बन्धु बान्धवों को युद्ध के लिये सन्नद्ध देखकर मूर्छित हो जायगा और कायरता वश उसके हाथ से गाण्डीव धनुष गिर पडेगा तब बोध देह के लिये उसको हरि भगवान उपदेश करेंगे और इस प्रकार कहेंगे कि,—हे नरकेशरी अर्जुन। तुझे यह मोह कहाँ से होगया और तू मनुष्यभाव को क्यो प्राप्त हुआ ? तू परम प्रकाश आत्मतत्व है, इससे कायरता को त्याग दे। तू सबका आत्मा आनन्द अविनाशी है। तेरा आदि अन्त नही है। तू कायरता को व्यर्थ ही प्राप्त हो रहा है। तू सर्वव्यापी, परम अंकुररूप, निर्मल, दु:ख से रहित, नित्यशुद्ध और निरामय है। हे अर्जुन। आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है। यह अजर, अमर, नित्य, निरन्तर और पुरातन है। शरीर का नाश होनेसे आत्मा का नाश नही होता। यह सबका आदि है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग।

अर्जुनोपदेश वर्णन

श्री भगवान बोले हे अर्जुन। जो इस आत्मा को मरनेवाला और मारनेवाला मानता है, वह मूर्ख है। आत्मा न मरता है न मारा जाता है, क्योकि यह अक्षयरूप है, और आकाश से भी सूक्ष्म और निराकार है। फिर उस आत्मा को जो परमेश्वर रूप है उसे कौन मार सकता है। हे अर्जुन। तू

अहकार रूप तो नहीं है फिर तुझे यह अनात्म अभिमान रूपी मल कहाँ से लगगया, तू तो जन्म मरण से रहित और मुक्ति रूप है। फिर तू करता और भोगतापन का अभिमान क्यों करता है। तेरे जैसा मुक्तिरूप पुरुष समस्त विश्व को भी मारे तो भी उसने किसी को नहीं मारा ऐसा वह अपने को निरवन्ध समझता है। हे अर्जुन । मैं और मेरा यह जो मलिन भाव का निश्चय है, पुरुष को उस आत्मा से पृथक करने वाला है। जिसका जैसा दृढ़ निश्चय होता है उसको वैसा ही अनुभव होता है। इस कारण तू मलिन निश्चयों को त्याग कर स्वरूप में स्थित हो। अन्यथा मलिन भावनाओं के पीछे तू नष्ट हो जायगा। हे अर्जुन ! यह पंच तत्त्वों से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ दिन रात विषय वासना में ही स्थित रहती हैं। इनसे अहकार करके मूढ़ पुरुष अपने को कर्ता मानते हैं और कहते हैं, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, स्वाद लेता हूँ, और मैं गन्ध लेता हूँ इत्यादि। हे अर्जुन ! यह सब कर्म तो इन्द्रियों के हैं, जीव व्यर्थ ही अहभाव करके क्लेशित होता है। दूसरे मिलकर कर्म करते हैं और दूसरा एक उसमें अभिमान करके दुख पाता है यह बड़ा आश्चर्य है। कर्म तो करती हैं इन्द्रियाँ, और अभिमान वश राग द्वेश में पड़कर जीव दु ख पाता है, अतएव अभिमान और इन इन्द्रियों का साथ छोड़कर तू अपने स्वरूप में स्थित हो। योगी-जन इसी प्रकार कर्म करते हैं और वे सदैव मन बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हुये भी अभिमान-वृत्ति नहीं करते। इसी से उनको आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन । समस्त जीवधारियों को अहकार ही दु ख दे रहा है। हे अर्जुन ! चाहे कैसा भी सुन्दर शरीरवाला क्यों न हो पर यदि वह शरीर में विष्टा लपेटे हो तो उसकी शोभा जाती रहती है। कोई कैसा भी विद्या और गुणों से विभूषित क्यों न हो यदि उसे अनात्म में अभिमान है तो उसकी शोभा नहीं हो सकती। परन्तु जो अहकार रहित और सुख दुख में सदा एक रस रहता है और जो क्षमावान है, वह चाहे शुभ करे अथवा अशुभ

करे, उसे कर्मों का स्पर्श नहीं होता। इसी प्रकार निश्चयवान् होकर हे अर्जुन! तू भी कर्मों को कर। हे पाण्डु नन्दन इस युद्ध को करना तेरा धर्म है, इसलिये तू इसे कर। अपना निकृष्ट धर्म भी कल्याणकारी है पराया धर्म उत्तम भी हो तो भी दुःख दायक है। इन दोनोंमे तुझे जो अच्छा लगे वह कर। जब तुझमे अहंभाव न होगा तब तुझे कोई कर्म स्पर्श न करेंगे, अतः तू शंका और अभिमान को त्यागकर अपने समस्त आचारों को ब्रह्मार्पण योग मे स्थित होकर कर्म कर। ऐसे ब्रह्ममय कर्मो का करते हुए तू शीघ्र ही संकल्प से परे संन्यास प्राप्तकर ब्रह्मरूप हो जायगा।

यह सुन कर अर्जुन ने पूछा हे भगवन्! कृपाकर आप यह बतलाइये कि शंका त्याग, ब्रह्म अर्पण और योग तथा संन्यास क्या है? श्री भगवान् ने कहा,—हे अर्जुन! पहले तुझे यह जानना चाहिये कि ब्रह्म किसे कहते है? जहाँ समस्त सङ्कल्पों का नाश हो और जहॉ किसी भावना का उत्थान हो और अचेतन चिन्मात्रसत्ता ही शेष रहे, उसको परब्रम्ह कहते हैं। ऐसा जान कर उसे प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए और जिस विचार के साथ उसको पाया जाय उसका नाम ज्ञान है। और जिसमे स्थित होना है उसको योग कहते है। यह सब कुछ ब्रह्म है, मै ब्रम्ह हूँ, समस्त जगत मे मै ही हूँ इत्यादि ऐसी भावना करनी ब्रह्मार्पण है। यह नाना प्रकार का जगत् जो भीतर बाहर शून्य भाव दिखाई पडता है उसकी उपमा शिलाके समान है उसके आश्रय स्पन्दकलना स्फुरण (कम्प) के समान होकर भासती है। वही कलना जगत होकर स्थित हुई है। उसका रूप आकाश की नाईं शून्य है। वह एक है तथापि अनेक भूत होकर स्थित हुई है। जैसे समुद्र मे तरङ्ग के बुदबुदे अनेक रूप हो कर स्थित हैं और वे जल ही हैं, अन्य कुछ, नहीं वैसे ही एक ही वस्तुसत्ता घट पद आदिक आकार होकर भासती है। हे अर्जुन! वही एक अनेक रूप से विद्यमान है परन्तु उस एक को अनेक नाम

रूप से देखना अज्ञान है और भिन्न देह इन्द्रियाँ, प्राण मन और बुद्धि आदि अनेक हैं इससे उनमे अहं प्रतीति कर एकत्र भाव देखना भी अज्ञान है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन! अब सङ्गरहित की व्याख्या सुन। समस्त सङ्कल्प-जालो के त्याग को सङ्गरहित कहते हैं और सर्व कलनाजाल फल को ईश्वर पर छोड़ कर्म करते रहने का नाम-ईश्वरार्पण है। हे अर्जुन! जब ऐसी भेदरहित भावना हो तब आत्मबोध की प्राप्ति होती है। और अर्थ सहित सब शब्द एक रूप भासते हैं अर्थात् सब शब्दों का एक ही शब्द भासता है और एक ही अर्थ सब शब्दो मे भासता है। हे अर्जुन! सारा जगत् मे ही हूँ, मे ही दिशा हूँ, मैं ही आकाश हूँ, मे ही कर्म हूँ, मै ही काल हूँ-ऐसा जो सर्वात्मा मे हूँ सो तू मेरे मे मन को लगा और मेरी भक्ति कर और मेरा ही भजन कर और मुझीको नमस्कार कर तब तू मुझको प्राप्त होगा। हे अर्जुन! मे आत्मा हूँ। तू मेरे ही परायण हो। अर्जुन ने कहा-हे देव! आपके यह और अपर दो रूप हैं। उन दोनो मे किसका आश्रय करूँ कि मुझे परम सिद्धान्त प्राप्त हो। भगवान् ने कहा-हे नित्यायन! मेरा एक समान रूप है, परम रूप, आदि अन्त से रहित और अनामय है। जिसे ब्रह्म आत्मा, और परमात्मा, आदि कहते है। इस रूप की प्राप्ति तुझे तब होगी, जब तू प्रबुद्ध हो जायगा। मेरा रूप आदि अन्त और मध्य से रहित है। इसको पाकर तू आवागमन से मुक्त हो जायगा। पर जब तक तू अप्रबुद्ध है, तब तक तू मेरे इस चतुर्भुज रूप का पूजक बन कर्मों को कर। ऐसा करते हुये जब तू ज्ञानवान होगा तब आत्मा से ही आत्मा का अर्थात् मेरा पूजन करेगा। क्योंकि मैं ही आत्मतत्व और सब का आत्मा हूँ। हे अर्जुन! मे मानता हूँ कि अब तू प्रबुद्ध हुआ है और तेरे समस्त सङ्कल्पजाल नष्ट हो गये है और अब तू आत्म-सत्ता मे स्थित हुआ है, पर जब तक तू समस्त भूतजातियों में केवल

एक आत्मा को ही स्थित न देखेगा तब तक तुझे सम बुद्धि न होगी और न वास्तवमे तुझे स्वरूपकी दृढ़ स्थिति ही प्राप्त होगी। इस से हे अर्जुन! तू योग से सर्व भूतो मे स्थित केवल एक आत्मा ही को देख। जिसको ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है, उसको आत्मा से परे कोई अन्य भावना नहीं उठती और वे एकाग्र चित्त से भजन करते हैं। हे अर्जुन! जिसमे न सत् और न असत् है और जिसमे ही सर्व शब्दो का अर्थ है, वही आत्मसत्ता समस्त लोको के चित्त मे प्रकाशरूप से स्थित है। हे भरतर्षभ! जैसे तिल मे तेल और दूध मे घृत स्थित रहता है, वैसे ही समस्त लोको के अन्तर तत्व-रूपसे मै स्थित हूँ। समस्त शरीर धारियो मे जा चेतना शक्ति है और उस चेतना शक्तिसे परे जो सूक्ष्म अनुभवसत्ता है, वह भी मै ही हूँ। जिस प्रकार रत्न के भीतर वाहर प्रकाश होता है उसी प्रकार मै समस्त पदार्थों के भीतर वाहर स्थित हूँ। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त पदार्थों मे समानसत्ता से मैं स्थित हूँ। अजन्मा और जन्मा तथा नित्य मुझे ही कहते है। मुझ मे ही जो चित्त सवेदन हुआ, वही ब्रम्हसत्ता के समान हुई है और स्फुरण से वही जगतरूप होकर भास रही है, अन्यथा कुछ नहीं। इस कारण हे अर्जुन! आत्मा को न सुख है न दु:ख है। वह सब का साक्षीरूप और सब मे समान भाव से स्थित है। शरीर के नाश होने मे आत्मा का नाश नहीं होता। फिर उसके लिये तू क्यों मोह करता है। हे अर्जुन! जल मे रस, वायु मे स्पर्श, अग्नि मे प्रकाश और आकाश मे शब्द आदि मैं ही हूँ। हे पाण्डुनन्दन! मैं तुझसे और क्या कहूँ। सृष्टि का प्रलय और नाश तक तो मुझसे ऐसे ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं जैसे समुद्र मे तरङ्गें उत्पन्न और लीन होती हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मे भूषणो का अनेक रूप है, उसी प्रकार यह अनेक स्वरूप आत्मा ही के हैं। अतएव यह अनेक स्वरूप ब्रम्ह से भिन्न

रूप से देखना अज्ञान है और भिन्न देह इन्द्रियाँ, प्राण मन और बुद्धि आदि अनेक हैं इससे उनमें अहं प्रतीति कर एकत्र भाव देखना भी अज्ञान है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन। अब सङ्गरहित की व्याख्या सुन। समस्त सङ्कल्प-जालों के त्याग को सङ्गरहित कहते हैं और सर्व कलनाजाल फल को ईश्वर पर छोड़ कर्म करते रहने का नाम–ईश्वरार्पण है। हे अर्जुन। जब ऐसी भेदरहित भावना हो तब आत्मबोध की प्राप्ति होती है। और अर्थ सहित सब शब्द एक रूप भासते हैं अर्थात् सब शब्दों का एक ही शब्द भासता है और एक ही अर्थ सब शब्दों मे भासता है। हे अर्जुन! सारा जगत् मै ही हूँ, मै ही दिशा हूँ, मै ही आकाश हूँ, मै ही कर्म हूँ, मै ही काल हूँ–ऐसा जो सर्वात्मा मै हूँ सो तू मेरे मे मन को लगा और मेरी भक्ति कर और मेरा ही भजन कर और मुझीको नमस्कार कर तब तू मुझको प्राप्त होगा। हे अर्जुन! मै आत्मा हूँ। तू मेरे ही परायण हो। अर्जुन ने कहा– हे देव! आपके यह और अपर दो रूप हैं। उन दोनों में किसका आश्रय करूँ कि मुझे परम सिद्धान्त प्राप्त हो। भगवान् ने कहा– हे नित्यायन! मेरा एक समान रूप है, परम रूप, आदि अन्त से रहित और अनामय है। जिसे ब्रह्म आत्मा, और परमात्मा, आदि कहते हैं। इस रूप की प्राप्ति तुझे तब होगी, जब तू प्रबुद्ध हो जायगा। मेरा रूप आदि अन्त और मध्य से रहित है। इसको पाकर तू आवागमन से मुक्त हो जायगा। पर जब तक तू अप्रबुद्ध है, तब तक तू मेरे इस चतुर्भुज रूप का पूजक बन कर्मों को कर। ऐसा करते हुये जब तू ज्ञानवान होगा तब आत्मा से ही आत्मा का अर्थात् मेरा पूजन करेगा। क्योंकि मै ही आत्मतत्त्व और सब का आत्मा हूँ। हे अर्जुन! मै मानता हूँ कि अब तू प्रबुद्ध हुआ है और तेरे समस्त सङ्कल्पजाल नष्ट हो गये हैं और अब तू आत्म-सत्ता मे स्थित हुआ है, पर जब तक तू समस्त भूतजातियो मे केवल

एक आत्मा को ही स्थित न देखेगा तब तक तुझे सम बुद्धि न होगी और न वास्तवमे तुझे स्वरूपकी दृढ़ स्थिति ही प्राप्त होगी। इस से हे अर्जुन! तू योग से सर्व भूतो मे स्थित केवल एक आत्मा ही को देख। जिसको ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है, उसको आत्मा से परे कोई अन्य भावना नही उठती और वे एकाग्र चित्त से भजन करते हैं। हे अर्जुन! जिसमे न सत् और न असत् है और जिसमे ही सर्व शब्दो का अर्थ है, वही आत्मसत्ता समस्त लोको के चित्त मे प्रकाशरूप से स्थित है। हे भरतर्षभ! जैसे तिल मे तेल और दूध मे घृत स्थित रहता है, वैसे ही समस्त लोको के अन्तर तत्व-रूपसे मै स्थित हूँ। समस्त शरीर धारियों मे जा चेतना शक्ति है और उस चेतना शक्तिसे परे जो सूक्ष्म अनुभवसत्ता है, वह भी मैही हूँ। जिस प्रकार रत्न के भीतर वाहर प्रकाश होता है उसी प्रकार मै समस्त पदार्थों के भीतर वाहर स्थित हूँ। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त पदार्थों मे समानसत्ता से मैं स्थित हूँ। अजन्मा और जन्मा तथा नित्य मुझे ही कहते हैं। मुझ मे ही जो चित्त सवेदन हुआ, वही ब्रम्हसत्ता के समान हुई है और स्फुरण से वही जगतरूप होकर भास रही है, अन्यथा कुछ नहीं। इस कारण हे अर्जुन! आत्मा को न सुख है न दुःख है। वह सब का साक्षीरूप और सब मे समान भाव से स्थित है। शरीर के नाश होने मे आत्मा का नाश नहीं होता। फिर उसके लिये तू क्यो मोह करता है। हे अर्जुन! जल मे रस, वायु मे स्पर्श, अग्नि मे प्रकाश और आकाश मे शब्द आदि मैं ही हूँ। हे पाण्डुनन्दन! मै तुझसे और क्या कहूँ। सृष्टि का प्रलय और नाश तक तो मुझसे ऐसे ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं जैसे समुद्र मे तरङ्गें उत्पन्न और लीन होती हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मे भूषणो का अनेक रूप है, उसी प्रकार यह अनेक स्वरूप आत्मा ही के हैं। अतएव यह अनेक स्वरूप ब्रम्ह से भिन्न

रूप से देखना अज्ञान है और भिन्न देह इन्द्रियाँ, प्राण मन और बुद्धि आदि अनेक हैं इससे उनमे अहं प्रतीति कर एकत्र भाव देखना भी अज्ञान है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन ! अब सङ्गरहित की व्याख्या सुन। समस्त सङ्कल्प जालों के त्याग को सङ्गरहित कहते हैं और सर्व कलनाजाल फल को ईश्वर पर छोड कर्म करते रहने का नाम-ईश्वरार्पण है। हे अर्जुन ! जब ऐसी भेदरहित भावना हो तब आत्मबोध की प्राप्ति होती है। और अर्थ सहित सब शब्द एक रूप भासते हैं अर्थात् सब शब्दों का एक ही शब्द भासता है और एक ही अर्थ सब शब्दो मे भासता है। हे अर्जुन ! सारा जगत् मै ही हूँ, मै ही दिशा हूँ, मै ही आकाश हूँ, मै ही कर्म हूँ, मै ही काल हूँ-ऐसा जो सर्वात्मा मैं हूँ सो तू मेरे मे मन को लगा और मेरी भक्ति कर और मेरा ही भजन कर और मुझीको नमस्कार कर तब तू मुझको प्राप्त होगा। हे अर्जुन ! मै आत्मा हूँ। तू मेरे ही परायण हो। अर्जुन ने कहा- हे देव ! आपके यह और अपर दो रूप हैं। उन दोनों मे किसका आश्रय करूँ कि मुझे परम सिद्धान्त प्राप्त हो। भगवान् ने कहा- हे नित्यायन ! मेरा एक समान रूप है, परम रूप, आदि अन्त से रहित और अनामय है। जिसे ब्रह्म आत्मा, और परमात्मा, आदि कहते हैं। इस रूप की प्राप्ति तुझे तब होगी, जब तू प्रबुद्ध हो जायगा। मेरा रूप आदि अन्त और मध्य से रहित है। इसको पाकर तू आवागमन से मुक्त हो जायगा। पर जब तक तू अप्रबुद्ध है, तब तक तू मेरे इस चतुर्भुज रूप का पूजक बन कर्मों को कर। ऐसा करते हुये जब तू ज्ञानवान होगा तब आत्मा से ही आत्मा का अर्थात् मेरा पूजन करेगा। क्योंकि मैं ही आत्मतत्व और सब का आत्मा हूँ। हे अर्जुन ! मै मानता हूँ कि अब तू प्रबुद्ध हुआ है और तेरे समस्त सङ्कल्पजाल नष्ट हो गये है और अब तू आत्म-सत्ता में स्थित हुआ है, पर जब तक तू समस्त भूतजातियों मे केवल

एक आत्मा को ही स्थित न देखेगा तब तक तुझे सम बुद्धि न होगी और न वास्तवमे तुझे स्वरूपकी दृढ़ स्थिति ही प्राप्त होगी। इस से हे अर्जुन! तू योग से सर्व भूतो मे स्थित केवल एक आत्मा ही को देख। जिसको ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है, उसको आत्मा से परे कोई अन्य भावना नही उठती और वे एकाग्र चित्त से भजन करते हैं। हे अर्जुन! जिसमे न सत् और न असत् है और जिसमे ही सर्व शब्दों का अर्थ है, वही आत्मसत्ता समस्त लोकों के चित्त मे प्रकाशरूप से स्थित है। हे भरतर्षभ! जैसे तिल मे तेल और दूध मे घृत स्थित रहता है, वैसे ही समस्त लोको के अन्तर तत्व-रूपसे मैं स्थित हूँ। समस्त शरीर धारियो मे जा चेतना शक्ति है और उस चेतना शक्तिसे परे जो सूक्ष्म अनुभवसत्ता है, वह भी मै ही हूँ। जिस प्रकार रत्न के भीतर वाहर प्रकाश होता है उसी प्रकार मै समस्त पदार्थों के भीतर वाहर स्थित हूँ। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त पदार्थों मे समानसत्ता से मैं स्थित हूँ। अजन्मा और जन्मा तथा नित्य मुझे ही कहते है। मुझ मे ही जो चित्त संवेदन हुआ, वही ब्रम्हसत्ता के समान हुई है और स्फुरण से वही जगतरूप होकर भास रही है, अन्यथा कुछ नही। इस कारण हे अर्जुन! आत्मा को न सुख है न दुःख है। वह सब का साक्षीरूप और सब मे समान भाव से स्थित है। शरीर के नाश होने मे आत्मा का नाश नहीं होता। फिर उसके लिये तू क्यों मोह करता है। हे अर्जुन! जल मे रस, वायु में स्पर्श, अग्नि में प्रकाश और आकाश मे शब्द आदि मैं ही हूँ। हे पाण्डुनन्दन! मै तुझसे और क्या कहूँ। सृष्टि का प्रलय और नाश तक तो मुझसे ऐसे ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं जैसे समुद्र मे तरङ्गें उत्पन्न और लीन होती है। जिस प्रकार सुवर्ण में भूषणों का अनेक रूप है, उसी प्रकार यह अनेक स्वरूप आत्मा ही के है। अतएव यह अनेक स्वरूप ब्रम्ह से भिन्न

रूप से देखना अज्ञान है और भिन्न देह इन्द्रियाँ, प्राण मन और बुद्धि आदि अनेक हैं इससे उनमें अह प्रतीति कर एकत्र भाव देखना भी अज्ञान है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन ! अब सङ्गरहित की व्याख्या सुन। समस्त सङ्कल्प जालों के त्याग को सङ्गरहित कहते हैं और सर्व कलनाजाल फल को ईश्वर पर छोड कर्म करते रहने का नाम-ईश्वरार्पण है। हे अर्जुन ! जब ऐसी भेदरहित भावना हो तब आत्मबोध की प्राप्ति होती है। और अर्थ सहित सब शब्द एक रूप भासते हैं अर्थात् सब शब्दों का एक ही शब्द भासता है और एक ही अर्थ सब शब्दों मे भासता है। हे अर्जुन ! सारा जगत् मैं ही हूँ, मै ही दिशा हूँ, मैं ही आकाश हूँ, मै ही कर्म हूँ, मैं ही काल हूँ-ऐसा जो सर्वात्मा मैं हूँ सो तू मेरे मे मन को लगा और मेरी भक्ति कर और मेरा ही भजन कर और मुझीको नमस्कार कर तब तू मुझको प्राप्त होगा। हे अर्जुन ! मै आत्मा हूँ। तू मेरे ही परायण हो। अर्जुन ने कहा-हे देव ! आपके यह और अपर दो रूप हैं। उन दोनों मे किसका आश्रय करूँ कि मुझे परम सिद्धान्त प्राप्त हो। भगवान् ने कहा-हे नित्यायन ! मेरा एक समान रूप है, परम रूप, आदि अन्त से रहित और अनामय है। जिसे ब्रह्म आत्मा, और परमात्मा, आदि कहते हैं। इस रूप की प्राप्ति तुझे तब होगी, जब तू प्रबुद्ध हो जायगा। मेरा रूप आदि अन्त और मध्य से रहित है। इसको पाकर तू आवागमन से मुक्त हो जायगा। पर जब तक तू अप्रबुद्ध है, तब तक तू मेरे इस चतुर्भुज रूप का पूजक बन कर्मों को कर। ऐसा करते हुये जब तू ज्ञानवान होगा तब आत्मा से ही आत्मा का अर्थात् मेरा पूजन करेगा। क्योंकि मैं ही आत्मतत्व और सब का आत्मा हूँ। हे अर्जुन ! मै मानता हूँ कि अब तू प्रबुद्ध हुआ है और तेरे समस्त सङ्कल्पजाल नष्ट हो गये हैं और अब तू आत्मसत्ता में स्थित हुआ है, पर जब तक तू समस्त भूतजातियो मे केवल

एक तरङ्गरूप फुरा है और कुछ काल रहकर फिर उसी मे लीन हो जायगा। इससे तेरा स्वरूप निरामय ब्रह्म है, उसमे मान, मद, शोक, सुख, दु:ख सब असत्‌रूप है। इससे तू शान्तिवान बन। हे अर्जुन! पहले तू ब्रह्ममय युद्धकर और जितनी अक्षौहिणी सेना है सबको अनुभव से नाश कर। यह जो कुछ दिखलाता है वह द्वैत नहीं एक ब्रह्मरूप ही सर्वदा स्थित है। इससे तू ब्रह्ममय युद्ध कर और सुख, दु:ख, लाभ, अलाभ और जय पराजय सबको ब्रह्मयुद्ध मे इकट्ठा कर। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ भी जगत भासता है, सब ब्रह्म ही है ऐसा जानकर लाभ अलाभ मे सम होकर स्थित हो और अन्य की चिन्ता न कर। हे अर्जुन! शरीर के साथ कर्मों का होना तो स्वाभाविक है। फिर जो कुछ कर्म करे उसे आत्मा ही मे क्यो न अर्पण करे। जैसा निश्चय होता है, वैसा ही रूप उसको भासता है। जब तू ऐसा अभ्यास करेगा तब ब्रह्मरूप हो जायगा, इसमे कुछ संशय नही। हे अर्जुन! जो कर्मों मे आत्मा को अकर्ता देखता है, और अकर्ता जो है, उसको कर्ता देखता है, वही बुद्धिमान और सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। हे अर्जुन! जिनमे कर्मफल की इच्छा नही है और कर्मो में भी उसकी स्पर्धा नही है, वह योग मे सदा स्थिर रहकर कर्म करता है। हे अर्जुन ऐसा कर्म करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इससे तू कर्तापन के अभिमान और कर्मफल की इच्छा को त्यागकर दे। जो इस प्रकार निसङ्ग होकर कर्म करता है और जिसे समस्त अभ्यासो मे कामना और कोई सङ्कल्प नहीं उठता वही बुद्धिमान और पण्डित है और उन्हीं को ज्ञान प्राप्त होता है। वही सब कामनाओं से रहित और शान्तरूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

नहीं है। फिर कहाँ का यह भावविकार और कहाँ का जगत्-द्वैत, क्या कहूँ जो है वही है। तू व्यर्थ ही मोहित हो रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

चौवनवाँ सर्ग।

सर्वब्रह्म प्रतिपादन

श्री भगवान् बोले,—हे महाबाहो! तेरी प्रसन्नता और हित के लिये अब मैं फिर तुझे कुछ उपदेश देता हूँ, तू ध्यान देकर सुन। यह जो उष्ण और शीत इन्द्रिय को स्पर्श होते हैं वे आते-जाते रहते हैं, इससे तू उनको सहन कर। यह अनित्य है और आत्माको स्पर्श नहीं करते। तू आत्मा है और आदि अन्त और मध्य से रहित निराकार, अखण्ड तथा पूर्ण है, इससे शीत उष्ण तुझे खण्डित नहीं कर सकते। कारण कि आत्मा मे इनका निवास नहीं है। हे अर्जुन! जो इन्द्रियों के भोग से चलायमान नहीं होता, उस जीव को सुख दु:ख समान हैं और वह मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कारण यह तुच्छ है। आत्मा से इनका स्पर्श नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न-दु:ख जाग्रत पुरुष को स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते। हे अर्जुन! ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष सुख और दु:ख में न विचलित हो अपने शरीर को पत्थर बनाकर उसमे स्थित रहते हैं। हे परन्तप! यह चित्त भी बडा जड़ है और इन्द्रियादिक भी जड है, पर आत्मा चेतन है। फिर तू इनसे मिलकर अपने को शरीर क्यों समझता है और इसके नष्ट होने से तू अपने को नष्ट हुआ क्यों मानता है ऐसा समझना तो मूर्खों का काम है। मूर्ख अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। किन्तु जिसे आत्मा का बोध होता है, वह ऐसा नहीं मानता, उसे आत्मज्ञान से सुख दु:ख का अभाव हो जाता है। हे अर्जुन! न कोई जन्मता है और न कोई मरता है। यह जगत ब्रह्मका स्पन्द है। इस ब्रह्मरूपी समुद्रमे तू

एक तरङ्गरूप फुरा है और कुछ काल रहकर फिर उसी मे लीन हो जायगा। इससे तेरा स्वरूप निरामय ब्रह्म है, उसमे मान, मद, शोक, सुख, दुःख सब असत्‌रूप हैं। इससे तू शान्तिवान बन। हे अर्जुन! पहले तू ब्रह्ममय युद्धकर और जितनी अक्षौहिणी सेना है सबको अनुभव से नाश कर। यह जो कुछ दिखलाता है वह द्वैत नहीं एक ब्रह्मरूप ही सर्वदा स्थित है। इससे तू ब्रह्ममय युद्ध कर और सुख, दुःख, लाभ, अलाभ और जय पराजय सबको ब्रह्मयुद्ध मे इकट्ठा कर। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ भी जगत भासता है, सब ब्रह्म ही है ऐसा जानकर लाभ अलाभ मे सम होकर स्थित हो और अन्य की चिन्ता न कर। हे अर्जुन! शरीर के साथ कर्मों का होना तो स्वाभाविक है। फिर जो कुछ कर्म करे उसे आत्मा ही मे क्यो न अर्पण करे। जैसा निश्चय होता है, वैसा ही रूप उसको भासता है। जब तू ऐसा अभ्यास करेगा तब ब्रह्मरूप हो जायगा, इसमें कुछ संशय नही। हे अर्जुन! जो कर्मों मे आत्मा को अकर्ता देखता है, और अकर्ता जो है, उसको कर्ता देखता है, वही बुद्धिमान और सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। हे अर्जुन! जिनमे कर्मफल की इच्छा नही है और कर्मों में भी उसकी स्पर्धा नहीं है, वह योग मे सदा स्थिर रहकर कर्म करता है। हे अर्जुन ऐसा कर्म करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इससे तू कर्तापन के अभिमान और कर्मफल की इच्छा को त्यागकर दे। जो इस प्रकार निसङ्ग होकर कर्म करता है और जिसे समस्त अभ्यासो मे कामना और कोई सङ्कल्प नहीं उठता वही बुद्धिमान और पण्डित है और उन्हीं को ज्ञान प्राप्त होता है। वही सब कामनाओं से रहित और शान्तरूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

वासना रहित कार्य करते है। जिस भाँति कच्छप अपने अङ्ग को समेट लेता है, उसी भाँति ज्ञानी विषय वासना से सकुचित हो कर रहते है और अपने को चिन्मात्ररूप मानते है और ससार को पिरोये हुये मणि के समान जानते हैं और ससार को अपना अङ्ग समझते है। हे अर्जुन! जिस प्रकार चाँदनो का रङ्ग-विरङ्गा चित्रित चित्र चाँदनी के वस्त्र से भिन्न नहीं होना उसी प्रकार ससार आत्मा से भिन्न नहीं है। चाँदनी पर चित्रकार की रचना है और मन ने संसार को रचा है। पर यह रचना वैसे ही है जैसे शिल्पी मनमे ही स्तभ की पुतलियो को कल्पता है, वैसे ही इस मन ने संसार रूपी अनेक पुतलियों की कल्पना की है। हे अर्जुन! जिस प्रकार स्वप्न आकाशवत् (नहीं के तुल्य, शून्य) है उसी प्रकार यह जगत भी आकाशवत् शून्य है। जैसे मन स्वप्न के क्षणमात्र को बडे कालका अनुभव करता है और पहले की स्मृति को सत्य कहता है उसी प्रकार यह ससार प्रमाद के वश होने से सत्य भासता है परन्तु जब आत्मदर्शन होता है तव जगत-भ्रम निवृत्त हो जाता है, इस कारण हे अर्जुन। तू भावाभाव वृत्तियों को त्याग कर स्वरूप मे स्थित हो। ऐसा करने से तू आकाशवत निर्मल हो जायगा। यह जितने भी पदार्थ भासते हैं, सब आकाश रूप है, केवल एक क्षणमें मन के स्फुरण से यह नाना रूप हो भासते है। परन्तु अफुर होने से लीन हो जाते हैं। अस्तु, यह जगत प्रमाद से ही भास रहा है। आत्म दर्शन से, इसका लोप हो जायेगा। आत्मा निर्वाण रूप है। हे अर्जुन। बडा आश्चर्य है कि यह कुछ है नहीं और इसमें नाना प्रकार के रङ्ग भासते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग।

अर्जुन विश्रान्ति

श्री भगवान् बोले,—हे अर्जुन! इसके अतिरिक्त यह भी आश्चर्य देख कि चित्र तो तब होता है जब उसका आधार भूत वस्त्र होता है। पर यहाँ तो चित्र पहले ही उत्पन्न होते हैं और आधारभूत बाद को। यह आश्चर्य नहीं तो क्या है? हे अर्जुन! यह माया की कैसी प्रधानता है कि आकाश मे आकाश-रूपी पुतलियाँ उत्पन्न और लीन होती हैं और सारी सृष्टि आकाश रूप है तो भी आकाशरूप आत्मा में स्थित है। वह आत्मा एक और अद्वैतरूप होते हुये भी उसमे उत्थान हुआ है और उस उत्थान से ही उसको स्वरूप का प्रमाद हुआ जिससे उसने दृश्यभ्रम को देखा और फलत. अनेक वासनारूपी जेवरी के साथ बँधा हुआ भटकता है। पर हे अर्जुन! वह उस प्रकार के नाना-भ्रमों को देखता हुआ भी स्वरूपतः ज्यो का त्यों है और सारा जगत उसमें ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। किन्तु वह आत्मा छेद-भेद से रहित ब्रह्म और ब्रह्म ही मे स्थित है। फिर उसमे भेद कैसा? जिस प्रकार जल-तरङ्ग के बुद-बुदे भी जल के ही रूप हैं और अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार यह सब ब्रह्म से पूर्ण आत्मा में ही आत्मा स्थित है अन्य वासना की कोई कल्पना नहीं। पर स्वरूप के प्रमाद से वासवासक का भेद होता है। किन्तु सम्यकज्ञान होने से वासनायें नष्ट हो जाती हैं। हे अर्जुन! वासना रहित पुरुष ही मुक्त हैं और वासना-बन्ध पुरुष बन्ध हैं। हे अर्जुन! जिसके अन्तर वासना का बीज तो है किन्तु वह बाह्य-दृश्य मे दिखाई नहीं देता वह बीज भी बड़ा विस्तार वाला है। इस कारण वासना-क्षय के हेतु निरन्तर ज्ञानरूपी अग्नि को उत्पन्न करते रहना चाहिए, इससे वासनारूपी बीज भस्म हो जायगा और फिर संसार-भ्रम कदापि उदय न होगा। हे अर्जुन! तू शान्तात्मा है। मुझे विश्वास है कि अब तेरा भ्रम निवृत्त हो गया और अब तू आत्म-

पद को प्राप्त हुआ है जिससे तेरे मन-मोह को निर्वाण पद प्राप्त हुआ अब तेरे लिये व्यवहारवाद और चुप रहना एक समान है, क्योंकि अब तू सम्यकज्ञानी हो शान्तरूप निःशङ्क पद को प्राप्त हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग।

श्रीकृष्ण अर्जुन सम्वाद-भविष्यद्गीता वर्णन

इस प्रकार भगवान् कृष्ण के अमृतमय वचनों को सुन कर अर्जुन ने कहा,– हे अच्युत! आपके प्रसाद से अब मेरा भ्रम नष्ट होगया। अब मैं आत्मस्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। हे प्रभो! अब मुझे क्या करना है, कृपा कर आज्ञा दीजिए। भगवान् बोले,–हे अर्जुन! प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, अभाव और स्मृति यह मन की पाँच वृत्तियाँ हैं। तू इन पाँचों को हृदय से निकाल। जब यह पाँचो निकल जायेंगी तब तेरा चित्त शान्त हो जायगा और आधि, व्याधि आदिक दुःख तुझे बाधित न कर सकेंगे। जिस पुरुष ने इन पर विजय पायी है वह निसन्देह आत्मपद को प्राप्त हुआ है। वह आत्मसत्ता परम प्रकाश रूप है, जो पुरुष सङ्कल्प विकल्प से रहित हैं और जिनको इन्द्रियों का विषय तुच्छ है वे इन्द्रियों से अतीत इस पद को प्राप्त होते हैं। उनको वासना का स्पर्श नहीं होता। उस पद को प्राप्त कर लेने पर यह घट पट आदिक पदार्थ सब शून्य हो जाते हैं। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार हो जाने से चित्त वृत्ति भी नष्ट हो जाती है और वासनाओं का तो नितान्त अभाव हो जाता है। अतएव विरक्त पुरुषों को कोई वासना नहीं रहती। पर यह तभी सम्भव है जब आत्माको भी अपने आपही जाने। बिना इसके जाने तो नाना प्रकार के आकार विकार संयुक्त दृश्य भासते ही हैं। पर जब शुद्ध और स्वच्छ आत्मतत्व मे स्थित होता है तब आकाशवत् निर्मल भाव को प्राप्त होता है और स्वयं को तथा सबको भी पूर्ण देखता है।

तव उसे सर्व आकार में आत्मसत्ता का दर्शन होता है। उस परम वस्तु की उपमा कैसी और क्या दें? जा इस प्रकार आत्मस्वभाव में स्थित हो विचरता है वह त्रिलोकी का भी नाथ है।

वशिष्ठजी ने रामजी से कहा,—हे रामजी! उस समय जब ऐसा शब्द त्रिलोकी के नाथ कहेंगे तब क्षणभर के लिये अर्जुन मौन हो जायेगा और फिर श्री भगवान् से ऐसा बोलेगा कि,—हे भगवन्! आपके अमृत रूपी वचनों को श्रवणकर अब मेरा सारा शोक जाता रहा और अब मुझे बोधका भी प्रकाश हुआ है, अतः अब आपकी जो आज्ञा हो, मैं करने के लिये सन्नद्ध हूँ। हे रामजी! ऐसा कहकर अर्जुन! गाण्डीवको धारण करेगा। फिर भगवान्को सारथी बनाकर निःसन्देह निर्भय होकर रणकौतुक करेगा और उस युद्ध मे हाथी, घोडे और मनुष्योंको मारेगा जिससे रक्तकी धारा प्रवाहित होगी और शूरों को नष्टकर वह जैसाका तैसा ही बना रहेगा और स्वरूपसे विचलित न होगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

उनसठवाँ सर्ग।

प्रत्यागात्म बोध वर्णन

वशिष्ठ जी बाले,—हे रामजी! ऐसी दृष्टि का आश्रय कर अब तुम सन्यासी बन जाओ और अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण कर दो। वह ब्रह्म सर्वत्र है और यह सब उसी से है, तुम उसी को परमात्मा जानो। जो उस एकसत्ता की भावना करता है, वह उसीको प्राप्त होता है। वह सत्ता संवेदन की फुरणासे रहित है और वही चेतनासे रहित सबका प्रकाशक है। हे रामजी! तुम उसीको परमपद जानों, क्योंकि वही आत्मा सबका परम द्रष्टारूप, महा उत्तम और परमगुरु का गुरु तथा आत्म रूप है। शून्यवादी उसको शून्य और विज्ञान वादी उसको विज्ञान तथा ब्रह्मवादी उसीको ब्रह्म कहते हैं। वही आत्मा इस जगतरूपी मन्दिरको प्रकाश करनेवाली दीपक है और वही

हृदयाकाश में स्थित है और वही सत्य मे सत्य और असत्य मे असत्य है। जगत के समस्त पदार्थों मे उसी का प्रकाश है। चन्द्रमा, सूर्य और तारे आदि जो कुछ दिखाई पडते हैं सबमे उसी का प्रकाश है। समस्त पदार्थ उसी से प्रकट हुए हैं और सब उसी से सिद्ध होते है। वह आत्म सवित अपने विचारसे ही पाया जा सकता है। हे रामजी! यह जितने भी भावाभाव-पदार्थ भापित हो रहे है, सब असत्य हैं, इनकी कोई वास्तविकता नहीं, यह केवल प्रमाद दोप से ही कलना रूप हो भासते हैं। हे रामजी! इसका तब नाश होता है जब विचार की उत्पत्ति हो, अन्यथा जिसके अन्तर अह भाव विद्यमान है उसे यह जगज्जाल मिथ्या भ्रम से भासेगाही, परन्तु यह जगत कुछ वस्तु नहीं है। वह ब्रह्म सत्ता अपने आपसे ही समान रूप मे स्थित है, अन्य द्वैत कुछ नहीं। जब ऐसा दृढ निश्चय तुमको होगा तब तुम व्यवहार करते हुये भी भीतर से नि:सङ्ग और शांतरूप रहोगे। जो पुरुप उस समान सत्ता मे स्थित है वह इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेप नहीं करता और सदैव शातरूप रह उदय अस्त नहीं होता, वह सर्वदा सम भाव मे स्थित रहकर स्वस्थरूप और अद्वैत तत्व मे स्थित होता है। वह जगत मे व्यवहार भी करता है तो भी क्षुब्ध नहीं होता आशय यह कि जगत के समग्र व्यवहारों को करते हुए भी उसका चित्त सदैव निर्मल रहता है। हे रामजी! जो ज्ञानी पुरुप हैं, वे इस जगत् को आत्मा का ही चमत्कार मानते हैं, वह आत्मा न एक है, न अनेक है, केवल आत्मसत्ता ही अपने आप मे स्थित है। अब देखो यह कि संसार है क्या ? चित्त में जो कलना शक्ति है उसके फ़ुरणे का ही नाम ससार है। जब वह शक्ति प्रकट हो तब उसको परमपद कहते हैं। अब और देखो कि चित्त क्या है ? महा चेतन में जो निज का भाव है कि मै आत्मा को नहीं जानता यही चित्त है, जो ससार का कारण है। हे रामजी ! यह 'नियम है कि निज के अभाव से पदार्थ का भी अभाव हो जाता है, पर आत्मा

के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं है-जीव के ऐसा कह देने से कि मै आत्मा को नहीं जानता—आत्मा का अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव को जाननेवाला भी तो वह आत्मा ही है। पर वह आत्मा है कैसा? वह शून्य और अजड़रूप परमचेतन है। इस कारण तुम्हारा जो कुछ भी अर्थ है सब आत्मा ही मे करो। हे रामजी! ऐसी दृढ़भावना करने से तुम्हारा संसार भ्रम निवृत्त हो जायगा और केवल आत्मभाव ही शेष रहेगा। हे राघव! चित्त के स्फुरण का ही नाम तो ससार है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, और प्रमाता, प्रमान, प्रमेय त्रिपुटीरूप चित्तही होता है। भाव यह कि चित्तसे ही त्रिपुटी होती है जैसे सुवर्ण से भूषण प्रकट होते हैं, वैसे ही चित्त से त्रिपुटी भी प्रकट होती है, इससे चित्तस्पन्द कोई अन्य वस्तु नही, केवल आत्मा ही का अभावरूप है। इसको उत्पन्न करनेवाला अज्ञान है। यदि ज्ञान हो जाय तो लीन हो जाता है। हे रामजी! भोग की प्रबल तृष्णा ने ही उस अज्ञान को उत्पन्न किया अन्यथा भोग भावनाओं के निवृत्त होने पर तो ज्ञान का परम लक्षण सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि सत्स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी जनों को भोग की इच्छा नही रहती, वे आत्मज्ञान से सतुष्ट रह तुच्छ भोजन आदि विषयों की तृष्णा और इच्छा नहीं करते। कारण कि जब भोग असत्य है, तब उनकी तृष्णा क्या? पर यह मन बड़ा मूर्ख और प्रबल है। जब गुरु और शास्त्रो के युक्तिपूर्ण उपदेशों को ग्रहण करे तब उन युक्तियों से शुद्ध हो वश मे होता है, अन्यथा इस मन को वश करने के लिये कोई अपने शरीर ही को क्यो न काट डाले यह चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता। अतएव चित्त स्थिर करने में सद्गुरु और सत्शास्त्र ही सहायक हो सकते हैं और निश्चय ही चित्त स्थिर हो जाता है चित्त का स्थिर होना क्या है, चित्त का अभाव हो जाता है। चित्त के अभाव होने से अ[illegible] होकर अज्ञान को ऐसा नष्ट

देता है कि फिर उसका पता नहीं चलता कि वह कहाँ चला गया। इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। इस मन की सीमा केवल मन तक ही है, इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मामें न तो बन्ध है, न मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष तो कलनामें होते हैं। विचार करने से न तो कुछ बन्ध है और न कुछ मोक्ष है। यह समस्त कलना चित्त के स्फुरण से ही हो रही है। चित्त का स्फुरण नष्ट होने से, समस्त कलनाओं का अभाव होकर शांति प्राप्त होती है इस कारण तुम जिस ज्ञानरूप आत्मा से इस जगत की उत्पत्ति हुई है, उसी आत्मपद मे चित्त को लीन कर अनुभवरूप आत्म प्रकाश में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

साठवाँ सर्ग।

विभूति योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! वह परमात्मपद जिसे परम तत्व कहते हैं, वह हमको सदैव प्रत्यक्ष है। वही वस्तुरूप, प्रत्यक् आत्मा और सर्व सत्ता दर्पण है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। उस आत्मा ही से यह जगत-सत्ता प्रकट होती है। मन, बुद्धि, चित्त और अहकार भी जडात्मक हैं। इनसे रहित जो है, वह परमपद है। उसी पद मे ब्रह्मा, विष्णु, और महेश आदि स्थित है। उसमे स्थित होने ही के कारण उनकी इतनी ऊँची प्रभुता है। उसमे स्थित होनेवाले की न तो कभी मृत्यु होती है और न वह कभी शोकित रहता है। इतना सुनकर रामजी ने कहा हे भगवन्! जब मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ही नहीं रहते तब वह सामान्य सत्ता कैसे शेप रहती है और उसको कैसे जाना जाय? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! खाते, पीते, देखते, सुनते और बोलते तथा अन्यान्य क्रियाओंको करते हुए जो दिखलाई पडता है वह आदि अन्त से रहित संवित सत्ता है। सारा संसार उसी का रूप है और वही सर्वगत अपने आप मे स्थित है। आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध

आदिमे भी उसीका रूप विद्यमान है। कहाँ तक कहे बुद्धि, मन, अहकार अग्नि, घट, यह और वह आदिक स्थावर-जङ्गम रूप जड़ और चेतन आदिमें जड़ चेतन रूपसे वही स्थित है। उत्पत्ति और प्रलय भी उसी से है। बाल, वृद्ध, युवा और मृत्यु आदिमे वही परमेश्वर तद्रूप स्थित है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो उससे भिन्न हो। हे रामजी! यह भिन्नता और अनेकता तो भ्रम वश भाषित हो रही है अन्यथा, आत्मा में यह अनेकता नहीं। जो कुछ है सर्वत्र और सर्व प्रकार वह आत्मा ही स्थित है। हे रामजी! इसी प्रकार वह सामान्य सत्ता शेष रहनी है, तुम उसी मे स्थित रहो।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का साठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

एकसठवाँ सर्ग।

जगत-स्वप्न विचार वर्णन

वाल्मीकि जी बोले कि जब इतनी कथा वशिष्ठजी कह चुके तब सूर्य्य भगवान् अस्त हो चले। फिर तो सूर्य्यास्त को देख समस्त सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार करते हुए स्नान करनेको चले गये और दूसरे दिन सूर्य्य भगवान् के उदय होते ही अपने आसनों पर आ विराजे तब रामचन्द्रजी ने नम्रता पूर्वक मुनिवर वशिष्ठजी से प्रश्न किया कि—हे भगवन्! जब हमारे स्वप्नपुर के समान ही ब्रह्मा ने देव को ग्रहण किया है और जो उनको उस असत्यमे प्रतीति है वही दृढ प्रतीति हमको कैसे उत्पन्न होगी? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! वास्तवमे पहले ब्रह्मा को जगत असत्य भासता है सत्य नहीं, किन्तु जब वह सर्वगत चैतन्य संवितको जगत मानकर दिग्दर्शन करते हैं तब उनके सम्यक दर्शन का अभाव हो जाता है और तब उन्हे स्वरूपमे अहभाव उत्पन्न हो जाता है और वह वही रूप देखने लगते हैं। फिर तो जिस प्रकार स्वप्न मे स्वप्न जगत दृढ़ हो भासता है, उसी प्रका[illegible] को भी वह स्वप्न नहीं भासता और उनको जगतकी दृढ़ता [illegible]

से है वह स्वप्न ही कहा जायगा अतएव यह सारा जगत चेतन तत्व के अभाव से स्फुरित होता है इस कारण जगत के समग्र पदार्थों की कोई वास्तविकता नहीं, केवल भ्रम मात्र और मन के संकल्प से ही भासित हो रहे हैं यही कारण है कि जगत का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो सिद्ध न हो और अपनी मर्य्यादाको न त्यागे अतएव यह सारा जगत मन के सङ्कल्प मात्र से उत्पन्न हुआ है। इस कारण यह गन्धर्व नगर और इन्द्रजाल तथा शम्बर के माया के समान ही असत्य है केवल भ्रम के वश होने से सत्य भासता है। अस्तु ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सत और असत न हो, सब मन के स्फुरणमे भरा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का एकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

बासठवाँ सर्ग।

भिक्षु-संसार-दाह वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह संसार मिथ्या है इसको सत्य कदापि न जानो, वह बड़ा मूर्ख है जो इसको सत्य जानता है। जैसे द्रुतगामी मृग गढे मे गिर कर महान दु ख को प्राप्त होता है और पुन उससे भी बढ़कर दूसरी खाई मे गिर कर अत्यन्त दु:खी होता है, वैसे ही मूर्ख पुरुष आत्माके अज्ञान से संसाररूपी गढे मे गिरकर दु:खी होता है और पुन भ्रम वश दु:खातिदु ख को देखता है। इस सम्बन्ध मे एक इतिहास तुम्हारे श्रवण करने योग्य है, तुम ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! योगके आठ अङ्ग है जिनका पालन करनेसे उत्तम सुखसमाधि की प्राप्ति होती है। पूर्व काल में एक सन्यासी था जो समाधिस्थ रहकर अपने हृदयको शुद्ध करता था उसकी यह अवस्था थी कि एक बार जब वह समाधि लगाता तो पूरा दिन उसमे लगा रहता और जब वह समाधि से उतरता तब फिर समाधि लगा लेता था। इस प्रकार की समाधि लगाकर जब वह कुछ समय व्यतीत कर चुका तब यह चिंतवन करने लगा कि जैसे प्रकृति पुरुष विचरते है वैसे ही मैं भी विचरूँ और चेष्टा करूँ। यह विचार कर उसने एक विश्व की

कल्पना की और स्वयं उसका राजा बन अपना नाम भीवट रखा। ऐसी कल्पना से राजा बन वह राज्य करने लगा। परन्तु जैसे ही वह शुभकर्मी तथा द्विजपरायण था वैसे ही मदिरा जैसे त्याज्य पदार्थ का भी सेवन करनेमे पूर्ण अधम था। एक बार निद्रा मे उसे स्वप्न हुआ कि तुम ब्राह्मण हो मदिरा क्यों पाते हो तब से उसने मदिरा पान करना त्याग दिया और अपने ब्राह्मणत्व पर आकर वेदाध्ययन करने लगा। इस प्रकार वेदाध्ययन और पाठ करते जब कुछ समय व्यतीत हुआ तब उस रात मे यह स्वप्न हुआ कि तुम राजा हो, क्षत्रियोचित कर्म करो। तब से वह वृहद् सेना सहित राजा होकर विचरने लगा। जब इस प्रकार भी कुछ समय व्यतीत हो गया तब शयन करने मे रात को उसे यह स्वप्न हुआ कि तुम देवता की स्त्री हो इससे देवता के साथ रहो, तब वह वैसे ही रहने और शोभा पाने लगा। इस प्रकार एक स्वप्न के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और चौथा पांचवाँ उसे कई स्वप्न हुआ जिससे कभी हरिणी, कभी बिल्ली, कभी भँवरी, कभी कमलिनी, कभी हस्ती, कभी हंस और कभी जल का तरङ्ग बन कर भ्रमता फिरता था। सब से अन्तिम बार अपने संकल्प वश वह ब्रह्मा का हंस हुआ। जब हंस बन वह ब्रह्माजी के पास गया तब ब्रह्माजी के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त हुआ और वह शान्त हुआ। हे रामजी! केवल अज्ञान के ही कारण उसे इतनी अवस्थायें प्राप्त करनी पड़ीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का बासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ सर्ग।

स्वप्न-शतरुद्र वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! इस प्रकार वह हंस एक बार सुमेरु पर्वत पर उड़ता हुआ चला जा रहा था कि उसके मनमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं रुद्र हो जाता तो अच्छा था। ऐसे भाव का उठना था कि जैसे स्वच्छ दर्पण मे प्रतिबिम्ब शीघ्र ही पड़ जाता है वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण

के सत्सङ्कल्प से वह रुद्र हो गया। हे रामजी! जिसका ज्ञान अनुत्तर है उसे रुद्र कहते हैं अथवा जिसको जान लेने पर और कुछ जानने की आवश्यकता न रहे, जिसका ऐसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, उसे रुद्र कहते हैं। उसी रुद्र पद को प्राप्त होकर वह हंस अपनी चेष्टा करने लगा और साथ ही अपने गुणों पर भी दृष्टिपात करने लगा। तब उसके मनमे यह विचार उत्पन्न हुआ कि—ओ हो, मैं तो अज्ञानवश बडे भ्रम को प्राप्त हुआ। कैसी विचित्र माया है। अब जो मेरे शरीर पडे है, उन्हे चलकर जगाऊँ। ऐसा विचार कर वह रुद्र उठ खडा हुआ और अपने स्थान को चल पडा। तब सर्व प्रथम वह अपनी उस पर्णकुटी मे गया, जहाँ कि उसका प्राथमिक सन्यासी शरीर पडा था। शरीर को देखकर उसने उसे चित्तशक्ति से जागृत किया। जागृत करने पर संन्यासी के शरीर मे ऐसा ज्ञान हुआ कि 'मैं ही खडा हूँ' और उसने यह जाना कि मुझे रुद्रने जगाया है, किन्तु उसे यह ज्ञान होगया कि मैं अमुक-अमुक मेरे और भी बहुत से शरीर पड़े हैं और अब चलकर उन्हे जगाना चाहिये। ऐसा विचार कर रुद्र को साथ ले चला और झींवट के स्थान मे पहुँचा। वहाँ पहुँच कर क्या देखता है कि झींवट की मृतक शरीर और मदिरा के बर्तन वहाँ अब तक पडे हैं और उसके इर्द-गिर्द चेतनाशक्ति घूम रही है। तब संन्यासी ने झींवट को चित्तशक्ति से जगाया। झींवट उठ खडा हुआ। खडे होनेपर उसको यह ज्ञान हुआ कि मेरे और भी शरीर है और इन्होंने ही मुझे जगाया है। अब रुद्र, संन्यासी और झींवट तीनो साथ २ चले और यह विचारने लगे कि हम तो परमात्मा मे चैतन्योमुखत्व होने से सन्यासी हुये थे फिर इतने शरीरों को कैसे प्राप्त हुये? हे रामजी! ऐसा विचार करते ही उसे ज्ञात हुआ कि सन्यासी से झींवट ब्राह्मण, राजा, चक्रवर्ति राजा, देवाङ्गना, हरिणी, भँवरी, बिल्ली और हंस तथा पुन ब्रह्मा का हंस इत्यादि जितने भी शरीर मैंने धारण किये हैं सब अज्ञान की वासना वश पाये हैं। इन शरीरों मे जब मैने अन्तिम बार हस की शरीर को प्राप्त किया और जब ब्रह्माजी

का दर्शन हुआ तब उनके उपदेश से मुझे सम्यक् ज्ञान हुआ क्योंकि मैं पहले पूर्ण अभ्यास कर चुका था, जिससे अकस्मात् सत्संग का मिलाप होगया। ऐसा विचार कर वह तीनों चले और जहाँ-जहाँ उनकी शरीरें पड़ी थीं वहाँ-वहाँ पहुँचकर उन सबको जगाना आरम्भ किया। जगाते हुये उन्हें यही निश्चय हुआ कि हम चिन्मात्ररूप और जागरण से रहित हैं। हे रामजी! इस प्रकार रुद्र, संन्यासी, झींवट, मद्य पान-करनेवाला ब्राह्मण और राजा रानी तथा हस्ती, यही जागृत होने पर सात रुद्र हुये। उन सातों का केवल शरीर ही पृथक-पृथक था वरन् चेष्टा और निश्चय सबका एक समान था। इस कारण हे रामजी! सारा विश्व केवल अज्ञानरूपी फुरण से उत्पन्न हुआ है। यदि ज्ञान-पूर्वक देखा जाय तो वास्तवमे कुछ हुआ नहीं। इसीसे ज्ञानी पुरुष समस्त विश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं। पर उसी को अज्ञानी भिन्न-भिन्न जानते हैं। कारण कि वे अपने स्वरूप को नहीं जानते। हे रामजी! यह समस्त विश्व अपना ही स्वरूप है, केवल अज्ञानवश अर्थात् स्फुरण से ही संसार रूप हो भासता है, किन्तु उस फुरण मे आत्मा ही स्वरूप है, इस कारण हे रामजी! उस फुरणों का ही त्याग करो और दूसरा कुछ है, नहीं यही यत्न करो। चाहे जिस प्रकार से यह शत्रु मरे, उसी प्रकार से इसको मारो। अच्छा, अब इस शत्रु के वध हेतु मैं तुम्हे एक सुगम उपाय यह बतलाता हूँ कि तुम चिन्ता कुछ न करो। देखो, इसमे यत्न कुछ नही है और यह उपाय बहुत सुगम है। चिन्ता करना ही दुःख है और चिन्ता से रहित होने को ही सुख कहते हैं। बस, मेरा यही कथन है, आगे तुम्हारी जैसी इच्छा हो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त॥ ६३॥

सड़सठवाँ सर्ग।

ब्रह्मकी एकता

यह सुनकर राजादशरथ ने वशिष्ठजी से कहा कि हे मुनीश्वर! यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं अपना अनुचर भेजकर उस संन्यासी को जगाऊँ। वशिष्ठजी ने कहा—हे राजन्! अब उसको क्या जगाना है। वह एक महीने के पश्चात् स्वयं ही दरवाजा खोलेगा। इस समय तो वह मृतक होकर ब्रह्मा का हंस हुआ है और ब्रह्मा के उपदेश से वह जीवनमुक्त पद को प्राप्त हुआ है, मढी मे तो केवल उसकी पुर्यष्टका ही पडी है, राजादशरथ से ऐसा कहकर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा कि हे रामजी! यह सारा विश्व सकल्पमात्र ही है इसपर यदि तुम कहो कि सब एकही जैसे क्यों हुए तो इसका उत्तर यह है कि ऋषि, मुनि और राजाओं सहित ससारमे जितने लोग हैं वह कई बार एकही समान रूप धारण करते हैं यह जो वर्तमान नारद हैं इनके समान और भी नारद होंगे और उनकी चेष्टा तथा शरीर ऐसाही होगा। महर्षि व्यासदेव और शुकदेव, भृगु और भृगु का पिता राजाजनक, कर्कटी और अत्रिमुनि आदि ऋषीश्वर जैसे हैं ऐसे ही आगे भी होंगे फिर इसमें प्रश्न क्या? हे रामजी! ब्रह्मा से लेकर पाताल पर्य्यन्त यह ससार सब मन का रचा हुआ है इस कारण सब असत्य है। चित्त कला के बहिर्मुख होने से ही ससार और देश कालादि की उत्पत्ति होती है। यदि चित्तकला अन्तर्मुख हो जाये तो यह सब प्रपञ्च कहाँ, तब तो आत्मपद प्राप्त होता है। दुःख तभी तक है जब तक वृत्तियाँ बहिर्मुख हैं। बहिर्मुख होने हीसे कहता है कि मै सदा दुखी हूँ अन्यथा अपना स्वरूप तो आनन्द-रूप है उसमें दुःख कहाँ? दुःखी तो तब होता है जब देह और इन्द्रियों के साथ-साथ मिलकर चेष्टा करता है। हे रामजी! तुम इस अज्ञान-रूपी फुरणे से रहित हो। फुरणे ही से तो यह दुःख आदि की अवस्था प्राप्त होती है अन्यथा अमृतरूपी आत्मा मे जन्म, मरण, शोक, दुःख

और कलंक आदि कहा ? महान् आश्चर्य है कि अद्वैत आत्मा में यह नाना भाव अज्ञानवश भापित हो रहे हैं। क्यों न हो यही तो माया है पर हे रामजी ! तुम एक रूप आत्मा हो तुममें इस फुरणे ने ही इस विश्व की कल्पना की है, अतः चाहे जिस प्रकार हो तुम फुरणे से रहित हो और विना इसके आत्मदर्शन नहीं हो सकता।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥

अड़सठवाँ सर्ग।

मौन-यत्न वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार देखो कि आत्मा ही संसारका सारवस्तु है तुम उसीमें सुपुप्ति की नाई मौन हो रहो। रामजीने कहा—हे महामुने ! वाणी मौन, इन्द्रिय मौन और हठ-पूर्वक मौन, इन्द्रियों को वशमें करने का यह तीन मौन तो मैं जानता हूँ पर आप कहते हैं कि सुपुप्ति मौन हो रहो। सो यह सुपुप्ति मौन क्या है? कृपाकर मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे कि हे रामजी ! यह तीनो मौन कष्टकर और तपस्वी के हैं-किन्तु सुपुप्ति मौन ज्ञानी और जीवनमुक्त पुरुष का है तुम जिन तीनों मौनों को जानते हो क्या उनकी ठीक-ठीक व्याख्या भी जानते हो ? नहीं ! अच्छा तो सुनो, पहिला मौन है वाणी का कि जिसमें बोलना नहीं है और दूसरा मौन है समाधि का कि जिसमे नेत्रों को बन्द कर लिया जाता है और देखा कुछ नहीं जाता। तीसरा मौन वह है जिसमें इन्द्रियों और मन को स्थिरकर और हठपूर्वक एकही स्थान दृढ़ होकर इन्द्रियों की भी चेष्टा बन्दकर देनी पडती है, यह तीनों मौन कष्टदायक और तपस्वियों के हैं। ज्ञानी इस मौन को नहीं बल्कि सुपुप्ति मौन को ग्रहण करते हैं। सुपुप्ति मौन मे वाणी और इन्द्रियों से चेष्टा होती है तो भी आत्मा से जब कुछ अन्य न भासित हो तब वह उत्तम मौन है। अथवा ऐसा हो कि न मै हूँ और न वह जगत है इत्यादि जब ऐसे निश्चय मे स्थित हो तब यह महा उत्तम मौन कहा जाता है। हे रामजी !

आत्मा की सिद्धि विधि और निषेध दोनों प्रकारसे होती है। उस आत्मा मे स्थित होना ही यह बडा मौन है। इस प्रकार जब आत्मा मे जागृत हो ससार द्वैत रूप के फुरणे से सुषुप्त हो जावे तो उसीको सुषुप्त मौन कहते हैं। यह सुषुप्त मौन चौथा मौन हुआ। अब पाँचवाँ तुरीयातीत मौन सुनो कि जो अनादि अनन्त और जरा से रहित, शुद्ध और निर्दोष है। इस निश्चय मे स्थित होना महान उत्तम है। इस मौन का आश्रय करके ज्ञानी सुख की इच्छा नहीं करता जिससे उसे दुख का त्रास भी नही होता और साथ ही वह हेयोपादेय से रहित रहता है। हे रामजी! तुम रघुकुल मे चन्द्रमा रूप हो इस कारण अपने स्वभाव में स्थित हो इसी महान् उत्तम मौन को ग्रहण करो। तुम ओंकार स्वरूप हो इस कारण ओंकार को ही अङ्गीकार कर इस पाँचवें महान् उत्तम मौन मे स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग।

प्राण-मन-संयोग-विचार वर्णन



रामजी बोले—हे भगवन्! पहले आपने जो सौ रुद्र कहे थे, वे रुद्र थे अथवा रुद्रके गण थे। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! रुद्र और रुद्रगण मे कुछ अन्तर नही है। फिर रामजीने पूछा—हे मुनिवर! यह तो सब एक चित्त थे, सो क्या जैसे दीपकसे दीपक पैदा कर लिया जाता है, उसी प्रकार पैदा हुए या कोई अन्य विधि है, सो हमे सुनाइए? तब वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अन्त करण दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा मलिन, शुद्ध अन्तःकरण निरावरण और मलिन अन्त करण सावरण होता है। शुद्ध अन्तःकरण का फल तत्काल सिद्ध होता है, किन्तु मलिन अन्त करण का फल सिद्ध नहीं होता, इसलिये शुद्ध जो निरावरण रुद्र है वह आत्मा है

और सर्व व्यापी है। इसपर रामजी ने कहा हे मुने! उस रुद्र 'शिव' को भी क्या कहे जो रुएँडों की माला गलेमे पहनता है, विभूति लगाई है, स्मशानो मे विचरता है और स्त्री को वमाभागमें लिए रमता है वह तो मलिन चेष्टा वाला है उसे आप शुद्ध अन्तःकरण वाला कैसे कहते है। तब वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी! यह जो आप कह आए हैं वह तो अज्ञानियो के लिये है न कि ज्ञानियो के। जो शुद्ध विषे वर्ते और अशुद्धता न करे और जो ज्ञानी है वह क्रिया के लिए अपने प्रति कुछ नही देखता उसको शुद्ध, अशुद्ध, राग और द्वेष कुछ नहीं कर सकता ऐसा जो शिव है न उसे ग्रहण करता है न त्याग। जो स्वाभाविक चेष्टा होती है और वह स्वाभाविक चेष्टा कैसी होती है सुनिये, आदि परमेश्वर मे विष्णु भगवान् की चार भुजाओं से फुरण हुआ कि संसार की रक्षा करेंगे और शुद्ध चेष्टा रक्खेंगे और अवतार धारण कर पापका नाशकर धर्मकी रक्षा करेंगे यह आदि फुरण हुआ। हे रामजी! इस क्रिया का इनको राग, द्वेष और कुछ हेयमोपादेय नहीं और निज क्रिया का भी कुछ अभिमान नही इसीसे यह कर्म-बन्धन मे नहीं फँसते। हे रामजी! यह ससार फुरण मात्र है जब तू फुरणों से रहित हो जायगा, तब तुझे त्रिपुटी न भासेगी और आत्मा कुछ और ही भासेगा। इसलिए तू अज्ञानरूप फुरणों से पृथक हो। जब तू आत्मपद को जान जायगा तब तुझे ज्ञान होगा कि मेरे लिये फुर दृश्य और अदृश्य कुछ नहीं है और आत्मपद को समझ जायगा। जिसके लिए कुछ फुरता ही नही उसमे द्वैत कहाँ? हे रामजी! दृश्य, अदृश्य, फुरण और विद्या तथा अविद्या यह सब जिज्ञासु को समझने के लिए कहते हैं। अन्यथा आत्माके प्रति कुछ नही कहना है, आत्मा एक है इसमे द्वैतभाव नहीं। संसार का ज्ञान तब होता है जब चित्त-वृत्ति वहिर्मुख होती है, किन्तु जब अन्तर्मुख होती है तब अन्तर्मुख परिणाम पाता है तब अहङ्कार और ममता का नाश हो जाता है और केवल चेतनमय तत्व ही शेष रहता है। इस प्रकार जब वृत्तियाँ अत्यन्त ही अन्तर्मुख हो जाती हैं तब वहाँ 'है' और

'नहीं' भी कुछ नहीं रहता। हे रामजी! तुम ऐसी ही आत्मा और अपने आप शान्त रूप हो, इसमें ऐसा और वैसा कहने के लिए वाणी का गम नहीं है। जब तुम ऐसे अपने आपमें स्थित होवोगे तब जानो कि मुझमें अह भाव का फुरना कुछ नहीं है और आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार होनेपर दृश्यरूपी अन्धकार का अभाव हो जायगा क्योंकि आत्मरूपी समुद्र गम्भीर और शुद्ध है और इसमें संकल्परूपी वायु प्रविष्ट नहीं होता अत. यह सारा ससार चित्त का ही चमत्कार और अशांशी भाव से रहित और अद्वैत है। हे रामजी! ऐसा बोध होनेपर तुम्हारे लिए सारा विश्व आत्मरूप हो जायगा, इस कारण तुम बोध मे स्थित होओ। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और महेश यद्यपि यह तीन नाम पृथक-पृथक हैं तथापि इनका स्वरूप और इनकी चेष्टा एकही समान है। प्रीति करके न कोई अङ्गीकार करने योग्य है और न द्वेष करके कोई त्याग करने योग्य है। यह नाम तो ससार के देखने मात्र हैं, ज्ञानमे इन नामों का कोई मूल्य नहीं है। जब बोध मे ही जागृत है तब नाम क्या? और बोधमें जागृत होना भी क्या है? सुनो, ज्ञानियों ने दो मार्ग नियत किए हैं। एक सांख्यमार्ग, दूसरा योगमार्ग। मैं आत्मा हूँ। सत् और चेतन हूँ और यह जितने दृश्य हैं सब जड़ और असत्य रूप मुझमें अज्ञानसे कल्पित हैं, किन्तु मैं आत्मा अद्वैत हूँ, मुझमे अज्ञान और दृश्य दोनों ही का नितान्त अभाव है, जो ऐसा निश्चय सिद्धान्त हो उसे साख्य कहते हैं। योग कहते हैं प्राणों के स्थिर करने को। प्राण के स्थित होने से मन भी स्थित हो जाता है और जब मन स्थित हो जाता है तब प्राण भी स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर दोनों का सम्बन्ध है। वशिष्ठ जीके ऐसा कहनेपर रामजीने कहा कि हे महाज्ञानिन्! प्राण का स्थित होना तो मुक्त होना है न? तब मृतक पुरुषके प्राण तो निवृत हो ही जाते हैं इससे वे सभी मुक्त हैं।

वशिष्ठजीने कहा—हे रामजी! यह ठीक नहीं, जब जीव पुर्यष्टका में

स्थित होकर जैसी वासना करता है और फिर शरीर को त्याग कर आकाश में स्थित होता है उसको मरणावस्था कहते हैं और जब उस वासनारूप प्राण से उसे संसार का भास होता है और जब प्राणक्रिया से वासनाओं का क्षय करता है तब वह मुक्त होता है परन्तु ज्ञानी की वासना क्षय हो जाती है इससे वह जन्म-मरण से रहित हो जाता है। जन्म-मरण से रहित होना क्या है कि चित्त सत्यपदको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार योगसे भी प्राणवायु स्थित हो जाता है और सारी वासनायें भस्म हो जाती हैं। स्वरूप की प्राप्ति होने से ससार के पदार्थों का अभाव हो जाता है। इस प्रकार चित के सत्यरूप हो जानेसे फिर वह ससारी नहीं होता। आत्मा मे न वन्ध है न मोक्ष है, वन्ध और मोक्ष की कल्पना तो चित ने की है। चित को शान्त करने के लिये उपरोक्त मुक्ति का अभ्यास करना चाहिये, इससे प्राण अवश्य स्थित होगा और प्राणके स्थित होनेसे आत्मपद की प्राप्ति अवश्य होती है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

सत्तरवाँ सर्ग

वैतालोपाख्यान वर्णन



वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह संसार मृगतृष्णा के जलवत् भासता है और अभास मात्र पडा फुरता है। इसपर एक कथा मुझे स्मरण आ गई है जो तुम्हारी प्राप्ति के लिए कहता हूँ, सुनो। मन्दराचल पर्वत पर एक बहुत बड़ी गुफा थी, उसमे एक वैताल रहता था और वह मनुष्यो का भक्षण करता था, उसने एक दिन यह विचार किया कि किसी नगरका भक्षण करजावें किन्तु वह एक साधु की सत् मयत्री मे रहता था और वह साधु भी उसी का दान ग्रहण कर भक्षण करता था। इस आचरण से वह अपने किए पर पछताने लगा, कि मैं मनुष्यों का भोजन करता हूँ,

यह बहुत बड़ा पाप कर रहा हूँ—तब उसने यह निश्चय किया कि अब से मैं मूर्ख मनुष्यको ही भक्षण करूँगा और उत्तम पुरुषको नहीं। ऐसा निश्चयकर वह क्षुधातुर हो एक समय रात्रि को घर से निकला और एक वीर राजा जो यात्राके लिए निकला था उससे उसका साक्षात हो गया और ऐसा कह कर कि मैं तुझे खाऊँगा खड़ा हो गया। राजा ने कहा यदि तू मेरे पास अन्याय करने के विचार से आयेगा तो तुझे मार गिराऊँगा। वैताल ने कहा कि मैं तुझसे कदापि नहीं डर सकता। यदि ऐसा ही है तो मैं अज्ञानियों का भक्षण करता हूँ, यदि तू मेरे प्रश्नों का उत्तर दे तो तुझे नहीं खाऊँगा। मेरा पहला प्रश्न यह है कि जिसमे ब्रह्माण्ड रूपी अणु है वह सूर्य्य कौन है ? दूसरा, जिस पवनमें आकाशरूपी अणु उड़ते हैं वह पवन कौन है ? तीसरा जिसमे केले के वृक्षवत् और कुछ नहीं निकलता वह वृक्ष क्या है? और चौथा प्रश्न यह है कि वह पुरुष कौन है जो स्वप्न से स्वप्न और फिर उसमे और स्वप्न देखता है और उसमे रहते भी हुये उस परिणाम को नहीं प्राप्त होता ? इन प्रश्नो का यदि तुम यथोचित उत्तर न दोगे तो मै तुम्हे अवश्य ही खा जाऊँगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

राजा-वैताल-सम्वाद वर्णन।

राजा ने कहा—हे वैताल! सुन, एक मिरच ब्रह्म रूप है और उसमें यह सत्पद आत्म चैतन्य तीक्ष्णता है और ऐसी मिरचों की अनेक डालियाँ एक वृक्ष में और ऐसे अनेक वृक्ष एक जङ्गल मे और एक शिखर पर ऐसे अनेक जङ्गल पाये जाते हैं। और ऐसे सहस्र शिखर एक पर्वत पर और अनेक पर्वत एक नगर मे हैं और ऐसे अनेक सहस्र नगर एक द्वीपमे और ऐसे अनेक द्वीप इस पृथ्वीपर हैं, ऐसी सहस्रों पृथ्वी एक अण्ड मे है और ऐसे कई सहस्र अण्डे समुद्र की लहरें हैं और ऐसे अनेक

समुद्र एक समुद्र की लहरें हैं और ऐसे कई सहस्र समुद्र एक पुरुष के उदर मे हैं और ऐसे कई पुरुषों की माला एक पुरुष के गले मे पड़ी हुई है। ऐसे कई लाख कोटि सूर्य के अणु हैं जिस सूर्य्यसे सर्वत्र प्रकाश हुआ है और जिसमें अनेक सृष्टि विद्यमान है,वह सूर्य्य आत्मा है। हे वैताल! इसी प्रकार तू सम्पूर्ण सृष्टि को जान। यदि तू इसे सत्य जानता है तो सब सृष्टियाँ सत्य हैं पर इस सृष्टि को तू स्वप्न जानता हो तो सभी सृष्टियाँ स्वप्न हैं। आत्मा अपने आप मे स्थित है। इसमे कुछ भिन्नता और अणु नहीं है। अब तू और क्या जानना चाहता है? आत्मा ही में तो आत्मपद है, तू उसी पद में स्थित हो। उसी सत् पद से सब सत्ता सकल्प द्वारा उदय हुई है और संकल्प के लय होने से सब लय भी हो जाती है। तूने जो यह प्रश्न किया कि वह कौन सूर्य्य है जिससे ब्रह्माण्ड रूपी अणु होते हैं इसका उत्तर यह है कि, वह ब्रह्म सूर्य्य है। केले का वृत्त जो तूने पूछा था उसका उत्तर यह है कि केलेकी नाईं विश्व की आत्मा है। जैसे केले के भीतर शून्य आकाश ही निकलता है वैसे ही विश्व के भीतर इस आत्मा से भिन्न कुछ नही निकलता जो अद्वैत है। उससे विपरीत द्वैत कुछ नहीं। उस ब्रह्म पवन मे ही ब्रह्माण्ड के समूह उड़ते है पुन. वहीं स्वप्ने से स्वप्ना देखता है। पर वह एक अपने आप मे ही स्थित है। चित्तकला फुरने से अनेक ब्रह्माण्डों का भास होता है उसी को स्वप्न कहते हैं इसमे भी कुछ भिन्न नहीं। वह एक ही रूप रहता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल भी है। वह ऐसा स्थूल है कि उसमे मन्दराचल भी अणु के समान है और उसमे वाणी की गम नही, अपने आप मे स्थित और इन्द्रियों से भी अगोचर है इस लिए वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। रे मूर्ख! तू इतना भूख से व्याकुल क्यों है? तू अद्वैत रूप आत्मा है और आनन्द रूप अपने आप में स्थित है। राजा के ऐसे उपदेश सुन वह वैताल वहाँ से चला और एकान्त में जा विचरने लगा कि ऐसे मृगतृष्णारूपी जलवत व्यर्थ संसारसे मुझे क्या आवश्यकता और

एकान्तवासो वनको हढ़कर ऐसे ध्यानमे स्थित हो सत् आत्मपद को प्राप्त हुआ। हे रामजी! उस आत्मामे ब्रह्माण्ड अणु की भाँति स्थित है इसलिए निर्विकल्प आत्मामे स्थित होकर इन्द्रियों को भी स्थित करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग।

भगीरथोपदेश प्रसङ्ग।

इस प्रकार वेताल की कथा समाप्त कर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा कि हे रामजी! अब मै राजा भगीरथ की कथा कहता हूँ कि जिस प्रकार उसकी मूढ़ता का लोप हुआ और वह स्वस्थ चित्त होकर अपने पुरुषार्थ से स्वर्ग गङ्गा को इस भूलोक मे ले आया, ध्यान देकर सुनो! राजा भगीरथ बडा ही उदार था। उसके पास अपनी अर्थ सिद्धि के लिये जो कोई आता वह उसके संकल्प को अवश्य पूर्ण करता। यही कारण था कि वह सबको हृदय से प्रिय था जहाँ उसमे मयत्रीके यह उच्च भाव थे वहाँ वह शत्रु विजयी भी ऐसा था कि कैसा ही प्रबल शत्रु क्यों न हो उसके समक्ष वह मस्तक ऊँचा न कर सकता। उसके निकट न कोई सुख था न कोई दुख था, आशय यह कि वह सुख दुःख मे सदा समभाव मे स्थित रहता था। वशिष्ठजी ऐसा कह ही रहे थे कि रामजीने पूछा,—हे भगवन्! भगीरथ के मनमे क्या आया कि वह गङ्गा को ले आया। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि हे रामजी! भगीरथ धर्म वृत्ति का पुरुष था। एक बार उसने अपनी प्रजा मे देखा कि अधर्म की वृद्धि हो रही है तब वह किस प्रकार दूर हो। उसने उन मूर्खों का जो पाप-कर्म मे रहते थे, उद्धार करने के लिए गङ्गा को लाने का विचार स्थिर किया। ऐसा विचार स्थिर कर वह ब्रह्मा, रुद्र और यज्ञ ऋषियों का आराधन कर तप करने लगा। हे रामजी! इसके पूर्व अगस्त्यजी समुद्र को सोख चुके थे, गङ्गा के आने से समुद्र का बड़ा उपकार हुआ। उस समय गङ्गा के दो प्रवाह चलते थे, एक तो आकाश मे और

दूसरा पाताल मे। किन्तु परम पुरुषार्थी राजा भगीरथ ने गङ्गा का तीसरा प्रवाह भू लोक में भी चल दिया। क्यों न हो वैरागी और विचारवान पुरुष के लिए कुछ दुर्लभ नहीं है। यद्यपि उस समय भगीरथ की युवावस्था थी कि जिस अवस्था मे वैराग्य का आना और वैसा विचार उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन है किन्तु धन्यवाद है उसको कि उसे यौवनावस्था मे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ और वह घर से निकल पडा। घर से चल कर वह अपने गुरु त्रितल ऋषि के पास पहुँचा। ऋषिजी का दर्शन कर भगीरथ ने पूछा कि हे भगवन्! क्या ऐसा भी कोई सुख है कि जिसको पा जाने से जरा और मरण का दुःख निवृत्त हो जावे? क्योंकि संसार के समस्त सुख तो भीतर से शून्य हैं पर इनका परिणाम दुःख ही दुःख है। यदि आप कृपाकर ऐसा कुछ बतला सकें तो मेरी प्रीतिके लिये बतलाइए। त्रितल ऋषि ने कहा हे राजन्! यदि तुम जानने योग्य 'ज्ञेय' अर्थात् आत्मज्ञान को जान जावो तो अवश्यमेव शान्त पद को प्राप्त होवोगे। हे राजन्! यह जरा मरण तो तभी तक भासता है जब तक ज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होता, ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर तो अज्ञान का ऐसा लोप हो जाता है कि पता नहीं चलता कि वह कहाँ गया। वह आत्मानन्द सर्वज्ञ और उदय अस्त से रहित अपने आपमे ही स्थित है। उसका साक्षात्कार होने पर चित्त की जड ग्रन्थि टूट जाती है और अभिमान करनेवाली अनात्म इन्द्रियाँ भी निवृत्त हो जाती है। उसके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं और समस्त संशयों का क्षय हो जाता है कारण कि तब वह अपने शुद्ध स्वरूप को पाकर ज्ञान मे स्थित हो जाता है और वह जिसमें स्थित होता है वह सत्ता सर्वगत नित्य स्थित और उदय अस्त मे रहित है। यह सुन कर भगीरथ ने कहा—हे भगवन्! जानने को तो मै यह सब जानता हूँ पर मुझे शान्ति नहीं प्राप्ति होती अतः कृपाकर मुझे ऐसी युक्ति बतलाइये कि मैं उस चिन्मात्र आत्मा मे स्थित होऊँ। त्रितल ऋषि ने कहा—अच्छा अब मै तुमको एक

ज्ञान सुनाता हूँ कि जिसको जान लेनेपर तुम्हारे दु:ख दूर हो जायेंगे और तुम्हे ज्ञेय मे निष्ठा होगी। फिर तो तुम्हारा जीवभाव नष्ट हो जायगा और तुम सर्वात्मरूप हो स्थित होवोगे पर ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये तुम्हें यत्न करना पडेगा। वह यत्न भी क्या तुम्हें इन्द्रियों मे अभिमान न करके कौटुम्बिक दु:ख से अपने को वञ्चित रखना होगा और सर्वदा इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति मे एक रस रह कर चित्त वृत्तियों को रोक तथा एकान्तसेवी बन आत्मचिन्तन करना होगा। इसके साथ ही तुम्हे कुसङ्गो का परित्याग और सर्वदा ब्रह्मविद्या का विचार करना होगा। इस प्रकार तुम्हे तत्वज्ञान का दर्शन हो जायगा। इसके विपरीत जाना अज्ञानता है। हे राजन्! ज्ञेय को जानने के लिए यह बहुत सुन्दर युक्ति मैंने तुमसे कही है। यदि तुम इसका आचरण करोगे तो तुम्हे शान्तपद अवश्य प्राप्त होगा। हे राजन्! एक अह है और दूसरा मम्। यह दोनों ही इस जीव के प्रबल शत्रु हैं। जब तुम इसका त्याग करोगे तब वह सर्वज्ञ आत्मा जो सबको प्रकाश देनेवाला आनन्दरूप और स्वयं संसारके आनन्द से रहित है उसका भास होगा। हे रामजी! जब इस प्रकार गुरुवर त्रितलऋषि ने कहा तब राजा भगीरथ ने कहा—हे भगवन्! इस अहङ्कार का और मेरा तो बहुत चिरकाल का सम्बन्ध है भला यह क्योंकर साथ छोडेगा। तब ऋषि ने कहा—हे राजन्! चाहे कैसा भी चिरकाल का सम्बन्ध क्यों न हो पुरुषके प्रयत्नसे अहङ्कार निवृत्त अवश्य हो जाता है। वह पुरुष-प्रयत्न क्या है, सुनो! भोगों मे द्वेषदृष्टि और उनकी वासनाओंसे अपने को वचित रखने और बारम्बार स्वस्वरूप की भावना अर्थात् विचार करने को ही पुरुषप्रयत्न कहते हैं। ऐसा करने से तुम्हारा जीव-अहङ्कार निवृत्त हो जावेगा। इसके निवृत्त होनेपर तो तुमको सर्वात्मा ही भासित होगा और शाति रूप का ऐसा प्रकाश होगा कि तुम सदैव के लिये दु:ख से रहित हो जावोगे, पर जब तक यह अहं और मम बना है तब तक उस आत्मपद की प्राप्ति दुर्लभ है। राज्य लेकर क्या करोगे, तुम्हारे शत्रुओं को

जिन्हे तुम्हारा राज्य लेने की इच्छा है उनको अपना राज्य दे डालो और तुम चोभ से रहित होकर स्त्री, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मोह से रहित हो जाओ। देखो मेरा भी मोह न करना और एकान्त देश मे स्थित हो अपने उन शत्रुओं के द्वार पर कि जो तुझे भला कहने की इच्छा नहीं रखते जा-जाकर भिक्षा माँग। अब उठ यहाँ से चलदे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग।

निर्वाण वर्णन।

हे रामजी! त्रितल ऋषि के ऐसे उपदेश को सुनकर राजा भगीरथ वहाँ से उठ खड़ा हुआ और गुरु को दण्ड प्रणाम कर अपने राज्य मे पहुँच गुरु के उपदेश को हृदय में धारण कर राज्य करने लगा। राज्य करते हुए जब उसे कुछ दिन व्यतीत हुआ तब उसने अग्निष्टोम यज्ञ करना आरम्भ किया। अग्निष्टोम वह यज्ञ है कि जिसमे तीन दिन में धन का त्यागकर दिया जाय इस यज्ञ को आरम्भ कर राजा भगीरथ ने अपने समस्त हाथी घोडे रथ भूषण और वस्त्र इत्यादि जितने ऐश्वर्य थे सब ब्राह्मण, अर्थी, पुत्र, स्त्री और शत्रुओं को बाँट दिया। फिर क्या कहना था एक सुयोग्य अवसर शत्रुओ के हाथ लगा और उन्होंने राजा भगीरथ को निर्बल जान उनके नगर को घेर लिया यहाँ तक कि राजा की हवेली और वासस्थान को भी रोक लिया। अब राजा के पास केवल एक धोती और एक अङ्गोछा ही शेप रहा। तब वहाँ से निकल जङ्गलों मे जा विचरने लगे इस प्रकार जब कुछ दिनों तक शान्तपद आत्मा मे स्थित हो वनों मे विचर चुके तब अपने देश में आकर शत्रुओंके द्वार पर जा-जाकर भिक्षा माँगने लगे। उनकी इस अवस्था को देख कर शत्रुओं का भाव बदल गया और सब उनकी पुजा करने लगे और कहने लगे—भगवन्! अब अपना राज ले लीजिये पर भगीरथ ने उसे तृण [illegible] न जान नहीं ग्रहण

किया फिर वहाँ कुछ दिन रहकर भगीरथ अपने गुरु त्रितल ऋषि के पास आये। गुरु ने शिष्य को और शिष्य ने गुरु को आत्म तत्व से ग्रहण किया। फिर तो गुरु और शिष्य दोनों वनोंमे विचरने लगे। दोनों ही राग द्वेष से रहित और आत्म पद में स्थित थे, इससे उन्हें न तो शरीर रखने की इच्छा थी और न शरीर जाने की। वे केवल इच्छा रहित प्रारब्ध मे स्थित थे। गुरु और शिष्य की इस अवस्था ने भूतलही क्या स्वर्गलोक तक में कोलाहल मचा दिया फिर तो सिद्धों ने आकर उनकी पूजा की और बहुत सा ऐश्वर्य भेंट दिया। यही क्या बहुत सी अप्सरायें भी ऐश्वर्य और भोग के पदार्थ लिए उनके पास आईं पर उन्होने आत्मसुखके समक्ष उन्हें तुच्छ जाना। हे रामजी! तुम राजा भगीरथ के समान ही आत्म पद मे स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ट-भाषा, निर्वाण प्रकरण का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग।

भगीरथ उपाख्यान समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी। इस प्रकार वहाँ कुछ समय व्यतीत कर राजा भगीरथ देशाटन करने चले तो एक ऐसे नगर में पहुँचे कि जहाँ का राजा मर गया था और वहाँ की लक्ष्मी एक राजा की इच्छा करती थी। उस नगर मे पहुँच कर भगीरथ अपनी भिक्षुवृत्ति धारण कर भिक्षा माँगने लगे। वह भिक्षा माँगही रहे थे कि मृतक राजा के मंत्री की दृष्टि भगीरथ पर पडी। उसने भगीरथ मे राज लक्षणोंको पाकर कहा—भगवन्! हमारा राज्य नृपति शून्य है, अत अच्छा हो कि आप इस राज्यको अङ्गीकार करें और इसमें आपको कोई हानि भी नहीं है, क्योंकि यह आपको अनिच्छित प्राप्त हुआ है। इस पर भगीरथ ने उस राज्य को ग्रहण कर लिया। राज्य को ग्रहण करना ही था कि नगाडे बजने लगे सेना पूर्ण होकर कौतूहल शब्द करने लगी, रनिवास की स्त्रियाँ भी भगीरथ के पास जा स्थित हुईं। इधर तो यह हो रहा था और उधर राजा

भगीरथ अपने जिस राज्य को शत्रुओं को देकर आये थे उस देश के मन्त्री और प्रजागण भगीरथ के पास आकर विनय पूर्वक बोले- कि महाराज! आप अपने जिस राज्य को शत्रुओं में बाँट आए थे वे सभी काल कवलित हो गये अतः आप चल कर अपने राज्य को ग्रहण कीजिये। हम सभी यह जानते हैं कि आपको राज्य की इच्छा नहीं है, पर तोभी आप राज्य कीजिये। कारण कि अनिच्छित वस्तु का त्याग करना उचित नहीं है। यह सिद्धान्त भगीरथ को भी मान्य था जिससे उन्होंने उस राज्य को भी अपना लिया। अब भगीरथ दो राज्यों के राजा हुए। एक दिन राजा भगीरथ यह विचार करने लगे कि मेरे पिता कपिल मुनि के शाप से भस्म हो कूप में पड़े हैं उनका उद्धार कैसे होगा? तब कुछ क्षण के पश्चात उन्होंने यह निश्चय किया कि इसके लिये भी तप करना चाहिये। तब वह एक स्थान में स्थित होकर गङ्गा को लाने के लिए तप करने और ब्रह्मा, शिव, यक्ष और ऋषियों का आराधना करने लगे। इस प्रकार जब तप करते-करते सहस्र वर्ष व्यतीत हो गया, तब विष्णु भगवान् के चरण कमलों से प्रकट हुई गङ्गा उन्हें प्राप्त हुई और वे पितरों का उद्धार करने के लिये गङ्गा के प्रवाह को साथ ले समुचित और शान्त रूप में स्थित हो विचरने लगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग।

शिखरध्वज-चुड़ालोपाख्यान वर्णन।

वशिष्ठजी बोले- हे रामजी! अब भगीरथ की कथा के समान ही एक और आख्यान सुनो। पूर्व काल में एक शिखर ध्वज नाम का राजा राज्य करता था। वह भी भगीरथके समान ही शूरवीर और धन ऐश्वय सम्पन्न तथा उदार और धैर्य्यवान् था। वह सदैव शान्तपद में स्थित रह सर्व दुःखों से मुक्त हो किसी पर ... करता और उसके पास जो

कोई अपना अर्थ सिद्ध करने आता वह उसे निराश न करता था। वशिष्ठजी ऐसा कह ही रहे थे कि रामजी ने कहा हे भगवन्! यह वृत्ति तो ज्ञानियो की है, भला इस वृत्तिवाला राजा शिखरध्वज अब जन्म क्यों लेगा, ज्ञानी तो फिर जन्म नही पाता ? वशिष्ठजी कहने लगे हे राघव! यह तो ठीक है पर जैसे एकहो समुद्र मे तरंगें उठती हैं और उनमें कोई आधी कोई पूरी और कितनी ही विलक्षण रूप की होती हैं, किन्तु उनकी चेष्टा और स्वरूप एकही समान होते हैं, वैसे ही आत्म समुद्र मे कितने ही विलक्षण स्वरूपों का स्फुरण होता है। हे रामजी! इसी नियम से जब द्वापर युग की सप्त मनवन्तर और चार चौकडियाँ व्यतीत होंगी तब मालव देशमें एक इसी नियम का राजा उत्पन्न होगा पर यह शिखरध्वज न होगा वह दूसरा होगा। अब इस शिखरध्वज का कुछ चरित्र सुनो। जब वह सोलह वर्ष का राजकुमार था तब एकबार वह आखेटको जाने लगा उस समय अपनी फुलवारी का दृश्य देखते हुए टहल रहा था कि उसकी दृष्टि एक भँवरे और भँवरी पर पडी कि जो कमल पुष्प मे केलि लीलाकर रहे थे। उस लीलाको देख शिखरध्वजको भी यह विचार आया कि मुझे भी स्त्री प्राप्ति हो, इस विचार के उठते ही वह स्त्री की प्राप्ति और उसके साथ पुष्प शैय्या पर शयन करने के लिये उत्कण्ठित और चिन्तित हो गया उसकी इस चिन्ता का प्रकाश राजमन्त्रियो पर पडा और वे जान गये कि हमारे राजा को स्त्री की आवश्यकता है, अस्तु अब राजा का विवाह कर देना चाहिये। निदान एक राजकन्या के साथ उसका विवाह होगया। विवाह हो जाने से शिखरध्वज बहुत प्रसन्न रहने लगा। राजा की स्त्री बहुत सुन्दर थी इससे वह उसको बहुत प्यार करता था और वह स्त्री भी राजासे स्नेह करती थी। राजा के हृदय में जब किसी बात की चिन्ता उठती तो वह उस बात को सबसे पहले अपनी रानी से कहता था, आशय यह कि जैसे भँवरी और भौंरे में प्रेम था वैसा ही प्रेम राजा और रानी मे था। जब इस प्रकार विलास करते कुछ दिन व्यतीत होगया तब राजा अपना

सारा राज्य मन्त्रियों को सौंपकर रानी सहित वन को चला गया और वहाँ नाना प्रकार की चेष्टा करते हुए दोनों शिव और पार्वती के समान विचरने लगे। तत्पश्चात् उस विचरण में राजा ने योग-क्रिया सीखना आरम्भ किया। रानी चुडाला की बुद्धि बड़ी तीव्र थी इससे वह सब बातें शीघ्र ही समझकर राजा को सिखाती थी।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७५ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग।

चुडाला प्रबोध वर्णन।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार अनन्त भोगोंको भोगते हुए राजा की यौवनावस्था व्यतीत होकर वृद्धावस्था आगई। तब दोनों राजा-रानी को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे यह विचारने लगे कि यह संसार मिथ्या है और इसके भोगी भी असत्य और क्षण-स्थाई हैं। हम लोग यद्यपि इतने काल भोग-विलास में व्यतीत किये किन्तु यह तृष्णा पूरी नहीं हुई। हे रामजी! जैसे हाथ पर का जल वह जाता है उसी प्रकार आयुर्बल भी घटते घटते लुप्त हो जाती है। जहाँ चित्त की वासना रहती है वहाँ दुख भी रहता है। जैसे चील पक्षी अपने अज्ञान के वश मांस के पीछे-पीछे दौड़ता है उसी प्रकार अज्ञानता के साथ दुःख भी दौड़ा करता है आशय यह है कि जहाँ अज्ञानता रहती है वहाँ दु.ख भी अवश्य रहता है। जिस प्रकार आम की डाल से पका हुआ फल पृथ्वी पर गिर पड़ता है वही दशा इस शरीर की भी है। तब किस प्रकार इस संसाररूपी चिन्ता से निवृत्त हों ऐसा विचार कर राजा आत्मज्ञान प्राप्त करके के लिये ब्रह्मज्ञानियों की सेवा मे गये। वहाँ पहुँच कर राजा और रानी ने उनकी पूजा की पुन. उनसे ब्रह्मज्ञान सुनने लगे। ज्ञानियों ने बतलाया कि आत्मा शुद्ध, आनन्द रूप, चैतन्य और एक है, उसकी प्राप्ति से सर्व दु.ख निवृत्त हो जाते हैं। हे रामजी! तब रानी चुडाला इस विचार मे पड़ी कि यह संसार क्या है और ससार की उत्पत्ति किससे है। जब

ऐसा वह निरन्तर विचार करने लगी तब उसे ज्ञान हुआ कि यह पञ्चभौतिक शरीर और समस्त इन्द्रियाँ जड़ हैं। यह इन्द्रियाँ तो यहाँ तक जड है कि बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के कुछ चेष्टा नहीं कर सकती। फिर ज्ञानेन्द्रियाँ भी तो जड हैं, किन्तु मैं इन सबसे परे हूँ। मन, बुद्धि, चित्त, अहकार जो कुछ भी हैं सब मुझसे भिन्न और जड हैं। मैं जीव भी नहीं हूँ क्योंकि जीव मे फुरना होता है और मैं सर्वदा फुरण से रहित और उदयरूप अविनाशी, अनन्त और आत्म हूँ। मुझमे रागद्वेषरूपी ताप नहीं है। मैं निर्मल और अहं, त्वं से रहित चिन्मात्रपद हूँ। मुझमें चित्त नही है, मैं सदा अचल और अद्वैत हूँ। इसी पद को तो ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म और परमात्म चेतन कहते हैं। यह आत्मा ही तो मन, बुद्धि आदि दृश्यों सहित ससाररूप होकर फैला हुआ है। पर खेद है कि अज्ञानी इस गन्धर्व नगर को भी सत्य जानते हैं। किन्तु अब मैंने तो जान लिया कि मै एक रस हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७६॥

सतहत्तरवाँ सर्ग ।

अग्नि, सोम विचारयोग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी। ऐसा निश्चय कर चुडाला भोग वासनाओं से निवृत्त होकर जानने योग्य शान्त पद को पाकर अब सुशोभित हुई और बारम्बार यह कहती हुई प्रसन्न होने लगी की हाय अब तक मै अपने स्वरूप से गिरी हुई थी और अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई और मेरे सारे दु:ख नष्ट होगये। ऐसा विचार वह एकान्तमे जाकर समाधि लगा बैठ गई। फिर तो उसे वह आनन्द प्राप्त हुआ कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी आनन्द निमग्नता को देखकर राजा शिखरध्वज को बडा आश्चर्य हुआ और उसने रानी के पास जाकर कहा—हे अनघे। तुझे ऐसा क्या आनन्द प्राप्त हुआ कि तू अब फिर युवावस्था को प्राप्त हो गई। क्या तुझे

ऐसा कोई अमृतसर तो नहीं प्राप्त हो गया कि तू उसे पान कर अमर हो गई अथवा तुझे किसी योगीश्वर ने उस कला को बतला दिया कि जिसे जानकर तू ऐसी हो गई है। तेरे चित्त को देखकर तो ऐसा जान पड़ता है कि तुझे त्रिलोकी के राज्य से भी कोई अधिक सुख प्राप्त हो गया है। जैसे शरतकाल का आकाश निर्मल दीख पडता है वैसेही अब तेरे श्वेत केश भी मुझे बहुत सुन्दर दीख पडते हैं, अतः तू मुझे बतला कि तुझे ऐसी कौनसी वस्तु प्राप्त हो गई है। चुडाला ने कहा—हे राजन्! यह आप जो कुछ देख रहे हैं सब में किंचनता है पर मैं निष्किंचन पद को प्राप्त कर श्रीमान् और शान्तरूप हुई हूँ। भोग पदार्थों को नहीं, मैं अभोग भोगों को भाग कर तृप्त हुई हूँ। भाव यह कि आत्मज्ञान को पाकर अब मुझे आत्मा में विश्राम मिला है, इसीसे मैं सदैव शान्तिरूप और श्रीमान् हूँ। हे राजन्! इस प्रकार अब मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ। अब मैं वहाँ स्थित हूँ कि जहाँ मन और इन्द्रियाँ नहीं जा सकतीं और जहाँ अहंकार का भी उत्थान नहीं है, मैं ऐसे पदको प्राप्त हुई हूँ, क्योंकि वह पद अमृत पद और सबका आत्मा है। अब न तो मेरा नाश होगा और न मुझे कोई भय है। रानीके ऐसा कहनेपर राजा शिखरध्वज हँसकर बोला कि—हे मूर्ख रानी! यह तू क्या कहती है तेरा यह कहना कि जो सत्य है वह असत्य है, कौन मानेगा? ऐसा कहनेवाला कि मैं ऐश्वर्यों को त्याग कर श्रीमान् हुई हूँ शोभा नहीं पा सकता, तू कहती है कि मैं ईश्वर हूँ और अभोग भोग को मैंने भोगा है यह तेरी कैसी मूर्खता है। पर अच्छा यदि तू इसी मे प्रसन्न है तो ऐसा ही विचर किन्तु यह बातें तुझे शोभा नहीं देतीं और तेरे ऐसे कथन को कोई सत्य नहीं मानेगा। ऐसा कहकर राजा उठ खड़ा हुआ और दोपहर काल आ जाने से वह स्नान करने चला गया। इधर रानी के मनमे यह चिन्ता हुई कि मेरा राजा तो आत्मपद मे स्थित न हुआ। यदि उसे इस पद की प्राप्ति हुई होती तो वह मेरी बातों को अवश्य समझता। इस बात को मनमे रखकर वह पुनः अपने आचारमे लगी और राजा

पर अपने निश्चय का प्रकाश न होने दिया। एक समय रानीके मन मे यह आया कि मै प्राणों को ऊपर चढ़ा और अपान को वश कर आकाश और पाताल दोनों स्थानों मे पहुचूँ तो वडा अच्छा हो। ऐसा विचार कर रानी योग मे स्थित हो प्राणायाम करने लगी। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने ऐसा पूछा कि—हे भगवन्! यह ससार तो संकल्प से उत्पन्न हुआ है और इस स्थावर-जङ्गम ससार वृत्त का बीज भी सकल्प ही है तो प्राणायाम कौन सा ऐसा पवन है कि जिससे वह नीचे और ऊपर उडकर जाता है, कृपाकर यह मुझे समझाइये। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! सिद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं। एक सिद्धि का नाम उपादेय है। यह वस्तु मुझे प्राप्त हो जावे, इसका नाम उपादेय सिद्धि है। इसके लिए अज्ञानी यत्न करते हैं। दूसरी सिद्धि यह है कि मेरा अमुक दु:ख निवृत्त हो जावे और मैं सुखी हो जाऊँ। पर ऐसी चिन्ता वे करते हैं कि जो महा अज्ञानी हैं। मैं यह कर्म करता हूँ इसका फल मुझे मिले यह तीसरी सिद्धि है पर ऐसा विचार करनेवाला भी अज्ञानी हीहै पर ज्ञानीका निश्चय ऐसा नहीं होता। वह अपने को कर्ता और भोक्ता नहीं मानता। हे रामजी! अब योग द्वारा जिस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उसको सुनो। देखो इस शरीरमे कई चक्र हैं। एक चक्र नाभिके नीचे है जिसका नाम है मूलाधार चक्र। उस मूलाधारमे सर्पिणीके समान कुण्डल मारकर एक कुण्डलिनी शक्ति बैठी है कि जिसका विष वासना है और जिसके ही कारण से समस्त नाडियाँ समष्टि नहीं हो पाती हैं। जब उस कुण्डलिनी को योग-क्रिया द्वारा जगाया जाता है तब सिद्धियाँ प्राप्त होती है और आत्माका साक्षात्कार होता है। ऐसी सिद्धि को प्राप्त करनेवाला मुखमें गुटका रख के जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है और नेत्रोंमे अञ्जन डाल के जिसको देखा चाहे उसको देख लेता है। साराश कि तब देश, काल, क्रिया और वस्तु सब उसके ‴धीन हो जाती है। सम्पूर्ण पृथ्वी को भी वश कर लेना उसके लिए

सहज है, यह सुनकर रामजी ने कहा कि–हे भगवन्! आत्मा तो देश, काल, वस्तु से रहित है फिर उस कुण्डलिनी शक्ति से उसका प्रगट होना कहाँ तक ठीक है। वशिष्ठजी ने कहा कि हे रामजी! यह तो तुम जानते ही हो कि ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है। तब सात्विक गुण से उसका प्रगट होना क्या आश्चर्य है। जैसे सूर्य का प्रतिविम्ब जल और थल मे सर्वत्र दिखलाई पड़ता है वैसेही सब विद्यमान आत्मा सात्विक गुणोमें दिखलाई पड़ता है। अच्छा अब इसकी पूर्ण व्याख्या सुनो। हे रामजी! कुण्डलिनी शक्ति से ही समस्त नाड़ियाँ उदय होती हैं। जब यह जीव प्राणवायु को उस शक्ति में स्थिर करता है तब जैसे राजा की सारी सेना उसके वश होती है वैसे ही सब शक्तियाँ प्राण के वश हो जाती हैं। पर जब तक प्राणवायु वश नहीं होती तब तक आधि-व्याधि रोग उत्पन्न होते हैं। इसपर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! आधि-व्याधि रोग क्या है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि मन की पीड़ा आधि रोग है और शरीर का दु:ख व्याधि रोग है। आधि की उत्पत्ति तब होती है जब सङ्कल्प होता है कि अमुक सुख मुझे प्राप्त हो पर वह पदार्थ उसे नही प्राप्त हुआ तब उसके लिए चिन्ता कर के जो दुःख प्राप्त होता है उसका नाम आधि है और जब शरीर मे वात, पित्त, कफ आदि का विकार उत्पन्न हो उससे जो दु:ख प्राप्त होता है उसका नाम व्याधि है। किन्तु ज्ञानी को यह व्याधियाँ नहीं होतीं। हे रामजी! ज्ञान का प्रसङ्ग पीछे पड़ जाता है इस कारण मैंने योग की कला को तुझसे विस्तार पूर्वक नहीं कहा है। योग की जितनी क्रियायें हैं वे सब मुझे ज्ञात हैं पर यह क्रियायें ज्ञानमार्ग को रोकती हैं अत: अब अपने प्रसङ्ग पर आओ। हे रामजी! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और क्षीण यह चार प्रकार की वासनायें होती हैं उनमें सुषुप्ति वासना स्थावर योनि को, स्वप्न वासना त्रिपति योनि को और जाग्रति वासना मनुष्य और देवतादिकों को होती है। किन्तु क्षीण वासना ज्ञानी की है। कारण कि वह वास-

नाओं की सत्यता को नष्ट कर चुका है और उसके लिये ससार कुछ नहीं है। इससे तुम भी वासनाओं का त्याग करो। क्योंकि वासना ही ससाररूपी वृक्ष का बीज है। जैसे सूर्यके उदय होने पर रात्रि का अधकार दूर हो जाता है वैसेही ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होने पर संसाररूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। अन्यथा मन से उत्पन्न होनेवाले आधि व्याधि रोग बडे दु.खदाई हैं। रामजी ने कहा—भगवन्! आधि राग तो मन से होता है और व्याधि तो शरीर का रोग है फिर यह मन से कैसे होता है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी व्याधि दो प्रकार की होती है, एक लघु और दूसरी दीर्घ। शारीरिक दु ख लघु है जो स्नान और जप से शान्ति हो जाती है। किन्तु दीर्घव्याधि जन्ममरण का रोग है और यह दीर्घ रोग मनके शान्त हुए विना निवृत्त नहीं होता। इससे यह दोनों ही मन से उत्पन्न होते हैं। रामजीने फिर पूछा कि—हे भगवन् व्याधि की उत्पत्ति मन से कैसे होती हैं। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! चित्त के अशान्त होने से दोनो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक मनुष्य के शरीर मे उदान और अपान वायु का संचालन हर समय होता रहता है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उसको पुर्यष्टका से मिली हुई कुण्डलिनी शक्ति उदान वायु से उर्ध्वमुख और अपानवायु से अद्ध को जाती है तब आपस मे विरोध होने के कारण दोनों वायु सङ्घर्षण करके क्षोभवान हो जाती हैं। उस क्षोभ से अग्नि उठकर हृदयरूपी कमल मे स्थित होती है। तब वह प्राणी के उस भोजन का जो वह बाहर की अग्नि से पका कर खा चुका है उसको वह हृदयकमल मे स्थित अग्नि फिर पकाती है, तब उससे जो रस बनता है उसको सब नाडियाँ अपने-अपने भागमे ले जाती हैं। वीर्य प्रनाली वीर्य को और रक्त प्रनाली रक्त को बनाकर रखती है। किन्तु जब राग और द्वेष से चित्त और कुण्डलिनी शक्ति क्षोभ को प्राप्त होती है तब नाडियाँ अपने-अपने स्थानों को त्याग देती हैं जिससे भोजन किया हुआ पदार्थ पकने नहीं पाता और उस कच्चे रससे रोग उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार जब इन्द्रियों का राजा मन

क्षोभवान होता है और उसे शान्ति नही प्राप्त होती तब रोग उत्पन्न होते हैं। पर जब मन शान्त होता है तब नाड़ियाँ अपने २ स्थानों मे स्थित होकर कोई रोग नहीं उत्पन्न होने देतीं। इससे हे रामजी! आधि-व्याधि रोग तब होते है जब मनुष्य का चित्त वासनायुक्त होता है। वासना रहित चित्त शान्त होता है और उसमे कोई राग नही उत्पन्न होता है। अतः तुम वासना रहित पद मे स्थित होवो। इतनी कथा सुनकर रामजी ने कहा—हे भगवन्! उधर आपने यह कहा था कि मन्त्रों के जाप से भी रोग निवृत्त होते है सो यह कैसे? वशिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो! जब प्रथमावस्था मे मनुष्य को श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वह दान आदिक पुण्य क्रियाओं को करके सन्तसंगति प्राप्त करता है और उनसे य, र, ल, व आदिक अक्षरों को प्राप्त कर कि जिनसे ही जाप मन्त्र बनते है उनका जाप करते हैं जिससे कि व्याधि रोग निवृत हो जाता है। परन्तु योगीश्वरों का यह क्रम नही है। उनका क्रम अणु और स्थूल है। योगी प्राण और अपान वायु को कुण्डलिनी शक्ति में स्थित कर अपने वश मे करने का अभ्यास करते है। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जब वह वायु को स्थित करके कुण्डलिनी और सुष्मुणा मे प्रवेश करता है तब वह ब्रह्मरन्ध्र मे जा पहुँचता है। जब अभ्यासी वहाँ एक मुहूर्त तक स्थित होने लग जाता है तब वह आकाश मे आये हुये सिद्धों को देखता है। रामजी ने पूछा कि—हे भगवन्! ब्रह्मरन्ध्र मे जीव कला के स्थित होने पर कैसे दर्शन होता है क्योंकि दर्शन तो नेत्रों से होता है और वहाँ तो नेत्रादिक इन्द्रियाँ कोई नहीं रहतीं फिर नेत्रों के बिना दर्शन कैसे होता है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वह दर्शन दिव्यदृष्टिसे होता है चर्मदृष्टिसे नहीं। उदाहरण यह कि जैसे स्वप्न मे बिना चर्मनेत्र के ही सब पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वैसे ही आकाश में सिद्धों का दर्शन होता है। हाँ स्वप्नावस्था और इस अवस्था के देखने मे [illegible] अवश्य होता है कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत अवस्था मे [illegible] और न उनसे कुछ अर्थ ही

सिद्ध होता है। पर सिद्धों के समागम की अवस्था जाग्रत में भी स्थित रहती है। जब रेचक प्राण का अभ्यास किया जाता है और जब मुख के बाहर जहाँ बारह अंगुल पर अपान का स्थान है जब वहाँ प्राण देरतक ठहरता है तब दिशा और नगरो के स्थानों का दर्शन होता है। इस पर रामजी ने पूछा कि—हे मुनीश्वर! आपने कहा है कि सूक्ष्म रन्ध्र से वायु निकल जाती है, तो कैसे? वायु स्थूल रूप है फिर कैसे निकल जाती है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि—हे रामजी! जैसे आरे से कटी हुई दो लकड़ियों को घिसा जाय तो उसमे से अग्नि का प्रकट होना स्वाभाविक है वैसे ही उदर मे जो मांसमय कमल है और उसके बीच मे जो हृदय कमल है उसमे सूर्य और चन्द्रमा दोनो का वास है। उसमे चन्द्रमा की गति अधः को है और सूर्य की उर्द्ध को है। इन दोनों के ही मध्य मे कुण्ड-लिनी रहती है। उसका रूप अत्यन्त उज्वल है और उससे सार्य-सार्य शब्द निकला करता है। जैसे लाठी से हिलाने पर सर्पिणी शब्द करती है वैसेही उस कुण्डलिनी से प्रणव शब्द उठता है। हे रामजी! इस प्रकार की जो स्पन्द सर्पिणी कुण्डलिनी शक्ति आकाश और पृथ्वीरूप दो कमलों के मध्य मे स्थित है वह अनुभवरूप और सूर्य के समान अत्यन्त प्रकाश करनेवाली, सबका अधिष्ठान, आदिशक्ति और हृदयरूपी कमल की भ्रमरी है। वह सदा हृदयकमल में विराज-मान रहती है और स्वभावत उसमेसे कोमल और मृदु वायु सदैव निकला करती है। एक प्राण और दूसरा अपान यह उस वायु के दो रूप हैं। इन्ही दोनो के सङ्घर्षण से जैसे बाँसों के घिसने से अग्नि प्रकट होती है वैसेही उससे अग्नि प्रकट होकर भीतर सब ओरसे प्रकाश होता है। वह प्रकाश ज्ञानरूप है और उसी तेज से योगी की वृत्ति तेजवान् हो जाती है। फिर तो चाहे कोई पदार्थ लक्ष योजन की दूरी पर क्यों न हो योगी को उसका ज्ञान हो जाता है। जैसे बडवाग्नि समुद्र मे रहती है और जल को ही दग्ध करती है वैसे ही हृदयरूपी में इसका वास है और यह शीतलतारूप जल को पचाती रहती

है। अपान वायु का नाम चन्द्रमा है और प्राणवायु का नाम सूर्य है। इन दोनों की उत्पत्ति हृदय कमल से है। यही शीतल और उष्णरूप चन्द्रमा और सूर्यके नामसे शरीरमें स्थित हैं। इन्हीं दोनोंसे जगत् की उत्पत्ति हुई है और विद्या, अविद्या रूप जगत् इन्हीं दोनों से युक्त है। इसी को बुद्धिमान जन निर्मल भाव से ही सत्, चित्, प्रकाश, विद्या, उत्तरायण काल, सूर्य, अग्नि आदिक नामों से पुकारते हैं हैं और असत्, जड, अविद्या, तम, और दक्षिणायन आदिक चन्द्रमा रूप से मलिन भाव को पुकारते हैं। इसपर रामजीने कहा—हे महाज्ञानिन्! प्राणवायु जो सूर्यरूप है उससे शीतलरूप चन्द्रमा अपान रूप से कैसे उत्पन्न होता है और उस अपानसे सूर्यकी उत्पत्ति कैसे होती है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह दोनों ही परस्पर कार्य-कारणरूप हैं। जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है और जैसे धूप से छाया और छाया से धूप होता है वैसेही यह सूर्य और चन्द्रमा भी परस्पर कार्य और कारण से होते हैं और जब कभी यह दोनो ही एक स्थान मे आ जाते हैं तो धूप और छाया दोनों हो जाती है। यह कार्य और कारण भी दो प्रकार का होता है। एक का परिणाम सत्य रूप होता है और दूसरे का विनाश रूप। जो कार्य और कारण के भाव मे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष पाया जाय उसका नाम सत्यरूप परिणाम है और जो न पाया जाय जैसे दिन मे रात्रि नहीं पाई जाती और रात्रि मे दिन नही पाया जाता वैसेही इन्द्रियों से जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वह विनाश रूप परिणाम है। इन दोनो मे वैसा ही अन्तर है जैसा प्रत्यक्ष प्रमाण मे और अभाव प्रमाण में अन्तर होता है। देखो, युक्तिवादी कहते हैं कि अपने संवित में कर्तव्य नहीं बनता पर वास्तव मे उनका यह कहना ठीक नही, वह अपने अनुभव को नही जानते और उन्हे उसकी ठीक युक्ति नहीं मालूम है। यदि युक्ति मालूम हो तो अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रकट होता है। शीतलता का तो यही प्रमाण है कि उसमे उष्णता न हो और रात्रि का प्रमाण यह कि दिन का अभाव हो।

बस, यही तो अभाव का प्रमाण है। अग्नि से धुआँ निकल कर मेघ होता है इससे सत्‌रूप प्रमाण से चन्द्रमा का कारण अग्नि होता है। जब अग्नि का नाश होकर उसमे शीतल भाव आता है तब उसका नाम विनाश प्रमाण होता है और वही अग्नि चन्द्रमा का कारण होता है। इस प्रकार अग्नि के नाश होने पर चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है और इसीको विनाश परिणाम कहते हैं। इस नियम से जो निर्मल रूप प्रकाश चिद्रूप है उसी का नाम सूर्य है और जो जडात्मक तम रूप है वही चन्द्रमा का शरीर है। उस सूर्यरूप चेतन आत्मा का दर्शन होने पर ससार के तमरूपी दु ख नाश हो जाते हैं। परन्तु जब तक वह चन्द्रमारूप देह को देख रहा है तब तक चेतनरूप सूर्य का दर्शन नहीं हो सकता। कहने का आशय यह कि परस्पर दोनों का विरोध है, पर इस ससार के दर्शन का कारण दोनों ही हैं। एक से दूसरे की उपलब्धि होती है। आत्मा की उपलब्धि दोनों को साथ लेकर ही हो सकती है। न तो अन्धकार के बिना प्रकाश मिलता है और न प्रकाश के बिना अन्धकार मिलता है। इस प्रकार जब दोनों को साथ लेकर चले और फुरने से रहित हो जावे तब अचैत्य, चिन्मात्र अथवा निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। अत हे रामजी! तुम जगत् को अग्नि और सोम दोनों ही जानो। जो अधिक होता है उसी की विजय होती है। प्राण उष्ण सूर्यरूप है और अपान शीतल चन्द्रमा रूप है और यह दोनों ही प्रकाश और छायारूप सुख का मार्ग है। जब बाहर से शीतल रूप अपान आकर भीतर उष्णरूप प्राणमे स्थित होता है और जब पुन वह उष्णरूप प्राण नासिका से द्वादश अगुल पर्य्यन्त जहाँ अपानरूपी चन्द्रमा का मण्डल है वहाँ स्थित होता है और पुन वही अपान प्राणरूप होकर उदय होता है। जब उसी प्राण का अपानरूपसे एकके बाद दूसरा उदय होता है तब जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब पड जाता है वैसे ही एक दूसरे का प्रतिबिम्ब पड कर षोडस कला चन्द्रमा को सूर्य ग्रस लेता है और स्वयं मध्यभाव मे स्थित हो जाता है। इस प्रकार जब अपान प्राणके स्थान मे आ

स्थित होता है और पुन: प्राणरूप होकर उदय नहीं होता। तब वह शान्तिरूप भाव मे स्थित हो जाता है। हे रामजी! यह योग की पूरी कला मैंने तुम्हे बतला दी। जो इसके भीतरी और बाहरी भेद को जानता है वह जन्म से रहित होकर परमबोध को प्राप्त होता है। अब एक शब्द में यह जान लो कि उत्तरायणमार्ग योगियों का है जिससे वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं और दक्षिणायन मार्ग कर्मकाण्डियों का है कि जिससे वे फिर ससारभागी होते है। पर इसके मध्य मे जो स्थित होते हैं वह परमपद का प्राप्त होते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७७ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग।

चिन्तामणि दृष्टान्त वर्णन।

इतनी कथा कहकर वशिष्ठजीने कहा कि—हे रामजी! मैंने योग कला की सम्पूर्ण कलायें तुझसे वर्णन किया, वह इसलिये कि तुझमे आत्म ब्रह्म की एकता हो और तू निर्वाणपद मे स्थित होकर जीवन-मरण से मुक्त हो जा। वह ब्रह्म सत, चित्त, आनन्द स्वभाव मात्र है। जो सदैव एकत्व भाव रखता है। ऐसे ज्ञानियों के भाव ओजपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार जब चुड़ाला रानी योग और ज्ञान मे पूर्ण सफल हुई तब उसे सर्व शक्ति से संयुक्त, अणिमा आदिक अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। हे रामजी! अब मैं एक और कथा तुमको सुनाता हूँ सो, ध्यान पूर्वक सुनो। एक समय जब राजा और रानी सोये हुए थे तब रानी चुड़ालाने राजा को सोते ही छोड स्वयं आकाश के कई स्थानों मे विचरण करने चली गई। तब पहले अति चञ्चला काली का वेष बना देवलोक मे गई, फिर मध्य दिशा, देवलोक, दैत्यो, राक्षसों, विद्याधरों और सिद्धों के लोक मे होकर सूर्य्यलोक, चन्द्रलोक, मेघ मण्डल और इन्द्रलोकमे भी गई। वहाँ का कौतुक देख फिर अधोलोक में आई तत्पश्चात् समुद्र मे प्रवेश कर गई और पवनरूप हो नागलोक की कन्याओ मे क्रीड़ा करती हुई

वनों, पर्वतों, भूतों, अप्सराओं और त्रिलोक मे विचरण करते हुए क्षण भरमें ही राजाके पास आ भौंर और भँवरी की भाँति सो गई। राजाको यह भी न मालूम हुआ कि रानी कहाँ गई थी। प्रात काल दोनोंने स्नानकर वेदोक्त कर्म किये। बाद रानी ने प्रवाह कर्म किये। पुन. रानी ने मधुर शब्दों मे शनै. शनै. राजा को तत्वोपदेश भी किया और पण्डितोंसे भी कहा कि आप लोग भी राजा को ऐसा ही उपदेश करें कि यह ससार स्वप्न की भाँति भ्रमोत्पादक और बडे-बडे आपत्तियों तथा दुखोंका कोष है और इसकी एकमात्र औषधि आत्म-ज्ञान है। अन्यथा यह किसी अन्य औषधि से शान्त होनेवाला नहीं है। निदान रानी और पण्डितों के शिक्षा देने पर भी राजा को वह ज्ञान प्राप्त न हुआ और राजा ने उस उत्तम पद में जो स्वय केवल चित्तरूप, प्रत्येक और आत्मा है विश्रान्त न हुआ। तब रामजी ने वशिष्ठजी से कहा कि—हे मुनीश्वर! रानी तो सर्वशक्तिसम्पन्न, योग कला मे निपुण और महाज्ञानी थी और राजा भी मूर्ख न था, किन्तु रानी का वह उपदेश राजा ने क्यों नहीं ग्रहण किया? उसे तो रानी भी अति प्रेमसे उपदेश देती थी, किन्तु क्या कारण था कि राजा उस निर्वाण पद में स्थित नहीं हुआ? इस पर वशिष्ठजी ने कहा कि,—हे रामजी! जब तक स्वय विचार न करे और उसमे दृढ़ अभ्यास न करे तब तक यदि ब्रह्मा भी आकर उपदेश करें तो उसका कुछ प्रभाव नहीं हो सकता। आत्मा कोई ऐसी साधारण वस्तु नहीं है जो इन्द्रियाँ उसे झट जान लें, वह आत्मा स्वय ही पूर्ण ज्ञानरूप है। वह सबका अधिष्ठान रूप और स्वभाव मात्र देखनेवाला है। उसे मन और इन्द्रियाँ नहीं देख सकतीं। फिर रामजी ने पूछा कि—हे मुनीश्वर! यदि स्वय ही सबको ऐसा ज्ञान होजाता है तो गुरु और शास्त्र की क्या आवश्यकता? इस पर वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! गुरु और शास्त्र यह जताते है कि तू आत्म स्वरूप है किन्तु इदं करके नहीं दिखाते। जो विचारशील हैं उनको स्वयं आत्म-ज्ञान हो जाता है, किन्तु मूर्खों को ऐसा ज्ञान नहीं होता। गुरु और शास्त्र आत्मा

का रूप वर्णन करते हैं और लखाते हैं यदि वह ज्ञानी है तो झट आत्मज्ञान हो जाता है और दूसरों को भी ज्ञान दे सकता है। हे रामजी आत्मा किसी इन्द्रिय का नाम नहीं है वह तो स्वय मूल रूप है और इन्द्रियाँ तो कल्पितरूप हैं, और यदि यह कहो कि तुम भी तो इन्द्रियों ही से उपदेश करते हो, तो तुमको अपनी सब इन्द्रियो का स्मरण करने से मूल भासित होगा। हे रामजी! तुमको मै एक इतिहास बताता हूँ सुनो। एक बड़ा धनी क्रान्ति था किन्तु बहुत बडा कृपिण भी था। धन की तृष्णा उसे सदैव बाध्य रखती थी और वह एक कौडी भी प्राण से कहीं अधिक ही समझता था, क्योंकि वह दानके नामसे भी विस्मृत ही रहता था। एक समय वह चिन्तामणि के मिलने की लालच से घर से निकल कर पृथ्वी की ओर देखता चला और तीन दिन के कठिन परिश्रम से उसे चिन्तामणि प्राप्त हुई उसे प्रसन्नता पूर्वक लेकर अपने घर आया। इसी प्रकार यदि गुरुजनों और शास्त्रों के आदेश पर परिश्रम किया जाय तो, आत्मपद अवश्यमेव मिल जायगा किन्तु विना गुरुजनो और शास्त्रों के बतलाने पर इस पद का मिलना बहुत ही कठिन है। धन, तप और कर्मों द्वारा आत्मपद कदापि नहीं मिल सकता। हे रामजी! जब राजा शिखरध्वज रानी चुडाला के पास से उठकर स्नान करने गये, तब उनके मन मे ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि यह संसार मिथ्या है, हमने इतने भोग भोगे किन्तु हृदयको शान्ति न प्राप्त हुई और तृष्णा ज्यों कात्यों बनी रही। इन भोगो का परिणाम दु:खमय है। जब राजा को यह ज्ञान होगया तो उसने गऊ, पृथ्वी, सुवर्ण, मन्दिर और अन्य सामग्रियाँ भी दान किया और भोगके जितने पदार्थ थे उसने ब्राह्मणों, भिक्षुकों और अतिथियोंको दान दिया। रानी ने भी मन्त्रियों और ब्राह्मणो से ऐसा ही उपदेश राजा को देने के लिये कहा कि—भोग मिथ्या है, इसमे कुछ सुख नहीं है और आत्म-सुख बड़ा सुख है जिसके प्राप्त हो जाने से [illegible] मरण से मुक्त हो जाता है। पडितो और मन्त्रियोने भी [illegible] शिक्षा राजाको [illegible]

प्रतीत हुई अस्तु तीर्थ यात्राको प्रस्थान किया और दान इत्यादि देते तथा देवता, तीर्थों और सिद्धोंका दर्शन करते हुये पुन. अपने गृहपर आ गया। रात्रि को रानी के साथ शयन करते समय राजा ने कहा हे अनङ्गने। मुझे यह भोग दु.खमय और यह राज्य वन की नाई उजाड प्रतीत होता है। इस भोग को भोगते बहुत काल व्यतीत हो गये किन्तु इसमें कुछ सुख नहीं दृष्टि आते हैं, अस्तु मैं वन को जाता हूँ अब तू मुझे न रोकना। तब रानीने कहा—हे राजन्! यह आपकी कौन अवस्था है कि आप वन को जा रहे हैं? यही तो राज्य-भोगकी अवस्था है फिर आप वन जाने का कह रहे हैं। जब हम लोग वृद्धावस्था को प्राप्त होंगे तभी वन मे तप करना शोभाप्रद होगा। अत. हे राजन्! अभी आप राज्य करें। वशिष्ठजी ने रामजी से कहा—हे रामजी! रानी के ऐसा कहने पर भी राजा का मन अज्ञान वश वैराग्य ही मे रहा और पुनः रानी से कहने लगा—हे रानी! अब मुझे न रोक यह राज्य मुझे फीका लग रहा है अब मे यहाँ कदापि नहीं ठहर सकता और वन को जा रहा हूँ। यह कहो कि वन में कौन तुम्हारा टहल करेगा, तो पृथ्वी ही हमारी सेवा करेगी, वन वीथियाँ स्त्रियाँ होगी, मृगों के बालक पुत्र, आकाश हमारे वस्त्र और फूल के गुच्छे हमारे भूषण होंगे। दूसरी रात्रि को राजा वहाँ से चल दिया और रानी तथा सेना भी राजाके पीछे-पीछे चल पडी और वे चलकर कोटके बीचमे स्थित होगये। राजा और रानी ने भॅवरा और भॅवरी की भॉति शयन किया। सेना और सहेलियाँ जो थीं वे निद्राके वश हो शिलावत बन गईं। आधी रात्रि व्यतीत होनेपर, राजा नींद से उठकर सबको सोया हुआ देख हाथमें खड्ग ले, सब लोगोंको लाघता हुआ दरवाजे पर आया और कुछ लोगों को जागता और कुछ लोगों को सोता देखकर द्वारपालोंसे कहा—तुम लोग यहीं बैठे रहो, मैं अकेला ही तीर्थ यात्रा को जाता हूँ। इतना कहकर राजा बडे वेग से बाहर निकल कर राजलक्ष्मी को नमस्कार कर एक जङ्गल मे गया, जहाँ

वड़े भयानक जीव थे किन्तु उसे भी सुगमता पूर्वक पार करदिया। आठ पहर पर्यन्त एक स्थान पर जाकर संध्यादिक कर्मसे छुट्टी पा फल, फूल भोजन कर वहाँ से भी चल दिया और वड़े-वडे संकटों का सामना करते हुए मन्दराचल के जगल मे जाकर स्थित होगया और वहीं एक मढी वना कर रहने लगा। सदैव नित्य क्रिया करके दोपहर के वाद कुछ भोजन कर पुन. ईश्वर-भजन मे लीन हो जाता था। इधर तो राजा सदैव ईश्वर की स्तुति किया करता था और उधर रानीने जव आधी रात को देखा तो राजा शैय्या पर नहीं था। वह सहेलियोंसे कहने लगी कि वड़े कष्ट की वात है कि राजा न जाने कहाँ निकल गये। रानी ने राजा से मिलने की प्रतीक्षा कर अपने योगवल से आकाश मे उड़कर अन्तर्धान हो गई और देखा कि राजा चला जा रहा है किन्तु रानी नीतिज्ञ भी थी और अपने नीति से विचारा तो उससे और राजा से मिलाप होने मे अभी कई साल का अन्तर था और राजा का कषाय परिपक्व नहीं हुआ है अस्तु राजा को नहीं रोकना चाहिये। निदान रानी प्रसन्नतापूर्वक अपने भवन मे आई और प्रातःकाल मन्त्रियोंसे कहने लगी कि तुम लोग अपने-अपने कार्य करते रहो, राजा तीर्थ करने गये हैं। तुम लोगो के लिये उनकी ऐसी ही आज्ञा है। रानी ने इस प्रकार आठ साल तक राज्य किया और प्रजा को वहुत ही सुख दिया। उधर राजा भी अपने तपोवल से महा दुर्वल हो गये थे। रानी ने समझा कि अव राजा का अन्त.करण स्वच्छ हो गया होगा, रानी उनसे मिलने की आशा से उडकर इन्द्र के नन्दन वन में गई। वहाँ के स्वच्छ हवा के स्पर्श से राजा से मिलने की इच्छा हुई। यह वडे आश्चर्य की वात है कि यद्यपि मैं सत्पद को प्राप्त हुई किन्तु तो भी मेरा मन चलायमान हो गया। न मालूम उन अज्ञान जीवों की क्या दशा होती होगी? मन से रानी कहने लगी कि ऐ दुष्ट मन! तेरा भर्ता आत्मा है। तू मिथ्या पदार्थों की अभिलाषा क्यों करता

है। इन बातों से अत्यन्त प्रतीत होता है, कि जब तक यह देह है तब तक इसके स्वभाव भी साथ-साथ रहते हैं। वहाँ से चलकर रानी उस स्थान को गई जहाँ निर्जन बन मे राजा अपने तपोबल से महा दुर्बल हो समाधि लगाए बैठा था। रानी ने ऐसा विचार कर कि यह मेरे इस रूप से नहीं मिलेंगे क्योंकि वह अपने मन मे विचार करेंगे कि मै इसी के लिए अपना सारा राज-पाट छोडकर तप करने आया किन्तु तो भी यह अभागिनी मेरा साथ नहीं छोडना चाहती है। अत. एक ब्रह्मचारी का वेप बना, त्रिपुण्ड लगा और रुद्राक्ष, कमण्डल और मृगछाला हाथ मे लेकर यज्ञोपवीत धारण कर, पृथ्वी के अन्दर से राजा के पास चली गई। राजा ने नमस्कार कर उसके चरणों पर पुष्प चढाये और कहने लगा कि अहोभाग्य है कि आपका दर्शन हुआ। हे देवपुत्र! कहिये किधर पधारे है। देवपुत्र ने कहा राजन्! मैने बडे-बडे तीर्थों का दर्शन किया किन्तु जैसा इन्द्रजीत तू है और जो भावना तुझमे मिलती है, किसी मे नही देखा। हे राजन्! तूने आत्मभोग सम्बन्धी कुछ तप किया अथवा नहीं? तब राजा ने वह पुष्पहार जो देव-पूजा के निमित्त रक्खा था, देवपुत्र के गले मे डालकर पूजा की और कहा कि हे देवपुत्र! तू तपस्वी और शान्तरूप है। किन्तु ऐसा ही कोमल अङ्ग मेरी स्त्री का भी है। किन्तु ऐसा स्पष्ट कहते मुझे भ्रम होता है। अत' तू अपना पूर्ण परिचय मुझे बता कि यहाँ किसलिये पधारा है। देवपुत्र ने कहा राजन्! एक समय नारद मुनि सुमेरु पर्वत पर समाधि लगाये बैठे थे। वहाँ गङ्गा के प्रवाह और सिद्धों के सिवा और कोई न था। समाधि से उतरते समय नारदजी को आभूपणों के शब्द सुनाई पडे इससे मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ और देखा कि उर्वशी आ रही है वह अति सुन्दरी अप्सरा अपने वस्त्र उतार गङ्गा मे स्नान करने लगी। उसको देखकर नारदजी का मन चलायमान हो गया और उनका वीर्य निकलकर एक वेल के पत्र पर स्थित होगया,

उनका ध्यान टूट गया, इतना सुन राजा शिखरध्वज ने कहा हे देवपुत्र! ऐसे महाज्ञानी नारदजी का वीर्य क्योंकर निकल पडा? देवपुत्र ने कहा हे राजन्! यदि ज्ञानियों को सुख-दु:ख हो तो वह सुख-दु:ख नहीं माना जाता और न उससे उनको कुछ हर्ष-विस्मय होता है और यदि अज्ञानियों को सुख-दुःख होता है तो उससे उनको हर्ष-विस्मय होता है। हे राजन्! सुख और दु:ख की नाड़ी भिन्न-भिन्न होती है। जब सुख की नाडी में जीव स्थित होता है तब सुख होता है और इसी के विपरीति दु:ख भी होता है। जब तक इस जीव मे अज्ञानता है तब तक इस शरीर को दु:ख भी है। राजा ने कहा कि हे देवपुत्र! जब वीर्य गिरता है तो वह कैसे निवृत्त होता है? तब देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! जब जीव वासनायुक्त होता है तब नाडी भी क्षोभवान होती है और क्रमश: अपने उचित स्थानों को त्यागने लगती है तब वीर्यका अपने स्वभाव से ही पतन होने लगता है। फिर राजा ने प्रश्न किया कि हे देवपुत्र! स्वाभाविक किसे कहते हैं। देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! आदि शुद्ध चेतन परमात्मामे जो फुरना हुआ है उस क्षणमात्र शक्ति के उत्थान प्रपञ्च बना है और जिस प्रकार यह नीति है कि यह घर है और यह अग्नि है, इसमे उष्णता है और यह जल है इसमे शीतलता है, उसी प्रकार यह भी नीति है कि वीर्य्य ऊपर से नीचे आता है। पुन: राजा ने यह प्रश्न किया कि हे देवपुत्र! सुख और दुःख कैसे होता है और इसका अभाव कैसे होता है? देवपुत्र ने कहा कि हे राजन्! यहजीव कुण्डलिनी शक्ति मे स्थित होकर रहता है जो चारो अन्त:करण इन्द्रियाँ और देह है उनमें अभिमतानुसार सुख दु:ख होता है और देहादिक अभिमान से रहित होने को ज्ञान कहते हैं और जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब सुखदुःखका प्रकोप भी नहीं होता है। राजाने कहा—हे भगवन्! तुम्हारे वचन सुनकर मेरी काया सन्तुष्ट नही होती है अत: तू मुझे अपनी उत्पत्ति बता कि कैसे हुई है? देवपुत्रने कहा—हे राजर्षि! नारदमुनि

ने उस वीर्य्य को जिसका वृत्तान्त मैं ऊपर कर आया हूँ एक सुवर्ण की मटुकी मे रख ऊपर से दूध रखकर मन्त्रों द्वारा उसका पूजन किया और उससे मेरी उत्पत्ति हुई। नारदजी मुझे ब्रह्मा के पास ले गये और उनको नमस्कार कर बैठ गये। मेरे पितामह ब्रह्माजी ने मुझे बड़े प्रेम से गोदी मे उठा लिया और मेरा नाम कुम्भज रक्खा। मै नारदजीका पुत्र और ब्रह्माजीका पौत्र हूँ, सरस्वती मेरी माता का और गायत्री मेरी मौसी का नाम है। राजा ने कहा—हे देवपुत्र! तुम मुझे बड़े सर्वज्ञ प्रतीत होते हो। इसपर देवपुत्र ने राजा से कहा कि हे राजन्! मैने तो आपके कथनानुसार सब कुछ बतला दिया किन्तु अब तू अपना पूर्ण परिचय बता कि तू कौन है? क्या कर्म करता है और यहाँ पर किस निमित्त आया है? इस पर राजा ने कहा—हे देवपुत्र! मेरा नाम राजा शिखरध्वज है। मुझे यह ससार दुखमय और जीवन-मरण से कल्पित प्रतीत हुआ इसलिये मैं अपना राज-पाट छोड यहाँ तप करने आया हूँ। किन्तु यहाँ भी मुझे कुछ शान्ति नहीं मिली अस्तु आप मेरे शान्ति निवारणार्थ कुछ उपाय बतलाइये। जिससे मुझे शान्ति मिल जाय। तब देवपुत्र ने कहा—हे राजर्षि! तू राज्यरूपी गढे को त्यागकर तपरूपी गढ़े मे गिरा है यह लाठी मृगछाला और पुष्प इत्यादि जो रक्खे हैं क्या इसीमे तुझे शान्ति मिलेगी। सुन मैं तुझे एक छोटा सा उपाख्यान सुनाता हूँ। एक समय मैंने ब्रह्माजी से पूछा कि हे पितामह! कर्म श्रेष्ठ है अथवा ज्ञान? तब पितामहजी ने कहा कि ज्ञान के प्राप्ति से दु:ख नहीं होता। किन्तु अज्ञानियों को तो कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि वे पाप कर्मों द्वारा नर्क मे वास करते हैं। अस्तु हे राजन्! तप और दान करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती और न कभी कर्म द्वारा शान्ति प्राप्त हो सकती है। हे राजन्! तूने यह क्या कर्म किया कि पहले राज्य का भोग करता था और अब इस निर्जन वन मे आकर तप कर रहा है। मूर्खता वश अज्ञानता मे फंसा है। जब तक तुझे अपनी क्रिया

का गर्व है कि मैं ऐसा करता हूँ, तब तक इस दुःख से नहीं निवृत्त हो सकता। निर्वासनिक होने ही को मुक्ति कहते हैं। अब तू भी निर्वासनिक होकर अपने असली रूप मे आ। देवपुत्र ने कहा कि हे राजर्षि! आत्मस्वरूप को ज्ञेय कहते हैं और ज्ञेय की भावना ही करनेवाले को निर्वासनिक कहते हैं और ऐसे आत्मस्वरूप के जानने-वाले को स्वच्छ आत्मपद प्राप्त होता है। अस्तु हे राजन्! तू कितना ही यत्न क्यों न करे किन्तु बिना आत्मज्ञान के तुझे कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इस पर राजा ने कहा—हे देवपुत्र! तुम्हीं मेरे पिता, गुरु और कृतार्थ करनेवाले हो। मैंने वासना मे फँसकर बड़ा दुःख उठाया। अतः हे भगवन्! तू ऐसा उपाय बता कि मुझे शान्तिपद प्राप्त हो जाए। तब देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! तुझे सन्त सेवी बनकर उनसे यह प्रश्न करना चाहिये था कि बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है। मैं क्या हूँ और संसार क्या है? संसार की उत्पत्ति कैसे है और इसमें लोग लीन कैसे होते हैं? यह तो ब्रह्माका प्रश्न है कि निर्वासनिकों को सदैव सुख प्राप्त होता है। तब राजाने कहा—हे देवपुत्र! तुम्ही मेरे सर्वस्व हो, मुझे शान्ति प्राप्ति का वह उपाय बताओ कि जिससे मुझे शान्ति अवश्य मिल जाय। उसपर देवपुत्रने कहा हे राजन्! मैं तुझे एक उपाख्यान सुनाता हूँ उसे तू ध्यानपूर्वक सुन। एक पण्डित बड़ा विद्वान और सर्वसुखसम्पन्न था। उसे चिन्ता-मणि के मिलने की आशा सदैव बाधा किया करती थी। एक समय उसे चन्द्रमा की भाँति उज्वल और चमकता हुआ चिन्तामणि दिखाई दिया किन्तु भ्रम वश कि यह चिन्तामणि हो है अन्यथा कोई और वस्तु है उसे न उठा सका और यह भी विचार करने लगा कि यदि यह चिन्तामणि होता तो इतनी सुगमतापूर्वक न प्राप्त होता क्योंकि मणि का इतनी सुगमतासे प्राप्त होना कोई साधारण बात नहीं है। यदि मणि इतनी सुविधा से मिल जाय तो संसार मे कोई दरिद्र न रहे। वह ब्राह्मण इसी सकल्प, विकल्पमें लगा रहा कि इतनेमे वह मणि छिपगई।

क्योंकि सिद्धोंका यदि अनादर किया जाय तो वे शाप देते है और जिस वस्तु का आवाहन करे उसका पूजन न करे तो वह भी त्याग देते हैं। पण्डित को चिन्तामणि छिप जाने का वडा ही शोक हुआ। निदान वह पुन॰ मणि के प्राप्त होने का यत्न करने लगा। तत्पश्चात् हॅसी करने के लिये कॉच का मणि उसके सामने आ गया। उस ब्राह्मण ने अपनी मूर्खतावश उसी मणि को उठा लिया और प्रसन्नता-पूर्वक उसको असली मणि समझकर घर ले आया। जैसे मोहवश जीव, असत् और सत् का भेद नहीं जानता उसी प्रकार पण्डित ने भी नकली और असली मणि का भेद न जानकर अपना सारा धन, ऐश्वर्य लुटा घर-वार छोडकर वन को चल दिया और वहाँ बडे-वडे दु ख भोगे। इसलिये हे राजन्। यह विद्यमान जो आत्म-ज्ञान है उसे ग्रहणकर तो तू शान्तपद को प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७८ ॥

उन्यासीवाँ सर्ग।

हस्ति आख्यान-वर्णन

पुन॰ देवपुत्र ने राजा को समझाने के लिये कहा कि हे राजन्। मैं तुमको एक और उपाख्यान सुनाता हूँ, सो तू ध्यानपूर्वक सुन। मन्दराचल के वन में एक वहुत वडा हाथी रहता था। जिसको एक वार अगस्त्य मुनि ने पकडा था। उसके दाँत तो इन्द्र के वज्र से भी तीक्ष्ण थे और वह अपने इन्हीं प्रौढ़ दाँतों से सुमेरु गिरि को विना परिश्रम ही उठा लिया करता था। एक दिन एक महावत ने एक वृक्ष के ऊपर चढ़कर और धोखेके साथ उस हाथी को जंजीरमे बाँध लिया। हाथीके बँध जाने पर उसको बहुत दु ख हुआ, किन्तु उसने अपने वल से उस जञ्जीर का नाशकर डाला। महावत ने हाथी का वह पुरुषार्थ देख मारे भय के वृक्ष से नीचे गिर पडा। यद्यपि वह हाथी के नीचे गिरा किन्तु तो भी हाथीने उससे चूँ तक नहीं किया

और अपनी वीरता गर्व से उसे मृतक समझकर कि यह तो स्वयं मरा हुआ है छोड़कर चल दिया। उसके चले जाने के पश्चात महावत उठ खड़ा हुआ और पुन उसकी तलाश में चला। कुछ दूर पर देखा कि हाथी निश्चिन्त सोया पड़ा है। उसने पुनः उसको पकड़ने के लिये नये उपाय का अनुसंधान किया। वह यह कि जङ्गल के चारों ओर एक खाई खोदा जाय और उसपर तृण बिछा दिया जाय ताकि हाथी यह न समझ जाय कि यहाँ गढा है और जब चलने लगे तो इसमे गिर पड़े। उसकी कूट नीति ने अपना उचित कला घटित कर दिया और हाथी पकड़ लिया गया। अस्तु हे राजन्! जो अपने भविष्य पर विचारकर कार्य नहीं करते हैं उनकी यही दशा होती है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उन्यासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ७९॥

अस्सीवाँ सर्ग।

हस्ती वृत्तान्त-वर्णन

वशिष्ठजी ने रामजी से कहा कि हे रामजी! देवपुत्र के ऐसे बचन सुनकर राजा ने कहा कि हे देवपुत्र! यह जो दो उपाख्यान तूने कहा है वह मैने नहीं समझा, अस्तु पुन. मुझे समझा दे। देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! तू यद्यपि शास्त्रज्ञ और सब अर्थों का ज्ञाता है किन्तु तुझे स्वरूप मे स्थिति नहीं है, इसलिये अब मै जो कहता हूँ उसे हृदय से ग्रहण कर। अब मै उस हस्ती और चिन्तामणि का सारा भेद तुझको बतलाता हूँ। पहले तूने जो अपना सर्वस्व छोड़ दिया है वह तो चिन्तामणि था क्योंकि जब तक तेरा राज्य और ऐश्वर्य आदिक था तब तक तो तू सुखी था, परन्तु जब तूने उस चिन्तामणि रूपी राजपाट का निरादर किया और कॉच की मणिरूपी तप-क्रिया का ग्रहण किया इसलिये तू दरिद्री हो गया और इस दरिद्रता का निवृत्त होना असम्भव है। देवपुत्र ने

कहा कि हे राजन्! यह जो तूने स्त्रियों और कुटुम्ब आदि का त्याग कर अभिमानी बना है यह एक बड़े बादल के सदृश है और जो तूने वैराग्य द्वारा कुटुम्ब का अहङ्कार छोड दिया है यह पवन के झकोरे की मानिन्द है, परन्तु तुझमें कुछ सूक्ष्म अहङ्कार जो रह गया है उसने वैराग्य के अहङ्काररूपी पवनके झोंकेसे बढ़कर एक विशाल रूप धारणकर लिया है और जो तूने आत्मज्ञान के बिना ही क्रिया आरम्भकर दिया है इसीलिये उस आत्मारूपी सूर्य को उस अहङ्काररूपी बादल ने ढक लिया जिससे ज्ञानरूपी चिन्तामणि अज्ञानरूपी कॉच की मणि से छिप गया और तुझे अपने आत्मसूर्य का अभिमानरूपी बादल के ढक लेने से ज्ञान भी नहीं हुआ। इसलिये हे राजन्! जब तक तू ज्ञानपूर्वक आत्मा का आवाहन नहीं करेगा तब तक उस आत्मा का प्रकाश तुझमे नहीं होगा। हे राजन्! मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि तू मूर्ख नहीं है बल्कि शास्त्रज्ञ और चतुर है किन्तु तौ भी तुझमें आत्मज्ञान की स्थिति नहीं है। यद्यपि तपादिक कर्मोंसे सिद्ध होता है, परन्तु उससे आत्मसुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मपद का प्राप्त होना तो बहुत ही सुगम है और बड़े आनन्द और सुख से प्राप्त होता है। इसलिये हे राजन्! मै तुझे यह उपदेश करता हूँ, तू इसे ध्यानपूर्वक सुन तो तेरे दुःख निवृत्त हो जायँ। तूने तपक्रिया से जो फल प्राप्त किया है उससे श्रेष्ठ ज्ञान तुझे बतलाता हूँ जिससे तेरे भय दूर हो जायँगे। हे राजन्! चिन्तामणि का सम्पूर्ण उपाख्यान तुझसे कहा है। अब हाथी का वृत्तान्त जो आश्चर्य रूप है सो भी सुन जिससे तेरे अज्ञान निवृत्त हो जायँगे। हे राजन्! तू उस मन्दराचलके हाथी की भाँति है और तेरी अज्ञानता वह महावत है जिसने तुझे आशारूपी जञ्जीर में जकडा था। हे राजन्! तू इस आशारूपी फाँसी मे पड़कर महा दुखी था। तेरा विवेक उस हाथीका वह दाँत था कि जिससे उसने सुमेरुपर्वत को उठा लिया था। तने राजपाट को छोड़कर आशारूपी रस्से को काटा जिससे मारे भय के, वह अज्ञानरूपी महावत तेरे

चरणों पर गिर पड़ा किन्तु तूने अपनी मूर्खतावश उसे नहीं मारा वल्कि छोडकर वन की राह ली। किन्तु फिर भी उस अज्ञानरूपी महावत ने तेरा पीछा नहीं छोड़ा और वहाँ भी जाकर तेरे चारों ओर खाई खोदी और तू उसमे गिर पड़ा और उस अज्ञानरूपी महावत ने तुझे जञ्जीर से बाँध लिया। हे राजन्! तू आत्म अभिमान से क्रिया आरम्भकर इस खाई मे गिरा है। किन्तु तू इस खाई मे छल और कपट द्वारा गिराया गया है। वह छल क्या है कि तूने जो उस अज्ञानरूपी महावत को नहीं मारा और जञ्जीरों के भय से जङ्गल मे भागा कि वहाँ मेरा कल्याण होगा। सन्तों और शास्त्रों के वचनो को अपनी मूर्खतावश न माना जिससे तू इस गढ़े मे गिर पड़ा। जिस प्रकार बलि पाताल में प्रपंचों द्वारा बाँधा गया है उसी प्रकार तूने अपने अज्ञानरूपी शत्रुओंका विचार न किया और इस दुःख मे पडकर कष्ट सह रहा है। यद्यपि तूने सब कुछ त्यागा किन्तु तो भी यह न समझा कि मैं अकित्रिम हूँ। इस क्रिया का आरम्भ क्यों कर रहा हूँ। हे राजा! तू इन्हों कारणोंसे इतने दुःखों को सहा है। हे राजन्! जो पुरुष इन दुःखों से मुक्त हुआ है वह तो मुक्त है किन्तु जो अनातम अभिमान में बँधा हुआ है कि मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो वही दुःख का भोगी होता है। विवेकसे वैराग्य और वैराग्य से विवेक उत्पन्न होता है। सत्य जानने को विवेक कहते हैं और जब असत पदार्थों पर भावना नहीं जाती तो उसीका वैराग्य कहते हैं। अस्तु! तू इन्हीं वैराग्यरूपी दाँतोंसे आशारूपी जञ्जीरोको तोड़ डाल। हे राजन्! यह जो मैंने हस्ती का सारा वृत्तान्त कह सुनाया है यदि तू इस पर विचार करे तो मोहसे निवृत्त हो जायगा। हे राजन्! तूने अपनी मूर्खतावश उस अज्ञानरूपी महावत को नहीं मारा जिससे यह सारा दुःख पा रहा है। अब तू ऐसे वैराग्य और विवेक मे तत्पर होजा और आशा का त्याग करदे तो तेरे सब सङ्कट छूट जायँगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अस्सीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

इक्यासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज सर्व त्याग।

इतनी कथा सुनाकर देवपुत्र ने कहा–हे राजन्! तूने सर्व ज्ञानियों से श्रेष्ठ, साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा और सत्य वादिनी रानी चुड़ाला के वार्तों का उल्लङ्घन किया और दूसरी मूर्खता यह कि सब कुछ छोड़कर पुन: वनको स्वीकार किया इसलिये तुझे शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति तो उसे मिलती है जो सर्वत्यागी है। जब देवपुत्र ने ऐसा कहा तो राजा ने कहा–हे देवपुत्र! मैंने तो स्त्री, पृथ्वी, मन्दिर, हाथी इत्यादिक और कुटुम्ब सब कुछ त्याग दिया है, आप कैसे कहते हैं कि मैंने नहीं त्याग किया है? देवपुत्र ने कहा,–हे राजन्! तूने जो त्याग किया है उसमे तेरा क्या अधिकार था। तूने तो अब भी नहीं त्याग किया है। जो तेरा है उसे त्याग तो तू निर्दुख पद को प्राप्त होगा। इतना कह कर वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा–तब शूरवीर, जितेन्द्रिय राजा शिखरध्वजने मन में विचारा कि यह वन, वृक्ष, फूल, फल, मृगछाला कुटी, कमण्डलु, माला और लाठी आदि सामग्रियाँ जो मेरे पास हैं यदि इनका त्याग करूँ तो आशा है कि शान्ति प्राप्त होवे। ऐसा विचार कर राजा ने कहा–हे देवपुत्र! यह उक्त सामग्रियाँ अब जो यहाँ मेरे पास शेष बची हैं यदि इन सबका त्यागकर दूँ तो क्या सर्वत्यागी हो जाऊँगा? इसपर देवपुत्र ने कहा–हे राजा! इन वस्तुओं पर तेरा क्या अधिकार है कि इनका त्यागकर तू सर्वत्यागी हो जायगा? कुम्भज ऋषिके इस वचनको सुनकर राजा ने वन की लकड़ियों को इकट्ठा कर उसमे आग लगा दी और कहा कि–हे मेरे वन के शृङ्गार! तुझसे मेरा बहुत कुछ उपकार हुआ किन्तु मैं अपनी निर्विघ्नता के हेत तुझे इस अग्नि कुण्ड मे मे जला देता हूँ। ऐसा कह कर राजा ने सारी वस्तुयें अग्नि मे डाल कर जलादिया और निर्विघ्न हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८१॥

बयासीवाँ सर्ग ।

शिखरध्वज-चित्त त्याग वर्णन ।

राजा शिखरध्वज ने अपनी सारी सामग्री इस प्रकार जला डाली जैसे शिव के गणों ने दक्ष के यज्ञों को स्वाहा कर दिया था। इस अग्नि के तेज से वन प्रज्वलित हो उठा और उसमें जितने वनचर थे थे, इस उष्णता के प्रकोप से वन को छोड़कर बाहर निकल गये, तब राजा ने विचारा कि मैने कुम्भज ऋषि की अज्ञानुसार अपनी सारी सामग्री जला डाली, अब मुझमें किसी वस्तु का हर्प-विस्मय भी नहीं है न किसी से ममता ही है इसलिये अब मै ज्ञानी हो गया, क्योंकि मैने अपने शुद्ध और निष्कपट विचारों का त्याग कर दिया है। ऐसी कल्पना कर राजा ने देवपुत्र से हाथ जोड़कर कहा कि,—अब मैंने सब कुछ का त्याग कर दिया है। केवल आकाश मेरे वस्त्र और पृथ्वी मेरी शय्या रह गई है। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा,—कि तू अब भी सर्व त्यागी नहीं हुआ। इस पर राजा ने कहा कि—अब तो मेरे पास यही रक्त मांस की इन्द्रियाँ रह गई हैं। यदि आज्ञा हो तो इस का भी नाश कर डालूँ। देवपुत्र ने कहा, कि यह शरीर पुण्यवान् है इसके नाश होने से सबका नाश नहीं हो सकता। इस शरीर मे क्या दूषण है, यह तो जड़ पदार्थ है, इसमे जो अभिमान भरा है यदि उसका नाश करो तो सब सिद्ध हो जायगा, इस शरीर के प्रेरक ही का नाश करने से सबका नाश हो सकता है। इस पर राजा ने कहा, हे तत्ववेत्ता भगवन्! वह कौन पदार्थ है कि जिसका त्याग करने से, जरा-मृत्यु से छुटकारा हो जाय? कृपाकर मुझे बतलाइये। इसपर कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! जैसे सर्प के अन्दर विष रहता है और वही उसको दूपित करता है, ऐसे ही शरीर के अन्दर चित्त, प्राण और नाना प्रकार की भावनायें जो तुमको दूपित करती हैं उसी के नाश करने [illegible] करो। आत्मा मे तो एक और द्वैत

का है नहीं, इस चित्त का ही त्याग करना यथार्थ है। हे राजन्! यह ससार दु.खमय स्थित है और यह सब दु.ख एक चित्त हीसे उत्पन्न होते हैं इसलिये यदि इस चित्तका नाश कर दिया जाय तो सब दु.खों का नाश स्वयं हो जायगा। हे राजन्! देह, कुटुम्ब और गृहस्थ आदिक जो धर्म हैं, वह सब इसी एक मात्र चित्त की कल्पना है इसलिये इस चित्तका नाशकर तू निस्पृह होकर विचर। धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि भी चित्त ही की कल्पना हैं, जब चित्त पुण्य क्रिया मे लगता है तो सुख की प्राप्ति होती है और जब पाप क्रिया मे लगता है तो उससे दु.ख और दरिद्रता प्राप्त होती है। जब इस चित्त का नाश हो जायगा तो संसारी सब दु.खों का नाश हो जायगा क्योंकि यह चित्तही की कल्पना है। जब तू ऐसे सर्व त्यागी हो जायगा तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में देखेगा। हे राजन्! जब चित्त का नाश कर देगा तो तेरे सब राग दोष मिट जायँगे। मन अहकार और माया आदि भी चित्त ही के पर्य्यायवाचक हैं। हे राजन्! ऐश्वर्य के त्यागे ही से चित्त नहीं वश होता, वल्कि जब मनुष्य निर्वासनिक हो जाय और उसमे चित्त का स्फुरण न रह जाय तो चित्त को वश मे कर और अहङ्कार का त्याग करके पुन. सर्व त्यागी हो सकता है और तब उसे सर्वात्मा का पद प्राप्त होगा। हेराजन् तेरा स्वरूप सब ऐश्वर्य और सुखों का आश्रय और सब दुखों के नाश करनेवाले पद को पानेवाला है, अस्तु तुझे किसी वात की इच्छा नही करनी चाहिये। हे राजन्! जब तू किसी वात की इच्छा न करेगा और निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप मे स्थित रहेगा तो यह समझ जायगा कि मैं ही सर्वात्मा हूँ और भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल मेरे आश्रय हैं। हे राजन्! यह चित्त चेतन भी है और जड भी। इसीसे इसको चिद्जड ग्रन्थि भी कहते हैं, चिन्मात्र पद मे फुरा करते हैं, और जब इसका पूर्ण ज्ञान हो जायगा तो तुम स्वयं वासुदेव का रूप हो जावोगे और जब तू इस प्रकार

निर्वासनिक हो जायेगा तो यह संसाररूपी वृक्ष स्वयं नष्टही हो जायगा। इस चित्त के नाश करने मे शरीर का भी नाश हो सकता है, अस्तु हे राजन् ! तुम ऐसा ही करो कि जिसमे आत्मपद प्राप्त हो जाय।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का बयासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८२ ॥

तिरासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज विश्रान्ति वर्णन



कुम्भजऋषि के चित्तत्याग की शिक्षा सुनकर राजा ने कहा—हे भगवन् ! इस चित्त का स्वरूप आकाश की धूल और वृक्षके वन्दर की भाँति है कि जो सदैव इधर से उधर हुआ करता है। इसको मै कैसे स्थित करूँ? कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन् ! नेत्र के खोलने और मूँदने मे तो कुछ यत्न नहीं है। किन्तु यह उपाय ज्ञानियों के लिये महासुगम और अज्ञानियों के लिये महाकठिन है। राजा ने कहा—हे देवपुत्र ! चित्त का रोकना यद्यपि कठिन है तो भी बतलाइये ? कुम्भज ऋषि ने कहा—राजन् ! मन की वासना ही चित्त का स्वरूप है। जब वासना नष्ट हो जाती है तब चित्त भी नष्ट हो जाता है। राजा ने कहा—भगवन् ! यह संसार चित्तरूपी पुष्प की सुगन्ध है और चित्तरूपी कमल की जड़ है और यह चितरूपी पवन इस शरीररूपी तृणका उडानेवाला है। जरा, मृत्यु, आध्यात्मिक और अधिभौतिक दुःख चित्तरूपी तिल का तेल है और यह संसार इस चित्तरूपी आकाश का अंधेरा है और यह चित्त हृदयरूपी कमल मे भौंरे की भाँति है इत्यादि। इसपर कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन् ! यह चेतनरूपी क्षेत्र स्वच्छ और निर्मल है और अहंभाव उस क्षेत्र का बीज है। जिसे अहंकार, मन, जड़ और मिथ्या भी कहते है। उस अहङ्कार मे जो संवेदन है वही देह और इन्द्रिय है और बुद्धि उसका निश्चय है। अहङ्कार उस चित्तरूपी वृक्ष का बीज है और सुख-दुःख

उस वृक्ष के फल हैं। हे राजन्! एकान्तवासी वन, एक आश्रय का त्यागकर दूसरे की आशा करना और फिर इस प्रकार का गर्व करना कि मैं त्यागी हूँ ऐसाही,है जैसे चित्तरूपी वृक्षको काटकर उसमे और डाल पात पैदा करे। इस चित्त मे सदैव अहंरूपी बीज फुरा करता है और जब इस अहंरूपी बीज का नाश हो जाता है, तब उस वृक्ष का भी नाश हो जाता है। इसपर राजा ने कहा–हे भगवन्! आज तक तो मैंने इस चित्तरूपी वृक्ष के डाल ही काटे हैं जिससे सदैव दु खी रहा और आप कह रहे है कि अहं ही दुखदाई है इसलिये मुझे अह की उत्पत्ति बताने की कृपा कीजिए? इसपर कुम्भज ऋषि ने कहा–शुद्ध चेतन मे जो अहं भाव का स्फुरण होता है कि 'मैं हूँ' वही उसका रूप है और वही उसकी उत्पति मिथ्या सवेदन है। जब इस शुद्ध आत्मामे अह भाव फुरता है तब उसमे संसारी मोह उत्पन्न होता है। इसलिये इस अह भावको जो दु ख देनेवाला है यदि उसका त्याग करो तो शान्तिपद मे स्थित हो जावोगे। पुन राजा के ऐसा प्रश्न करने पर कि वह कौन वस्तु है जो जलाने योग्य है और वह कौन अग्नि है जिसमे वह जल सकता है–कुम्भज ऋषि ने कहा–हे त्यागवानों मे श्रेष्ठ! तू अपने स्वरूप को देखकर विचार कर कि 'मै क्या हूँ और यह संसार क्या है' इसका दृढ़ विचार करना ही अग्नि है और मिथ्या अनात्मा आदि इन्द्रियों मे जो अह भाव है उसे क्षणभगुर समझकर उस अग्निमे जला दे। ऐसा करनेसे चिन्मात्र ही शेष बचेगा। हे राजा! तूने मेरे इस उपदेश से क्या सार निकाला है वह मुझे बता? उसपर राजा ने उत्तर दिया कि मैं राज, पृथ्वी पर्वत, आकाश, दशों दिशा, रुधिर, मांस, देह, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहङ्कार इसमे रहित शुद्ध आत्मा हूँ, किन्तु हे भगवन्! यह अहरूपी कलंक मुझमे कहाँ से लगा, कृपाकर बतलाइये। इसपर कुम्भज ऋषिने कहा–हे राजन्!

मैंने जिसका त्याग किया है उसी का त्याग तुम भी करो किन्तु इसका स्फुरण न होने पावे कि मैं सर्वत्यागी हूँ और सदैव शून्य भाव होकर, निर्मल आकाश की भाँति विचरोगे। इसपर राजा ने कहा कि हे भगवन्! यह मैं जानता हूँ कि मै शुद्ध सर्वात्मा हूँ और सब मे मेरा प्रकाश है और आपकी कृपासे यह भी जान गया हूँ कि चित्त ही संसार का बीज है और चित्त का बीज अहङ्कार है। और मेरा स्वरूप शुद्धात्मा है और मुझमे अहं भाव नहीं। हे भगवन्! यद्यपि आप इस अह रूप कलकता का नाश करना चाहते हैं किन्तु यह पुनः आ फुरता है कि मैं राजा शिखरध्वज हूँ और सदैव संसारी मोह मुझमे लगा रहता है अस्तु इसके नाश करने का उपाय आप मुझे बतलाइये? इसपर कुम्भज ऋषिने कहा—हे राजन्! बिना कारण कोई कार्य नहीं होता और यदि अकारण भासे तो वह भ्रम मात्र और मिथ्या है और जिसका कारण प्रकट हो उसे सत्य समझना। यदि तू अहंकार का कारण बतला दे तो पुनः तुझसे एक और प्रश्न करूँगा। इसपर राजा ने कहा—हे भगवन्! यह शुद्ध आत्मा ही अहंकार का कारण है। कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! पहले इस आत्मा के जानने का कारण बता, फिर तुझे इसके दूर होने का उपाय बताऊँगा। हे राजन्! जिस कार्य का कारण सत् होता है उसका कार्य भी सत् होता है और जिसका कारण झूठा होता है उसका कार्य भी झूठा होता है जैसे भ्रमदृष्टिवालो को आकाशमें दो चन्द्रमा का ज्ञान होता है तो उसका कारण भ्रम हुआ, इसी को संवेदन का कारण भी कहते हैं जो दृष्टि और दृश्यरूप होकर स्थित है। राजाने कहा—हे देवपुत्र! जानने का कारण तो देहादिक रूप है क्योंकि जाना तभी जाता है जब आगे जानने योग्य कोई वस्तु होती है और जब आगे कोई वस्तु नहीं है तो उसका जानना कठिन है। कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! ये देहादिक मिथ्याभ्रम से हुये हैं, इसका कारण कुछ नही है। इसपर राजा ने कहा—हे देवपुत्र! इस देह का कारण तो प्रत्यक्ष ही है क्योंकि यह खाता-पीता है और पिता से इसकी उत्पत्ति है

और प्रत्यक्ष कार्य करता दृष्टि आता है। फिर आप कैसे कहते हैं कि यह अकारण और मिथ्या है ? पिता का कारण कौन है ? पिता और पुत्र दोनों मिथ्या हैं ? कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन् ! तू मुझसे पूछता है कि कौन है ? हे राजन् ! सुन, पुत्र का कारण पिता और पिता का कारण पितामह है, इसी प्रकार परम्परा से सबका कारण ब्रह्मा है। ब्रह्मा से पहले काष्ठ पर्यन्त तक सब सृष्टि की रचना है और देह भ्रमित होकर भासता है। जिस प्रकार मृगतृष्णा और सीप में मोती भासता है उसी प्रकार इस आत्मा मे देह भासता है और यह संसार भी भ्रमवश भासता है। यदि तू यह कहे कि क्रिया कैसे दृष्टि आती है तो उसका भी कारण बतलाता हूँ सुन। जैसे कोई वन्ध्या के पुत्र को भूषण पहिनाता है तो यह एकदम मिथ्या है क्योंकि वन्ध्या के तो पुत्र होते ही नहीं तो उसे कोई भूषण कैसे पहिनायेगा अथवा जिस प्रकार स्वप्न में भ्रमवश समस्त क्रियायें भासती हैं उसी प्रकार यह संसार तुम्हे भ्रमवश दिखाई देता है। जब यह सब भ्रम दूर हो जायगा तो केवल शुद्ध आत्मा ही भासेगी। जिस प्रकार तू अपना देह जानता है उसी प्रकार ब्रह्मा को भी जानना और अब ऐसा ही कर जिससे तेरा भ्रम नष्ट हो जावे। तब राजा ने कहा हे भगवन ! यह संसार मिथ्या है केवल एक आत्मा ही मुझे सत् प्रकट हुआ है। ऋषि ने कहा, हे राजन् ! अब मैं तुझे ब्रह्मा का कारण बतलाता हूँ उसे भी सुन। ब्रह्मा का कारण ब्रह्म है, वह अद्वैत अविनाशी और सर्वात्मा है। कारण, कार्य और द्वैत असत् है क्योंकि देश काल और वस्तु से इसका अन्त हो जाता है और इसमें परिणाम भी होता है और जो वस्तु परिणामी है वह सब मिथ्या है। किन्तु हे राजन् ! आत्मा अद्वैत है वह भोगता और वह कर्म करता है। आत्मा स्वरूप से परिणाम को नहीं प्राप्त होता, वह पूर्ण और अद्वैत है और वह अद्वैत है तो उसमे कारण भी नहीं है। उसमे देश काल

का जब अन्त है और वह केवल चिन्मात्र पद है। हे राजन्! तेरे भ्रम क्रमशः नष्ट होते जाते हैं इसलिये आशा है कि तू जागृति अवस्था को प्राप्त हो जायगा। तू अपने चेतन स्वरूप मे स्थित होकर देख तो विदित होगा कि ब्रह्मा आदि सब परमात्मा के किञ्चनमात्र हैं और परमात्मा ही सबमे स्थित हुए हैं। किन्तु इसका ज्ञान चैतन्य रूप होने ही से होगा। इस पर राजा ने कहा हे भगवन्! अब मै जागृत अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ और यह भी जानता हूँ कि मै आत्म-स्वरूप से निर्मल हूँ। मुझसे कोई भिन्न नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८३ ॥

चौरासीवाँ सर्ग।

राजा शिखरध्वज-बोध वर्णन

राजा ने पुनः पूछा कि हे भगवन्! आपने कहा है कि ब्रह्मा का कोई कारण नहीं है? आत्मा तो अनन्त, अच्युत, अव्यक्त और अद्वैत ईश्वर है। उसमे परमाणु भी नहीं है। किन्तु ब्रह्मा का कारण परब्रह्म हो सकते हैं। इस पर कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! तू ही कह रहा है कि आत्मा अनन्त है तो उसे देश, काल और वस्तु का परिच्छेद कैसे हो सकता है? आत्मा तो अद्वैत है उसमे कार्य और कारण नहीं है। कारण, कार्य के पूर्व भी होता है और पीछे भी होता है। परन्तु आत्मा के तो न आदि मे कारण है और न अन्त मे। जब परिणाम होता है तब कारण भी होता है किन्तु आत्मा तो अच्युत है अपने स्वरूप से कभी नहीं गिरा। और भोक्ता भी द्वैत से होता है किन्तु आत्मा अद्वैत है। आत्मा से आदि कोई नही है इसलिये आत्मसिद्धि होने से सब सिद्धि हो जाती है और सब कार्य इन्द्रियों ही द्वारा सिद्ध होते है किन्तु आत्मा　　किसी का कार्य नही हो सकता। जो कार्य होता है उसका　　है किन्तु आत्मा तो

सवका आदि है। हे राजन्! तेरा रूप सर्वात्मा और आकाशवत् निर्मल है। इस पर राजा ने पूछा—हे भगवन्! मैं समझता हूँ कि आत्मा अद्वैत है वह न किसी का कारण है न कार्य ह और न अनुभव रूप है और ऐसा ही मेरा स्वरूप है क्योंकि मैं निर्मल, विद्या-अविद्या के कार्य से रहित, निर्वाण पद और निर्विकल्प हूँ और मुझमे कोई स्फुरण भी नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

पचासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज-बोध वर्णन

कुम्भजऋषि का उपदेश ग्रहणकर राजा शिखरध्वज, निर्विकल्प और स्फुरण से रहित होकर निर्वाण पद मे स्थित हो गया। तब ऋषि ने राजा को जगाकर कहा कि तुझमे अब केवल आत्ममात्र रह गया है तुझे उत्थान और समाधि लगाने से क्या प्रयोजन? मैं यह भली प्रकार जानता हूँ कि तू अविद्यारूपी डिब्बे से निकलकर परमज्ञान को प्राप्त हुआ है। किन्तु अब तू संसार के रागद्वेष से रहित शान्तरूप और जीवनमुक्त होकर विचर। तुझे कोई दु ख न होगा। ऐसा उपदेश सुनकर राजा शान्तरूप हो गया और पुन॰ कुम्भजऋषि से यह प्रश्न किया कि, हे भगवन्! आत्मा तो केवल एक है जो शुद्ध और आकाशवत् स्वच्छ है। उसमे द्रष्टा, दर्शन और दृश्य त्रिपुटी कहाँ से उपजी? इसपर कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! यह जो स्थावर जङ्गमरूप संसार है वह तो प्रलयपर्यन्त है। जब महाप्रलय होता है तो केवल स्वच्छ आत्मा ही शेष रहता है, न वहाँ तेज है और न अन्धकार, वह अपने स्वभावमे ही स्थित रहता है। इसी आत्मासे सारा सुख है जो सत् असत् मे रहित भी है। बुद्धि जिसे 'इद' कहती है वही सत् और जिसे न कहे वही असत् है और यह ससार उसी परमात्मा का चमत्कार और ब्रह्म रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है उसे मिथ्या भ्रम ही जानना। हे राजन्!

जब सब आकार मिथ्या है तो तेरी सवेदना भी मिथ्या हुई। आत्मा में कोई अहं भाव का उत्थान नहीं, वह केवल ज्ञान मात्र, सत् और आनन्दरूप, अविद्या तम से रहित प्रकाशवान है। वह प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह न तो इन्द्रियों का विषय है और न मन की चिन्तना है। उमे तो स्वयं सबका अनुभव है। अस्तु हे राजन्! तू उसी ब्रह्मरूप मे स्थित हो। आत्मा तो बडे से बड़ा, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है, उसमे आकाश एक अणु की भाँति प्रतीत होता है और ब्रह्माण्ड एक तृण के समान है। वह स्वयं पूर्ण है उससे किसी भी विषय की उत्पत्ति नहीं है और नाना प्रकार से स्थित है। यह संसार फुरते भासता है और जब स्फुरण से रहित हो जाता है तो केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रह जाता है। राजा ने कहा, हे भगवन्! आप कहते हैं कि संसार स्फुरण मात्र है और आत्मा शुद्ध, शान्तिरूप और निर्विकल्प है तो उसमें सम्वेदन का स्फुरण कहाँ से हुआ? कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! फुरना आत्मा ही का चमत्कार है। जैसे वायु स्पन्द और निस्पन्द दो शक्तियो का सम्मेलन है और जब ये दोनों शक्तियाँ फुरती हैं तब वायु चलता है और जब दोनों शक्तियाँ बन्द हो जाती हैं तब वायु का वेग भी बन्द हो जाता है। उसी प्रकार जब सवेदन फुरता है तो जगत भासता है और जब फुरना बन्द हो जाता है तो केवल शुद्ध आत्मा ही भासता है। हे राजन्! आत्मा केवल सत्तामात्र है और यह संसार भी वही सत्तामात्र ही है। यदि सम्यक दृष्टि से देखिये तो आत्मा ही भासता है और जिसको आत्मा का ज्ञान होता है उसे सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि आत्मा अपने आप का नाम है और यदि असम्यक दृष्टि से देखा जाय तो दुःख से सम्पन्न संसार दृष्टि आता है और उनको दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। हे राजन्! अहता और संवेदन, चित्त और चैत्य भी आत्मा ही के पर्यायवाचक हैं। आत्मा केवल एक रस और अपने आप मे स्थित है यह कभी परिणाम को नहीं प्राप्त होता। यह जो सवेदन है, सब आत्मा का चम-

त्कार है और आत्मा सत् असत् से परे है। जो दृश्य है सब इसीका रचा हुआ है। हे राजन्! कारण, कार्य तब होता है जब दृश्य होता है किन्तु आत्मा किसीका विषय नहीं है तो कारण कार्य किसका हो? आत्मा तो विश्वके आदिमे भी है मध्यमें है और अन्तमे भी है। इसके परे जो कुछ भासता है वह सब मिथ्या है। तब राजाने कहा-हे भगवन्! अब मै भली भाँति जान गया कि आत्मा चिन्मात्र, ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों से परे है। देश, काल और इन्द्रियाँ सब मनही से जानी जाती है किन्तु हे भगवन्! जहाँ इन्द्रियाँ और मन नहीं हैं वहाँ देश काल भी नहीं होता है। इस पर कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! यदि तू यह जान लिया है तो तुझे ज्ञान हो गया है। आत्मा मे देश काल कुछ नहीं होता क्योंकि देश और काल इन्द्रियों ही से जाना जाता है यदि इससे रहित कर देखा जाय तो केवल शुद्ध आत्मा ही भासेगा। यदि इन्द्रियों से देखा जाय तो संसार ही दृष्टि आता है। यदि तू मन और इन्द्रियों से रहित होकर देखे तो तुझमे ससार की कोई भावना नहीं रह जायगी। संसार की भावना तभी तक है जब तक मन और इन्द्रियों का सयोग है। इसलिये हे राजन्! तू ब्रह्म से ब्रह्म और जो पूर्ण है उसे देख जिससे तू भी पूर्ण हो जाय। इस प्रकार जब तू पूर्ण हो जायगा तो चारों ओर तुझे आत्मा ही का भान होगा। और उस निर्वाण पद को प्राप्त होगा जहाँ इन्द्रियों का गम नहीं प्रत्युत केवल आकाशरूप है। जिस प्रकार आकाश शून्य है उसी प्रकार तू भी अपने चेतन स्वभाव से पूर्ण हो जायगा। तत्पश्चात् यदि मन सहित पट इन्द्रियों से रहित होकर देखेगा तो भी और यदि इनके सहित देखेगा तो भी यह चेतन आत्मा ही भासेगा और समारका शब्द-अर्थ तेरे निकटसे उठ जायगा। केवल आकाशरूप आत्मा ही भासेगा। यह ससार केवल सवेदन मात्र है जो चित्त शब्द का चमत्कार और ब्रह्मरूप होकर स्थित है। जब यह शक्ति अन्तर्मुख होती है तो सदा एक रस आत्मा ही दृष्टि आता है। जब बहिर्मुख होती है तो ससार दृष्टि आता है। जो जैसी

भावना करता है उसको वैसा ही दृष्टि आता है। इसलिये हे राजन्! जो सदैव एक रस और असंसारी है उसी आत्मा की भावना कर जिससे तुझे आत्मा ही का भास हो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८५ ॥

छियासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज प्रथम बोध वर्णन।

कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! यह संसार जो तुझमे भासता है वह आत्मा मे नहीं है। शुद्ध आत्मा मे जो अहं का उत्थान है वही संसार है। किन्तु अहं का वह चमत्कार न सत् है, न असत् है, न भीतर है, न बाहर है, न शून्य है, न अशून्य है, वह तो अपने आप मे स्थित है। संसार का प्रध्वन्सा भाव भी नही होता अर्थात पहले हो और पीछे नाश हो जाय। आत्मा मे संसार का उदय अस्त नहीं होता। वह केवल अपने ही मे स्थित है। किन्तु आत्मा को यह भी नही कह सकते कि केवल अपने मे स्वाभाविक स्थित है, उसमे वाणी की गम नही। हे राजन्! आत्मा तो शुद्ध निर्विकार और प्रमाणों से रहित है तो इसका कार्य कारण कैसे हो सकता है? कार्य कारण तब होता है जब प्रथम पारिणाम और क्षोभ को प्राप्त होता हो। पर आत्मा तो शान्त रूप है। फिर कारण तब होता है जब क्रिया से कार्य उत्पन्न होता है परन्तु आत्मा अक्रिय है। कार्य से कारण का ज्ञान होता है परन्तु आत्मा चिन्ह से रहित और प्रमाणों का का विषय नहीं। इसलिये आत्मा किसीका कार्य कारण नहीं हुआ। हे राजन्! इस संसारमे सब वस्तुयें होती हैं और उनका नाश भी होता है और पुन: उत्पन्न भी होती हैं परन्तु आत्मा, अजन्मा, अविनाशी, आदि और निर्विकार है। इसलिये हे राजन्! तू भी इस आत्म-पद मे स्थित हो जा तो यह सारा जगत अज्ञान मय प्रतीत होगा

और तुझे एक रस आत्मा का ज्ञान हो जायगा। तू शून्य आकाश की भाँति निर्मल हो जायगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का छियासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८६ ॥

सत्तासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज बोध वर्णन

कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! जो कुछ तुम देखते हो सब चिद्घन है, उसमें 'मैं' और 'तुम' इत्यादिक जितने शब्द हैं सब केवल प्रमाद से ही होते हैं, अन्यथा आत्मा से इतर कुछ नहीं है, जब तुम आत्मा मे स्थित होकर देखोगे तब तुम्हे ज्ञात होगा कि इसमे 'अह त्व' कुछ नहीं। यह 'मैं' 'तुम' आदि की जितनी सज्ञायें हैं सबकी कल्पना चित्त ने की है। चित्त से रहित हो जाने पर यह सारी कल्पनायें नष्ट हो जाती हैं। 'सब कुछ ब्रह्म है' यह शब्द वेद का सार है, जब इस शब्द की दृढ़ भावना हो जाय तब चित्त नष्ट हो जायगा और केवल एक रस आत्मा ही दृष्टिगत होगा और तुम उस दु ख रहित पद को प्राप्त होवोगे कि जो सदा मुक्तरूप और सबका आदि रूप है। यह सुनकर शिखरध्वज ने कहा कि हे भगवन्! आपने तो चित्तनाश का उपाय बतलाया है उसे मैं यथार्थरूप से न समझ सका। अत कृपा कर मेरी दृढ़ता के लिये फिर समझाइये कि यह चित्त कैसे नष्ट होगा? कुम्भजर्षि ने कहा—हे राजन्! जब यह चित्त कुछ है ही नहीं, तब मैं तुझे क्या समझाऊँ? यदि यह तुम्हे दिखलाता भी है तो उसे आत्मा ही जानो। महा सर्ग के आदि और अन्त तक सारा विकाश आत्मा ही से होता है। फिर चित्त के सम्बन्ध मे क्या कहा जा सकता है। पहले जो कुछ मैंने कहा है वह केवल तुम्हें समझाने के लिये कहा है, अन्यथा चित्त तो कुछ है ही नहीं, केवल वासनायें ही चित्त को प्रकट करनेवाली हैं। पर जब वासना ही न रहे तब चित्त कहाँ? और संसार कहाँ? अस्तु चित्त कुछ नही है। सारा विश्व आत्मा ही का चमत्कार

है और यह सारी सृष्टि उसी में स्थित है, पर वह निरालम्ब और अपने आप में स्थित है इस कारण उसमे सृष्टि की भी कोई वास्तविकता नहीं। यही कारण है कि महाप्रलय के समय सारा संसार नष्ट हो जाता है और केवल निराकार और शुद्ध आत्मा ही शेष रहता है। इस प्रकार संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक महाप्रलय नहीं होता। अधिक क्या कहे यदि एक क्षण के लिये भी आत्म साक्षात-कार हो जाय तो उसी समय सृष्टि का अन्त हो जाता है। इस कारण मैं इस संसार की स्थिति को नहीं मानता। संसार की स्थिति को जो मानता है वह मूर्ख है वेद-शास्त्र भी ऐसा कहते हैं और लोक-जन भी ऐसा ही कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है। फिर इसमे क्या विश्वास किया जाय, विश्वास करना तो मूर्खता है। पर आत्मा सदा अपने आप स्थित अच्युत और शुद्ध है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सात्तसीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८७॥

अट्ठासीवाँ सर्ग।

शिखरध्वज बोध वर्णन।

कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! यह आत्मा शुद्ध और आकाश से भी निर्मल है पर इससे हमको विकारता जो उत्पन्न हुई है वह अहंरूपी मोह से उत्पन्न हुई है और इस मोह को अविचार भी कहते हैं। जब विचार का ज्ञान हो जाता है, तब अहं का भी नाश हो जाता है। यह सब विश्व संवेदन मे स्थित है। जब संवेदन अन्तर्मुख होता है तब सब विश्व लीन हो जाता है। बन्ध और मुक्ति भी सवेदन ही मे है। जब यह बहिर्मुख होता है तो बन्ध और जब अन्तर्मुख होता है तब मोक्ष होता है। जिसने इन्द्रियों से रहित होकर देखा है उसे अपना आप दिखाई दिया और जो मोह संयुक्त देखा है उसे विपर्यय भासता है। चिरकाल के अभ्यास से बुद्धि इनमे फुरती है तो भी चेष्टा होती है और उसमे केवल आत्मा ही का किंचन होता है। शब्द

अर्थ की भावना से भावना होती है और जब अभिलाषा निवृत्त हो जाती है तब कोई दु ख नहीं होता। इसी को मुनीश्वरों ने निर्वाण पद बतलाया है। जब निर्वाण पद का ऐसा निश्चय ज्ञात हो जाता है, तब यह जीव शान्त रूप मे स्थित हो जाता है। हे राजन्! यह अह का उत्थान ही बन्धन है और इससे निर्वाण होने से मुक्ति होती है। जब तक अह है तब तक ससार है और जब तक ससार है तब तक अह का उत्थान है। इसलिये जब तक अहं का भ्रम है तब तक दु ख भी रहता है। जब संसार की सत्ता जाती रहेगी तब अह का फुरना भी नष्ट हो जायगा और केवल शुद्ध आत्माही शेष रहेगा और तब उसीका भास होगा। हे राजन्! जिसको सर्व ब्रह्म की बुद्धि नहीं होती और और जिसको ससार की बुद्धि हुई है उसको ससार की बुद्धि नहीं होती और जिसको ससार की बुद्धि होती है उसको ब्रह्म-बुद्धि का विकाश नहीं हो सकता। जैसी जिसकी भावना होती है उसको वैसा ही भासता है। हे राजन्! अब तू ब्रह्म स्वरूप हुआ है जो शुद्ध निर्मल और प्रत्यक्ष है और इसमे न शब्द है न कोई लक्षण है परन्तु इसमे इन्द्रिय विषय है। हे राजन्! ऐसी आत्मा जो केवल अद्वैत और विश्व जिसका चमत्कार है भला इसका कारण कार्य्य कहाँ से हो सकता है? यद्यपि आत्मा में नाना प्रकार का विश्व सवेदन फुरता है किन्तु वह तो भी आत्मा से विभिन्न नहीं होता। जसे शिल्पी की कल्पना खम्भे तथा पुतलियाँ बनाने के समय होती है और जब वह कल्पना भंग हो जाती तो केवल खम्भा ही दिखाई पडता है, उसी प्रकार यह ससार भी कल्पना मात्र है और जब सकल्प अन्तर्मुख होता है तब संसार की सत्ता भी जाती रहती है। जो वस्तु सत् होती है उसका कभी नाश नहीं होता है। किन्तु यह ससार तो सवेदन रूप ही है इसीलिये इसका नाश भी हो जाता है। जब चित्त फुरने से रहित हो जायगा तो आत्मा को स्वय जानेगा और अशब्द पद को प्राप्त होगा। हे राजन्! सर्व शब्द और सर्व की अभावना ही ब्रह्म है। जब सम्यक

दृष्टि होती है तो शेष आत्मा ही भासता है और संसार ब्रह्म की भावना भी नहीं रह जाती केवल ज्ञेय मात्र ही रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८८ ॥

नवासीवाँ सर्ग।

परमार्थोपदेश वर्णन

कुम्भजऋषि बोले—हे राजन्! वह आत्मा कार्य और कारण से परे तथा चेतनमात्र है। उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही। वह ज्यो का त्यों अपने आपमे स्थित है। यह सारा संसार उसी आत्मा मे स्थित है। पर अज्ञानी उसमे व्यर्थ ही नाना प्रकार को कल्पना करते हैं। किन्तु ज्ञानी जन उसे अजन्मा, अविनाशी और निरञ्जन भी जानते हैं। हे राजन्! जब तू उन्ही ज्ञानियों की भाँति इस संसार को देखेगा तब तुझे ज्ञात हो जायगा कि यह सारा ससार चित्त की कल्पना है और इस चित्त की उत्पत्ति अज्ञानसे हुई है। स्वरूपमे न तो चित्त है न अज्ञान और न ससार ही है, केवल अद्वैत मात्र चित्त है। इस प्रकार अज्ञान के नष्ट होने पर 'मैं' 'तुम' आदिक चित्त का स्फुरण नष्ट हो जाता है और भ्रमदृष्टि नहीं आती। कुम्भजऋषि के ऐसे वचनों को सुनकर राजा शिखरध्वज ने कहा—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अज्ञान क्या है और इसका नाश कैसे होता है? कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन! पदार्थों को ठीक रूपसे न जानना ही अज्ञान है। जैसे रस्सीको सर्प जानना और सूर्य की किरणो मे जल प्रतीत होना, अज्ञान और भ्रम नहीं तो क्या है? जब इस प्रकार के भ्रम निवृत्त हो जायें और सब पदार्थों की ठीक-ठीक पहिचान हो जाय तब उसे ज्ञान की अवस्था कहते हैं। हे राजन! अज्ञान का उत्पन्न करनेवाला चित्त है। इस चित्त को चित्त ही नाशकर सकता है। जिस प्रकार वायु ही अग्नि को उत्पन्न करनेवाला और वायु ही से अग्नि शान्त होती है उसी प्रकार तू चित्त को चित्त से ही शान्त कर।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८९ ॥

नव्वेवाँ सर्ग ।

राजा-बोध-वर्णन

वशिष्ठजी कहते है कि, हे रामचन्द्र जी ! कुम्भजऋषि के ऐसे तत्वमय उपदेश को सुनकर राजा शिखरध्वज को बडी शान्ति प्राप्त हुई । उसने एक क्षण के लिये नेत्र बन्द कर लिया । जैसे पाषाण पर कोई मूर्ति खींची हो वैसे ही वह निर्विकल्प हो स्थित रह गया। पश्चात् उठकर ऋषि से कुछ कहना ही चाहता था कि कुम्भज ने कहा—हे राजन ! अब तेरा अज्ञान नष्ट हो गया और जिस ज्ञेय वस्तु के जानने की आवश्यकता थी वह अब जान चुका यह कह तुम्हे शान्ति प्राप्त हुई या नहीं ? राजा ने कहा—हे भगवन! अवश्य, आपकी कृपा से मुझे उत्तम पद प्राप्त हुआ जिससे मेरे समस्त दु.ख निवृत्त हो गये और मै जागृत हो गया। हे भगवन ! मै आत्मा हूँ मुझमें चित्त नहीं और में अपने आपमे स्थित हूँ इत्यादि तत्व को अब में यथार्थ रूपसे जान गया। इस प्रकार अपने स्वभाव को पानेसे अब मुझे कोई इच्छा नहीं और सबसे परे जो पद है उस पद को अब में प्राप्त होगया। हे भगवन! अब मुझे एक शंका यह हो रही है कि जैसा उपदेश आपने किया है ऐसे कई बारके उपदेशों को मै पहले भी श्रवण कर चुका था पर उस समय ऐसा क्या कारण आया कि मै सचेष्ट न हो सका और दु खोंने मुझे नहीं छोडा । कुम्भजऋषि ने कहा, हे राजन! ज्ञान अधिकारी को प्राप्त होता है अनधिकारी को नहीं । अधिकारी वह है जिसका अन्त करण शुद्ध हो और अन्त करण उसका शुद्ध होता है जो वासनाओंसे रहित होता है। अत. वासना रहित और शुद्ध अन्त-करण में ही सन्तों की वाणी प्रवेश करती है जिस प्रकार कोमल कमल की जड में बाण शीघ्र ही वेध देता है उसी प्रकार शुद्ध अन्त· करण मे उपदेश की वाणी शीघ्र ही प्रवेश कर जाती है। हे राजन ! इस समय तेरा अन्त करण शुद्ध था जिससे मेरे उपदेश करने पर उसने ग्रहण कर लिया। हे राजन ! जब दर्पण स्वच्छ होता है तब उसमे

प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक आ जाता है। जैसे उज्वल वस्त्र पर कुसुम्भी रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण पर सन्तों के वचन शीघ्र ही प्रवेश कर जाते हैं, पर जब तक अन्तः करण शुद्ध नहीं होता तब तक चाहे कैसा भी उपदेश क्यों न किया जाय, वह स्थित नही हो सकता। जब भोगो से वैराग्य होता है और सिवा आत्मपद की इच्छा के कोई अन्य वासना नही रहती तब स्वरूप का साज्ञातकार होता है। हे राजन! इस समय तक तू सब कुछ त्याग चुका था और तेरे समस्त ज्ञानों का नाश होकर कोई उपाधि शेष न रह गई थी। इससे मेरे उपदेशने तुझ पर अपना प्रभाव डाल दिया। चित ही एक ऐसी उपाधि है जिसके द्वारा सब दुःख प्राप्त होता है और यदि यह नष्ट हो जाता है तो कोई दुःख नहीं रह जाता। अब तू शान्तिपद को प्राप्त हो गया है इसलिये सुखसे विचर। तुझे दुःख, शोक और भय कुछ नही हैं। राजा ने पूछा—हे भगवन! अज्ञानी को चित का सम्बन्ध है और ज्ञानी चित से सम्बन्ध नहीं रखते और जो स्वरूप मे स्थित है वह विना जीवनमुक्त क्रिया को कैसे प्राप्त होते हैं? इसपर कुम्भजऋपि ने कहा, हे राजन्! तू सत्य कहता है कि ज्ञानी को चित से सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार पत्थर की शिला मे अँगुली नहीं होतो उसी प्रकार ज्ञानी को चितसे सम्बन्ध नहीं होता। हे राजन! चित वासनारूप है और वासना ही से जन्म मरणकी उत्पति है। इसलिये उससे ज्ञानी पुरुप सदैव अलग रहते हैं और अज्ञानी उसी मे बँधे रहते हैं। जिसके कारण वे जरा मरण से कभी छुटकारा नहीं पाते। ज्ञानी जो शान्तिरूप मे स्थित है उनको न बन्ध है न मोक्त है। बल्कि प्रारब्धानुसार सब भोग भोगता है और एक सर्वात्मा ही मे स्थित रहता है। यद्यपि वह इन्द्रियों से कुछ चेष्टा करता है तो भी वह सर्व ब्रह्म ही मे लीन रहता है और क्रिया करने में वह तनिक अभिमान नहीं रखता कि 'मैं करता हूँ' और मैं भोगकर रहा हूँ। अज्ञानी यह गर्व करते हैं कि मै ही सब कुछ करनेवाला हूँ और यह संसार सत्य है, वे [illegible]प-विकल्प

मे लगे रहते है पर, ज्ञानीको यह संसार असत्य प्रतीत होता है और वे अपने को अकर्ता, अभोक्ता समझते हैं। जिस वस्तु पर चेष्टा होती है वह अभिलाषा रहित रहती है। जब तक चित से सम्बन्ध रहता है तब तक यह सारा संसार सत्य प्रतीत होता है और सारा कार्य करनेवाला अपने ही को जानता है। परन्तु जब चित नष्ट हो जाता है तो यह संसार कहाँ और फुरना कहाँ? हे राजन! अब तूने चित को त्याग दिया इसलिये सर्वत्यागी हो गया। पहले तूने राज्य का त्याग किया था जिसमे तेरा कुछ वश नहीं, फिर तम का और फिर वन मे अपनी सारी सामग्री का किन्तु अब तूने वह वस्तु भी त्याग दिया है कि जो त्यागने योग्य 'अहभाव' था और अब तू सर्वत्यागी हुआ है और शान्तपद मे स्थित हुआ है। हे राजन! जैसे क्षीर समुद्र मन्दराचल पर्वत से रहित होकर शान्तपद मे स्थित हुआ है उसी प्रकार तू भी अज्ञान से रहित होकर शान्तपद में स्थित हुआ है। इस प्रकार तूने चित का त्याग किया इसलिये तू अद्वैत सर्वात्मा हुआ है। हे राजन्! जो ज्ञानी हैं और पूर्णरूप से चित्त का त्याग किये हैं उन्हे किसी प्रकार का दु:ख नहीं होता और तू भी उसी पद को प्राप्त हुआ है, जहाँ स्वर्गादिक सुख भी तुच्छ है। क्योंकि स्वर्ग मे भी अतिशय और क्षय होता है। जब पुण्यवाले अपने से ऊँचा किसी को देखते है तो चाहते हैं कि हम भी ऐसे ही हो जावें तो उसे अतिशय कहते है और क्षय उसे कहते है कि ऐसा न हो कि ऐसे सुखो से गिरूँ। स्वर्ग मे भी दो प्रकार का दु:ख है किन्तु तूने तो पाप, पुण्य दोनों का त्याग किया है और अब सर्वत्यागी हुआ है। जो अज्ञानी, पापी जीव है उनका स्वर्ग ही भला है। जैसे जबतक सोनेका पात्र नहीं मिलता तब तक पीतल का ही पात्र अच्छा होता है, उसी प्रकार स्वर्गका जो ज्ञानरूपी पात्र है जब तक नहीं प्राप्त होता है तब तक पीतल का पात्र जो स्वर्गादिक है, नरकसे कही भले हैं। परन्तु वह तुम्हारे जैसे को कुछ नहीं है। हे राजन्! आत्मा से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तू वर्णाश्रम मे

क्या पड़ा है ? जहाँ से इनकी उत्पति है, जहाँ लीन होते हैं और मध्य मे जिस अज्ञानवश दिखाई पडते हैं उसी मे स्थित हो। हे राजन! संकल्प विकल्प में मत स्थित हो बल्कि जिसमे ये उत्पन्न और लीन होते हैं उसीमे स्थित हो। हे राजन! इच्छा प्रकट करनेसे आत्मपद नही प्राप्त होता है, वह तो स्वयंही प्राप्त होता है। हे राजन! आत्मा तो तेरा स्वयं है और उसीसे सब सिद्धियाँ होती है। तपादिक कर्मों को चितसे क्या कल्पना कर रहा है। तू अपने आपको देख कि अनुभव-रूप है और सर्वदा अपने आपमे स्थित है। जब तू स्वयं अपने आपको देखेगा तब तपादिक कर्मों को छोड़कर शोभा पावेगा। जिस प्रकार बादल के दूर हो जाने पर निर्मल चन्द्रमा शोभा पाता है उसी प्रकार भोग की चपलता को त्यागकर तू भी शोभा पावेगा। जब तू इन्द्रिय-जित होकर सब पदार्थों को त्यागकर वासना से रहित हो जायगा तब ज्ञान को प्राप्त हो जायगा। जिसने ऐसा त्यागकर दिया है वह विष्णु के तुल्य है और सब राज्य का स्वामी है, जिसने केवल मन जीता है उसकी चेष्टा ज्यों की त्यो बनी रहती है और समाधि मे भी वैसा ही रहता है जैसे पवन चलने और ठहरने मे तुल्य है वैसे ही ज्ञानी को कहीं खेद नहीं होता। तब राजा ने पूछा—हे भगवन! ज्ञानी स्पन्द और निस्पन्द मे एकसा कैसे रहते हैं कृपाकर बतलाइये? कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन! चेतन आकाश, आकाश से भी स्वच्छ है जब उसका साक्षातकार होता है तो सर्वत्र चेतनमय प्रतीत होता है। जिस प्रकार समुद्र को देखने से तरङ्ग और बुदबुदे जल का ही रूप प्रतीत होते हैं उसी प्रकार चित्त को बिना आत्मा का यथार्थ ज्ञान हुए फुरने मे भी आत्मा ही का ज्ञान होता है। जिसको आत्मज्ञान नहीं है उसे यह संसार नाना प्रकार से भासता है। जैसे अज्ञानी को तरङ्ग और बुदबुदे जलसे भिन्न प्रतीत होते हैं, जल का ज्ञान हो जानेसे तरङ्ग और बुदबुदे सब जल ही में भासते है। हे राजन! उसी प्रकार सम्यक दृष्टिवाले को संसार आत्मरूप है और मूर्खोंको संसार ही का ज्ञान रहता है। इसलिये तू सम्यक दर्शी बनकर

देख कि यह सारा ससार आत्मरूप ही है और यह कैसे प्राप्त होता है उसकी भी विधि सुन। सम्यक दर्शन सन्त का साथ करने और सत् शास्त्र के विचारसे प्राप्त होता है। जब विचार दृढ़ हो जाता है तब स्वरूप का साक्षातकार होता है और जब स्वरूप का साक्षातकार होता है तो स्पन्द और निस्पन्द एक भाव हो जाता है। हे राजन! तेरे घर मे ब्रह्मवेता चुडेला थी उसका त्यागकर तूने वन मे आ तप को आरम्भ किया इससे बडा दु.ख पाया। परन्तु अब तू जागा है और तेरा दु.ख नष्ट हुआ है और शान्तपद को प्राप्त हुआ है। जैसे अनजाने रस्सीसे सर्प का ज्ञान होता है और भली प्रकार जान जाने पर रस्सी प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार जिसने निस्पन्द होकर अपना स्वय देखा है उसको फुरने मे भी आत्मा ही भासता है और जब मन की चपलता मिट जाती है तब तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है जो वाणी से नही कहा जा सकता। हे राजन्! तू भी अब उसी पद को प्राप्त हुआ है जो मन और वाणी से रहित तुरीयातीत पद है। वहाँ कोई क्षोभ नही केवल शान्तिपद है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

इक्यानवेवाँ सर्ग।

शिखरध्वज स्त्री प्राप्ति वर्णन

कुम्भज ऋषि ने राजा को इस प्रकार उपदेश देकर कहा, हे राजन! अब मैं अपने स्थान को प्रस्थान करता हूँ क्योंकि अब स्वर्ग मे ब्रह्मा के समक्ष देवतागण उपस्थित हुए होंगे, यदि वहाँ मुझे मेरे पिता ने न देखा तो वे बहुत ही क्रोध करेंगे। हे राजन! जो पुरुष कल्याणकारी है वे बडे की प्रसन्नता पर विशेष ध्यान देते है। मैने जो ऐसा उपदेश किया है कि सम्पूर्ण वासना को त्याग कर किसी मे बँध कर न रहना वह सब शास्त्रों का सार है। जब तक मैं यहाँ न आऊँ आत्म स्वरूप में स्थित न रहकर और सर्व त्यागी जीवन चाहे जैसे विचरा करना। जब कुम्भज मुनि जाने के लिये

उठ खड़े हुये तो राजाने अर्घ्य और फूल आदि पैरोंपर चढाकर पूजा करने के निमित्त खड़े हुये परन्तु वे मारे स्नेहके मूर्तिवत् ही रहगये। इतनेमे कुम्भज ऋषि अन्तर्धान हो गये। राजा मुनि को आगे न देख विचार करने लगा कि देखो ईश्वर की नीति नही जानी जाती कि नारद मुनि कहाँ? उसका पुत्र कुम्भज कहाँ? और मैं कहाँ? मालूम होता है कि किसीने मुझे कुम्भज ऋषिका रूप धारणकर जगाया है। यह बहुत बड़ा ऋषि है कि जिसने मुझे अज्ञानरूपी गढ़े से निकाल कर स्वरूप की प्राप्ति दी और मेरे सम्पूर्ण सशय नष्ट कर दिये और मैं अज्ञान निद्रा से जागकर निर्दुःख पद मे स्थित हुआ। इधर राजा शिखरध्वज सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्थित कर मुनिवत अत्म स्वरूप मे स्थित हुआ और उधर रानी चुड़ाला कुम्भज का वेप त्यागकर अपना मनोहर रूप बना आकाश को लाँघते हुये अपने नगरमे पहुँची और स्त्री-समाजमे पहुँचकर मंत्रियोंको आज्ञा दी कि तुम लोग अपने-अपने स्थान पर स्थित हो जाओ और आप राज्यस्थान पर विराजकर प्रजापर शासन करने लगी। निदान ऐसे तीन दिन व्यतीतकर रानी पुन. कुम्भज का वेप बना उस स्थान पर आ विराजी जहाँ राजा ज्ञानमे निमग्न समाधि लगाये बैठे थे। ऐसा देख वह प्रसन्न हुई और विचार करने लगी कि प्रसन्नता की बात है कि जो राजा स्वरूप में स्थित होकर शान्तिपद को प्राप्त हुआ। रानी ने ऐसा देखकर राजा को जगानेके लिए सिंह की भाँति गरजना की जिससे जङ्गलके पशु, पक्षी अपने-अपने स्थान त्यागकर भाग गये किन्तु राजा ज्यों का त्यो पड़ा रहा। पुन. हाथ से हिलाया तो भी वह उसी प्रकार निमग्न ही रहा। और पाषाण की भाँति तनिक न हिला। रानी ने विचारा कि राजा कहीं शरीरत्याग न करे, यदि ऐसा करेगा तो मै भी यहीं शरीर त्याग दूँगी। रानी ने ऐसा सोचकर कि मुझे इनके साथ ही प्राण त्यागना उचित है उत्सुक हुई किन्तु इसका भविष्य परिणाम विचारने के लिये उसने नेत्रों पर हाथ फेरा और अपने शरीर से

उनके शरीर पर स्पर्श कर देखा तो अभी प्राण मौजूद थे। जब ऐसा ठीक-ठीक ज्ञान कर लिया तो विचार किया कि यह इसी से जीवन-मुक्त होकर विचरेगा। रामजी ने वशिष्ठजी से कहा कि हे भगवन्! मुझे एक शंका हो रही है वह कृपाकर आप मुझे बतला दीजिये? वह यह है कि आपने कहा कि कुम्भज ने जब राजा के ऊपर हाथ फेरा तो वह पाषाण की नाईं पड़ा था और पुन. ऐसा कहते हैं कि कुम्भज ने हाथ फेरकर देखा तो उसके प्राण अभी शेष हैं तो ऐसा ज्ञान कुम्भजको कैसे हुआ? वशिष्ठजीने कहा—हे रामजी! जिस शरीर मे पुर्यष्टका होती है उसमें एक प्रकार की हरियावलता होती है। हे रामजी! अज्ञानी का चित्त रहता है और ज्ञानी का स्वत्व जो प्रारब्ध के वेग से फुरता है और ब्रह्मरूप के स्फुरण से वह पुन. शरीर पाता है। ज्ञानी को इष्ट और अनिष्ट एकसा है और अज्ञानी तो इष्ट मे प्रसन्न और अनिष्ट प्राप्त होने पर अप्रसन्न होते है। हे रामजी! ज्ञानी जब शरीर त्यागते हैं तब ब्रह्म समुद्र मे स्थित होते हैं और जब तक उग्र मे सत्ता रहती है फुरा करते हैं। अज्ञानी जब शरीर त्यागता है तो उसमे केवल सूक्ष्म ससार ही शेष रहता है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष, फूल और फल समयानुसार निकलते हैं उसी प्रकार राजाका स्वत्व बीजरूपी ब्रह्म मे स्थित रहता था और समय पाकर फुरता था। तब कुम्भज रूप चुडालाने विचारा कि इनको भीतर प्रवेशकर जगाऊँ। यदि मैं न जगाऊँ तो नीति से इसको जागना ही है। ऐसा विचार कर उसने अपने शरीर को और चेतनतामे स्थित होकर स्फुरण द्वारा उसमे प्रवेश किया और उसकी चेतना जो शेष थी उसको फोड़कर अपना लिया और बड़ा क्षोभ दिया। इस प्रकार जब राजा हिला तो आप निकल आई और अपने अस्तित्व मे स्थित हो गई। और सामवेद के मनोहर मन्त्रों का गीत गाने लगी। राजा ने ऐसा देखा कि कुम्भज मुनि सामवेद का गान कर रहे हैं। उन्हें देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और पूजाकर कहा कि भगवन्! मेरे बड़े भाग्य हैं कि आपका

दर्शन कर मै बहुत प्रसन्न हुआ। हे भगवन्! कुलरूपी अचल पर्वत पर यह देहरूपी वृक्ष है अब जो फूला है जिसे आपने पावन किया है। ऐसी किसी की सामर्थ्य नहीं है कि जो आप जैसों के चित्त मे प्रवेश करे। जिस आत्मा मे सदैव ईश्वर का वास है उस चित्त ने मुझे स्मरण कर अपना दर्शन दिया है यह मेरे बड़े भाग्य की बात है। हे भगवन्! आपने मुझे आत्मरूपी वचनो से पवित्र किया था और अब चित्त मे मेरा स्मरण कर पावन किया है। इस पर कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! मै भी तुम्हारा दर्शन कर अति प्रसन्न हुआ और तुम जैसी प्रीति मैंने पहले किसी मे न देखी। कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्। तू मुझे स्वर्ग से भी प्रिय है और तुम्हारे ही लिये मै स्वर्ग से आया हूँ किन्तु अब स्वर्ग न जाऊँगा तुम्हारा सहवासी बनकर यही रहूँगा। राजाने कहा—हे भगवन्! जिसपर आप जैसे लोगों की कृपा है उसे तो स्वर्गका सुख भी व्यर्थ ही है। यदि आपका मन यहाँ रहना चाहता है तो इस मढीमे विश्रामकर इसे पवित्र करें। ऋषिने कहा—हे राजन्! तू यह बता कि तुझे उचित प्राप्ती मे संतुष्टी हुई है या नही और तू जीवन, मरण से मुक्त होकर आत्मपद को प्राप्त हुआ है या नहीं? तू मेरे इन प्रश्नो का उत्तर उचित रूप मे प्रकटकर। इसपर राजा ने कहा—हे भगवन्! आपकी कृपा से मै उस उचित पद को प्राप्त हुआ हूँ जहाँ संसार सीमा का हद है। अब आप मुझे उपदेश करने योग्य नहीं क्योकि अब मैं जीवन मरण से मुक्त होकर विचर रहा हूँ। अब मुझमे कोई विकार शेष नही। अब मुझे ऐसा ज्ञात होने लगा कि मै सर्वदा तृप्त, अनित्य, प्राप्तरूप आत्मा और अपने निर्मल स्वभाव मे स्थित सर्वात्मा और निर्विकल्प हूँ। अब मुझमें फुरना कुछ नही है और मै शान्तिरूप हो चिरकाल सुखी हूँ। यह वार्ता कर दोनों वहाँ से उठकर चले तो एक अत्यन्त रमणीक सरोवर पर जो कमलो से भरा हुआ अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहा था उसपर पहुँचे। पुन. उसमे स्नान कर पूजा पाठकर वहाँ से भी प्रस्थान कर दिये। पश्चात् वहाँ

से बड़े-बड़े नगरों और वनों मे विचरते हुए एक गहन वन में पहुँचे। इस भ्रमणमे उनका अधिक काल व्यतीत हुआ और क्रमश. दोनों ही समान आचरणवाले हो गये। अब कुम्भज और राजा की क्रियाओं में कोई भेद न रहा। शुभ अशुभ जो भी आता वह सब मे शुद्ध सत्तासे स्थित रहते और आत्मा के अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई भी स्फुरण नहीं होता। एक समय रानी को यह इच्छा हुई कि यह मेरा पति है मैं इसके साथ सम्भोग करूँ। उच्च कुल की स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वह अपने पतिदेव को प्रसन्न रखें। भोग करने योग्य अभी मेरी अवस्था भी है। राजा का शरीर भी देवता के समान है और यह मङ्गलप्रद स्थान भी प्राप्त है। इससे अच्छा है कि मैं राजा से यह विचार प्रकटकर अपनी मनोकामना पूर्ण करूँ। इसमें एक लाभ और भी है कि इससे राजा की परीक्षा हो जायगी और शरीर का स्वभाव साथ रहता है इसकी भी पूर्ति हो जायगी। यह विचारकर उसने कुम्भज से कहा—राजन्! इसी चैत्र शुद्ध पक्ष मे एकम तिथि को ब्रह्माजी ने रचना की थी जिससे इस तिथि पर स्वर्ग में बडा उत्सव होता है और उसमे नारद आदि अनेक मुनिजन एकत्रित होते हैं अत. मैं उस समारोह में सम्मिलित होना चाहता हूँ। आप आज्ञा दें तो जाऊँ। राजा ने कहा—जाओ, कोई चिन्ता नहीं। तब राजा को इस आदेश के साथ एक पुष्पमञ्जरी देकर चली कि मैं जब तक लौटकर न आऊँ तब तक आप इसी स्थान पर बैठे हुए इन पुष्पों को देखा कीजिएगा। राजा ने भी कुछ पुष्प उसके हाथ से लेकर कहा—अच्छा जाओ। तब कुम्भजरूपी रानी आकाश को उडी और जहाँ तक राजा की दृष्टि पहुँच सकती थी वहाँ तक तो वह उसी (कुम्भज) रूप मे चली गई पर जब उसने जान लिया कि अब राजा मुझे नहीं देख सकता तब उसने अपने गले की माला तोड़कर राजा पर गिराया और अपना वेष परिवर्तित कर चुडाला के रूप में होकर आकाश को लाँघती हुई अपने अंत. पुर मे आ पहुँची। वहाँ राजा

तो थे नहीं, स्वयं राज्य सिंहासन पर आसीन हो प्रजाका प्रबंध किया और जो कार्य बिगड़े थे उनको सुधारकर राजा के पास,चली। राजा पुर के बाहर थे। तब उनकी परीक्षा लेने के लिये फिर अपना कुम्भज का वेष बना वह राजा के पास पहुँची। देखा को राजा वियोग से दुःखी हो बैठे हैं। उनको दुःखी देखकर वह कुछ पूछना ही चाहती थी कि राजा ने कुम्भज को देखकर पूछा, भगवन्! आपका आगमन कैसे हुआ? ज्ञात होता है कि आपको मार्ग में बड़ा कष्ट हुआ है जिससे आप कुछ दुःखी प्रतीत होते हैं। पर आपजैसे ज्ञानवानों को दुःख नहीं होना चाहिए। अच्छा, कहिए आपको क्या दुःख है। कुम्भज ने कहा–राजन्! यह जो एक मित्र के समान आप पूछ रहे हैं वह परम उचित है। इससे मेरा भी यह कर्तव्य है कि मैं अपने मित्र से कोई दुराव न करूँ। अच्छा तो सुनिए। मैं स्वर्ग सभा से आ रहा हूँ। स्वर्ग-सभा में मैं जब तक था तब तक केवल नारदजी के पास बैठा रहा। पर नारदजी का तो यह स्वभाव है कि वह कभी एक स्थान पर नहीं रहते, कुछ ही देर वहाँ बैठकर जब चलने लगे तब मैं भी उठा तो उन्होंने मुझसे कहा कि अब मैं जा रहा हूँ, तुम्हारी भी जहाँ इच्छा हो जावो। तब मैं आकाशमार्ग से होता हुआ आ रहा था रास्तेमे देखा कि भूषण और श्याम वस्त्र धारण किये स्त्री के रूप मे दुर्वासाऋषि आ रहे थे। सामना होने पर मैंने उनको दण्डवत कर कहा कि हे मुनीश्वर! आपने यह स्त्री का सा रूप क्यों धारण कर लिया है? मेरे ऐसा कहने पर क्रोधित होकर दुर्वासाजी ने कहा कि हे ब्रह्माका पुत्र! तू यह ऐसा शब्द उच्चारणकर रहा है? मुनियों के प्रति तेरा ऐसा कथन महान् अनुचित है। इसमें अशुभ क्या है कि जो तू ऐसा व्यङ्ग बोलता है। अच्छा अब तू भी स्त्री होगा। कारण कि मैं क्षेत्र हूँ और क्षेत्र में जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही उत्पन्न होता है। इससे अब तू स्त्री हो जायगा और रात्रि के समय तेरे सब अङ्ग प्रत्यङ्ग स्त्री के से हो जायँगे इत्यादि। सो हे राजन्! अब दुर्वासाजी

के शापसे मुझे यह बड़ा भय और दुःख उत्पन्न होगया है कि अब मैं स्त्री शरीर से आपके समान महान् पुरुषों और देवताओं के मध्य मे कैसे रह सकूँगा। इस बात की मुझे बडी लज्जा हो रही है। कुम्भज के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—बस, केवल यही बात है। क्या तुम दुर्वासा के ऐसा कहने ही से दुःखी हो? इसमें क्या दुःख! तुमको शरीर से क्या प्रयोजन। तुम शरीर तो हो नहीं, तुम तो केवल आत्मा हो और आत्मा निर्लेप है। अतः शरीर चाहे जैसा हो इसकी चिन्ता मत करो और अपनी ममता मे ही स्थित रहो। देखो, ज्ञानी पुरुषों के लिये हेयोपादेय कुछ नहीं रहता, वह अपनी समता मे ही स्थित रहते हैं। राजा के इस कथन को कुम्भज ने स्वीकार किया और पुनः स्वयं उसीकी व्याख्या कर कहा—राजन्! आपका कथन यथार्थ है, जिस स्थान मे ज्ञान की प्राप्ति हो उसी चेष्टा मे विचरना चाहिए और इन्द्रियों का दमन कर विषयों से मुक्त होना चाहिए। हाँ यह भगवान् का नियम है कि जब तक शरीर है तब तक इसका स्वभाव साथ रहेगा, पर ज्ञानी को इसकी चिन्ता न कर स्वभाव को साथ रखते हुये सब कुछ ज्ञान सहित करना चाहिए किन्तु उसमें बन्धवान् न होवे। भगवान् की इस नीति का त्याग करना उचित नहीं। जब तक शरीर है तब तक उसका स्वभाव होता रहेगा। इससे ज्ञानी पुरुष को उचित है कि शरीर और इन्द्रियों से चेष्टा तो करे पर किसी मे बन्धवान् न होवे। इस प्रकार चेष्टा करता हुआ भी जो बन्ध न हो उसे समझना चाहिए कि उसका कर्म ज्ञानसहित है और जो बन्धवान् हो जाय वह अज्ञानी है। आशय यह कि ज्ञान सहित किया हुआ कर्म बन्ध नहीं और अज्ञानयुक्त किया हुआ कर्म बन्धवान् होता है। शास्त्रोक्त विधियों और प्रमाणों से सब कुछ किया जा सकता है, उसके भोगने मे कोई दोष नहीं। यह कहते-कहते सायंकाल का समय हुआ और सूर्यभगवान् अस्त हो गये। तब झट दोनों ने स्नान कर सन्ध्या पूजा किया और पुनः वार्तालाप करने लगे। इतनेमें कुम्भज का शरीर स्त्री का होने

लगा। तब राजा ने कहा—देखो, अब तुम्हारे सिर के बाल बढ़ने लगे और अब देखो वस्त्र भी नीचे तक आ गया और यह देखो तुम्हारे दोनों कुच भी स्त्रियों के से हो गये। कुम्भज ने, देखा तो सब अङ्ग स्त्रीके समान हो आये थे और अब वह कुम्भजका शरीर छोड़कर, चुडाला रानीके रूपमे हो गये थे। इसपर राजा ने पूछा—कहो, क्या अब भी तुम वही आत्मतत्व नहीं हो जो पहले थे? चुड़ाला ने कहा—हाँ, मैं तो वही हूँ, केवल मेरा शरीर ही ऐसा हो गया है। राजा ने कहा—तो शरीर से तुमसे क्या प्रयोजन! अब चलो शयन करें। रानी ने पुष्प शैया लगाई और दोनों जाकर एकही शैया पर सो रहे। इस प्रकार रात भर दोनों एकही शैया पर आत्मतत्व मे लीन रहकर चुप-चाप पडे रहे और किसीने किसीसे वार्तालाप तक नहीं की। प्रातः होने पर दोनो ने उठकर स्नान ध्यान किया और पुन. चुडाला कुम्भज होकर राजा के साथ सत्सङ्ग करने लगी। इसी भाँति प्रति दिन चुडाला रात भर स्त्री रहती और दिन को कुम्भज का शरीर धारण कर लेती। किन्तु उनमे कोई भेद न था। दोनों ही सर्वदा समान सत्ता मे स्थित रहते और किसी को हर्षशोक नहीं होता। इस रूप मे वहाँ कुछ काल रहकर दोनों यत्रतत्र विचरने लगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त॥ ९१॥

बानबेवाँ सर्ग।

विवाह लीला वर्णन।

यह कह कर वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी! इस प्रकार विचरते हुये दोनों मन्दराचल की कन्दरा मे जा पहुँचे। तब वहाँ कुम्भज रूप चुडाला ने राजा की परीक्षा लेने के लिये कहा कि हे राजन्! यह ईश्वरीय नियम है कि स्त्री को पुरुष अवश्य चाहिए सो जब मैं रात्रि मे स्त्री हो शयन करने जाती हूँ तब मुझे पति सम्भोग करने की इच्छा होती है, सो इसके लिये मैं आप से [illegible] को नहीं देखती। अत. [illegible] पति हैं

और मैं ही आपकी स्त्री हूँ। इस कारण मुझे अपनी भार्या जान कर जैसा कुछ स्त्री पुरुष का व्यवहार हो मुझसे किया करें। मेरी युवावस्था है और आप भी स्वरूपवान हैं। ज्ञानी को उचित है कि जो कुछ भी अनिच्छित प्राप्त हो उसे त्याग न करें। मैं जानती हूँ कि आपको इच्छा नहीं है, पर ईश्वरीय नियम को भी आप कैसे भङ्ग कर सकते हैं। इसपर राजा ने कहा—हे साधो! मुझे प्राप्त में न तो कोई सुख है और अप्राप्त में न कोई दुःख है। मेरे लिये तो तीनों ही जगत आकाश रूप भासते हैं। अतः मैं कुछ नहीं कहता, तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। कुम्भज ने कहा—तब तो ठीक है। आज पूर्णिमा का दिन शुभप्रद है, इससे चलो मन्दराचल पर्वत पर चलकर हम दोनों उस कन्दरा में बैठकर विवाह करलें। राजा ने कहा—चलो। फिर तो दोनों उठे और व्याह की समग्र सामग्री ले गङ्गा में स्नानकर कन्दरा में जा पहुँचे। पश्चात् सन्ध्या समय आने पर राजा ने कुम्भज को दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाकर सिर पर मुकुट रख दिया। तब कुम्भज ने अपना शरीर त्याग स्त्री का शरीर धारणकर राजा से कहा—हे राजन्! अब आप मुझे भूषण पहनाइये। तब राजा ने उसे अनेक प्रकार के भूषणों से सालकृत कर दिया जिससे अब वह पार्वती के समान सुन्दर हो गई। तब चुडाला ने राजा से कहा—हे राजन्! अब मैं आपकी स्त्री हूँ और मेरा नाम मदनिका है। आप मेरे पति हैं। आप मुझे कामदेव से भी सुन्दर भासते हैं। वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! इस प्रकार यद्यपि चुडाला ने राजा के चित्त को मोहने के लिये बहुत कुछ कहा—किन्तु राजा को कुछ भी हर्ष न प्राप्त हुआ और विराग से शोकवान भी न हुआ। पश्चात् शास्त्रानुसार विवाह के अन्य जो कार्य शेष रहे दोनोंने मिलकर उसे सम्पूर्ण किया और पाणिग्रहण के समय रानी ने कहा—राजन्! आज मैंने आपको अपनी सम्पूर्ण ज्ञाननिष्ठा सङ्कल्प दी। राजा ने भी ऐसा ही कहकर अपनी ज्ञाननिष्ठा रानी को सङ्कल्प करके दे दिया। इन समग्र कार्योंके समाप्त

होते-होते एक प्रहर रात्रि शेष रही। तब रानी ने पुष्प शैय्या लगा कर शयन किया और राजा भी उसी पर जाकर सो रहा पुन. एक दूसरेसे प्रेमालाप करते २ रात्रि व्यतीत हो गयी और किसीने मैथुन न किया। जब प्रातःकाल हुआ तब रानी मदनिका ने फिर कुम्भज का शरीर धारण कर लिया और स्नान कर संन्ध्यादिक कर्म किये। इस प्रकार एक मास तक दोनो मन्दराचल पर्वत में रहे और प्रति दिन रात्रि मे दोनो एक शय्या पर शयन करें।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का बानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९२ ॥

तिरानबेवाँ सर्ग।

माया शक्रागमन वर्णन।

वशिष्ठजी बोले,–हे रामजी! इस प्रकार वहाँ एक मास रह कर दोनो चले तो उदयाचल, सुमेरु, और कैलाश आदिक पर्वतों का भ्रमण करते हुए एक गहन वन मे जा पहुँचे। उस वन मे पहुँच कर रानी ने अपने मन मे यह विचार किया कि मैंने राजा को इतने स्थान दिखलाये किन्तु इसका चित्त कहीं भी लोभायमान न हुआ इससे अब राजा की और भी कुछ परीक्षा लेनी चाहिए तब उसने अपनी ऐसी माया फैलाई कि इन्द्र, वरुण, [illegible] और शिव तैंतीसो कोटि देवता और धर्मविद्याधर, किन्नर [illegible] अप्सरायें आकर वहाँ नृत्य करने लगो। उस लीलाको [illegible] ने उठकर इन्द्र की पूजा की और हाथ जोडकर पूछा [illegible] इस गहन वन मे आपका किस लिये आगमन [illegible] कहा–हे राजन्! हम आपकी तपस्याके बल [illegible] हैं और अब आप मेरे साथ स्वर्ग को चलि[illegible] हाथी मँगा दूँ अथवा उच्चैःश्रवा घोडा [illegible] था आपके लिये मँगा दूँ [illegible] सुखो को भोगने के [illegible] आदिक आठों [illegible]

स्वर्ग मे चलिये। इन्द्र के ऐसा कहने पर राजा ने कहा,–हे भगवन्! कहाँ चलें? चलना तो वहाँ का ठीक है कि जहाँ से आना न पडे। वहाँ से तो फिर आना ही होगा। स्वर्ग मे क्या है? हमारे लिये जहाँ हम बैठे हैं यही स्वर्ग है। आत्मा के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं। हम इसी स्वर्गरूप आत्मा में स्थित हैं, हमें किसी और स्वर्ग मे चलने की आवश्यकता नहीं। हम सदा तृप्त आनन्द रूप हैं। इस पर इन्द्र ने कहा,–हे राजन्! यथाप्राप्त भोगों को न भोगना अन्याय है। तुमको जो प्राप्त हुआ है उसका सेवन क्यों नहीं करते? अच्छा तुम नहीं चलते हो तो अब हम जाते हैं। तुम्हारा और कुम्भज का कल्याण हो। हे रामजी! ऐसा कहकर इन्द्र अपने साथ के समग्र देवताओ और गन्धर्वों सहित अन्तर्धान होगये। हे रामजी! यह इन्द्रादि समग्र देवता चुडाला के संकल्प से उठे थे और जब सकल्प लीन हुआ अर्थात जब परीक्षा में राजा उत्तीर्ण हो गया और स्वर्ग के सुखों को भी उसने तुच्छ कह दिया तब वे सभी देवता अन्ध्यान हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का तिरानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९३ ॥

चौरानवेवाँ सर्ग।

माया पिञ्जर वर्णन।



वशिष्ठजी ने कहा,–हे रामजी! जब इस चरित्र ने भी राजा को आत्मपद से विचलित न किया तब चुडाला को बडी प्रसन्नता हुई। पर उसने राजा की और परीक्षा लेने का विचार किया। एक दिन जब दोनों उस बन मे बिचर रहे थे तब चुडाला ने राजा को क्रोध और खेद उत्पन्न करने के लिये एक नवीन दृश्य उपस्थित किया। वह दृश्य यह था कि जब सध्या समय राजा गङ्गा के किनारे जाकर ध्यान करने लगा तब इधर कुम्भज ने बन मे एक देव मन्दिर की रचना कर चारो ओर फुलवाडी लगा दी और जैसे देवता की रचना

होती है वैसे ही अपने संकल्प से स्त्री पुरुष का देवता रच कर मन्दिरमे बैठ उस पुरुपके साथ विहार करने लगी। इधर सन्ध्या कर जब राजा स्थान को लौटा तब क्या देखता है कि स्थान मान्दर के रूप मे परिणत है और उसमे एक अत्यन्त सुन्दर कामी पुरुप के साथ मदनिका सोई हुई काम चेष्टा कर रही है। यह देख कर राजा ने विचार किया कि चलो, दोनों आनन्द से शयन कर रहे हैं, इनके आनन्द मे विघ्न कौन उपस्थित करे। ऐसा विचार कर राजा को न तो कोई खेद हुआ और न कोई क्रोध वह समभाव मे स्थिर रह मन्दिर से बाहर एक पापाण की शिला पर आकर बैठ गया और पुन. "अर्द्ध उन्मीलित नयन सुदृष्टी" अर्थात् शाम्भवी मुद्रा लगाकर समाधिस्थ हो रहा। एक घडी के पश्चात मदनिका उस कामी पुरुप को त्यागकर राजा के पास आई और राजा को समाधिस्थ देखकर नग्न हो हाव-भाव दिखलाकर उसके समक्ष नाचने लगी। तब उसके भाव को समझ राजा ने हँसकर कहा—ओहो! मदनिका तुम उस आनन्द को छोडकर यहाँ कैसे चली आई? तुम तो बड़े आनन्द मे थी, अब वहाँ ही फिर चली जा। मुझे इसका कुछ भी दु:ख नहीं है। मैं अब भी हर्प और शोक से रहित ज्यों का त्यों स्थित हूँ। पर तेरी और उस कामी पुरुप की प्रीति को मैंने देखा है। जगत मे परस्पर प्रीति नहीं होती इससे तू उसको और वह तुझे सुख दे, मेरी ऐसी इच्छा है। हे रामजी! राजा के ऐसा कहने पर मदनिका ने नीचे मस्तक करलिया और हाथ जोडकर बोली,—भगवन्! क्षमा कीजिए, मुझसे बडी अवज्ञा हुई। अब क्रोध शान्त कर मुझपर कृपा कीजिए। मैंने स्वतन्त्र होकर ऐसा नहीं किया है। बल्कि इसका एक वृत्तान्त है, सो सुनिए। जब आप सन्ध्या करने चले गये थे तब यहाँ एक कामी पुरुप ने आकर मुझे पकड़ लिया। मैं निर्बल थी, इस कारण उसने जो चाहा किया। मैंने अपने पातिव्रत की रक्षा के लिये उसपर बहुत क्रोध किया और उसका निरादर किया। आपको भी बहुत

पुकारा पर आप वहुत दूर थे इससे न सुन सके। इतने में उस बली ने मुझे पकड़ कर अपनी गोद मे वैठा लिया और जो कुछ भावना थी वह किया। इसमे मेरा कोई दोष नहीं। आप क्षमा करें और क्रोध न करें। राजा ने कहा—हे मदनिका! तू वार-वार क्रोध का नाम क्या लेती है? मुझे तनिक भी क्रोध नहीं है। क्रोध किस पर करूँ? सब आत्मा ही तो दृष्टि आता है। फिर भी तेरा यह कर्म साधुओं से निन्दित है। इससे मैंने अब तेरा त्याग किया और अब अकेले सुख से विचरूँगा। तेरी उत्पत्ति दुर्वासा के शाप से हुई है। अत. अब तू उन्हीं के पास चली जा। मेरा गुरु कुम्भज तो मेरे ही पास है। उसे और मुझे कोई राग नहीं। हम दोनों सदा ही नि.रागरूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त॥ ९४॥

पञ्चानवेवाँ सर्ग।

चुडाला प्राकाट्य वर्णन

हे रामजी! राजाके इस रागरहित विचारको सुनकर चुडाला वहुत प्रसन्न हुई और उसे निश्चय होगया कि अब राजा राग-द्वेष से रहित और शान्तपद में स्थित हुआ है। इस विचार को निश्चय कर लेने पर उसने यह दूसरा विचार किया कि अब मुझे यह मदनिका का शरीर त्याग चुडाला रूप धारण करना चाहिए। यह विचार आते ही मदनिका चुडाला के रूप में प्रगट होगई। हे रामजी! उसके इस कौतुक को देखकर राजा को महान् आश्चर्य हुआ। तब यह दृश्य अथवा कौतुक कैसा और क्या है? इस बात को जानने के लिये राजाने ध्यानावस्थित होकर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि यह तो रानी चुडाला है। पर यह कहाँसे आ गई? पूछना चाहिए। ऐसा विचार कर राजाने पूछा—हे देवि! तू कहाँसे आगई? तुझे देखकर मुझे अपनी स्त्री का स्मरण हो आया। बडा आश्चर्य

है कि तू उसके रूप मे कहाँ से आगई ? चुड़ाला ने कहा,–हे प्रभो! मै आपकी स्त्री चुड़ाला हूँ और आप मेरे पति हैं। हे राजन्! कुम्भज से लेकर अब तक की जितनी शरीरें आपने देखी हैं, वह सब मैंने आपको जगाने के लिये धारण की हैं। आप ध्यान में देखें कि यह सब चरित्र किसने किया है। राजाने ध्यानावस्थित होकर देखा तो सब बात ठीक पाई। फिर तो महान आश्चर्यित हो राजा ने प्रेम-पूर्वक चुडाला को कण्ठ से लगा लिया। उस समय उन दोनों को जैसी प्रसन्नता हुई उसका वर्णन नही हो सकता। पुनः राजाने कहा हे देवी! तुमने मुझपर जैसी कृपा की है, उसका वर्णन मै नहीं कर सकता। तुम्हारी स्तुति मै किस प्रकार करूँ? यह कहते हुए राजाके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। पश्चात् धैर्य धारणकर पुनः राजा चुड़ाला से कहने लगा–हे देवी! अब मुझे ज्ञात हुआ कि तूने मेरे लिये महान् कष्टोंको सहन किया है। मेरे लिये बारम्बार आना जाना और नित्य नवीन-नवीन शरीरों का स्वांग रचना और उडना इत्यादि क्या कोई साधारण कष्ट था। पर केवल मेरे लिये तूने यह सब यत्न किये। अतएव मै तुझे बारम्बार धन्यवाद देता हूँ। तू धन्य है हेदेवी! तू मेरे लिए अरुन्धती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी, पार्वती, औरसरस्वती आदि श्रेष्ठ कुलकी कन्याओं और प्रतिव्रताओं मे सबसे श्रेष्ठ है। जिस पुरुष को पतिव्रता प्राप्त होती है उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं और उसे बुद्धि शांति, दया, शक्ति, कोमलता और मैत्री प्राप्त होतीहै। हे देवी! अब तेरीकृपासे मुझे ऐसा शान्तिपद प्राप्त हुआ है कि जो सहस्रों तप करनेसे भी नहीं प्राप्त होता। अत: तुझे बारम्बार धन्यवाद है। चुडाला ने कहा,–हे राजन्! आप किस लिये इतनी स्तुति करते हैं, मैंने तो अपना कर्तव्य पालन किया है। हे राजन्! यदि आप राग अर्थात् अज्ञान को साथ लेकर वन मे न गये होते तो आप को इतना कष्ट न उठाना पड़ता। जैसे कोई कीचड़ त्यागकर गङ्गाजल को अङ्गीकार करे वैसे ही आपने राज्य

को त्यागकर आत्मपद को प्राप्त करना चाहा इसी कारण आपको इतना कष्ट मिला। पर जब मैंने देखा कि आप वन मे चले आये तब उस कीचड से मुझे निकलना अभीष्ट हो गया और मैंने इतना यत्न किया। सो यह मेरा कर्तव्य था और मैंने उसका पालन किया। रानी के इस विचार को सुनकर राजा बडा प्रसन्न हुआ और आशीर्वाद दिया कि आज से सब प्रतिव्रता स्त्रियाँ ऐसा ही कर्तव्य करें जैसा तूने किया है। पतिव्रता ही ऐसा महान् आत्म-कौतुक कर सकती है। हे देवि ! तू धन्य है तूने मेरा उपकार किया। अच्छा, अब तू मेरे अङ्ग से फिर आकर लग जा। मैं तेरे उपकार का चिरऋणी हूँ। ऐसा कह कर राजा ने फिर रानी को कण्ठ लगाया। तब कण्ठसे पृथक होने पर चुडाला ने पूछा कि हे राजन् ! अब आप मुझे यह बतलाइए कि आप कहाँ स्थित हैं ? अब आपको अपना राज्य दिखलाई पडता है या नहीं और आगे के लिये आपकी क्या इच्छा है ? राजा शिखरध्वज ने कहा कि—हे देवी ! जिस स्वरूप को तूने मुझे ज्ञान देकर स्थिर किया है और अब मैं उसी अपने आप शांतपद मे स्थित हूँ। अब मुझे न कोई इच्छा है और न कोई अनिच्छा, इससे अब केवल शान्तरूप हूँ जिस पद का कोई उत्थान नहीं और जो पद निष्किञ्चन है और जिस पद के आगे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियाँ भी शोकयुक्त भासती हैं, अब मैं उसी पद में स्थित वही रूप हूँ। अधिक क्या कहूँ। मैं जो था, अब वही हुआ हूँ। हे देवी ! तूने ही मुझे ससार समुद्र से पार किया है, इससे तू ही मेरा गुरु है। अब मुझमे 'अह त्व' आदिक शब्द कुछ नहीं, मैं शान्तिपद हूँ। मै न सूक्ष्म हूँ, न स्थूल हूँ। अब मुझमे ऐसा तैसा शब्द कोई नहीं है। मै अद्वैत और चिन्मात्र हूँ। राजाके ऐसा कहने पर चुडाला ने कहा—तो अब आपकी क्या इच्छा है ? राजा ने कहा,—हे देवी ! मुझे स्वयं कुछ इच्छा नहीं है। अब जैसा तू कहेगी, वैसा ही करूँगा। राजा के वचन को सुनकर चुडाला ने

प्रसन्न होकर कहा,—हे प्राणपति ! अब आप विष्णु हो गये हैं यह महान् कार्य हुआ कि आप की इच्छा नष्ट हो गई। अतः अब हमारे आपके लिये यह उचित है कि जैसा कुछ प्राकृत आचार हो वैसा करें क्योंकि प्राकृतिक आचारको त्यागकरने से गिरने का भय रहता है। यदि अपना प्राकृतिक आचार त्याग देंगे तो किसी और का ग्रहण करना पड़ेगा। इससे अच्छा है कि हम दोनो अपने प्राकृत आचार को ग्रहण कर भोग और मोक्ष दोनो को भोगते हुये विचरण करें। हे रामजी ! ऐसा विचार करते हुये राजा ने दिन व्यतीत किया और सन्ध्या होने पर नैतिक क्रियाओं को कर रात्रि मे दोनों एक ही शय्या पर शयन किये। प्रेमालाप करते २ रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हो गई।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का पञ्चानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९५ ॥

छानवेवाँ सर्ग।

शिखरध्वज चुडालाख्यान समाप्ति वर्णन।

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! प्रातःकाल होने पर राजा और रानी दोनों ने उठकर स्नान किया और रानी चुडाला ने मन के संकल्प से रत्नो का एक घडा रचकर उसमें गङ्गा आदिक सम्पूर्ण तीर्थों का जल डालकर राजा को स्नान कराया। जब राजा स्नान कर सन्ध्या वन्दन कर चुका तब चुडाला ने कहा कि हे राजन् ! अब आप मोह का नाश कर चुके हैं इससे अब चल कर सुखपूर्वक अपना राज्य कीजिये। राजा ने कहा,—हे रानी ! यदि तुझे राज्य करने की इच्छा है तो मेरा राज्य स्वर्ग और सिद्धलोक में भी है इसलिये स्वर्ग मे ही चलकर राज्य सुख भोगो। रानी ने कहा,—हे राजन् ! मुझे किसी वस्तु की इच्छा और अनिच्छा नही है क्योंकि मुझे तो सब शून्यवत् प्रतीत होता है। अतः मेरे लिये न तो कुछ स्वर्ग है और न तो कुछ नरक है। हे राजन् ! मेरी वृत्ति तो ऐसी अवश्य है किन्तु शरीर धारण करने के कारण नियमानुकूल

चेष्टा का उत्पन्न होना आवश्यक है, इस कारण प्राकृतिक आचार का त्याज्य करना संवरण नहीं हो सकता। अस्तु आप चलें और इष्ट वस्तुओं के तेज को ग्रहण कर राग-द्वेष से रहित हो राज्य-सुख भोगें। राजा ने कहा,– अच्छा, हम इसके लिये सन्नद्ध हैं पर राज्य करने के पूर्व राजा को सैन्य-संग्रह की आवश्यकता है। क्या तुम ऐसा कर सकती हो। रानी ने कहा, अवश्य। फिर तो उसी समय रानी ने संकल्प द्वारा सेना सहित राजसुख की समग्र सामग्रियाँ रच डालीं, और सबको यथा स्थान स्थित कर दिया। तदुपरान्त राजा सिर पर मुकुट धारण कर हाथी पर सवार हो दो सौ सैनिकों के साथ मन्दराचल पर्वत पर विचरने लगा। उस विचरण में राजा ने अपने प्रत्येक तपके स्थानों को रानीको दिखाया उसी समय राजमंत्री और नगर की सारी प्रजा राजा के स्वागतार्थ आ उपस्थित हुई। पश्चात् राज-पूजन आदि की समस्त क्रिया हो जाने पर रानी सहित राजा अपने मन्दिर को पहुँचा। आठ दिन तक मिलने के लिये लोकपाल और मण्डलेश्वरों की धूम रही। पश्चात राजा सुखपूर्वक राज्य करने लगा और रानी सहित समदृष्टिरह जीवन्मुक्त अवस्था से सहस्र वर्ष तक राज्य किया। पश्चात वे दोनों ही विदेह मुक्त हो गये। हे रामजी! तुम भी उसी प्रकार राग द्वेष रहित हो समस्त भोगों को भोगते हुए विचरो।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का छियानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्तानवेवाँ सर्ग।

कचोपदेश वर्णन


शिष्ठजी बोले–हे रामजी! राजा शिखरध्वज का सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुमको सुनाया यदि उस पापनाशक वृत्तिका आश्रयकर आचरण करोगे तो निश्चयही आत्मपदको प्राप्त करोगे। तब उस आत्मपद को प्राप्तकर भोग और मोक्षको भोगते हुए तुम ऐसे ही निर्बन्ध रहोगे जैसे बृहस्पति का पुत्र कच बोधवान हो चुका है।

कच का नाम सुनकर रामजी ने कहा कि–हे
पुत्र कच कैसे बोधवान हुआ कृपाकर इस वृत्तान्त
सुना दीजिये। वशिष्ठजी कहने लगे हे रामजी
व्यतीत कर कच कुछ जानने योग्य हुआ
वृहस्पति के पास जाकर उसने पूछा कि–हे
पिंजर से कैसे निकला जा सकता है क्योंकि
है सब आत्मदेहादिक जीवों से मिथ्याभिमान
प्रति क्षण 'अहं' 'त्वं' मानता रहता है, सो
हो सकता है वृहस्पति ने कहा–हे तात!
मुक्त होने के पूर्व सब कुछ त्याग करने
बिना त्याग के मुक्ति नहीं होती इससे मुक्ति
सब कुछ त्याग करदे। वशिष्ठजी ने कहा–
ऐसे वचनों को सुनकर कच ने सब ऐश्वर्य
मार्ग लिया और वन में जाकर एक
लगा। पुत्र के चले जाने से ज्ञानी वृहस्पति
हुआ। जब कच को तप करते आठ
दिन वृहस्पति पुत्र को देखने के लिये
पहुँचकर क्या देखते हैं कि कच समाधि
लीन है–वृहस्पति पुत्र के पास चले
कच ने देखा कि पिताजी आकर
पिता का पूजन कर प्रणाम किया
लगाकर कुशल पूछा। पश्चात्
पिता से पूछा–कि हे पिताजी!
के पश्चात् आज तप करते
क्या कारण है कि मुझे अब
ने कहा–हे पुत्र। सब
हो। यह कहकर

के चले जाने पर कचने आसन और मृगछाला सहित उस कन्दरा और वनको भी त्याग दिया और दूसरे वनमे पहुँच कर एक कन्दरा मे जा बैठा। जब वहाँ स्थित रह तप करते तीन वर्ष व्यतीत हुआ तब एक दिन उसका पिता बृहस्पति फिर उसे देखने पहुँचा। कच ने फिर पिता का गुरुवत स्वागत किया। पश्चात् कच ने कहा–हे पिताजी! अब तो मैंने सब कुछ त्याग दिया पर क्या कारण है कि मुझे अब भी शान्ति न प्राप्त हुई। अब तो मैंने अपने पास कुछ भी नहीं रक्खा है। अतएव अब कृपाकर मुझे वह उपदेश दीजिये जिससे मेरा कल्याण हो। बृहस्पति ने कहा–हे पुत्र! अब भी तूने सर्वस्व त्याग नहीं किया। क्या तूने चित्तका त्याग किया है? यदि नहीं तो अब चित्त का त्यागकर। वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! ऐसा कहकर बृहस्पति आकाश को चला गया। बृहस्पति के चले जाने पर कच विचारने लगा कि चित्त क्या है। तब पहले उसने वन के पदार्थों को विचारकर देखा कि यह चित्त है। परन्तु उन्हें भिन्न-भिन्न देखकर तत्क्षण उसे ज्ञान हुआ कि यह भी चित्त नहीं है और नेत्र भी चित्त नहीं है। तब क्या मेरा यह श्रवण तो चित्त नहीं है। पर श्रवण भी उसे चित्त न ज्ञात हुआ। इस प्रकार उसने अपनी सब इन्द्रियों पर एक बार दृष्टि डाली और उसे सब चित्त से रहित प्रतीत हुईं। तब चित्त क्या है यह जानने के लिये पिता के पास चलना चाहिये ऐसा विचार कर वह दिगम्बर रूप कच आसन से उठकर आकाश को चला और पिता के पास पहुँच कर पूछा कि–हे देवगुरु! आप मेरे पिता हैं, आपने चित्त त्याग करने के लिये मुझे उपदेश दिया था सो कृपाकर बतलाइये कि चित्त का रूप क्या है? बृहस्पति ने कहा–हे पुत्र! चित्त का नाम है अहङ्कार और इसकी उत्पत्ति अज्ञान से होती है और आत्मज्ञान से इसका नाश होता है। जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्प भासता है और जेवरी के जानने से सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही 'अह' भाव का त्यागकर तू अपने स्वरूप में स्थित हो। कच

ने कहा–हे पिताजी ! 'अहं' तो मै हूँ फिर मै अपने आपका त्याग कैसे करूँ ? इसका त्याग करना तो अत्यन्त कठिन है। बृहस्पति ने कहा–नहीं इसका त्याग तो अत्यन्त सुगम है। नेत्र के बन्द करने और खोलने मे तो कुछ यत्न भी है। पर अहकारको त्यागने मे कुछ यत्न नहीं है। क्योंकि इस अहङ्कार की उत्पत्ति प्रमाद से है। आत्मा के प्रमाद से यह उत्पन्न हुआ है। पर आत्मा शुद्ध और आकाश से भी निर्मल है। तुम उसी देश, काल और वस्तुसे रहित चिन्मात्र सत्ता में स्थित रह। उसमे स्थित रहने से तू 'अहंभाव' को न प्राप्त होगा क्योंकि आत्मा सब प्रकार और सबमे स्थित है। उसमे अहकार का वैसे ही लेश नहीं है जैसे समुद्र मे रज का लेश नही होता उस आत्मा मे न एक है न दो। वह अपने आप मे स्थित हैं और यह जो कुछ भी आकारवत् दृष्टि आता है वह केवल चित्त का स्फुरण मात्र है। चित्त के नष्ट होने पर तो आत्मा ही शेष रहता है। यदि तुझे अपने दु:ख को नष्ट करने की चिन्ता है तो इन सब दृश्यो को छोड़ अपने स्वरूप मे स्थित रह। क्योंकि यह सब कुछ आत्मा ही का चमत्कार है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥९७॥

अट्ठानवेवाँ सर्ग।

मिथ्या पुरुषोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजो ने कहा–हे रामजी ! बृहस्पति के उस उत्तम उपदेश को सुनकर कच अपने आत्मस्वरूप मे स्थित होगया और जब तक शरीर रहा तब तक जीवनमुक्तपद मे विचरता रहा। हे रामजी ! जैसे कच जीवन्मुक्त होकर विचरा वैसेही तुम भी निराश और निरहङ्कार होकर विचरो। तुम्हारा अपना आप शुद्ध और अद्वैत निर्मल पद है। उसमें एक और दो का समावेश नही है। अतः तुम उसी पद मे स्थित होओ। वह पद दु:ख से रहितहै और तुम वही अहकार [illegible] आत्मा हो। इससे तुममे ग्रहण और त्याग

कुछ नहीं है। जब पदार्थ का ही अभाव है तब उसका ग्रहण और त्याग क्या ? ज्ञानी पुरुष अहंकार का ग्रहण और त्याग नहीं करते, उनको केवल एक आत्मा ही भासता है, पर अज्ञानी को तो एक आत्मा में हो नाना स्वरूपों का ज्ञान होता है। यही कारण है कि वह दिन रात हर्ष और शोक मे डूबता रहता है। किन्तु तुम किस दुःख का नाश करना चाहते हो ? तुममे तो कोई दुःख है ही नहीं। यह जितने भी आकार भासते है सब मिथ्या हैं और मूर्ख इसी मिथ्या पदार्थ को सत् मानकर रक्षा मे लगे रहते हैं और फिर भी कहते हैं कि मेरा दुःख नाश हो। सो कैसे हो सकता है ? यह सुनकर रामजी ने कहा कि—हे मुनीश्वर ! अब आपके अमृतमय उपदेशों को सुनकर मैं तृप्त होगया हूँ और अब मेरे तीनों तापों का सर्वथा नाश होगया है। हे भगवन् ! अब आपकी कृपा से मुझे शान्तपद की प्राप्ति हुई और मुझमे कोई फुरना नहीं रह गया। परन्तु जिस प्रकार पपीहा स्वाती की बूँद के लिये लालायित ही रहता है, उसी प्रकार मेरा हृदय आपके उपदेशों को सुनकर भी नवीन-नवीन उपदेशों को सुनने की इच्छा किये रहता है। अतः कृपा कर अब मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिए। हे भगवन् ! कृपाकर यह बतलाइये कि सत क्या है और असत क्या है ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! इसको जानने के लिये एक आख्यान सुनो। यह आख्यान बड़ा मनोरञ्जक और प्रसन्न करनेवाला है, जिसको सुनकर तुम्हें बडी हँसी आवेगी। हे राघव ! आकाश मे एक शून्य वन है और उसमे एक मूर्ख बालक जो स्वय तो मिथ्या है किन्तु सत्य रखने की इच्छा रखता है और कहता है कि मैं इस वन की रक्षा करूँगा, पर वह नहीं जानता कि इसका अधिष्ठान जो सत्य है क्या है ? उसको यह ज्ञान है कि यह मेरा आकाश है और मै इसकी रक्षा करूँगा, ऐसा जानकर मूर्खता वश वह दुःख पा रहा है। कुछ समय पश्चात उसने उस वन मे एक गृह बनाया और कहा कि मै इसके द्वारा आकाश की रक्षा करूँगा। जब वह गृह किसी ओर से टूटता तब उसे फिर

बना लेता। कुछ समय पश्चात वह गृह स्वयं टूट कर गिर पड़ा तब हाय! मेरा आकाश नष्ट होगया ऐसा कहकर वह विलाप करने लगा। फिर यह विचार कर कि गृह तो टूटकर गिर पडता है, अब कुवाँ बनाऊँ क्योंकि कुवाँ टूटकर नहीं गिर सकता, परन्तु कुछ समय पश्चात कुयें की भी वही दशा हुई जो गृह की हुई थी। तब हाय! मेरा आकाश टूटकर गिर पडा, अब मैं क्या करूँ, ऐसे शोकपूर्ण शब्दोंमे चिल्ला-चिल्ला कर विलाप करने लगा। पर उसके साहस का यहीं अन्त न हुआ और उसने आकाश की रक्षा के लिये एक खाई निर्माण की। खाई से उसे निश्चय होगया कि अब मेरा आकाश कहीं नहीं जा सकता, किन्तु खाई की भी वही दशा हुई कि जो गृह और कुयें की हुई थी। तब वह फिर रुदन करने लगा, पर आकाश रक्षा उसका मुख्य ध्येय था। इस कारण अब उसने एक घडे की रचना की और घटाकाश की रक्षा करने लगा। काल पाकर वह घट भी टूटगया तब उसने एक कुण्ड और फिर एक ओखली बनाई पर इन दोनों की भी वही दशा हुई जो अन्य रचनाओं की हुई थी और समय आते ही यह दोनों भी टूटकर नष्ट होगये। तब हाय! हाय!! मेरा आकाश नष्ट होगया। ऐसा कहकर वह दारुण विलाप करने लगा। हे रामजी! आत्मज्ञान और आकाश की अनभिज्ञता ने उस बालक को दुःख दिया। यदि उसका अपना और आकाश का यथार्थ बोध होता तो वह इस कष्ट को क्यों प्राप्त होता। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे मुनिवर! वह मिथ्या पुरुष कौन था और वह जिस आकाश की रक्षा करता था और वह जिन गृह और कूपादिकों को बनाता था वह क्या था? कृपाकर यह मुझे स्पष्ट करके कहिये? वशिष्ठजीने कहा—हे रामजी! इसमे मिथ्या पुरुष 'अहंकार' को कहा गया है और वह आकाश जिसकी वह रक्षा करता था वह उसके सवेदन अर्थात् शक्ति से फुरा हुआ चिदाकाश है और आकाश, गृह और घटादि जो कहा है वह शरीर है और उसका अधि-

ष्ठान है आत्मा और उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा उसने मूर्खता से किया है और मेरा स्वरूप क्या है, इसको वह नहीं जानता था। तब उसे दु ख पाना तो अनिवार्य था। क्योंकि स्वयं मिथ्या होकर भी वह आकाश को कल्प कर उसके रखने की इच्छा करता है, भाव यह कि देह से देही के रखने की इच्छा करता है। पर उसे यह ज्ञान नहीं कि देह तो काल से उत्पन्न हुई है फिर देह के नष्ट हो जाने से शोक क्या ? किन्तु वह तो अपने उस वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है कि जिसका नाश कदापि सम्भव नहीं। यदि उसे ऐसा विचार आता तो वह क्लेश नहीं पाता। हे रामजी! भ्रमोत्पादक वस्तु मे अधिष्ठान सत्ता की भावना नहीं होती, क्योंकि वह सबका अपना आप और अविनाशी है। उसमे मूर्खतावश 'अह' रूपने ससार और जीवोंकी कल्पना की है उस 'अह' के कई नाम हैं। यथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार जीव, माया, प्रकृति और दृश्य। यह सब उसी एक के नाम हैं। पर उस अपने आप आत्मा मे इन सबका अत्यन्त अभाव है और यह ऐसेही उदय होकर ब्राह्मण-क्षत्री आदिक वर्ण और गृहस्थ, वाणप्रस्थ, सन्यास आदि आश्रम और मनुष्य, देवता, दैत्य आदि की व्यर्थ ही कल्पना करलिये हैं, वास्तवमे इनकी कोई उत्पत्ति नहीं है। त्रिकालमे भी इनकी वास्तविकता सम्भव नहीं यह केवल अविचार मात्र ही है। जिस प्रकार अज्ञानता वश जेवरी मे सर्प का भान होता है और ज्ञान होने से सर्व भ्रम नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वरूप के प्रकार से अहकार का उदय हुआ है। तुम्हारा स्वरूप आत्मा है और वह आत्मा प्रकाशरूप, विद्या, अविद्या से परे निर्मल चेतनमात्र और निर्विकल्प है। उसमे कोई प्रमाण नहीं, वह आत्म तत्व मात्र स्वत. स्थित और अद्वैत रूप है। फिर उसमे ससार और अहकार कहाँ ? ज्ञानी को आत्मासे पृथक् कुछ नहीं भासता, पर अज्ञानी को ससार का भान होता है वह पदार्थों को सत् और संसार को वास्तव जानता है, मै कौन हूँ, मेरा रूप क्या है इसको वह नहीं जानता। यदि इसका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अहंकार नष्ट हो जाता है।

ऐसा होने पर वह अपने स्वरूपमे स्थित हो जाता है। हे रामजी! यह सारा संसार उस आत्मा का ही चमत्कार है। जिस प्रकार वायु वेग से समुद्र में नाना प्रकार की तरंगें उठती हैं और जिस प्रकार सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषणों का भान होता है किन्तु वह सब एक ही स्वरूप है, अन्य कुछ नही उसी प्रकार उस एक आत्मा से भिन्न संसार और कुछ नहीं। समुद्र और सुवर्ण तो तरङ्ग और भूषणका रूप धारण भी करते थे, किन्तु आत्मा तो परिणाम रहित और अच्युत है। ससार उसके संवेदन का एक चमत्कार मात्र है और वह भी आत्म स्वरूप ही है। उसका न जन्म होता है और न मरण, वह न किसी काल मे पडता है और न उसे कोई मार सकता है। कारण कि वह अद्वैत है जब उसमें एक नहीं तब दो कहाँ से हो। उस आत्मा मे स्थित होने से दु:ख और ताप नष्ट होजाते हैं। वह शुद्ध और निराकार है, शरीरके नाश होनेसे उसका नाश नही होता है। वह ज्यों का त्यों और जरा-मरण से रहित है। जरा-मरण का सम्बन्ध तो पुर्यष्टका से है। पुर्यष्टका का वास शरीर मे हाता है जब शरीर से पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक हुआ जान पडता है और जब तक पुर्यष्टका सयुक्त रहता है तब तक जिवित जान पडता है। इससे वह आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है। तब उसका ग्रहण और उसकी रक्षा कैसे हो सकती है। उसके सम्बन्ध मे सूक्ष्म शब्द भी केवल उदाहरण मात्र ही है। यह तो तुम्हे उपदेश देने के लिये मैंने कहा है, अन्यथा आत्मा निर्वाच्य और भावाभावरूप ससार से परे है। हे रामजी! तुम उसी मे स्थित होकर अहंकार का परित्याग करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का अट्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९८ ॥

निन्नानवेवाँ सर्ग ।

परमार्थयोग महाकर्त्ताद्युपदेश वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! यह सारा संसार आत्मा का ही रूप है और उसी निर्विकल्प शुद्ध आत्मा ने चेतन लक्षणवाले मन से जगत की रचना की है। जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग और सुवर्ण में भूषणों का भान होता है उसी प्रकार आत्मा मे मन है। जिसको समुद्रमे तरङ्ग और सुवर्णमें भूषण का यथार्थ ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञानी है। जिसको रस्सी मे सर्प का भान नहीं होता और रस्सी को वह रस्सी भी जानता है अथवा जिसको सुवर्ण ज्ञान के अतिरिक्त भूषण बुद्धि नहीं होती ऐसा पुरुष निर्विकल्प है। इसी प्रकार जिस पुरुष को निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान होता है उस पुरुष को सारा ससार ब्रह्ममय भासता है और उसको ससार की कोई भावना नहीं होती, वही यथार्थ ज्ञानी है। इससे आत्मा से मन भिन्न नहीं। हे रामजी ! जब आदि परमात्मा से "मैं" और "तुम" आदिक में मन का फुरना हुआ, तब अपने निर्विकल्प आत्मस्वरूप का उसे प्रमाद होगया और उस प्रमाद के होने से सारे विश्व की उत्पत्ति होगई पर उस आत्मस्वरूप मे मन भी कदाचित उदय नहीं हुआ किन्तु आत्मा स्वरूप है इस कारण उदय हुये की नाईं भासता है। इसी प्रकार न तो मन सत्य है और न ससार सत्य है पर उसे असत्य भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि इन दोनों की उत्पत्ति तो आत्मा ही से हुई और वह आत्मा ज्यों का त्यो स्वत. स्थित है और वही मन होकर फुरा है। इस कारण वही मन ब्रह्मा है और उसी मन रूपी ब्रह्मा ने अपने मनोबल से इस स्थावर जङ्गम की रचना की है जो न तो सत्य है न असत्य है। हे रामजी ! यह सारा प्रपञ्च मन का रचा हुआ है। उस मनके कई नाम हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव यह सब उसी के नाम हैं। अत. इस संसार और सब विकारोंकी जड केवल मन है।

यदि यह मन नष्ट हो जाय तो न तो कहीं संसार है और न मन है। मन मे स्वाभाविक फुरना होता है और जब तक यह फुरना होता रहता है तब तक दृश्यो का अन्त नही होता। इससे जिस प्रकार हो मनके फुरने को नष्ट करना चाहिये। जब फुरना नष्ट हो जायगा तब ससार का भी नाश हो जायगा। किन्तु जब तक स्फूर्ति सहित ससारको दीखता रहेगा तबतक यह संसार अवश्य भासेगा और जब फुरनेसे रहित होकर देखेगा तब किसी भी पदार्थ का भान न होगा और केवल शान्तपद की प्राप्ति होगी। क्योकि वह शान्तपद सब कल्पनाओ से रहित है। उस पद मे अहकार और देह तथा वर्णाश्रम आदि कुछ नही है। इन सबकी कल्पना तो मायाने की है। उस पद को जानने के लिये सबसे पृथक होना होगा। जो उस अपने आप पद को जान लेता है उसको कोई दुःख नही रहता। हे रामजी! तुम उसी पद के प्राप्त करने की भावना करो। उस पद मे न बन्ध है न मोक्ष है। वह केवल समान सत्ता और आत्म पद है। जिस पुरुष को ऐसी भावना हो गई है उसको सर्व आत्मा ही भासता है। हे रामजी! तुम उसी आत्मा का साक्षात्कार कर स्वयं ही महाकर्त्ता महा भोक्ता और महा त्यागी बनकर रहो। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा कि—हे भगवन्! महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कौन है? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! एक समय जब सदा शिवजी सुमेरु पर्वत से आ रहे थे तब मार्ग मे भृङ्गी ने भी यही प्रश्न शिव से किया था, तब शिवजी ने उसे रहित करने और शान्ति देने के लिये कहा कि—हे भृङ्गी! जो कुछ शुभ क्रिया आन प्राप्त हो उसको जो पुरुष शङ्का रहित होकर करता है वह पुरुष महाकर्त्ता है और जो पुरुष मौनी, निर्हङ्कारी, निर्मल और मत्सर से रहित है वह पुरुष महाकर्त्ता है। फिर महाकर्ता के यह लक्षण हैं कि वह किसी वस्तु की इच्छा नही करता और जो पुण्य, पाप क्रिया अनिच्छित आ प्राप्त होती है उसे अभिमान रहित हो करता जाता है वह

सर्वत्र से स्नेहरहित रह सत्यवत् स्थित रहता है। उसे न दुखमें शोक होता और न सुख मे हर्ष होता है। वह स्वाभाविक चित्त समता को देखता रहता है। उसके लिये सम विषम कुछ नहीं है। हे पुत्र! अब महाभोक्ता पुरुष के लक्षण सुनो। महाभोक्ता वह है कि जो महान से महान कष्ट प्राप्त होने पर भी उसमें द्वेष नहीं करता और महान सुख प्राप्ति मे भी हर्षित नहीं होता। उसे महाभोक्ता कहा जाता है। उसके लिये राज्य प्राप्ति और भिक्षु वृत्ति सुखी और दुखी नहीं बना सकते। वह सर्वदा ही अपने स्वरूपमें स्थित रह मान, अहकार और चिन्तासे रहित रहता है। वह अपनेको लेनेवाला और शुभ भोक्ता होते हुए भी अपने को कर्तापन और भोक्तापन से पृथक मानता है। वह षटरसोंके भोगनेसे सर्वदा ही समुचित रहता है। जो कुछ बुरा भला आ प्राप्त होता है उसको वह दुखरहित होकर भोगता है और शुभ, अशुभ, भाव, अभाव, सुख, दु:खरूपी क्रियासे कदाचित चलायमान नहीं होता। ऐसे महाभोक्ता पुरुष को न तो मृत्यु का भय रहता है और न जीते की आस्था रहती है। उसके लिये जैसा ही उदय है वैसा ही अस्त है। हे भृङ्गी! ऐसे ही पुरुष महाभोक्ता कहलाते हैं। महात्यागी पुरुष वह हैं कि जिनके लिये न तो कुछ शरीर है न इन्द्रिया हैं। वह अहकार सत्ता को त्यागकर सर्वदा साक्षीभूत अपने आप मे स्थित रहते हैं। हे भृङ्गी! ऐसी वृत्ति को धारण करनेवाला महात्यागी सब चेष्टाओंको करता हुआ भी रागद्वेष से रहित रहता है। हे रामजी! तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। अत: जिस प्रकार हाथ मे खप्पर लिये बाघम्बरधारी सदा शिव का उपदेश सुनकर भृङ्गीगण दु:ख रहित हो विचरे थे, उसी प्रकार तुम भी दुःख रहित होकर विचरो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का निन्यानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥९९॥

सौवाँ सर्ग ।

कलानिषेध-सन्त लक्षण वर्णन

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने कहा कि,—हे मुनीश्वर ! उधर उपशम प्रकरण मे आत्मा-सम्बन्धी उपदेश देते समय जब आपने कहा था कि आत्मा शुद्ध और अनन्त है तब मैने आप से पूछा था कि जब आत्मा अनन्त और शुद्ध है तो इसमे कलना कहाँ से उत्पन्न हुई, तब आपने यह कह कर कि तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर सिद्धान्त कालमें देंगे, आपने इस प्रश्नको स्थगित कर दिया था । अब वह सिद्धान्तकाल आ गया है, कृपाकर अब वह मुझे समझाइये । हे भगवन्! आपके अमृतरूपी उपदेशों को सुनकर मेरा हृदय तृप्त नहीं होता है, सो कृपाकर अब मेरे हृदय में जो संशय रूपी धूलि उठ गयी है उसे अपने वचनरूपी क्रीडा से शान्त कीजिये। हे भगवन् ! विना गुरु के उपदेश दिये केवल अपने विचार से यह शोभा नही देता । वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! जो शान्तिवान और क्षमावान इन्द्रयजीत पुरुष हैं वह मन के संकल्पों को जीत लेते है इससे वह सिद्धान्त के पात्र हैं । परन्तु जो रागद्वेष सहित क्रिया मे स्थित हैं और जो इन्द्रिय सुख में ही रत रहते है उनको 'अहं अस्मि ब्रह्म' सिद्धान्त का ऐसा वाक्य केवल श्रवण मात्र हो स्थित होता है और वह अधोगति को प्राप्त होते हैं । किन्तु जो पुरुष साधनकाल समाप्त करके पवित्र और क्षमावान् हो गये हैं उन्हे तो 'अहब्रह्म' आदि सिद्धान्त का केवल इतना ही शब्द शीघ्र आत्मपद की प्राप्ति करा देता है। इसी प्रकार तुम्हारे सदृश जो पुरुष साधनकाल समाप्त करके क्षमावान् और पवित्र हो गये हैं उनके लिये स्वरूप की प्राप्ति सुगम है पर जिसका अन्त. करण मलीन है उसको वह पदप्राप्त करना अत्यन्त ... कि इन्द्रियगामी पुरुषको आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा ... है। परन्तु तुम्हारे सदृश जिनका हृदय पवित्र है ... भी प्राप्ती होती है और

इस सिद्धान्त को पाकर शोभायमान होते हैं। हे रामजी! अत्र शास्त्रों का जैसा सिद्धान्त है और उनके दृष्टान्त को मैं जैसा जानता हूँ उन सब सिद्धान्तों का सार तुम्हारे हित के लिये कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! जिसने अभ्यास में एक क्षण के लिये भी आत्मा का साक्षात्कार किया है वह फिर गर्भ में नहीं आता और वह सत् असत् में भी कुछ भेद नहीं रखता, उसका भेद केवल संवेदन में ही रहता है। जैसे जाग्रत और स्वप्न के सूर्य का प्रकाश एक समान रहता है और दोनों ही अर्थाकार रहते हैं किन्तु जाग्रत सूर्य को सत्य और स्वप्न सूर्य को असत्य जानता है पर वस्तुतः दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं केवल दोनों के सवेदन में ही भेद होता है, वैसे ही स्वरूप मे सत्, असत् एक समान है और वह केवल शान्तरूप आत्मा ही है और उसमें शब्द अर्थ कुछ नहीं। शब्द अर्थ तो केवल सवेदन में है और इन दोनों की उत्पत्ति केवल फुरने से ही होती है। फुरना नष्ट हो तो केवल आत्मा ही शेष रहना है जो शुद्ध विद्या, अविद्या के कार्य से रहित और जिसका स्पर्श नहीं हो सकता। हे रामजी! यह विद्या अविद्या की दो शक्तियाँ ही जो एक आवरण और दूसरी विक्षेप के नाम से कही जाती हैं आत्मा को नहीं जानने देतीं और उलटा ज्ञान देती हैं, पर वह आत्मा सदा ज्ञानरूप और निर्मल है, उसको आवरण कुछ नहीं। वह आत्मा अद्वैत, शुद्ध और केवल ज्ञान-मात्र है। उस चिन्मात्रमें जिसको लेशमात्र भी अहंकार का उत्थान नहीं होता उसे कलना की शक्ति कैसे उठा सकती है? वह तो केवल निर्वाण पद है जिसमे एक और द्वैत नहीं कहा जा सकता, वह केवल अपने आपमें स्थित है। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि—हे भगवन्! जब सब ब्रह्म ही है तब मन, बुद्धि आदिक यह कौन हैं? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यथार्थ में केवल शास्त्र व्यवहार के लिये ही इन शब्दों की कल्पना की गई है अन्यथा यह मन, बुद्धि आदिक कुछ वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आप मे स्थित है और वह ब्रह्म ही

आत्मा है उससे भिन्न कुछ नहीं, वह सबका अधिष्ठान, अविनाशी और देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित है इसीसे उसका नाम ब्रह्म है। हे रामजी ! ऐसे अपने आप आत्मा मे तुम स्थित होवो। यह जितना कुछ जगत देखने में आता है सब उस चिदाकाश का ही रूप है। हे रामजी! इस ससार की उत्पत्ति अहंभाव से होती है इससे संसार का बीज अहकार है और अहकार भ्रम से सिद्ध हुआ है इस कारण अहंकार की कोई वास्तविकता नहीं, यह केवल स्वरूप के भ्रम मे उदय हुआ है, तब जो वस्तु कुछ नही और केवल भ्रम से उत्पन्न हुई है उसके त्यागने मे यत्न क्या? उसको तो सहज ही त्याग सकते हो। हे रामजी ! तुममें अहंकार की वास्तविकता नहीं, तुम शान्तरूप और चेतनमात्र हो। तुम में अहं का होना उपाधि है। हे रामजी ! तुम्ही से सुमेरु पर्वत आदिक जगत की रचना हुई है सो क्या है वह भी संवेदनरूप है। चेतन के आश्रय से फुरकर चित्त-रूपी पुरुष ने ही विश्व की कल्पना की है सो आत्मा से भिन्न कैसे हो सकता है? अत. समस्त आपदाओं की उत्पत्ति अहंकार से ही होती है। जब अहंकार नष्ट हो तब दु:ख भी नष्ट हो जायँ। जिस प्रकार बादलो से ढँका हुआ सूर्य प्रकाश नही देता उसी प्रकार अहंकार से आच्छादित आत्मा प्रकाश नही देता। हे रामजी! माया से मिलकर अपने आपको कुछ मान लेना—इसी का नाम अहंकार है। जब यह अहंकार नष्ट होता है तब आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश होकर ज्ञानरूपी कमल प्रफुल्लित हो जाता है और फिर महान् आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण दु:खो की निवृत्ति के लिये अहंकार को ही नष्ट करना चाहिए। भला ऐसी क्या वस्तु है जो यत्न करने से सिद्ध न हो? तब यत्न करने से अहकार क्यों नहीं नष्ट होगा? इसको नष्ट करने की सरल युक्ति यह है कि बारम्बार ब्रह्मविद्या, सत्शास्त्र और सन्तो का सङ्ग किया जाय। इस प्रकार पारस्परिक चर्चा करने से यह (अहंकार) [illegible] जाता है। उस सतसङ्ग मे विचारणीय

विषय यह होता है कि आत्मा क्या है और मै कौन हूँ? इन्द्रियाँ क्या हैं, गुण क्या है और संसार क्या है इत्यादि। ऐसा विचार करने के पश्चात् तुम्हे ज्ञात होगा कि मैं इनका साक्षीभूत हूँ और मुझ मे अहकार नहीं है। बस, इस प्रकार के यत्न से तुम्हारा अहकार अवश्य नष्ट हो जायगा। मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि तुम सुखी हो जावो। इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि—हे भगवन्! यदि आपका अहकार नष्ट हो गया है तो आप यह उपदेश कैसे करते हैं और यदि आप में अहकार नहीं है तो आप मे यह सर्व शास्त्रो का सिद्धान्त और ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति कैसे हो रही है जिससे आप धाराप्रवाह उपदेश करते चले जा रहे हे? हे भगवन्! आपका यह सिद्धान्त है कि इच्छा से अहकार सिद्ध होता है और स्मरण से चित्त की सिद्धी होती है फिर चित्त चैत्य से सिद्ध होता हे तब सङ्कल्प की उत्पत्ति होती है और सङ्कल्पसे ही मनकी सिद्धी होती है। इस प्रकार आपके भी चारों अन्त. करण सिद्ध हो रहे हैं। तब यह कैसे मान लें कि सब चेष्टायें भी होती रहे और अहकार भी नष्ट हो जावे? इसपर वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! आत्मस्वरूप में अहकार आदिक अन्त करण और इन्द्रियाँ तथा शास्त्रोपदेश आदि सब कल्पित हैं, वास्तविकता कुछ नहीं। आत्मा केवल आत्मतत्व मात्र है। सवेदनने उठकर ही उसमें अहंकार आदिक दृश्यों का स्फुरण किया है और वह भी इसलिये कि जिससे यह अपनी सत्ता से वञ्चित हो जावे और विपर्यय बुद्धि उठकर भय और शोक से भ्रमित रहे। पर ऐसी वृत्ति से निवृत्ति पाने के लिये ही शास्त्रों की रचना हुई है। शास्त्रों का उपदेश आत्मा को जना देता है और जब आत्मा को जान लेता है तब रस्सी में सर्प का भ्रम नष्ट होनेके समानही परिछिन्न भावसे अहकार नष्ट हो जाता है। जैसे अञ्जन के लगाने से नेत्र निर्मल हो जाते हैं वैसे ही गुरु और शास्त्रों के उपदेशरूपी अञ्जन से अज्ञानरूपी मल नष्ट हो जाता है। हे रामजी! तुम्हारा कथन सत्य है कि उपदेश करनेसे चारों अन्त

करण सिद्ध होते हैं पर तुम्हें यह जानना चाहिए कि ज्ञानीमे इन चारों की सत्यता नहीं होती। जिस प्रकार भुना हुआ बीज आकार सहित दिखलाई अवश्य पड़ता है, पर उसमें उगने की शक्ति नहीं रहती उसी प्रकार चारों अन्त करणों के विद्यमान रहते हुए भी ज्ञानी उससे (अहंकारसे) रहित रहता है। हे रामजी! ज्ञानरूपी वर्षासे आत्मरूपी जल चढ़ने पर चित्तरूपी मृग नहीं दौडता। हे रामजी! अहंकार तो अविचार से सिद्ध होता है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। पश्चात् आत्मा ही शेष रहता है। इस पर रामजीने प्रश्न किया कि—हे भगवन्! अहंकार-नष्ट पुरुष के क्या लक्षण हे? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि अहंकार-नष्ट पुरुष अज्ञानरूपी सांसारिक गढ़े में पदार्थ भावनासे नहीं गिरता। उसमे क्षमा, शान्ति आदिक गुण स्वभावतः ही आ प्राप्त होते हैं। वह सर्वदा क्रोधहीन रहना है और उसके हृदयमे विषमता की भिन्न भावनायें कदापि नहीं उठतीं। वह सर्वदा केवल समानसत्ता में स्थित रह अभिमान रहित इन्द्रियों की चेष्टा करता है। उसे न कभी अभिमानकी चेष्टा होती है और न वह कभी मनसे लोभ करता है। उसके मन मे कोई कामना नहीं रहती। वह ज्ञानरूपी सूर्य में अपनी समग्र कामनाओं को नष्टकर चुका होता है और सर्वदा शान्तरूप आत्मा मे स्थित रहता है। उसकी भोगभावनायें नष्ट हुई रहती है, जिससे वह फिर कभी दु:खी नहीं होता। उसको संसार के भावाभाव पदार्थ दु:खी नहीं कर सकते और उसका संसार भ्रम निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! यह ज्ञान है इसे केवल समझना चाहिए, इसमें कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। सन्तजनों के पास जाकर प्रश्न करना चाहिए कि मैं कौन हूँ, जगत क्या है, परमात्मा क्या है, भोग क्या है और परमपद पाने के लिये मैं इससे किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ इत्यादि? इसपर ज्ञानी पुरुष जो उपदेश दें उसके अभ्यास से ही आत्मपद की प्राप्ती होगी, अन्यथा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का सौवाँ सर्ग समाप्त॥ १००॥

एकसौ पहला सर्ग ।

इक्ष्वाकु प्रत्यक्षोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! तुम्हारे सूर्यवंश कुल में महाराज मनु के पुत्र तुम्हारे पुरुषा महाराज इक्ष्वाकु बड़े प्रतापी राजा हो चुके हैं। उनका ऐसा प्रचण्ड तेज था कि उनको देखकर शत्रु थर-थर काँपते थे। साधु, मित्र और प्रजा के वह अत्यन्त प्यारे थे। उनको देखकर सब प्रसन्न होते और शान्ति प्राप्त करते थे। वह पापरूपी वृक्षों को काटनेवाले और मित्रों के सुखदायक थे। लक्ष्मी के समान वह सुन्दर और यश से पूर्ण थे। मैं चाहता हूँ कि तुम भी उन्हीं के समान धर्मात्मा और तेजवान् होवो। हे रामजी! उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य किया था। एक समय उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि संसार में जरा-मरण आदिक बड़े क्षोभ है, इसके तरने का क्या उपाय है ? ऐसा वह विचार रहे थे कि उसी समय ब्रह्मलोक से शम्भुमुनि का आगमन हुआ। तब इक्ष्वाकु ने यथा विधि मुनि का पूजनकर पूछा कि—हे मुने! मुझे संसार फुरकर बड़ा दुःख दे रहा है। इससे कृपाकर आप कोई युक्ति बतलाइए कि जिससे मुझे शान्ति प्राप्त होवे। हे भगवन् ! कृपाकर आप यह बतलाइए कि इस संसार की उत्पत्ति कहाँ से हुई है और दृश्यों का स्वरूप क्या है और यह कैसे निवृत्त होगा ? संसार में यह जरा, मरण दो दुःख महान् कष्टप्रद हैं, मैं इनसे कैसे छुटकारा पाऊँगा। आप संसार के सब व्यवहारों को जाननेवाले और संशयकर्ता हैं। आपके वचनों से मुझे अवश्य शान्ति प्राप्त होगी, अतः कृपाकर मुझे इसका उपदेश कीजिए। राजा के ऐसे कथन को सुनकर शम्भुमुनि ने प्रसन्न होकर कहा—हे साधो ! मैंने संसार में बहुत भ्रमण किया, पर ऐसा एक भी जिज्ञासु नहीं मिला। तुमको धन्य है कि तुम्हारी बुद्धि को ऐसा विवेक उत्पन्न हुआ है। हे राजन् ! यह जितना कुछ जगत तू देख रहा है, सर्व असत् है। जैसे जेवरीमें सर्प, मरुस्थलमें जल और सीपीमें रूपा, आकाश

में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासता है वैसे ही यह जगत भ्रम से भास रहा है अस्तु यह जगत असत्‌रूप और भ्रम है। आत्मा क्या है? इसका उत्तर यह है कि उसके निकट मन सहित षटेन्द्रियों की गम नहीं और वह शून्य भी नही है ऐसा जो सत्‌ और अविनाशी है, वह आत्मा कहलाता है। यह आत्मा निर्मल, परब्रह्म सब ओर से पूर्ण और अनन्त है, उसी मे जगत कल्पित है। वही चिन्मात्र सत्ता सब पदार्थों मे व्याप्त है। उस आत्मा मे जीवादिको का ऐसे ही आभास हो रहा है जैसे समुद्र मे कोई तो तरङ्ग और कोई बुद्‌बुदे और चक्रादिकों का आभास होता है। पहले फुरनेरूपमे होते है पीछे कारण कार्यरूप होते हैं जिससे चित्त शक्ति स्वसंकल्प से भूतादिक शरीर रचकर उसमे स्वरूप का प्रमाद कर लेती है और आत्मा अभिमान करने लगता है। अतएव नाना प्रकार के आरम्भ को प्राप्त हो बिना कारण ही ब्रह्म शक्ति फुरने से कारण भाव को प्राप्त हो बन्ध और मोक्ष भासता है पर वास्तव मे उसमे न तो बन्ध है और न मोक्ष है। निरामय ब्रह्म ही अपने आप मे स्थित है। उसमे एक और अनेक कुछ नहीं। अस्तु, बन्ध और मोक्ष की कल्पना को त्याग कर तुम अपने स्वभावमे स्थित रहो। वह स्वभाव ही तुम्हारा अपने आप शुद्ध आत्मा है उसमे सुख दु.ख की कोई कल्पना नहीं। सुख दु.ख की कल्पना मूढ़ करते हैं, ज्ञानी नहीं। ज्ञानियो को मन, चित्त, सुख, दु.ख सब आकाशरूप होते हैं। फिर उनके लिये जरा, मरण क्या है? वह जरा, मरण को नही प्राप्त होते—देखने मे तो वह सब कार्य करते हैं पर हृदयसे वह अकर्तारूप है, उनको क्रिया स्पर्श नही करती। शारीरिक व्यवहारमे सदा निर्मलभाव रहते हैं। क्योंकि वह आत्मरूप हैं और आत्मा सदा स्थितरूप है। पर वह भ्रम से चञ्चल भासता है। हे राजन्! शरीर के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। यद्यपि आत्मा मे मन, इन्द्रियाँ और देह सभी दृष्ट आते हैं तथापि वह स्पर्श नहीं करते। वह आत्मा सर्वदा अचलरूप है किन्तु से

रूप भासता है। पर यह कहा जाय कि शरीर का विचार उसे लेश-मात्र भी स्पर्श करता हो, सो नहीं। जैसे प्रतिबिम्ब का विकार आदर्श को स्पर्श नहीं कर सकता वैसे ही शरीर का विकार आत्मा को नहीं स्पर्श करता। जैसे सुवर्णको अग्नि मे डालने पर सुवर्ण जलकर नष्ट नहीं होता वैसे ही शरीरके नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। क्योंकि वह नित्य शुद्ध, अवाक् और अचिन्त्यरूप है। वह देखने मे तो नही आता, पर चेतनवृत्ति से दिखलाई पडता है। यह चेतनवृत्ति निर्मल बुद्धि है। निर्मल बुद्धि मे आत्मा अवश्य दिखलाई पडता है। जब तक बुद्धि निर्मल नहीं होती तबतक शास्त्र और गुरु भी आत्माका साक्षात्कार नहीं करा सकते अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। यदि बुद्धि निर्मल हो जाय और वह सत्पथ का पथिक हो जाय तो वह स्वय ही अपने आपसे दिखलाई पड़ने लगता है। बुद्धि निर्मल तब होती है जब हृदय से ससार की सत्यता नष्ट हो जाती है और आत्मा का अभ्यास होता है। इससे भावाभाव रूप शरीरादिक जितने भी पदार्थ हैं सब असत् और भ्रममात्र हैं। इस कारण उनकी आस्था त्याग करदो और नित आत्मा शीतल चित्त मे स्थित रहो। हे राजन्! आपही अपना मित्र है और आपही अपना शत्रु है। कारण कि आत्मा मे अन्य किसी को स्थान नहीं और आत्मा में आत्मा ही का भाव है, द्वैत का नहीं। जो अनात्मधर्म विपयक दृश्य पदार्थों से चित्त को खींचकर अपने आपमे स्थित करता है, वह तो अपना आपही मित्र है किन्तु जो ऐसा न करके अनात्मधर्म में पदार्थों की ओर चित्त लगाता है वह अपना आपही शत्रु है। हे राजन्! आत्मा न तो उदय होता है और न अस्त होता है। वह सदा एक रस अविनाशी पुरुप ज्यों का त्यों स्थित रहता है। उसी मे 'अह' भावना करके ससार भासमान् होता है। आत्मा में अह बुद्धि का होना ही संसार का कारण है। अह बुद्धि ही समस्त दु:खों का भाजन है जितनी भी आपदायें है सब अनात्म बुद्धि के ही कारण प्राप्त होती

हैं। हे राजन्! जीव और आत्मा मे कोई भेद नहीं है। भेद है तो केवल इसी कारण कि जीव ने दृश्यों मे जाकर अहंकार करके अनात्मभाव धारणकर लिया है। अन्यथा यह चिन्मात्र और जीव दोनों ही एक रूप हैं। यदि यह ठीक-ठीक समझ मे आजाय तो ऐसी बुद्धि मुक्ति को प्रदान करती है। यद्यपि वह अनिन्दित आत्मा सब में व्याप्त है पर शुद्ध बुद्धि मे ही वह भासता है। जैसे तरङ्ग मे भी जल ही व्याप रहा है वैसे ही दृश्यकलना से अविनाशी आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा होने पर भी जैसे सुवर्ण मे भूषण का अभाव है वैसे ही आत्मा मे जगत का अभाव है। क्योंकि वह अद्वैत है। फिर उसमे दूसरी वस्तुका सचार कहाँसे होगा। जैसे नदियाँ और समुद्र नाममात्र को भिन्न-भिन्न हैं अन्यथा सब जल एकही सदृश हैं वैसे ही चिदाकाश मे विश्व नाममात्र को है। पर इसके जितने भी पदाथ आकारवत् भासते हैं उन सबको काल भक्षण कर लेता है और इस प्रकार अमित पदार्थ समूहों को भक्षण करके भी वह तृप्त नहीं होता। तब ऐसे पदार्थों की क्या अभिलाषा? इतना ही नहीं कोटि-कोटि सृष्टियाँ उत्पन्न हुई और उन सबको कालने भक्षण करलिया। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जो कालसे मुक्त होवे। इस कारण तुझे ऐसे पदार्थ की भावना करनी चाहिए जो काल से भी अतीत हो और काल को भी भक्षण करलेवे। वह भावना कैसे करोगे, सुनो। जैसे अगस्त्यमुनिने समुद्र को पान किया था वैसे ही आत्मारूपी अगस्त्य कालरूपी समुद्र को भक्षण करेगा। हे राजन्! जन्म मरण आदिक विकार तो भ्रम और आत्मा के प्रमाद से भासते हैं। जब आत्मा को निश्चयपूर्वक जान लोगे तब कोई विकार न भासेगा, क्योंकि इनकी रचना तो अज्ञान से हुई है। आत्मा मे जन्म मरण आदिक विकारों का भान तो तभी तक होता है जब तक आत्मा का साक्षात्कार नही होता और जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तब जन्म मरण आदिक विकार नष्ट हो जाते हैं। हे राजन्! यदि तू चाहता है कि मेरे दुःख

निवृत्त हो जावें तो जो विकार रहित आत्मा तेरा स्वरूप है, उसकी भावना कर। उसको कहीं खोजना नहीं है। वह तेरा अपना स्वरूप और सर्वदा अनुभवरूप ही है और वह तूही है। इस प्रकार कोई भी वस्तु तुझसे भिन्न नहीं है। तू अपने आपको ज्यों का त्यों जान। मैं मरूँगा, मै निर्धन हूँ, मै दास हूँ इत्यादि शब्दों को कहकर जो तू अपने को दुखी जानता है उसका एक मात्र केवल यही कारण है कि तू अपनी आत्मा को नहीं जानता। जब आत्मा को जान लेगा तब आनन्दरूप हो जायगा वह आत्मा तुझसे विछुडकर उतना ही दूर है जितना कि पुत्रवती स्त्री का बालक स्वप्न मे दूर हो जाता है और वह हाय-हाय करके रोती है और जब जागती है तब बालक को अपनी गोद में पाकर आनन्द को प्राप्त होती है। इसी प्रकार तेरा आत्मा अपना आप है और वह सर्वदा अनुभवरूप है, उसके प्रमाद से ही तू अपने को दुखी जानता है। ज्योंही यह तेरा प्रमाद एव अज्ञाननिद्रा नष्ट होगी, त्योंही तू जागृत होकर अपने आपको जानेगा और सदा के लिये तेरे दु.ख नष्ट हो जावेंगे। शरीर और इन्द्रियादिक दृष्यों मे मिलकर अपने को यह जानना कि 'मैं हूँ' यही अज्ञाननिद्रा है। इससे रहित आनन्दपद है'। हे राजन् ! तेरे दु.ख की निवृत्ति के लिये मैं एक युक्ति तुझे सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुन। यदि तू इसे सुनकर इसपर आचरण करेगा तो निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जायगा। सारी उपाधियों की जड सकल्प है। दूसरी एक वस्तु 'अह' अर्थात् जो अभिलाषा सहित तुझमे फुरना हो रहा है तू इसका त्याग कर। ज्योंही इसका त्याग होगा त्योंही तेरे समस्त दु.ख लोप हो जायँगे। हे राजन् ! आत्मारूपी मन वासनारूपी तृणसे ढँकी हुई है, जब वासनारूपी तृण को दूर करोगे तब आत्मारूपी मणि प्रकट हो जायगी। वह आत्मरूपी मणि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से भी परे है। जब तुम उसको प्राप्त करोगे तब स्वयं ही जानोगे कि मैं मुक्त होगया। इस प्रकार तुम्हारा स्वरूप जो केवल आत्मरूप है

तुम उसी पद मे स्थित होवो। वह अजन्मा और नित्य है। वह चेतनमात्र सबका अपना आप है। उसके प्रमाद से ही समस्त दु:ख उत्पन्न हुए है। उस अपने आपमे आत्मादिक की संज्ञा भी कुछ नही। यह संज्ञायें तो जिज्ञासु को समझाने के लिये शास्त्रों ने कल्पित किया है, अन्यथा वह ऐसा निर्वाच्यपद है कि उसमे वाणी की गम नहीं, पर वह इन्ही से जाना जाता है, कारण कि मन और वाणी मे आत्म-सत्ता है और उसी से आत्मादिक सज्ञायें सिद्ध होती हैं। हे राजन्! ऐसे अपने आपके स्वरूप मे स्थित हो जाने से जरा-मरणादिक दु:ख नष्ट हो जावेंगे और तब तेरे लिए स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही एक समान भासेंगे, तब समाधिकाल और चेष्टाकाल दोनों ही तेरे लिये एक तुल्य होगा। आशय यह कि न समाधि मे शान्ति का भाव होगा और न चेष्टामे दु:ख होगा, दोनों में एक रस रहेगा। हे राजन्! लेना-देना और यज्ञदान आदिक क्रियाएँ जो कुछ प्रकृत आचार है उनको मर्यादा और शास्त्र की विधि सहित कर, परन्तु अपना निश्चय आत्मस्वरूप मे वैसे ही रख जैसे नटका अनेक स्वांगो को पूर्ण चेष्टा सहित धारण करता हुआ भी अपने नटत्व मे ही निश्चय रखता है। अतएव अहंकार और सकल्प से रहित रहकर तुम भी सब चेष्टाओं को करते हुये अपने स्वरूपमे स्थित हो रहो। ऐसी निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर जब एक बार भी अपने स्वरूप को देख लोगे तब उत्थानकाल मे भी तुमको आत्मा ही भासेगा और तब तेरे लिये सारा संसार भी आत्मरूप ही भासित होगा, पर जब तक तू आत्मा से अविज्ञ है तब तक जगत् ही दृष्टि आवेगा और उससे अहर्निश दु:ख प्राप्त होता रहेगा, इस कारण तू अन्तर्मुख हो, संकल्पो को त्याग कर परम निर्वाण और अच्युत पद मे स्थित होजा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एक सौ पहला सर्ग समाप्त ॥१०१॥

एक सौ दूसरा सर्ग

मनु इक्ष्वाकु आख्यान वर्णन



इतनी कथा कह कर शम्भु मुनि ने राजा इक्ष्वाकु से कहा,–हे राजन् ! इस सकल्प में महान् शक्ति विद्यमान रहती है और वह अपने आप से ही बँधा है और अपने आपसे ही मुक्त है। जब सकल्प सहित दृश्य की भावना करता है तब आवागमन (जन्म-मरण) को प्राप्त होकर दु खी होता है और जब सकल्पको अन्तर्मुख करता है तब मुक्त होता है। इस कारण हे राजन् ! तू संकल्प को त्याग कर जो आत्मा सबका अपना आप है उसकी भावना कर कि जिससे तू सुखको प्राप्त हो। हे राजन् ! तू शरीर नहीं है, आत्मा और चिद्रूप है। आश्चर्य है कि इस माया ने समस्त संसार को मोहित कर लिया है और यह भी महान् आश्चर्य है कि जीव उस आत्मा को सर्वदा अनुभवरूप औरअङ्ग प्रत्यङ्ग व्यापक नहीं जानते। पर आत्मा सर्वदा अनुभवरूप ही है, तू उसमे स्थित रह उसी की भावना कर। संसार मे जितने भी पदार्थ भासते हैं सब आत्मयुक्त हैं। जैसे जलमे तरङ्ग भिन्न कोई वस्तु नहीं, वैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मामे भिन्नता एव भेद केवल इतनाही है कि जितना तप्त लोहमे लाप्ट सत्ता नहीं होती वरन अग्निसत्ता कीही विशेपता होती है, उतना ही चेतन की सत्ता जगत्‌रूप होकर स्थित हुई है, परन्तु आत्मामे प्रकाश और तम दोनो ही नहीं है। वह केवल चेतन-मात्र और गुणातीत होता है। उसमे न कोई गुण है और न कोई माया है। वह केवल शान्तरूप आत्मा है। वह सत्, असत्, देश, काल और वस्तु से सर्वदा परे है। उसकी प्राप्ति, तप से नहीं होती, वह केवल शास्त्रों और गुरुके वचनों और केवल अपने आपसे ही पाया जाता है। पर "यह है" ऐसा कहकर शास्त्र उसे नही दिखलाते। द्रष्टा पुरुप अपने आपमे ही उसे जानता है। आशय यह कि सङ्कल्पों से रहित

हो अन्तर्मुख होने पर आत्मा ही आत्मा को देख... विपरीत वहिर्मुख होने पर जब सङ्कल्पों की दृढ़ता ... उसकी भावना से दुखदायी होता है। ऐसा पुरुष ... जाता है। पर जो सम्यक्दर्शी है उसको जगत दिखाई ... तो भी वह दुःखी नही होता। क्योंकि वह आत्म... है, इस कारण सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये तू आत्म... कर। वह आत्मा सर्वदा आनन्दरूप अद्वेत और ... अद्वेत के जान लेने पर सारे विकार नष्ट हो जाते हैं।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्धका एकसौ ...

एकसौ तीसरा सर्ग

परमनिर्वाण वर्णन

है। चित्तके अस्फुर होनेसे तो ससार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इस कारण हे राजन्! चाहे जिस प्रकार हो, वासना वृत्ति को त्यागकर चित्त को स्थित करो। क्योंकि वासना ही मल है। वासना का त्याग होने पर निश्चय है कि तुम अपने आप स्वच्छ रूप को देख सकोगे। विना इसको त्याग किये आत्मदेव का दर्शन दुर्लभ है। वह आत्मा वाणी का विषय नहीं। वह केवल आत्मत्व मात्र अपने आपमेंही स्थित और सर्वदा उदयरूप है। सारा विश्व उस आत्मा का ही चमत्कार है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य यह जो त्रिपुटी है आत्मा उस से भी रहित है। उसके प्रमादसे ही त्रिपुटी भासने लगी है। चित्त को स्थिर करके देखो कि आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है। सारा ससार फुरने से ही भासता है। फुरना नष्ट हो तो ससार भी नष्ट हो जाता है। उस फुरने की निवृत्तिके लिये सात भूमिकायें है। (चित्त को ठहराने के स्थानका नाम है भूमिका) पहली भूमिका मे जीव जिज्ञासु होता है और सत्सङ्गति करके सत्शास्त्रो का देखना चाहता है। दूसरी भूमिका मे वह जब सन्त और शास्त्रों का उपदेश श्रवण कर बुद्धि तीव्र कर लेता हे तब विचारता है कि मै कौन हूँ और यह ससार क्या है। इससे वह तीसरी भूमिका मे जा पहुँचता है कि मै आत्मा हूँ, यह ससार मिथ्या है—ऐसी भावना को वह बारम्बार दृढ़ करता है। इस प्रकार की दृढ़ता से उसे आत्म-साक्षात्कार होता है और तब सारी वासनायें नष्ट हो जाती है और उसके लिये ससार स्वप्नवत् हो जाता है ऐसा अवलोकन चौथी भूमिका है। पश्चात् जब अवलोकन के आनन्द को प्राप्त होता है अर्थात् उस अवलोकन मे जो आनन्द प्रकट होता है उसे पाँचवी भूमिका कहते है। छठीं भूमिका तुरीयापद है। जिस पदमे चित्त दृढ़ हो उसे तुरीया कहते हैं। तुरीया के पश्चात् निर्वाण एक पद है जो सातवी भूमिका कही जाती है। जीवन्मुक्ति को भी इस परम निर्वाण पद की गम नहीं रहती। इसे तुरीयातीत पद कहते हैं परन्तु उस परमपद का वर्णन वाणीका विषय

नहीं। प्रथम तीन भूमिकायें जाग्रत अवस्था हैं। इस अवस्था मे संसार की सत्ता दूर नहीं होती और जिज्ञासु श्रवण मनन और निदिध्यासन ही करता रह जाता है। चौथी भूमिका मे संसार की सत्ता नष्ट हो जाती है और वह अवस्था स्वप्नवत् है। पाँचवीं भूमिका का नाम सुषुप्ति है। इस अवस्थामे पहुँचकर प्राणी आनन्दघनमे स्थित होता है। छठीं भूमिका का नाम तुरीयापद है जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का साक्षी है। उसमे केवल ब्रह्म ही प्रकाशता है और निर्वाणता प्राप्त होती है जिससे चित्त नष्ट हो जाता है। ऐसे तुरीयापद मे जीवनन्मुक्त पुरुष विचरते हैं। सातवी भूमिका तुरीयातीतपद है और वही परम निर्वाणपद भी है। तुरीयापद मे वृत्तियाँ ब्रह्माकार हो जाती हैं। पश्चात् वह वह अवस्था भी लीन हो जाती है और जहाँ वाणीकी गम नहीं वहाँ पहुँचकर चित्त नष्ट हो जाता है और तब अहभाव भी शेष नही रहता। हे राजन्! ऐसा परम शान्त और निर्वाणपद तेरा स्वरूप है और समस्त विश्व भी वही रूप है। उससे कुछ भिन्न नहीं है। वह सर्वदा एक रस रहता है। उसीने चित्त के फुरने से सारे विश्व की कल्पना की है, जिससे विकारयुक्त भास रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का एकसौ तीसरा सर्ग समाप्त ॥१०३॥

एकसौ चौथा सर्ग।

मोक्ष-स्वरूप वर्णन

हे राजन्! उस सर्व चिदाकाश सत्ता में न अर्ध है न उर्ध्व है, न तम है, न प्रकाश है। वह आदि अन्त और मध्य से रहित ज्यों का त्यों स्थित है और भविष्य मे भी वही स्थित रहेगा। वह चिन्मात्र परम सार है और वही सबकी सत्ता है। जगत की उत्पत्ति के लिये उसने आपही चिन्तन किया है। इससे विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है। तब शोक और मोह किसका? जैसे तागे मे बँधी हुई काष्ठ की पुतली अनिच्छित चेष्टा करती है वैसे ही नीतिरूपी तागे में बँधकर एवं अभिमान रहित हो विचारकर यह निश्चय रख कि

ससार मे कुछ भी करने करानेवाला मैं नहीं हूँ। ऐसे निश्चय से तू किसी मे रागद्वेप न कर। रागद्वेप त्याग देने से तू निरहंकारी हो जायगा और तुझे आत्मा से भिन्न कुछ न फुरेगा। फिर तो चाहे तू व्यवहारी रह, चाहे गृहस्थ चाहे, सन्यासी, देहधारी, त्यागी, विपची और चाहे ध्यानीही क्यों न हो जाय, तुझे कोई दु ख न होगा और तू ज्यो का त्यों स्थित रहेगा। क्योंकि फुरना ही संसार और न फुरना ही ससाराभाव है। इससे परे आत्मा सदा एक रस और यह सारा विश्व आत्मा का ही चमत्कार है। उस आत्मा मे जन्म मरण कुछ नहीं। जन्म मरण आदिक विकार तो आत्मा के अज्ञान से भासते हे। आत्मज्ञान होने से यह सारी विपमतायें नष्ट हो जाती हैं। सवेदन से ही आकाशका भान होता है। अहङ्कार और वासना के सम्बन्धको सवेदन कहते हे। पर उस चिन्मात्र मे अहंभाव मिथ्या है। हे राजन्! दृश्यों का अन्त तवतक नहीं होता जवतक सवेदन दृश्यो की ओर फुरता रहता है। पर जव वही सवेद अधिष्ठानरूप आत्मा की ओर आता है तव शुद्ध आत्मा अपना भाव होकर भासता है। सवेदनमें भी आत्माका आभास है और उसी आभासके आश्रय से विश्व कल्पिन है पर फुरने अफुरने दोनों ही मे आत्मा ज्यों का त्यों है। भेद केवल इतना ही है कि फुरने मे विपमता भासती है और अफुरने मे ज्यों का त्यों भासमान होता है। हे राजन्! विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है, सव आत्मस्वरूप ही है। इस कारण यदि तुझे इच्छा है कि मेरे सव दु ख नष्ट हो जायें तो अहङ्कारको त्याग कर केवल अपने सत्ता-समान-स्वरूपमें स्थित हो। "मैं ही सव कुछ हूँ, मुझे जो कुछ दिखलाई और सुनाई पड रहा है वह सव ब्रह्म है" ऐसी भावना वारम्वार करने और ऐसे विचारों का कवच धारण करने पर यदि तुझपर अनेकों शस्त्रों की भी वर्षा हो तो भी तुझे रञ्चमात्र दु.ख न होगा और तू सर्वदा सुखी रहेगा। यह कहकर वाल्मीकिजी ने कहा कि जव इस प्रकार मनु और इक्ष्वाकु का सम्वाद वशिष्ठजी

ने रामजी को सुना दिया तब सूर्य अस्त होने लगे और सायङ्काल हुआ जान समस्त सभा सहित वशिष्ठजी स्नान करने को चल दिये। पश्चात् दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही सभा मे आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ चौथा सर्ग समाप्त ॥१०४॥

एकसौ पाचवाँ सर्ग।

परमार्थ उपदेश वर्णन।

शम्भु मुनि ने कहा—हे राजन्! जा वस्तु सत्य होती है, उसका कारण भी सत्य होता है। पर जो स्वयही सत्य नहीं है तो उसका कारण कैसे सत्य हो सकता है? जिस सवेदन के आभास से विश्व उत्पन्न होता है वह आभास असत्य है, इस कारण विश्व भी असत्य है। इस प्रकार जब विश्व ही असत्य है तब भय और शोक किसका? आत्मा मे सुख, दु:ख, जन्म और मरण कुछ नहीं। वह जैसा का तैसा ही स्थित है। उसी के सवेदन से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। इस कारण 'मैं हूँ—यह है' तू ऐसे असत्य संवेदन का सर्वथा ही त्याग कर दे। इस निश्चय से अहङ्कार नष्ट हो जाता है और आत्मा ही शेष रहता है। आत्मा के अज्ञान से ही अहङ्कार उत्पन्न हुआ है। ज्ञान होते ही उसका नष्ट होना स्वाभाविक है। जो वस्तु भ्रमसे सिद्ध हो रही है किन्तु वास्तव मे वह सत्य दिखलाई पड़ती है उसको सत्य प्रमाणित करने के लिये बारम्बार उसपर विचार करो, यदि ऐसा शतत् विचार करने पर भी वह टिकाऊ रहे तो जानना चाहिए कि यह सत्य है और यही आत्मा है। इसके विपरीत जो विचार दृष्टि से नष्ट हो जावे वह मिथ्या है। विचार करने से अहङ्कार नष्ट हो जाता है, इस कारण यह मिथ्या और तुच्छ है। इसको सर्वव्यापी नहीं कहा जाता सकता। पर आत्मा तो सबका साक्षी और ज्यों का त्यों है। जो जीव और इन्द्रियों की क्रिया को अपने मे मानता है और जो अपने ही से परमधर्म की कल्पना करता है और यहाँ तक कि जो अपने को भिन्न जानता है और पदार्थों को भी अपने से

भिन्न मानता है वह भी विचार करने से आत्मा के निकट पहुँचकर मिथ्या हो जाता है। अस्तु, आत्मा सर्वव्यापी और अहङ्कार तथा इन्द्रियों का भी साक्षी है। इस कारण हे राजन्! तू सत् वस्तु की भावना करके सम्यकदर्शी बन जा। सम्यकदर्शी बन जानेसे तुझे कोई दु:ख न होगा। दु:ख तो असम्यकदर्शी को होता है। सम्यकदर्शी को सुख और दु:ख दोनों ही समान है। हे राजन्! दृश्य पदार्थ तभी तक सुख देते हैं जब तक उनका सम्भोग रहता है, वियोग होने पर वही पदार्थ दु:ख देते हैं। इस कारण तू दृश्य पदार्थों मे तटस्थ रह। तटस्थ अर्थात् न तो उन्हें सुखदायी जान और न दु:खदायी। क्योंकि सुख और दु:ख दोनों ही मिथ्या है। पर तेरा स्वरूप सबसे परे है, तू उसीमे स्थित रह। उसमें स्थित होने के लिये अहङ्कार का त्याग मुख्य है। अहङ्कार-त्याग से तू जन्म मरण के पाशबन्धन से सर्वथा ही मुक्त हो जायगा और तब समझेगा कि मैं आत्मा, ब्रह्म और चिन्मात्र हूँ। तब निश्चय है कि तू रागद्वेष से रहित और शान्तरूप हो जायगा। हे राजन्! मेरा यह कथन सत्य है अथवा असत्य इसको जानने के लिये अब तू विचारकर। विचार करने मे यदि संसार की सत्यता प्रमाणित हो तो ससारकी भावना कर और यदि संसार असत्य प्रमाणित हो और आत्मा सत्य हो तो आत्मा की भावना कर, तेरे लिये दोनों ही मार्ग खुले हैं। पर तू सम्यकदर्शी है ऐसी मुझे आशा है। इस कारण तू सत् को सत् और असत् को असत् ही जान। इसके विपरीत असम्यकदर्शिता है और इसी से अज्ञानी दु:ख पाता है। अज्ञानी तो शरीरको आत्मा जानता है और शरीर के नष्ट होने से वह आत्मा को भी नष्ट हुआ समझता है और इसीसे वह दु:खी होता है। पर हे राजन्! तू शरीर और इन्द्रियों के अभिमान से रहित है। ऐसा समझकर जब तू इन्द्रियों से अभिमानरहित चेष्टा करेगा तब तुझे शुभ अशुभ क्रियायें न बाँध सकेंगी। पर यदि तू अभिमान सहित कर्म करेगा तो शुभ अशुभ फल का

भोक्ता होगा और अनेक जन्म धारण करने पड़ेंगे। परन्तु तत्ववेत्ता और ज्ञानी पुरुष अपने को शरीर और इन्द्रियों के गुण से रहित जानते हैं, इससे उनके सञ्चित और क्रियमाण दोनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। सञ्चित कर्म वृक्ष के समान है और क्रियमाण फल फूल के समान है। ज्ञानाग्नि से यह दोनों ही दग्ध हो जाते हैं। कर्म ही जन्म का बीज है। जब बीज दग्ध हो जायगा तब उससे वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा। भुने हुए बीज मे अकुर-शक्ति नही रहती। इसी प्रकार तू निरहङ्कारी बन यथानुकूल कर्मों को कर। ऐसा करने से जैसे कमल जलमे स्थित रहता है और उसे जल का स्पर्श नहीं होता वैसे ही तुझे पाप पुण्य स्पर्श न कर सकेंगे। पर अज्ञानी तो अपने अभिमानवश क्रिया न करने पर भी अपने को कर्ता मानता है। इससे वह कभी आवागमन की पाशता से मुक्त नहीं हो सकता। वह इतना मूढ़ होता है कि चाहे शरीर और इन्द्रिय युक्त कर्म न भी करे तो भी वह अपने को कर्ता मानता है। पर जो शरीर और इन्द्रियों से कर्म करता हुआ भी अभिमान रहित है वह अकर्ता है और वही मोक्ष का भागी है। इस कारण तुम अज्ञानरूप वासनासे रहित होकर विचरो। इस प्रकारके आचरणसे तुमको आत्मा की प्राप्ति होगी और सबका उदयरूप एवं सबका प्रकाशक अपने आपको जानोगे। तब तुमको जन्म मरण और बन्ध मोक्ष का विकार न रहेगा। तब तुमको ज्यों का त्यों केवल आत्मा का भाव होगा। पर हे राजन्! यह ज्ञानकला बिना अभ्यास के नहीं उत्पन्न होगी और उत्पन्न होने पर भी यदि उसका अभ्यास न करोगे तो वह नष्ट हो जायगी। पर यदि एक बार भी ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो ऐसा प्रतीत होगा कि 'मेरा न तो जन्म है और न मेरा मरण है। मै निरहङ्कार और निष्किञ्चनरूप हूँ। मैं सबका प्रकाशक और अजर अमर हूँ। तब ऐसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जीवको मोह कदापि नही उत्पन्न होता। इसीको पुरुष-प्रयत्न भी कहते हैं। इस प्रकार आत्म-भावना उत्पन्न होने से जीव [illegible] से पार हो जाता है। ५१

ससार की भावना होती है वह संसारी है और वही जन्म-मरण के दुःख को प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥१०५॥

एकसौ छठवाँ सर्ग।

समाधान वर्णन

हे राजन्! यह महान् आश्चर्य है कि चिन्मात्र में आत्मा मे मायावश अनेक प्रकार से शरीर इन्द्रियाँ और दृश्यों का भान हुआ है। सो इन दृश्यो के कारण अज्ञान है। इस अज्ञान से ही आत्मा दृश्यरूप भाम रहा है। यदि उसका ज्ञान हो जाय तो निश्चयही यह दृश्य लीन हो जायँ। यह मै हूँ, यह मेरे हैं ऐसे सङ्कल्पो का फुरना मिथ्या है। हे राजन्! सर्व प्रथम कारणरूप से एक जीव उत्पन्न हुआ और उस आदि जीव से अनेक जीवो की उत्पत्ति हुई। मनुष्य, गन्धर्व, विद्याधर और राक्षस आदि यह सब उसी एक आदि जीव से उत्पन्न हुये। जैसे अग्नि की एक चिनगारी से अनेकों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही एक जीव से अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई है। जैसा-जैसा सङ्कल्प हुआ, वैसा-वैसा रूप होता गया। अस्तु सङ्कल्प ही सब बन्धनों का मूल कारण है। परन्तु सङ्कल्प मिथ्या है इस कारण इससे जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब मिथ्या है। पर आत्मा सत् है इस कारण तू उस सत् आत्मा की भावना कर। वह आत्मा चिन्तामणि के समान है। उसमे भावना के अनुसार ही सिद्धी होती है। यदि तू आत्मा की भावना करेगा ता समग्र विश्व को अपने भीतर देखेगा। हे राजन्! बाहर भी जो कुछ दिखलाई पडता है सब आत्मा ही के आश्रित है। शास्त्र और शास्त्र दृष्टि भी आत्मा ही के आश्रय रहती है। पर बाहर यह समस्त दृश्य फुरने से ही सत्य हैं। फुरना नष्ट होने से यह सब नष्ट हो जाते हैं। तब शास्त्र और शास्त्र दृष्टि का भी लोप हो जाता है। पर यह अवस्था तब आती है जब जीव निरहङ्कारी हो जाता है। निरहङ्कारी होने पर तो वह सर्व शास्त्रो

का ज्ञाता अर्थात् सर्व शास्त्रों पर दृष्टि रखने वाला और मर्वात्मा हो जाता है। जैनियो का वह जैन है और कालवालों के मत से वही काल है। इसके विपरीत शरीराभिमानी मूर्ख है। इस अभिमान एवं स्वरूप के अज्ञान से ही उसे अर्ध उर्ध्व लोकों मे गमनागमन करना पड़ता है। इसी से वह आकाशरूपी बन्धन मे बँधा हुआ कभी पशु, कभी पत्ती कभी स्थावर जङ्गम योनियोंमे भटकता हुआ दु.ख पाता रहता है। पर शुद्ध चेष्टायुक्त सम्यकदर्शी आकाशवत सदा निर्मल रहता है और उसे कभी कोई दु.ख नहीं होता। वह अपने ही को ब्रह्मा, विष्णु और महेश जानता है अ र उसके लिये समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही भासता है। वह आत्मपद को प्राप्त रहता है और उसको कोई दु.ख नहीं रहता। उसके आगे ममस्त सुख करबद्ध प्रस्तुत रहते हैं। हे राजन्! यह सब निरहङ्कारी की महिमा है। इस कारण तू भी निरहङ्कारी बन। ऐसा होने से तुझे ज्ञात होगा कि सब कुछ में ही हूँ। हे राजन्! जन्म और मरण का दुःख तो तभी तक होता है जब तक आत्मबोध की प्राप्ति नहीं होती। आत्मबोध प्राप्त होने पर तो कोई दु.ख नहीं रहता। यद्यपि जन्म मरण के दोनों ही दु ख बडे हैं, पर ज्ञानी के लिये तो इन्द्र के वज्र के समान दु.ख भी स्पर्श नहीं कर सकता। कारण कि ज्ञान के प्राप्त होने पर मन बुद्धि अहङ्कार सबका नाश हो जाता है और शान्तपद की प्राप्ति हो जाती है। शान्ति तब प्राप्त होती है जब प्रकृति से वियोग होता है। जब तक प्रकृति से वियोग न होकर सयोग बना रहता है तब तक जीव ससारी बना रहता है और जिस कारण दु.ख पाता रहता है। इस कारण तू अहकार से रहित हो। तब जो चेष्टा करेगा वह आत्मपद होगा। वह आत्मपद न जड है, न चेतन है, न शून्य है, न अशून्य है, न आत्मा है, न एक है और न दो है। वह न केवल है, न अकेवल है और न आत्मा है न अनात्मा, यह जितने भी नाम हैं सब प्रतियोग से हैं। इन सब नामो मे प्रतियोगिता से द्वैतता है। पर आत्मा अद्वैत

है। उसमें वाणी की गम नहीं। वह अवाच्य पद है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह सब नाम संज्ञायें तो उपदेश करने के लिए रची गयी हैं। पर वास्तव मे वह आत्मा अनिर्वाच्य पद है। इस कारण तू सब संकल्पों को त्यागकर आत्मा की भावना कर। आत्म भावना करनेसे तुझे केवल आत्मा ही प्रकाशमान होगा। क्योंकि उससे कोई अङ्ग और कुछ भिन्न नहीं हैं। पर यह अवस्था विना निरहङ्कार हुए प्राप्त नहीं होगी। इस कारण तू अहङ्कार का परित्याग कर। अहङ्कार का त्याग करने पर तो तुझे वह पद प्राप्त हो जायगा कि जिस पद को न तो शास्त्र प्राप्त होते हैं और न शास्त्रों के अर्थ। वहाँ सब इन्द्रियों के रस लीन हो जाते हैं और समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और मोक्षपद की प्राप्ति होती है। हे राजन्! मोक्ष भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे किसी देशमे जाकर प्राप्त किया जाये अथवा ऐसा भी नहीं है कि वह किसी कालमे है कि जब वह काल आवेगा तब प्राप्त होगा। फिर मोक्ष कोई ऐसा भी पदार्थ नही है कि वह ग्रहण किया जा सके अपितु केवल अहङ्कार के त्याग का ही नाम मोक्ष है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ छठवाँ सर्ग समाप्त ॥१०६॥

एकसौ सातवाँ सर्ग।

मनु इक्ष्वाकु सम्बाद समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! ऐसा कहकर शम्भुमुनि ने राजा इक्ष्वाकु से कहा,—हे राजन्! तू आत्मारामी बन। आत्मारामी बनने से तेरी व्याकुलता नष्ट हो जायगी और तू चन्द्रमा के समान शीतल हो जायगा। ऐसी अवस्था मे तू किसी फल की कांक्षा न कर और जैसा कुछ प्रकृत आचार हो उसी में विचर। अनिच्छित जो कुछ भोजन वस्त्र आ जावे उसीमें सन्तुष्ट रह। जहाँ नींद लगे वहीं सो जा और रागद्वेष न कर। ऐसा आचरण तुझे शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ से भी आगे बढ़ा देगा और तब तू परम रस को पाकर मतवाला हो जायगा। तब तुझे संसार की कुछ इच्छा

न रहेगी। हे राजन् ! ऐसा ज्ञानी चाहे काशी मे शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के गृह मे, उसके लिए सब स्थान में मुक्ति प्राप्त है। कारण कि वह सर्वदा आत्मस्वरूप मे स्थित रहता है और वह शरीर को अब नहीं त्याग रहा है अपितु ज्ञान उदय होने के समय ही वह शरीर को त्याग चुका है। उसकी स्थूलता ज्ञान उदय होते समय नष्ट हो चुकी है। वह सदा मुक्तरूप रहता है। वह न किसी की स्तुति करता है और न किसी की निन्दा। उसके चित्त की कलना मिट गई रहती है। देखने मे तो वह रोता भी है और हँसता भी है समय-समय पर उसमे रागद्वेष भी दिखलाई पड़ता है। पर केवल देखने मात्र को ही है—हृदय से वह राग-द्वेष रहित है। उसका अन्त.करण निर्मल है। अज्ञानी भले ही कहे कि उसे क्रिया का बन्धन है, पर वास्तवमे वह बन्धनरहित है। वह सर्वदा नमस्कार करने और पूजने योग्य है। वह सबका आश्रयभूत है। उसकी दृष्टिमात्र से जैसा आनन्द प्राप्त होता है वैसा जप, तप, दान और यज्ञादिक कर्मों से भी प्राप्त होना दुर्लभ है। उसका आनन्द उस चरमसीमा को प्राप्त होता है कि जिसे कथन करनेके लिये वाणीको सामर्थ्य नहीं है। जिसे सन्त की दृष्टि प्राप्त होती है उसे न तो कोई दु:ख दे सकता है और न वह किसीको दु:खी करता है। उसे न तो किसीका भय रहता है और न वह किसी को पाकर हर्ष करता है। उसके लिये सिद्धियों का सुख भी अल्प प्रतीत होता है और वास्तव मे यही ठीक है। क्योंकि यदि योग से उड़ने की सिद्धि प्राप्त हो गई तो उससे क्या लाभ, उडनेवाले तो कितने ही हैं जो आकाशमार्ग को लाँघ जाते हैं, इससे आत्मज्ञान तो नहीं प्राप्त हुआ और आत्मज्ञान के बिना शान्ति सम्भव नहीं है। जन्म-मरण से मुक्त हो जाय यही आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर कोई दु:ख नहीं होता। दु:ख तो अज्ञान से भासते हैं। अज्ञान से मुक्त होने पर सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। इस कारण

हे राजन् ! तू आत्मा की भावना कर। ऐसा उपदेश देकर मनुजी चुप हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ सातवाँ सर्ग समाप्त ॥१०७॥

एकसौ आठवाँ सर्ग

बोदा-निर्वाचन।

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी ! मनुजी के चुप हो जाने पर राजा ने उनका यथाविधि भलीभाँति पूजन किया। तदुपरान्त मुनिजी उडकर आकाशमार्ग से होते हुये ब्रह्मलोक को चले गये और राजा इक्ष्वाकु राज्यसूत्रको हाथमे लेकर राज्य करने लगे। हेरामजी! इस मनु-इक्ष्वाकु समागम का इतिहास कहने का मेरा यह अभिप्राय था कि जिस प्रकार तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकुने जीवन्मुक्त रहकर राज्य किया उसी प्रकार तुम भी जीवन्मुक्त दृष्टिका आश्रय करके विचरो। इस पर रामजी ने कहा कि हे भगवन् ! सबसे विशेष और अपूर्व-अतिशय क्या है—अब कृपाकर मुझे इस विषय को ठीक-ठीक समझाइए। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! अतिशय पद महान श्रेष्ठ है। इसको रागद्वेषसे रहित और शान्तपद में स्थित हुआ ज्ञानी ही प्राप्त करता है। अतिशय पद आत्मज्ञान है और इस आत्मज्ञान को पानेवाला ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता और वह ज्ञान एक ही है। इससे उसको प्राप्त करनेका अधिकार भी केवल ज्ञानी को ही है। हे रामजी ! जो दूसरा नहीं पाता वह अपूर्व अतिशय है। पुन. अपूर्व अतिशय को प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष प्रकृति का आचरण और मानुषिक चेष्टायें भी करता चला जाता है, परन्तु उसका भाव आत्मा की ओर रहता है। रामजी ने पूछा—जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार अज्ञानी के समान चेष्टा करता है, उसको हम तत्ववेत्ता कैसे कहें। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, सुनिए। उसके दो लक्षण हैं। एक स्वसवेद, दूसरा परसवेद। स्वसवेदी वह है जो अपने को जानते हुये भी न जाने। परन्तुसवेदी वह है कि जिसको दूसरे भी जाने

तथा जो तप, दान, यज्ञ और व्रत इत्यादि भी करे और दुःख, सुख मे जो स्थिर बना रहे। यही लक्षण साधुजन के भी हैं। वे महाकर्ता, महाभोक्ता, महात्यागी होते हैं। क्षमा, दया आदि करते है, वे सिद्धके समान हैं। आकाशमे उड जाना, छिप जाना अणिमा आदिक सिद्धियें स्वभावत. उन्हे प्राप्त हुआ करती हैं, जो ज्ञानियो को नही प्राप्त होती। ज्ञानी तो स्वसम्वेदी के समान हैं। उनके निकट सिद्धि विभूति कोई वस्तु नहीं। पुण्य पापादिमे जो परसम्वेदी बँधा हुआ जान पड़ता है सो प्राकृतिक है, उसका उससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह तो माया वा धर्म है। जो स्वसम्वेदी के समान है ऐसा ज्ञानी आत्मा मे स्थित रहता हुआ, अपने मे सन्तुष्ट है वह बोद्धा है। उसके लिये हर्ष, शोक कुछ नही। जन्म, मरण भी वह नहीं मानता। काम, क्रोध, लोभ आदि भी उसके बाधक नहीं। इन्द्रियों के भी जितने विषय हैं, वह भी उसको विघ्न नहीं पहुँचाते। कारण कि वह तो निर्वाच्य पद को प्राप्त किये होता है जो बोद्धा है उसका चित्त विषयो की ओर से स्वभावत. विरक्त रहता है और वह इन्द्रियजित हो जाता है। वह भोगो से तृप्त रहता है, उसे भोगों की इच्छा नहीं होती।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ आठवाँ सर्ग समाप्त ॥१०८॥

एकसौ नवाँ सर्ग।

कर्माकर्म-विवेचन।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जीव कोटिवालों के लिये मायाजाल से निवृत्त होना अति कठिन है। जो जीव इसमे सद्बुद्धि भी रखता है, वह भी पक्षी के समान जाल मे बँधा ही रहता है। उसका जीवत्वाभिमान नष्ट नहीं होता। मेरा शब्द तुम्हारे लिये वैसे ही प्रिय है जैसे मेघ का शब्द मयूर को, अस्तु मेरा उपदेश ध्यानपूर्वक सुनो। रघुकुल के जितने भी आचार्य हुये वे सदैव ही राजाओं का संशय निवृत्त करते चले आये हैं। मेरे भी अबतक जितने शिष्य हुये, सब मेरे ही उपदेश से जाग गये। इस

कारण मै अपना सब तप ध्यान इत्यादि छोडकर तुम्हें जगाने की चेष्टा कर रहा हूँ। हे राघव! शुद्ध आत्मा मे अह का जो बोध है वह मिथ्या है। इसका साक्षी जो बोध है वही सत्य है। वह बोध कभी नष्ट होनेवाला नहीं। जितनी वस्तुये स्फुरित होती हैं वह असत्य नहीं और जो असत्य है वह सत्य भी नहीं हो सकतीं। जिसकी सत्ता है उसका अभाव अनिवार्य है। पर जो है नहीं, उसका होना भी दुष्कर है। ब्रह्म तो असत् नहीं, सत् है। इस कारण उसकी भावना करना तुम्हारा धर्म है। क्योंकि जो ब्रह्म की भावना करता है, वह भी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। जैसे घी मे घी, दूध मे दूध और जल मे जल मिलने से एकाकार हो जाता है, इसी प्रकार जीवकोटि का प्राणी उस चिदानन्द ब्रह्म की उपासना से वह जीवत्वाभिमान को छोड़कर तदाकार ब्रह्म हो जाता है। जिसको जीवत्व का अभिमान है वह कालचक्र के आधीन होकर दु:खी रहता है, वह मानो विष पान कर रहा है। इस कारण हे राघव! तुम विषपान न करो, अमृत का पान करो और आत्मभावना से अमर हो जावो। सङ्कल्पजन्य जितनी वस्तुयें हैं, वे सब चलायमान और परिवर्तनशील होती हैं। वे भ्रममूलक हैं। जैसे मृगतृष्णा का जल और सीप मे मोती और आकाश मे अन्य चन्द्रमा का दिखलाई पडना भ्रान्ति है, वैसे ही जीव को इन्द्रियों का सुख जो अहङ्कार से अनुभूत करता है वह मिथ्या है। इस कारण तुम दृश्यमात्र को त्याग दो और अपने रूप की भावना करो। जब अपने रूप की भावना करोगे तो तुम्हे मोह नहीं व्यापेगा। मानों तुम पारस के स्पर्श से ताँबे से सुवर्ण बन गये। आत्मपद तो मोह को उत्पन्न ही नहीं होने देता। यह मेरा, तेरा भाव नष्ट होकर अद्वैत हो जाता है। इस पर रामजी ने प्रश्न किया,— हे मुने! मच्छर इत्यादि जो प्रस्वेदज हैं तथा देवता और मनुष्य आदि भी, यह सब कर्मों ही से उत्पन्न होते हैं या बिना कर्म किये भी। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि अखण्ड परमात्मा से जो जीव-

सृष्टि हुई है वह चार भागोंमें विभक्त है। १—कर्मों से उत्पन्न होनेवाली २—कर्मके बिना उत्पन्न होनेवाली ३—आगे उत्पन्न होनेवाली ४-वर्तमान मे उत्पन्न होनेवाली। यह चार सृष्टियाँ हैं। इस पर रामजी ने कहा कि हे भगवन्! मुझे इन चारों सृष्टियोंका स्पष्ट अर्थ समझाइये। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! अखण्ड परमात्मा से सब सृष्टि हुई है। वह चिदाकाश मे स्थित रहता है, जैसे अग्नि उष्णतामें रहती है। वह अनादि अनन्त और अविनाशी है। उसमें स्वभावत· फुरना विद्यमान रहता है। जैसे वायु मे स्पन्दन, फूलोंमे सुगन्ध इत्यादि। उस फुरनासे शब्द हुआ, जिससे आकाश की सृष्टि हुई। स्पर्श हुआ तो वायु की रचना हुई। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रायें इत्यादि उत्पन्न होकर जीव शरीर की रचना कर सकीं। इस सृष्टि का सकल्प पहिले पहल उस अखण्ड परमात्मा ही मे हुआ। कहा भी है कि 'संकल्पप्रभवा जाति·' अर्थात् यह जितना भी विश्व ब्रह्माण्ड व जाति-प्रपञ्च-दृश्य है यह सब उसी अखण्ड परमात्मा के सकल्प का परिणाम फल है। इस जीवदेह के पश्चात् फिर विदेह है। जैसे जल बर्फ बनकर सूर्य के ताप से फिर जल बन जाता है ऐसे ही वह अखण्ड परमात्मा संकल्पसे जीव बनकर फिर विदेह हो जाता है। हे रामजी! जीव सृष्टि से पुन· आधिभौतिक की रचना हुई जो स्वरूपाभिमान से बनती है जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि कर्मभेद से बने। यह तेरी कर्मजन्य सृष्टि हुई। इसी प्रकार अकर्म जन्यसृष्टि भी उस अखण्ड परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है कि जिसकी जीवकोटिसे भिन्न ईश्वरकोटि की संज्ञा है। उस ईश्वर के संकल्प से पुन· जीव कोटिवाले उत्पन्न हुये। वह पुन· जैसा-जैसा सकल्प किये, वैसा-वैसा शरीर धारण करते गये, जिससे यह अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड-दृश्य हुआ और इस समय भी अनन्त-जाति-प्रपञ्च-दृश्य है। यह सम्पूर्ण ही आदि और अकारण है। पीछे कारण और कर्म के आधीन हुये। अब जो जीव स्वरूप में स्थित होता है उसकी पुण्य संज्ञा हो जाती है और जो स्वरूप को विस्मृत कर देता है और

अधिभूत मे स्थित हो जाता है उसकी धन सज्ञा हो जाती है। पुण्य सज्ञा प्राप्तकर धन सज्ञा प्राप्त करना सरल है, परन्तु धन सज्ञा के पश्चात् पुण्य संज्ञा का प्राप्त करना दुष्कर है, विरला ही कोई भाग्यवान धन सज्ञाके पश्चात् पुण्य संज्ञा प्राप्त करता है। जेसे पर्वत परसे पत्थरका गिराना सरल है, परन्तु पर्वत पर पत्थर का चढ़ाना दुष्कर है इसी प्रकार जो धन मे बँधे हैं उनका पुण्यवान होना दुष्कर है। हे रामजी। उस अखण्ड परमात्मा से अन्तवाहक और आधिभौतिक दो सृष्टि हुई है। अन्तवाहक की ईश्वर सज्ञा और आधिभौतिक की जीव सज्ञा है। जीव प्रकृति (माया) के आधीन हैं। जीव जैसा कर्म करते है वेसा-वेसा शरीर धारण करते हैं। इनमे जो ज्ञानी हैं, बोद्धा हैं वे ही धन से पुण्य पद प्राप्त करने मे समर्थ होते है और वही अजन्मा, अजर और अमर बन जाते है। अब भी जो उस अखण्ड परमात्मा की चिनगारी से छिटक रहे हैं वे कर्मजन्य नहीं। परन्तु जब स्वरूपाभिमान को छोडते है तब सकल्प से नाना शरीर की रचना करते हैं, अस्तु हे रामजी। यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड संकल्प से ही उत्पन्न हुआ है। हे राघव! खाना, पीना इत्यादि जितने भी प्रकृति के कार्य हैं उनका कर्त्ता तुम अपने को न समझो। अज्ञान से उनमे अहं भाव आता है, जो दुख का कारण बनता है। इसलिये प्रकृति के कार्यों मे तुम अहकार मत करो। अच्छा, आगे सुनो, मै बन्धन और मोक्ष का लक्षण बताता हूँ—सम्पूर्ण पदार्थों को इन्द्रियाँ ही ग्रहण करती हैं। जो पदार्थ इष्ट है उसमे राग और जो अनिष्ट है उनमे द्वेष होता है। इसी रागद्वेष का नाम बन्धन है और जब यह राग द्वेष निवृत होकर समता या अद्वैत भाव उत्पन्न हो जाता है तब मुक्ति मिल जाती है क्योंकि उस समय कोई भी पदार्थ कष्टदायक नहीं होते। रागद्वेष का कारण मन है। मन मे ही फुरणा होने से सांसारिक पदार्थों की याचना और अभिलाषा होती है। इसलिये तुम जड का सुधार करो। उसके सुधार से ही रागद्वेष इत्यादि नष्ट हो सकते हैं। इसलिये तुम सांसारिक

पदार्थों की यात्रना और सकल्प छोड़कर अपने स्वरूप का चिन्तन करो। हे राघव! त्रिंण से अखण्ड ब्रह्म पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं यह सब रागद्वेष उत्पन्न करते हैं जिससे बन्धन होता है। इस कारण इनसे मन को हटा अपने में उसे स्थित करो। जैसे धोबी साबुन द्वारा वस्त्र का मैल दूर करता है ऐसे ही मन को स्वरूप मे स्थिर कर उसके संकल्प विकल्प आदि मलको दूर करो। जैसे दुष्ट पुरुष धनकी चाहना से अपने सम्बन्धियों के नाश की चेष्टा करता है वैसे ही मन आत्म-पद मे स्थित होकर संकल्प के नाश की चेष्टा करता है और संकल्प के नष्ट हो जाने पर सारे दुःख नष्ट होकर अखण्ड शान्ति प्राप्त होती है। इस दुष्ट मन का जबतक नाश नही तबतक सुख भी नही। यह ऐसा दुष्ट है कि जिससे पैदा होता है उसी के नाश की चेष्टा करता है। जैसे आग बाँससे उत्पन्न होकर बाँसको ही जलाती है वैसे ही यह उस अखण्ड परमात्मा से उपज कर उसीको नष्ट करने मे उद्यत हो जाता है। यह उस राजकर्मचारी के समान है कि जो राजा की सत्ता पाकर उसे मारकर स्वय गद्दीपर बैठना चाहता है, वैसेही यह मन भी आत्मा की सत्ता पाकर स्वय कर्ता भोक्ता बन बैठा है। इस कारण तुम हृदय से इस मन के नाश की चेष्टा करो। मन से ही मन का नाश हो सकता है। जैसे लोहा तपकर लोहे से कटता है। यह जितने भी जड चेतन पदार्थ है वे सब प्रथम कर्म के बिना ही उत्पन्न हुए। जब स्वरूप भ्रष्ट हो जाते हैं तभी कर्म से शरीर धारण करते हैं। स्वरूप-भ्रष्ट होनेसेही अहंकार होता है और अहंकारही बीज है कि जिससे वृक्ष व शाखायें उत्पन्न होती हैं, फल फूल लगते हैं। इस अहकाररूप बीज के नष्ट हो जानेसे तो वह अखण्ड आत्मपद प्राप्त होता है कि जो अच्युत और निरवलम्ब है, परन्तु अवलम्ब की नाईं दृष्टिगोचर होता है। निराकार है, पर मन को साकार भासता है। निराभास है पर मन को आभासयुक्त दिखलाई पडता है, पर उसका रूप केवल चिन्मात्र है। बस, तुम उस चिन्मात्र अखण्ड भगवान् की ही भावना करो

जिससे कि तुम्हारा यह जगत-प्रपञ्च मिट जावे और तुम आत्मपद पर स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ नवाँ सर्ग समाप्त ॥१०९॥

एक सौ दसवाँ सर्ग।

तुरीयापद विवेचन

वशिष्ठ जी ने कहा,– हे राघव। तुम्हे जीवात्मा का एक ही रूप दिखाई पडता है। पर इसके दो रूप और हैं एक का नाम चिदानन्द ब्रह्म है और दूसरे का नाम अन्तवाहक पुण्य है। पहिला प्रमाद रहित स्वय आकाशरूप है तो दूसरा प्रमाद-युक्त-मात्र पद स्थित उस अर्द्ध प्रकृति देवी से उत्पन्न हुआ है। जब आत्मपद को भूल जाता है तो वह तीसरा आधिभौतिक पचतत्व निर्मल हो जाता है और अपने आपको वैसा ही समझने भी लगता है। इस प्रकार जीवमात्र के तीन स्वरूप हैं। इस तीसरे मे आकर हो वह अखण्ड परमात्मा जीव सज्ञा पाता है और दु:खी और परतन्त्र हो जाता है। यह तीन शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण नाम से भी विख्यात है। कारण की छाया स्थूल और सूक्ष्म है जो सत्य और वास्तव नहीं। सत्य तो कारण ही है। हे राघव! तुम उसी में स्थित होकर कल्याणपद को प्राप्त हो सकते हो। रामजी ने पूछा–हे भगवन्! आपने जो यह तीन रूप बतलाया है इसमे कौन नश्वर है और कौन अनश्वर है? वशिष्ठजीने कहा–हे रामजी! यह जो दो रूप है, हाथ, पाँव युक्त देह और दूसरा पुण्य नाम अन्तवाहक यह दोनों ही उपजते और नष्ट होते हैं, परन्तु तीसरा जो कारण रूप है वह नश्वर है, क्योंकि वह चिन्मात्र, निर्विकल्प, परम रूप कहा जाता है। जाग्रत आदिक उससे ही निकलते और उसीमे लीन होते हैं पर वह कारण सदा तुरीयापद मे ही स्थित रहता है। रामजी ने पूछा–हे भगवन्! मै जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति का लक्षण तो जानता हूँ पर तुरीयावस्था या तुरीयातीत अवस्था को नहीं जानता कृपाकर उसे भी बतलाइये। वशिष्ठजीने कहा–तुरीयापद वह है कि जहाँ जीवात्मा पहुँचकर अपने

होने न होने या जन्म मरणके भाव को भूल जाता है। शान्त और निर्मल हो जाता है वह तुरीया पद जाग्रत नहीं, क्योंकि वहाँ संकल्प, विकल्प, रागद्वेष इत्यादि नहीं, स्वप्न भी नहीं। कारण कि वहाँ रस्सी मे सर्पवत भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती। सुषुप्ति भी नहीं क्योंकि वहाँ जडता नहीं है। वहाँ तो चेतनता विश्व-प्रपञ्च से उदासीनता और अखण्ड शुद्धता का निवास है। इसलिये वह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति है। जीवन्मुक्त ही उस पद पर स्थित होता है। वह जीवन्मुक्त सदा शान्तरूप और इन तीन अवस्थाओं का साक्षीरूप बना रहता है। इसके परे तुरीयातीत पद है कि जहाँ वाणी की गम नहीं है। जीवन्मुक्त जब विदेह हो जाता है तब उस पद को प्राप्त करता है। जिस जीवात्मा मे जब तक राग-द्वेष है तब तक वह तुरीया पद को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये तुम राग-द्वेष से रहित होकर जगत प्रपञ्च को स्वप्नवत मिथ्या देखते हुये उस सत्पथ पर स्थित हो जावो और साक्षीरूप बने रहो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ दसवाँ सर्ग समाप्त ॥११०॥

एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग।

तुरीयापद बोधक-काष्ठमुनि का वृत्तान्त

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! तुम न कर्ता हो न कर्म ही हो और न कारण हो। तुम तो कार्य्य हो। इसलिये भोगों से उदासीन रहते हुये उन्हे भोगिये। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये मै एक काष्ठमौन मुनि की कथा सुनाता हूँ। एक वाधिक मृग का शिकार करते हुये काष्ठमुनि के आश्रम पर पहुँचा और उनसे पूछा—हे मुनि! क्या आपने इधर कोई मृग देखा है। मुनि ने उत्तर दिया, मेरे मे अहङ्कार के नष्ट हो जाने से अद्वैत भाव आ गया है। यह जो तुम पूछ रहे हो वह इन्द्रियों का विषय है, मेरा नहीं। मुझे तो जाग्रत स्वप्न व सुषुप्ति भी नहीं भासती। मै तो सदा एक-रस तुरीया पद मे स्थित हूँ। निराभिमान हूँ। इन्द्रियो के विषयों

का अभिमान मुझमें नष्ट हो गया है। देह रहते हुये भी देह का भान मुझे नहीं होता। उसकी क्रिया स्वभावतः होती चली आ रही है। मेरी उस तरफ चेष्टा नहीं है। मैं तो केवल एक शान्तरूप तुरीयापद पर स्थित हूँ कि जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सिद्ध और ज्ञानी स्थित हैं, जिसे ब्रह्मपद, आत्मपद और चिदानन्दपद भी कहा जाता है। इसके बाद तुरीयातीत मे स्थित विदेहमुक्त की अवस्था है। जीवनमुक्त भी जहाँ देह को त्यागकर पहुँच जाता है। हे व्याधे! अब तुम अभिमान व द्वैत बुद्धि को त्यागकर इस तुरीयापद को प्राप्त करो कि जिसमें पहुँच जाने से आत्मा का कल्याण होवे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१११॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग।

विद्या-अविद्या विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! यह जो अनन्त विश्व-प्रपञ्च तुम्हे दिखलाई पड रहा है, यह सचमुच ही आकाश रूप है। क्योंकि इन सबका लय आकाश में हो जाता है। वह आकाश आत्मरूप या ब्रह्मरूप है। जैसे मेघ में बिजली चमक पडती है वैसे ही आकाश ब्रह्म या आत्मा यह सारा विश्वप्रपंच चमक रहा है। वास्तव मे यह मिथ्या है। रामजी ने पूछा—ब्रह्म से यह सारा विश्व प्रपच कैसे सम्भव है और मिथ्या कैसे है? क्योंकि मेघ से जैसे बिजली की सत्ता है वैसे ही इस विश्व की भी सत्ता होनी चाहिये। वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! यह तुम्हारा प्रश्न बिलकुल लड़कपन का है। क्योंकि बालक भी कहता है कि बिजली क्षणभंगुर है। इसी प्रकार यह सारा विश्व-प्रपच भी क्षणभगुर है। इसलिये सत्य नहीं अर्थात् इसकी सत्ता सदैव स्थिर रहनेवाली नहीं है। रामजी ने फिर पूछा कि आपने जो यह कहा था कि यह दृश्य मात्र चित्त के स्पन्द या फुरनासे उत्पन्न हुआ है, वह कैसे, सो मुझे स्पष्ट समझाइये? वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! जबतक तुम्हे स्वरूप दृष्टि नहीं प्राप्त होगी अथवा

जबतक तुम अपने स्वरूप ब्रह्म या आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन सर्वत्र नहीं करोगे तब तक तुम्हारा भ्रम नही मिटेगा और यह विश्व सत्य ही भासता रहेगा। इसलिये तुम मेरा उपदेश ग्रहण करो और स्वरूप-द्रष्टा बनो। अन्यथा पशु-पक्षी व वृक्षादि की योनियों मे ही भ्रमते रहोगे। अग्नि मे जैसे उष्णता और वायु मे जैसे स्पन्दता रहती है जो गुप्त रहते हुए भी कारण वश हो प्रगट जाया करती है, ऐसे ही आत्मासे विश्व-प्रपंच उत्पन्न हुआ है। इसका कारण चित्त की फुरना है। बस, तुम चित्तको ब्रह्ममे ही लीन करदो तो फुरना मिट जायगी और तुम्हें एक ब्रह्म ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा। शास्त्रकारों ने इसपर नाना प्रकार का शास्त्रार्थ उठाया है पर यह शास्त्रार्थ का विषय नही है। वह तो विद्या-अविद्या से रहित है। वह अनिर्वाच्य है। न तो विद्वान् ही वहाँ पहुँच सकता है और न मूढ़ ही पहुँच सकता है। उस निर्विकार, निर्विकल्प, अद्वैत, चिद्घन अखण्ड ब्रह्म को केवल स्वरूपद्रष्टा ही देख सकता है। इसलिये हे राघव! द्वैत को त्यागकर स्वरूपको पहचानने का पुरुषार्थ करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११२॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग।

जीव कोटि का दमन, आत्म कोटि की प्राप्ति

इसके पश्चात रामचन्द्रजी ने वशिष्ठ जी से प्रश्न किया,—हे भगवन्! अब कृपाकर मुझे यह समझाइए कि देह और इन्द्रिय आदिक समूहों मे सारभूत क्या है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,—हे राघव! जिनका तुम नाम लेते हो यह तो मिथ्या हैं, पर इनमे जो चेतना है बस वही एक मात्र सत्य है। यह सब भी भ्रम व अल्पज्ञता से भिन्न भासते हैं। पर वास्तव मे यह भी चेतनरूप है। उस भ्रम व अल्पज्ञता का कारण चित्त है। वह चित्त इस विश्व ब्रह्माण्डरूपी मरुस्थल मे मृग के समान पिपासाकुल हो भटकता फिरता है और इच्छा तृप्त न होने से दुःख पाता रहता है।

यह चित्त मूर्ख बालक के समान, परछाईं मे वैताल की तरह देह इन्द्रादि मे भावना का भय करता रहता है। इसलिये इस मूल चित्त का सुधार कर अभय पद प्राप्त करो। यद्यपि यह चित्त आत्मा की सत्ता लेकर उसी प्रकार चेष्टा करता है जैसे लोहा चुम्बक की सत्ता पाकर। पर वह आत्मा निर्विकार है, इस कारण उसकी ही भावना करो कि जिससे इस चित्तमें आये हुए विकार मिट जायें। तुमने जो देह इन्द्रियादिकमे सारभूत पदार्थका प्रश्न किया था उसे सुनो। ससार मे प्रथम सार वस्तु देह है। देह में सार वस्तु इन्द्रियाँ है। इन्द्रियों मे प्राण है, प्राणों मे मन है और मन मे बुद्धि है। बुद्धिमे अहकार है और अहकार मे जीव है। जीव मे चिदावली है। चिदावली अर्थात् वह चेतना जो वासना युक्त हो। चिदावली मे शुद्ध चेतन है जहाँ चित्त नही केवल चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म ही का निवास है। बस, वहाँ ही पहुँचकर जीव स्थिर हो जाता है। वहाँ यह सारी विश्व-कलना का मूलोच्छेदन हो जाता है। जीवको जो इसका दृढ़ भास है वह ससारके दृढ संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। जैसे शुक्र, लवण और इन्द्र के पुत्र इत्यादि को हुआ था। यह जो अद्वैत आत्मा है इसमे यह सारी विश्वकलना अज्ञान सी मालूम पडती है। यह अज्ञान अहं-कार से उत्पन्न हुआ है। तुम अहङ्कार को त्याग कर स्वरूपमे स्थित हो जावो। वहाँ किसी शत्रु की पहुँच नहीं। वहाँ काम, क्रोध, लोभ और अभिमानादिक विकार नहीं। किसी प्रकारकी फुरना भी नहीं है। वह तो केवल शातरूप है। इस कारण तुम देह से लेकर चिदावली पर्यन्त जो कुछ आत्माभिमान कर बैठे हो उसको त्यागकर वास्तव स्वरूप मे स्थित हो जावो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥११३॥

एकसौ चौदहवाँ सर्ग।

सार प्रबोध वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! जैसे बीज से वृक्ष फलफूल उत्पन्न होगये वे सब बीज से भिन्न नहीं बल्कि बीज रूप ही हैं, केवल बीज या परिवर्तन है, ऐसे ही यह सारा विश्व आत्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिये ये भी आत्मरूप या चेतन रूप हुये। इनमे तुम चेतन की भावना करो। अर्थात् इन्हें जड न समझकर चेतन ही मानो तो सर्वदा तुम्हें चेतन ही चेतन दृष्टिगोचर होगा। यदि तुम इनमे चेतन की भावना न कर सको तो ऐसी भावना करो कि देहेन्द्रियादि जड़ है और मैं इनसे भिन्न चेतन ब्रह्म हूँ। देह रहित शान्तरूप और निर्विकार हूँ। देह मे इसलिये नहीं कि इनका प्ररक इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियोंमे भी मै नहीं क्योंकि इनका प्रेरक प्राण है। प्राण भी मै नहीं क्योंकि इनका प्रेरक छल है। मन भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक बुद्धि है। बुद्धि भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक अहङ्कार हैं। अहङ्कार भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक जीव है। जीव भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक चिदावली है। चिदावलीमे भी मै नहीं हूँ क्योंकि इसका प्रेरक ईश्वर हैं। ईश्वर भी मै नहीं हूँ क्योंकि इसका प्रेरक चिन्मात्र है। इसका प्रेरक कोई नहीं इसलिये मै चिन्मात्र हूँ। इसलिये तुम अपने अद्वितीय निर्विकल्प चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जावो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥११४॥

एकसौ पन्द्रहवाँ सर्ग।

जीव-ब्रह्म-विवेचन

वाल्मीकिजीने शिष्यसे कहा—हे शिष्य! वशिष्ठजी का यह आत्मबीजका वचनामृत पानकर रामजी इतने प्रसन्न हुये और जाग उठे कि जैसे सूर्यसे कमल खिल जाता है। रामजीने कहा—हे भगवन्! मेरी सारी जडता, ममता, अहङ्कार और भ्रान्ति नष्ट हो गई। तीनों

ताप भी नष्ट हो गये और मैं शान्तरूप व प्रबुद्ध हो गया। मेरी बुद्धि रागद्वेष से रहित हो शरदऋतु के निर्मल आकाश की तरह स्वच्छ व शान्त हो गई और मै वैसा ही आनन्द पा रहा हूँ जैसा कि धूप मे पत्थर योनिवाला छाया मे विश्राम कर सुख पाता है। पर एक सशय मुझे यह हो रहा है कि जब सब ब्रह्ममयही है तो विधि निषेध आदेश और कर्तव्याकर्तव्य फिर कैसे हो सकेगा ? वशिष्ठजी ने समझाया हे राघव ! यह सारा विश्व अहङ्कार से आत्मा मे फुरा है। एक विद्या रूप दूसरा अविद्यारूप। विद्यारूप ईश्वर है और अविद्या रूप जीव है। यह जीवेश्वर विद्या अविद्याका दोष आत्मामें नहीं है। वे ही आत्मपद को प्राप्त करते हैं जो आधिभौतिक का सकल्प नहीं करते और जो ऐसा करते हैं वे प्रमाद युक्त हो दु ख पाते है। सम्यक् दर्शन का नाम विद्या और असम्यक् दर्शन का अविद्या कहते है। विद्या भी दो प्रकार की है। एक ईश्वरवाद दूसरी अनीश्वरवाद। ईश्वरवादी वे है जो सदैव तुरीयापद मे स्थित रहते हैं और अनीश्वरवादी वे हैं जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिको सत्शास्त्रावलोकन और सत्सङ्गति द्वारा त्याग कर तुरीयापद को प्राप्त करते है। ईश्वरवादी भी दो प्रकार के होते है। एक जो सासारिक वासना रखते हुये ईश्वर परायण होते है। दूसरे जो सांसारिक वासना न रखते हुये ईश्वरपरायण होते है। अनीश्वरवादी भी दो प्रकारके है। एक वे कि जो शास्त्र और गुरु के उपदेश से ईश्वर की सत्ता मे भ्रान्ति को मेटकर आत्मपद को प्राप्त होते हैं और दूसरे वे है कि जो बहुत भटकने के बाद आस्तिक भावना आनेपर आत्मपद को प्राप्त होते है। ऐसेही लोगों के निमित्त शास्त्र का विधिनिषेध और उपदेश होता है। वे शुभ कर्म कर तथा अशुभ कर्म को त्याग अन्त करण को शुद्ध कर आत्मपद को प्राप्त करते है। अशुभकर्मियों के निमित्त ही शास्त्रों ने दण्ड का विधान किया है तथा अशुभ कर्म का निषेध किया है और शुभ कर्म का उपदेश करता है। हे राघव ! जो स्वरूपद्रष्टा है उनके लिये उपदेश नहीं। उपदेश

तो भ्रम में पड़े हुये लोगों के लिये है। भ्रान्ति दूर होने पर फिर मोह नहीं होता। जिसका चित्त वासना में फँसा हुआ है उसका ससार से मुक्त होना दुष्कर है। हे राघव! ऐसे चित्त को तुम स्थिर करके ही तीनों ताप से निवृति पा सकते हो। वह पुरुष जिसको आत्म साक्षात्कार हुआ है और अहंकार मिट गया है उसके लिये बन्धन नहीं, क्योंकि उसको अपने मे कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। हे राघव! शुभ कर्म करनेवाला ज्ञानी स्वर्ग को प्राप्त करता है ता अशुभ कर्म करनेवाला नरक जाता है। इस स्वर्ग नरक की वासना भी अनात्माभिमान से होती है। इस कारण इसे भी त्यागकर तुम आत्मपद प्राप्त करो। इस अहंभाव का नाम ही चित्त है। इससे ही विश्वप्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है। शुद्ध चेतना से भिन्न जो चिदावलीरूपी समुद्र है उससे ही जीवरूपी तरङ्ग अहंकार से उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही अहंकार रूपी समुद्र में बुद्धिरूपी तरङ्ग उठते हैं। बुद्धिरूपी समुद्र में चित्तरूपी तरङ्ग उठते हैं। चित्तरूपी समुद्र में सङ्कल्परूपी तरङ्ग उठते हैं। सङ्कल्परूपी समुद्र से जगतरूपी तरङ्ग की उत्पत्ति हुई है। जगतरूपी समुद्र से यह देहरूपी तरङ्ग उठा हुआ है। और इसी देह के संयोग से इस सम्पूर्ण दृश्य का ज्ञान होता है। इस कारण हे राघव! तुम संकल्प विकल्प को त्यागकर सर्वदा एक रस, अद्वैत, शुद्ध, परमब्रह्म मे स्थित हो जावो कि जिसमे तुम्हारी भ्रान्ति व अशान्ति नष्ट हो जाय और बीजरूप आत्मा से जो नाना वृक्ष, फल, फूल इत्यादि की कल्पना हुई है वह पुन: बीजरूप आत्मामे परिवर्तित हो जाय। नामरूप आत्मा में जो नाना नामरूप तुम्हे भासता है उस द्वैत को त्यागकर तुम केवल शुद्ध द्वैत मे स्थित हो जाओ और इस संसार की वासना का मृगतृष्णा के समान मिथ्या समझ त्यागकर स्वरूपद्रष्टा बन जाओ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥११५॥

एकसौ सोलहवाँ सर्ग।

त्रिविधताप-निवृत्ति वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रघुपुङ्गव! तुम सर्व परिग्रहों का त्यागकर आस्तिकभावना करो। परिग्रहों के त्याग से ही चित्त निर्मल हो शान्त हो सकेगा। काष्ठवत् मौन होकर बाहरी अभिमान को त्याग अन्तर्मुख बन जाओ, तभी यह समस्त दृश्य तुम्हे न भासेगा। तब तुम एक आत्मा ही में रमोगे। उस अवस्था को प्राप्तकर तुम बाहरी एक भी शब्द न सुन सकोगे। तब तुम्हे दुर्गन्धि सुगन्धि भी न मालूम पडेगी। स्पर्श भी न अनुभव कर सकोगे। सांसारिक पदार्थों में आशक्ति न रहेगी। यन्त्र की शक्ति से जैसे पुतली क्रिया युक्त हो जाती है ऐसे ही प्राण की स्वाभाविक चेष्टा से तुममे स्वाभाविक क्रिया होगी पर उनमें तुम्हारी आशक्ति और अभिमान न रहेगा। जो इस सम्पूर्ण दृश्य मे आसक्त नही हुआ है वह सृष्टि का यदि संहार भी करे तो बन्धन मे नहीं पडता क्योंकि उसमे पूर्णता है अभिलाषा नहीं। हे राघव! तुम जाग्रत के समान समाधि मे सदा स्थित रहो। समाधि भी स्वरूपदर्शन की रहे। वोद्धा वही है जिसमे अद्वैत भाव आ जाय और सदा एक रस बना रहे। उसको वोद्धा ही पहिचान सकता है। जैसे सर्प की खोज सर्प ही करता है। परन्तु जो मूर्ख है उसके चित्त मे नाना सङ्कल्प विकल्प के उठने से यह जगतरूपी नाना दृश्य भासता है। यह भास केवल अभिमान से ही उत्पन्न होता है। इस कारण इस अभिमान को त्याग कर तुम निर्भ्रान्त शान्तपद को प्राप्त करो। अन्यथा चित्त की अशान्ति से बाहर भागते फिरोगे। हे राघव! इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषय का ग्रहण स्वभावत ही करती है। तुम उनकी भासना मे फँस बन्धन मे क्यों पडते हो। सभी पदार्थ अपने-अपने सकल्प मे आत्मा के आश्रित हो स्थित हैं। जैसे आकाश मे मानो आकाश स्थित हो वैसे ही तुम अपने आप में स्थित हो जाओ। एक-

एक जीव की सृष्टि अलग-अलग है। परन्तु स्वरूप से सब एक हैं। संकल्प की भिन्नता से उनमे अनैक्य व भिन्नता आई हुई है। दूसरे की सृष्टि का संकल्प कर एक दूसरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान भी भिन्न है। जैसे कि तरङ्ग भिन्न होते हैं पर जल मे भिन्नता नहीं वैसे ही आत्मा मे भिन्नता न रहते हुये भी उससे उत्पन्न विश्व-प्रपञ्च मे भिन्नता प्रकट हुई है। तुम इस सकल्प विकल्पसे उत्पन्न हुई भिन्नता को त्याग कर उस अद्वैत आत्मा मे स्थित हो जाओ। ज्ञानी पुरुप सर्व सकल्प मे एकता ही देखता है। सकल्प की एकता से जैसी-जैसी भावना करता है वैसी २ सम्यक् बुद्धि प्राप्तकर लेता है। हे राघव ! इच्छा चित्त का धर्म है। जो इच्छाके पीछे-पीछे चलता है उसे उसका ही चित्त मानो। वही दैत्य होकर अपना आहार बनाता है और जन्म, मरण के चक्कर में डालता है। वृक्ष को अग्नि लग जाय तो जैसे फल नहीं उत्पन्न होते वैसे ही जो जीव भोग मे आसक्त हुआ है वह पुरुपार्थ हीन हो शुद्ध बुद्धिरूपी फल नहीं प्राप्त कर सकता है। इस कारण चित्त से विपयभोग की तृष्णा त्याग दो कि जिससे यह दुष्ट चित्त शुद्ध और निर्मल हो निर्वाणामृत को पान कर सके और ब्रह्मशक्ति से शोभायमान हो जाये।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त॥११६॥

एकसौ सत्रहवा सर्ग।

सुखदायी योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह सारा विश्व आत्मा का ही चमत्कार है और वही सर्व मे चिन्मात्र स्वरूपसे वास कर रहा है। हे रामजी ! मै आशीर्वाद देता हूँ कि तुम उसी चिन्मात्र स्वरूप को प्राप्त हो रहो कि जो तुम्हारा अपना आप है। उसी के द्वारा तुम्हारे समस्त दु:ख नष्ट हो जावेंगे। हे रामजी ! तुम उसी निर्वाण शान्त आत्मा मे स्थित हो जाओ, यथा लाभ में ही सन्तुष्ट रहो और सत्य होते हुए भी असत्य की नाईं स्थित हो रहो। रागद्वेप

का आवरण तुम पर कदापि न चढ़े। हे रामजी! यह सारा जगत उस एकमे ही स्थित है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस एक मे भी कुछ स्थित नहीं है। आदि अन्त से रहित एक चिदाकाश ही अपने आप मे स्थित है। वही उत्पन्न होकर लय हो जाता है, वही शरीरादिकके नाश होनेपर भी अखण्ड रूप है और वही अपने आप मे स्थित जगत का चमत्कार रूप है। हे रामजी! ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, धाता, ध्यान, ध्येय और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब कुछ वही है। वही सर्वदा एक रस रहता है और कभी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता। वह आत्मपद है और वही सर्वदा ज्यों का त्यों स्थित है। उसके प्रमाद से ही जीव दुःख पाते हैं। जब आत्मा में प्रमाद होता है तब देह और इन्द्रियाँ भासने लगती हैं। परन्तु जैसे बालू मे तेल नहीं निकलता, आकाश मे वन नही होता वैसे ही आत्मा में देह और इन्द्रियाँ नहीं होतीं। हे रामजी! यह समस्त जीव आत्मस्वरूप ही है, इनको देह और इन्द्रियों का सम्बन्ध कुछ नहीं है। इनको जो क्रिया में अभिमान होता है इसी से ये बन्धायमान होते है। परन्तु वास्तव मे चित्त, देह और इन्द्रियाँ कुछ भिन्न वस्तु नहीं है, सब आत्मस्वरूप ही हैं, तब किसका त्याग करोगे? मन और इन्द्रियों की कोई सत्ता नहीं है, सब भ्रान्ति से ही भासती हैं। जैसे पर्वत के उज्वल मेघ मे वस्त्र बुद्धि व्यर्थ है वैसे ही देहादिक इन्द्रियों में अह बुद्धि निष्फल है। हे रामजी! यह सब कुछ अखण्ड आत्मतत्व ही है, इसमे द्वैत कुछ नही है। जब तुम ऐसी धारणा कर लोगे तब निरञ्जन स्वरूप हो जाओगे। हे रामजी! यह समस्त देह मन के स्फुरण से ही स्थित है और जीव का बास परमात्मा में ही होता है। हे रामजी! फुरने ने ही दृश्य को उत्पन्न किया है अन्यथा आत्मा में द्वैत कुछ नहीं है। वह अखण्ड, आत्मतत्व सर्व से परे और निरञ्जन रूप है। हे रामजी! तुम विचार दृश्यों को त्याग दो तभी निज स्वरूपों मे स्थित हो सकोगे। बस, इसी धारणासे तुम्हारी जीवन

यात्रा सुखमय व्यतीत होवेगी। जो कुछ नीति से प्राप्त हो उसको अभिमान रहित करते चलो। जब अहंभाव नहीं रहेगा तब स्पन्द युक्त रहो या निस्पन्द, समाधि मे स्थित रहो अथवा राज्य करो तुमको सब कुछ समान ही भासेगा। अहंकार एवं अभिलाषाओं के नष्ट हो जाने पर फुरना अफुरना तुम्हारा कुछ नही कर सकता। और तब एक अद्वैतसत्ता ही का भान होता है। जैसे समदर्शी पुरुषो को तरङ्ग और समान जल मे कुछ भेद नही जान पड़ता वैसे ही तुमको सब कुछ एक रूप ही भासेगा। इस प्रकार की दृष्टि कर लेने से चाहे तुम जीवनमुक्त पद मे रहो या विदेह पद मे रहो अथवा समाधि मे ही क्यो न लगे रहो सब एक समान ही भासित होवेगा। हे रामजी! अभिलाषायें ही जीव को बन्धन मे डाल रही है। जब अभिलाषायें मिट जायँगी तब तुम चाहे कर्म करो या न करो—कुछ भी बन्धन नहीं है। इस प्रकार जब प्रत्येक दशाओं मे आत्मा अक्रिय रूप ही है तब उसमे द्वैत कहाँ से आया?

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ सत्रहवाँ सर्गसमाप्त ॥११७॥

एकसौ अट्ठारहवाँ सर्ग।

नैराश्य योगोपदेश वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले—हे मुनीश्वर! एक शङ्का और है, कृपाकर आप इसे भी निवृत्त कीजिए। हे भगवन्! कोई कहता है कि वीर्य से अंकुर उत्पन्न होता है और कोई कहता है कि अंकुर से ही बीज की उत्पत्ति होती है। कोई कहता है कि जो कुछ करता है दैव ही करता है और कोई कहते हैं कि नही, कर्म सब कुछ करता है। कोई दैव को प्रधान मानता है और कोई कर्मको मानता है। कोई कहते हैं कि जब देह होता है तभी कर्म होते हैं और कोई कहता है कि कर्म से ही देह होता है। कोई पुरुष प्रयत्न को मानता है और कोई [illegible] है कि ईश्वर परमात्मा ही सबका कर्त्ता धर्त्ता है। तब उन [illegible] ों मे मै क्या ठीक मानूँ।

जैसा कुछ होवे आप वैसा ही ठीक-ठीक बतलावें । वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इन सबको मैं अलग-अलग तो क्या कहूँ—कर्म से लेकर दैव और घटपर्यन्त यह जो कुछ भी क्रिया कर्म और द्रव्य हैं सब विकल्प जाल का भ्रान्तिमात्र ही है। जो कुछ है सब आत्मा का ही स्वरूप है और वही अपने आप मे स्थित है, द्वैत तो कुछ हुआ ही नही। सवेदन से ही सब कुछ भासता है। संवेदन न होवे तो कहीं कुछ नहीं भासता। जैसे शीत और श्वेत दोनों ही बरफ के पर्यायवाची शब्द हैं ऐसे ही पुरुप प्रयत्न आदिक सब कुछ उस आत्मा के ही पर्यायवाची शब्द है। दैव ही पुरुप है और पुरुप ही दैव है। कर्म ही देह है, देह ही कर्म है। बीज ही अकुर है और अकुर ही बीज है। इनमे भेदबुद्धि रखना मूर्खता है। हे रामजी! ऐसे मूर्खों का वीर्य सवेदन है। जब संवेदन एवं फुरना होता है तभी कर्म, देह और दैव आदिक सब कुछ सिद्ध होते हैं। स्फुरण नही रहता तो कुछ नहीं भासता। इसलिये इस फुरने को ही ज्ञानाग्नि से ऐसा भस्म करो कि जिसमे इसकी शाखा प्रशाखायें सभी कुछ भस्म हो जावें। हे रामजी। 'यह मैं हूँ' जो ऐसा सवेदन फुरता है वही ससार का बीज है। जब इस अह भाव को ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओगे तब द्वैत कुछ न भासेगी। अस्तु ! यह जितना कुछ प्रपञ्च भास रहा है उसका वीर्य सवेदन ही है और उस संवेदन का वीर्य शुद्ध सवितत्व-मात्र है। हे रामजी ! आदि शक्ति मे जो कम्प हुआ उसी का नाम दैव है। उसीने आगे जो कर्म किया तो वही पुरुपप्रयत्न कहा गया। तब वह कर्म कि जो आदि दैव मे फुरा है उसका क्या रूप है। उसने जो प्राकृत कर्म किया उसी का नाम दैव पडा। परन्तु इन सबका वीर्य सवेदन ही है। अन्यथा वह स्वत चिन्मात्र पद एक ही था। जब उसमे विकारयुक्त उत्थान हुआ तब यह सारा प्रपञ्च भासने लगा। यदि उत्थानों का अभाव हो जावे तो प्रपञ्चो का भी पता न लगेगा। जीव का कुछ बनना ही समस्त आपदाओं का मूलमन्त्र

एकसौ उन्नीसवाँ सर्ग

भावना प्रतिपादन



शिष्ठजी बोले–हे रामजी ! इस ससार समुद्र का प्रवाह बड़ा ही गम्भीर अनन्त है । बिना सहारे इसका कोई पार नहीं पा सकता । सो इसको तरने के लिये ज्ञान ही सहायक है और उसी से यह अगाध सागर पार किया जा सकता है। जब ज्ञान से बुद्धि निर्मल हो जाती है तब हृदय मे शीतलता उत्पन्न होती है और फिर उस पूर्ण चैतन्य के आगे दूसरा कुछ भान नहीं होता इससे तुम भी नित्य अन्तर्मुख और वीतराग निर्वासनिक हो रहो । वह पद चिन्मात्र निर्मल और शान्तरूप है । जब उस पद मे पहुँचोगे तब तुम्हें नीति के अनुसार यथोचित चेष्टा करनी होगी । हर्ष के स्थान मे हर्ष और शोक के स्थान मे शोक करना होगा किन्तु हृदय में आकाश के समान स्वच्छ, ही बने रहोगे । किसी से कुछ भी स्पर्श न करना होगा । जब इष्ट की प्राप्ति हो तो उसे स्पर्श तो अवश्य करो किन्तु हृदय मे तृष्णा न करो और जब युद्ध प्राप्त हो तो उसमे शूरमा के समान लग जाओ और युद्ध करो । जो दीन हो उस पर दया करो। राज्य मिले तो राज्य करो और कष्ट मिले तो कष्ट भोगो परन्तु ये समस्त चेष्टायें अज्ञानी के ही समान करो । हृदय मे समता भाव रखो और आत्मा में कुछ भी स्फुरण न होने दो । राग-द्वेष मे सवदा ही निर्मल बने रहो । हे रामजी ! जब तुम ऐसा निश्चय कर लोगे तब तुमको कुछ भी खेद न प्राप्त होगा । तुम्हे शस्त्र नहीं काट सकते । अग्नि नहीं जला सकता, जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता। तुम अजर, अमर, केवल और सबका अपना आप स्वरूप हो । हे रामजी ! कष्ट तब होता है जब कोई विलक्षण वस्तु होती है । अग्नि तब जलाती है जब कोई विलक्षणता होती है । वस्तुत ऐसा तो होता नहीं कि अग्नि को अग्नि जलावे और

है। जब सूई वस्त्र मे चलती है तभी उसके पीछे तागा चलता है। यदि सूई वस्त्र मे न प्रवेश करे तो तागा ही क्यो जावेगा। इसी प्रकार जब जहाँ अहङ्कार प्रवेश करता है तब वहाँ पर ही आपदा का प्रवेश होता है। अहङ्कार नही होता तो सारा विश्व आनन्द रूप ही हो जाता है। इससे हे रामजी! तुम अहङ्कार को ही त्यागो। यह समस्त विश्व भ्रान्ति से ही भास रहा है यथार्थ मे कुछ हुआ नहीं, सब कुछ आत्मस्वरूप ही है। हे रामजी! यह सारा विश्व वासनामय है, वासनाये न रहे तो परम कल्याण हो जावे। वही युक्ति श्रेष्ठ है कि जिससे वासनाओं का अन्त होवे। यदि कोई वासना न रहे तो चेष्टा जन्म मरण का कारण नहीं बन सकती। तब ज्ञानी और अज्ञानी दोनो की ही चेष्टायें समान प्रतीत होती है किन्तु ज्ञानी का संकल्प दीर्घ होता है, फिर जन्म नहीं देता और अज्ञानी का सकल्प उस कच्चे वीर्य के समान है कि जो जन्म तो देता है किन्तु फिर मृतक हो जाता है। अत. सब कुछ अपने आप मे ही स्थित है, भ्रमवश भिन्न-भिन्न भासता है। स्वरूप से देखा जाय तो द्वैत की कोई उत्पत्ति नहीं हुई, द्वैत का भासना मिथ्या है। जब वासनाओ का त्याग कर देवे तब अपने आप मे ही स्थित होता है। हे रामजी! वासनाये जिस प्रकार निर्मूल होवें तुम वैसा ही यत्न करो। तभी कल्याण होवेगा। हे रामजी! जब इस प्रकार पुरुष प्रयत्न करके तुम अहङ्कार रहित होवोगे तब आपही आप वासनाओ का क्षय हो जावेगा। वासनाओं के अन्त के लिये पुरुष प्रयत्न के सिवा दूसरा कुछ उपाय नही है। पुरुपार्थ करके तुम इसी एक देव की आराधना मे लग जाओ। यही कर्म और दैव सब कुछ है। बस, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ है। एक ही पुरुष ने इतने स्वाङ्गो को धारण कर रखा है। अस्तु! तुम समस्त ईषणाओं को त्यागकर स्वरूप मात्र मे स्थित हो रहो।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११८॥

ज्ञान और ज्ञानवान को उसके समान ही उत्तर देने का नियम है। पहले तो तुम अज्ञानी थे इससे मैं तुम्हे सविकल्प उत्तर देता था परन्तु अब तुम ज्ञानवान हो गये हो, इससे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन ही है। पहले तुम सविकल्प शब्द के अधिकारी थे। परन्तु अब तो मैंने तुम्हें निर्विकल्प का उपदेश दिया है, फिर चुप न रहूँ तो क्या करूँ? हे रामजी! शब्द चार प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म, परमार्थ, अल्प और दीर्घ इन चारों मे ही तीन प्रकार के कलङ्क लगे रहते हैं। एक संग्रह, दूसरा प्रतियोग और तीसरा भेद। जैसे सूर्य की किरणों मे त्रसरेणु लगे रहते हैं, वैसे ही शब्द मे कलङ्क लगे रहते हैं। किन्तु जो शब्द मन और वाणी से परे है उनमे कलङ्क कैसे लग सकता है? हे रामजी! जब जो पद काष्ठ के समान ही मौन है, जिसमें इन्द्रियाँ और मन का कुछ भी स्फुरण नहीं होता ऐसे पद को मैं वाणी से क्या कहूँ? (जो बोला जाता है) किन्तु तुम्हारा मन तो ऐसा नहीं है। इससे तुम्हारा प्रश्न सुनकर मौन हो जाना ही मैंने युक्तियुक्त समझा है। रामजी बोले—हे भगवन्! आप कहते हैं कि योजना प्रतियोगी है और सविकल्प होता है तो ब्रह्म में जो दोष है उसका निषेध करके ही आप कहें, मैं प्रतियोगी को नहीं विचारता। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! मैं, तुम और यह सब जगत चिदाकाशस्वरूप, सत्ता रहित, चिन्मात्र, शान्तरूप, [illegible] और सर्व कलाओं से प[illegible] आत्मतत्व मात्र है। इस चिदाकाश में कहीं भी कुछ भी नहीं है[illegible] यह सर्व अहं संवेदन से रहित शुद्ध चिदाकाश स्वरूप ही है। परन्[illegible] इसमें जो अपने को कुछ मानकर फुरते हैं इसमें एक अहङ्कार के रहे अह[illegible] और हो जाते हैं। फिर तो यही [illegible] में फाँसी के [illegible] पड़ जाता है और आत्महनन [illegible] तब आत्मपद प्राप्त होता है। हे [illegible] अपने अहंकार का कोई भी अभिमान न [illegible] से पार होगये। किन्तु जब [illegible]

गमन के वन्धन मे पडा ही रहता है और कदापि भी मुक्त नहीं होता। जैसे जन्मान्ध को चित्र की पुतली नहीं दिखलाई पडती वैसे ही अहकारीको मुक्तिपद नहीं प्राप्त होता। जव अहन्ता का अभाव होवे तव कल्याण होता है। जीव की चैतन्यता ही उसके वन्धन का कारण होती है। जव सकल्प रहित होकर जड़ के समान हो जावे तव कल्याण होता है। किन्तु चैतन्योमुखत्व का होना तो पशु के समान हो जाता है। पशु का शरीर पाकर जव वह चैत्य से रहित, शुद्ध, चैतन्य प्रत्येक आत्मा मे स्थित होता है तव मनुष्य का जन्म सुफल होता है तव मनुष्य योनि मे जन्म पाकर भी यदि जानने योग्य वस्तुको न जाना तो फिर किस जन्ममे जानेगा। हे रामजी! यह ससार तो चित्त के स्फुरण से ही उत्पन्न हुआ है। जव यह संसरने से रहित होते तव इसको अपना आप केवलीभाव ज्ञात होवे। ज्ञानी की दृष्टि मे तो अव भी कुछ नही हुआ, केवल आत्मस्वरूप ही भासता है। उसके लिये फुरना अफुरना दोनो ही समान है। उसके निकट तो अन्त करण चतुष्ठय भी आत्मस्वरूप ही है और वह अज्ञानी को भिन्न-भिन्न ही भासता है यही कारण है कि उसके निकट चित्त आदिक सव कुछ जड़ और मिथ्या ही हैं। वह आत्मस्वरूप मे स्थित होने के कारण सव कुछ को आत्मस्वरूप ही देखता है और वह आत्मा सर्वदा ही देशकाल और वस्तु के विभाग से रहित है, क्योकि वह ज्ञानी है, इससे उसे सव कुछ आत्मा ही भासता है। वह लोक, धन और पुत्र आदिक मे जो कुछ भी चेष्टा करता है सवमे ईपणा रहित रहता है और उसे केवल आत्मा का ही अनुभव होता है। वह उसी मे स्थित रहता है और सवको अपना ही आप जानता है। हे रामजी! वह जिस पद को प्राप्त रहता है उसे वर्णन करने के लिए मेरी वाणी मे सामर्थ्य नहीं है। वह सर्वथा ही एक अनिर्वाच्य पद मे स्थित रहता है। हे रामजी! 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसा कहनेवाले को मै ज्ञानी नहीं कहता। जो इस पद तक पहुँचा है उसे अभी शास्त्र श्रवण करना

समान और ज्ञानवान को उसके समान ही उत्तर देने का नियम है। पहले तो तुम अज्ञानी थे इससे मै तुम्हे सविकल्प उत्तर देता था परन्तु अब तुम ज्ञानवान हो गये हो, इससे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन हो है। पहले तुम सविकल्प शब्द के अधिकारी थे। परन्तु अब तो मैंने तुम्हे निर्विकल्प का उपदेश दिया है, फिर चुप न रहूँ तो क्या कहूँ? हे रामजी ! शब्द चार प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म, परमार्थ, अल्प और दीर्घ इन चारो मे ही तीन प्रकार के कलङ्क लगे रहते हैं। एक संशय, दूसरा प्रतियोग और तीसरा भेद। जैसे सूर्य की किरणो मे त्रसरेणु लगे रहते है, वैसे ही शब्द मे कलङ्क लगे रहते है। किन्तु जो शब्द मन और वाणी से परे है उनमे कलङ्क कैसे लग सकता है? हे रामजी! जब जो पद काष्ठ के समान ही मौन है, जिसमे इन्द्रियाँ और मन का कुछ भी स्फुरण नहीं होता ऐसे पद को मै वाणी से क्या कहूँ? (जो बोला जाता है) किन्तु तुम्हारा प्रश्न तो ऐसा नहीं है। इससे तुम्हारा प्रश्न सुनकर मौन हो जाना ही मैंने युक्तियुक्त समझा है। रामजी बोले—हे भगवन् ! आप कहते है कि बोलना प्रतियोगी से और सविकल्प होता है तो ब्रह्म मे जो दोष है उसका निषेध करके ही :आप कहे, मै प्रतियोगी को नहीं विचारता। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! मै, तुम और यह सारा जगत चिदाकाशस्वरूप, चैत्य रहित, चिन्मात्र, शान्तरूप, सम और सर्व कलाओं से परे आत्मतत्व मात्र है। इस चिदाकाश मे अह त्व कुछ भी नही है। यह सर्व अहं सवेदन से रहित शुद्ध चिदाकाश स्वरूप ही है। परन्तु इसमे जो अपने को कुछ मानकर फुरती है इससे एक अहङ्कारके कई अहङ्कार हो जाते है। फिर तो यही अहंकार गले मे फाँसी के समान पड़ जाता है और आत्महनन कर देता है। जब इससे मुक्त होवे तब आत्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी ! जब मृतक हो जावे और अपने अहकार का कोई भी अभिमान न फुरे तब जानो कि ससारसागर से पार होगये। किन्तु जब तक द्वैतसे मिला हुआ है तब तक आवा-

गमन के बन्धन मे पड़ा ही रहता है और कदापि भी मुक्त नहीं होता। जैसे जन्मान्ध को चित्र की पुतली नहीं दिखलाई पड़ती वैसे ही अहंकारीको मुक्तिपद नहीं प्राप्त होता। जब अहन्ता का अभाव होवे तब कल्याण होता है। जीव की चैतन्यता ही उसके बन्धन का कारण होती है। जब सकल्प रहित होकर जड़ के समान हो जावे तब कल्याण होता है। किन्तु चैतन्योमुखत्व का होना तो पशु के समान हो जाता है। पशु का शरीर पाकर जब वह चैत्य से रहित, शुद्ध, चैतन्य प्रत्येक आत्मा मे स्थित होता है तब मनुष्य का जन्म सुफल होता है तब मनुष्य योनि मे जन्म पाकर भी यदि जानने योग्य वस्तुको न जाना तो फिर किस जन्ममे जानेगा। हे रामजी! यह ससार तो चित्त के स्फुरण से ही उत्पन्न हुआ है। जब यह संसरने से रहित होते तब इसको अपना आप केवलीभाव ज्ञात होवे। ज्ञानी की दृष्टि मे तो अब भी कुछ नही हुआ, केवल आत्मस्वरूप ही भासता है। उसके लिये फुरना अफुरना दोनों ही समान हैं। उसके निकट तो अन्त.करण चतुष्टय भी आत्मस्वरूप ही है और वह अज्ञानी को भिन्न-भिन्न ही भासता है यही कारण है कि उसके निकट चित्त आदिक सब कुछ जड़ और मिथ्या ही हैं। वह आत्मस्वरूप मे स्थित होने के कारण सब कुछ को आत्मस्वरूप ही देखता है और वह आत्मा सर्वदा ही देशकाल और वस्तु के विभाग से रहित है, क्योंकि वह ज्ञानी है, इससे उसे सब कुछ आत्मा ही भासता है। वह लोक, धन और पुत्र आदिक मे जो कुछ भी चेष्टा करता है सबमे ईषणा रहित रहता है और उसे केवल आत्मा का ही अनुभव होता है। वह उसी मे स्थित रहता है और सबको अपना ही आप जानता है। हे रामजी! वह जिस पद को प्राप्त रहता है उसे वर्णन करने के लिए मेरी वाणी मे सामर्थ्य नही है। वह सर्वथा ही एक अनिर्वाच्य पद मे स्थित रहता है। हे रामजी! 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसा कहनेवाले को मै ज्ञानी नहीं कहता। जो इस पद तक पहुँचा है उसे अभी शास्त्र श्रवण करना

ही होगा क्योंकि उसे अभी ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। जैसे कोई यह कहे कि मेरे हाथ में दीपक है पर मुझे दिखलाई नहीं पडता है, अन्धकार ही दीखता है तो जानिये कि इसके हाथ मे दीपक ही नहीं है। इसी प्रकार यह जगत तब तक भासता ही है कि जब तक ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ। ज्ञान उत्पन्न हो जावे ता यह जगत सर्वथा ही निर्वाण हो जाता है। हे रामजी! अब भी निर्वाणता ही है। तब भला किससे किसको कौन उपदेश करे? उस एक-रस-शून्य आत्मा मे कुछ भी भेद नहीं है। जो भेद है उसको ज्ञानी ही जानते है। उसमे वाणी की गम नही। उसमे जो यह अनन्त सवेदन का स्फुरण होता है उसी से ससार उठ खडा होता है और जैसे सवेदन ही उसके उठाने का कारण होता है वैसे ही सवेदन ही उसे लीन भी कर देता है। जैसे वायु से ही अग्नि प्रज्वलित होता है और वायु ही उसे लीन कर देता है वैसे ही जब संवेदन बहिर्मुख होकर फुरता है तब ससार भासने लगता है और जब अन्तर्मुख होता है तब जगत लीन हो जाता है। अस्तु! फुरने का ही नाम ससार है। जैसे आकाश में नीलता भ्रम से ही भासती है वैसे ही आत्मा मे जगत भ्रम से ही भासित होता है, वास्तव मे उसमे कुछ बना नहीं है। हे रामजी! तुम उसी मे स्थित हो रहो। उसमें स्थित हो जावोगे तब तुम्हारे समस्त अभावों का नाश हो जायगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥१२०॥

एकसौ एकीसवाँ सर्ग।

परम हंस योगोपदेश

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब पुरुष अहंकार से रहित होता है तभी आत्पद को पाता है। यद्यपि यह सर्वात्मा है तथापि अविद्या ने उस पर आवरण कर दिया है। जैसे सूर्यमण्डल को बादल ढाँप लेता है वैसे ही अविद्या आत्मा को ढाँप लेती है। तब मूर्ख

उस अविद्या में पड़कर उन्मत्त हो समान चेष्टा करते हैं किन्तु जिनको अहंकार नहीं है जो ज्ञानी हैं उनको दुःख का लेश भी नहीं होता। जैसे कागज पर लिखी हुई सेना दिखलाई तो पड़ती है किन्तु वह शान्तरूप है वैसे ही जब ज्ञानीजन देखने मे तो भले ही क्षोभवान जान पड़े किन्तु वे सर्वदा ही क्षोभरहित और निर्वाण रूप है, उनको वासना कोई नहीं होती। जैसे जल मे आवर्त देखने मे तो क्षोभवान दृष्टि आते हैं किन्तु जल से भिन्न नहीं हैं। जैसे धुयें के बादल आकाश मे हाथी, घोड़ा और पर्वत रूप मे जान पड़ते है परन्तु वैसे है नहीं, अपने मे अहंकार होने से ही जान पड़ते हैं और विकार रहित दृष्टि से देखे तो सब कुछ शान्तरूप हो जाता है वैसे ही अहंकार रहित आत्मपद को पाकर ज्ञानीजन शोभा को पाते हैं। हे रामजी! अहंता ही इस पुरुष को आवरण किये है, अहंता नष्ट हो जाती है तो स्वरूप की शान्ति होती है। अस्तु संसारके पदार्थों की भावना त्यागनेही योग्य है क्योंकि वास्तव में यह है नहीं। जैसे आकाश मे धूम मेघ नाना प्रकार का रूप होकर भासता है किन्तु वास्तव मे वह कुछ है नहीं, वैसे ही यह जगत भी कुछ है नहीं अनहोताही होते के समान भास रहा है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। हे रामजी! बन्ध तभी तक है कि जब तक संसार की वासना है वासनायें नष्ट हो जायँ तो आत्म पद की प्राप्ति होती है। ज्ञानी को कोई वासना नहीं होती, इसीलिये वह शान्तरूप है। उसे शब्दों का राग-द्वेष कुछ नहीं फुरता। वह सर्वथा ही एकमात्र निर्वाण पद को प्राप्त रहता है। उसमे सत् असत् शब्द कोई नहीं, यह केवल ब्रह्म स्वरूप मात्र है। उसके सम्बन्ध मे ब्रह्म भी तो क्या कहा जाय वह केवल आत्मतत्व मात्र और अद्वैत है वह चैतन्य आकाश एव वही विश्वरूप है। भावनाओं के वश होने से ही चैतन्य होकर भासता है। अस्तु! भावना वश यह जगत नाना प्रकार के रूप मे जान पड़ता है। किन्तु, यदि इसी को ब्रह्म भावना से , ब्रह्म ही भासता है। जैसे

में अमृत की भावना हो तो वह अमृत ही भासता है वैसे ही यदि जगत को विचार पूर्वक देखिये तो यह ब्रह्मरूप ही भासेगा और इसी को यदि अविचार से देखिये तो जगद्रूप होकर ही भासता है किन्तु विचार तो तब होता है कि जब अहकार नष्ट होता है। हे रामजी ! अहकार की उत्पत्ति आकाश से हुई है और वह आकाश शून्यता आत्मप्रमाद से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार जगत की उत्पत्ति का कारण अहकार मिथ्या है। हे रामजी ! यदि तुम विचार करके देखो तो यह शरीर आदिक कही दिखलाई नहीं पडते। इसने अहभाव मे ही समस्त भ्रमों को उत्पन्न किया है। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह मृगतृष्णा के जलवत ही है। अस्तु जब इसका कोई अस्तित्व ही नही है तब इसको त्यागनेमे क्या श्रम है ? इसका निर्णय भी क्या किया जाय ? जैसे वन्ध्याके पुत्र को वाणी से विचार किया जाय कि यह सत्य कहता है अथवा असत्य कहता है तो वह कल्पना मिथ्या है क्योंकि वन्ध्या को पुत्र होता ही नहीं तो उसका विचार ही क्या किया जाय ? ऐसे ही यह जगत का प्रपञ्च है ही नही तब इसका निर्णय ही क्या करें ? अतः मै जैसा कहता हूँ, तुम जब वैसा ही हो रहोगे तब आत्मपद की प्राप्ति होवेगी। इसकारण तुम यह भावना करो कि 'न मै हूँ, न यह जगत है' इस प्रकार जब अहङ्कार ही न रहेगा तब कलना कहाँ से होगी। कलना का होना ही तो अनर्थ है। हे रामजी ! जब ऐसा विचार उत्पन्न करोगे तब भोगों की वासना क्षय हो जावेगी और जब वासना न रहेगी तब शुद्ध चिन्मात्र आत्मसत्ता ही रहेगी।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥१२१॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग।

निर्वाण योगोपदेश

हे रामजी! अहंता के उत्थान ने ही स्वरूप पर आवरण कर रखा है। अहता न रहे तो स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। क्योकि संसार का बीज अहता ही है। तब जब कि अहता ही मिथ्या है तो उसके कर्म कैसे सत्य होगे। जो प्रपञ्च मिथ्या होता है उसके पदार्थ भी असत्य ही होते हैं। जैसे स्वप्न मे द्वैत कलना होती है सो असत्य ही है वैसे ही यह जगत्-द्वैत भी असत्य ही है। हे रामजी! यह सारा जगत भीतर ही भासता है और बाहर जो दिखलाई पड रहा है वह आत्मा के प्रमाद से ही बाहर भासता है। तब यही कि जो भीतरी सृष्टि बाहर भासती है वही स्वप्न सृष्टि कही जाती है। अतः यह सारा जगत चिद्रूप ही है, भिन्न कुछ नही बना। चैतन्यसत्ता आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म और स्वच्छ है। इस जगत को चित्त ने ही चेता है। परन्तु यह हुआ कही नही। न किसी का नाश होता है, न कोई उत्पन्न होता है, न कही जन्म है, न कही मरण है, सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत की नष्टता से कुछ नष्ट नही होता। स्वप्न के पहाड़ और संकल्प के नगर नष्ट हो जावें तो क्या नष्ट हुआ, कुछ नहीं—वैसे ही इस जगत के नष्ट होने से कुछ नष्ट नही होता। जैसे अन्धकार के पदार्थ प्रकाश से नष्ट हो जाते हैं वैसे ही यह जगत अविचार से भासता है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। इसका कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। अतः इन रूप, मन और इन्द्रियों की चिन्तना करना ही श्रेय है। हे रामजी! यह ससार ऐसा ही है कि जैसे समुद्र मे भँवर होती है। अतः इसमे प्रीति करना अज्ञानता है। हे रामजी! कितने ही ऐसे हैं कि जो बाहर से देखने मे तो शान्तरूप जान पड़ते हैं परन्तु वे हृदय से क्षुभित ही रहते हैं और कितने [illegible] हैं कि जो हृदय से तो शीतल रहते हैं परन्तु बाहर से [illegible] की चेष्टायें करते रहते हैं परन्तु

जो इन दोनो से हो परे हैं, वे मोक्ष के भागी होते हैं। उनका भीतर बाहर समान होता है। जिसने आत्मा को ज्यों का त्यों जाना है, वह भय और शोक से सर्वथा ही रहित है और वे केवल अपने स्वच्छ रूप आत्मा मे ही स्थित रहते हैं। हे रामजी! भय तो तब होता है कि जब दूसरा भासता है। परन्तु जब द्वैत कोई नहीं और सर्व का ही अभाव हो जाता है तब भय किसका? तब तो सब कुछ शान्तरूप ही है। सम्यकदर्शी को जगत का दुःख नहीं होता किन्तु असम्यकदर्शी को तो यह जगत सर्प के ही समान भयभीत करता है और वह उससे भय पाता है। ऐसे ही जिसको आत्म-साक्षात्कार हो गया है उसको जगत की कोई कल्पना नहीं होती और केवल चिदानन्द रूप ही भासता है। किन्तु जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं है वह जगत् को द्वैतरूप समझता है और इसी से वह नाना प्रकार के रागद्वेप का कष्ट उठाता है। परन्तु जगत की कोई सत्ता नहीं है। अपने अनुभव मे ही जगत की कल्पना उदय हुई है और वही अज्ञान से द्वैतरूप होकर भासती है। अस्तु जगत का कोई कारण नहीं है, यह बिना कारण ही उत्पन्न हुआ है। विचार करके देखा जाय तो सभी प्रकार के द्वैतभ्रम नष्ट हो जाते है। आत्मा शुद्ध और अद्वैत है। उसमें जो अहकार का स्फुरण हुआ है वही दु ख का कारण है। स्वरूप मे प्रमाद न होवे तो ससार उत्पन्न न होवे। स्वरूप के विस्मरण से ही अहङ्कार की लता बढ़ती है और फिर नाना प्रकार के आकारो को पकडकर वासना दृढ हो जाती है। फिर तो प्राणी जिस दृश्य की भावना करता है, वह वैसे ही समुद्र तरङ्ग मे चक्र के समान फिरता है। किन्तु ज्ञानी को वासना कोई नहीं रहती और उसे आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। हे रामजी! जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब अहकार उत्पन्न होकर दृश्य भासने लगता है और जैसे नेत्र के खोलने पर दृश्य को ग्रहण करता है वैसे ही जब नेत्र को बन्द कर लेता है तब

दृश्य-स्वरूपो का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार जब अहन्ता का उदय होता है तभी दृश्य होते हैं और जब अहन्ता नही होती तब संसार का अभाव हो जाता है। हे रामजी! अहकार का उत्पन्न होना ही अज्ञानता है और यही बन्ध है। अहंकार न रहे तो मोक्ष हो जाता है। हे रामजी! यह देह और इन्द्रियाँ आदिक सब मृगतृष्णा के जलवत ही हैं। इनमे अहंकार करना मूर्खता है। इसी से ज्ञानी जन अहंता को त्यागकर आत्मपद मे स्थित रहते हैं। उन्हे संसार के इष्टानिष्ट कष्ट नही देते और उनका हृदय आकाश के समान निर्मल और स्वच्छ होता है। उसके मन मे रूप, दृश्य और इन्द्रियों का स्फुरण नहीं होता। जैसे वन्ध्या के पुत्र का नृत्य असम्भव है वैसे ही ज्ञानी के मन से रूप, अवलोक और मनस्कार आदिक सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। उसको सब कुछ ब्रह्म ही भासता है और द्वैत की भावना नही रहती। किन्तु अज्ञानियो के हृदय मे अहंतावश संसार का बीज दृढ रहता है और इसी कारण उस जीव की बुद्धि नष्ट विनष्ट हुई रहती है। फिर तो वह अनेक दुःखो को पाता हुआ संसारसागर मे डूबता उतराता रहता है। जब सन्तो का साथ करता है और जैसा सन्त बतलाते हैं वैसा आचरण करता है तब अहन्तारूपी दुःख नष्ट होता है। हे रामजी! सन्तो के वचनो का उलघन करना मानों मुक्तिफल को नाश करना है। अत. हे रामजी! तुम सन्तो की शरण मे जाओ, वही इस अहन्ता को दूर करेंगे और यह अपने ही आधीन है। तब भला इसका चिन्तन करने मे क्या कष्ट है? सत्सङ्गति द्वारा आत्मपद बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाता है। ज्ञानियों की सेवा से जब बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तब अहंतारूपी विषय की बेलि को नष्ट होते देर नही लगती। उस अवधि मे यह विचार करना चाहिये कि 'मै क्या हूँ और यह जगत क्या है।' जब इस प्रकार से सन्त और शास्त्रों के निर्णय से सत्य प्रतीत होता है तब असत्य का सर्वथा ही नाश हो जाता है। अत. आत्मा को

सत्य जानकर तुम उसी की भावना करो और इस जगत को असत्य जानकर मृगतृष्णा के जलवत ही इसकी भावना को त्याग दो। अन्यथा जैसे मृगतृष्णा का जल कष्टदायक होता है वैसे ही यह जगत महान् कष्ट देनेवाला है। हे रामजी! सबका अधिष्ठान आत्मतत्व ही है। वह आत्मतत्व शुद्ध रूप, परम शान्त और परमानन्द पद है। उसको पाकर फिर दुःख नहीं होता। अन्यथा यह भोग तो बन्धन के ही कारण हैं, इनसे कभी शान्ति नहीं मिलती। सन्तोष का साथ ही कल्याण का देनेवाला है। हे रामजी! मै जो कुछ कह रहा हूँ यह बिलकुल सत्य है। आत्मपद मे पहुँचकर ही मैं तुम्हे ऐसा बोल रहा हूँ। जब अहकार नष्ट होता है तभी शान्ति मिलती है। अतः अहकार का ही नाश करो। जब अहकार नष्ट हो जाता है तब चैत्य की भावना मिट जाती है और तब वह ज्ञान सूर्य प्रकट होता है कि जिससे विषयो से वैराग्य उत्पन्न होकर स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध का एकसौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥१२२॥

❖ यहाँ निर्वाण प्रकरण का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ ❖



* श्रीपरमात्मने नमः *

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा

निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध

पहला सर्ग ।

जिज्ञासु की पहली, दूसरी, भूमिका वर्णन ।

इतनी कथा कह कर वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! अब मैं तुम्हारे हित के लिये ज्ञान की उस सप्त-भूमिका को वर्णन करूँगा कि जिसे सुनकर तुम परम शान्तात्मा हो जाओगे । ध्यान देकर सुनो । हे रामजी ! जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत जिज्ञासु के लिये सात भूमिकाओं का निर्माण किया गया है । यदि जिज्ञासु उनका ठीक-ठीक आचरण और पालन करता है तो वह सफल-मनोरथ होकर आत्मपद को प्राप्त करता है । उनमे मैं पहले पहली भूमिका को बतलाता हूँ । देखो, जब बालक माता के गर्भ में रहता है, तब उसको सुषुप्ति अवस्था प्राप्त रहती है, परन्तु संस्कार शेष रहता है । जैसे बीज देखने मे सुषुप्ति और शून्य रहता है, पर उसमे अंकुर विद्यमान् रहता है, वैसे ही बाल्यावस्था देखने में सुषुप्ति रूप है, पर उसमें संस्कार शेष रहता है । इस प्रकार जब सुषुप्ति रूप बालक अपने शेष संस्कारो को लेकर बाहर निकलता है तब कुछ ही काल व्यतीत होता है कि उसकी यह सुषुप्ति अवस्था नष्ट होजाती है और चेतनता आजाती है । तब वह जानने लगता है कि "यह मैं हूँ, यह मेरे माता पिता हैं" । तब उसके कुल वाले उसे सिखाने लगते है कि यह कड़वा है, यह मीठा है, यह कहने से पाप होता है, इससे पुण्य होता है, यह करने से स्वर्ग मिलता है, यह करने से नर्क मिलता है, इस प्रकार यज्ञ किया जाता है, इस प्रकार जप होता है और इस प्रकार

दान किया जाता है इत्यादि, हे रामजी ! जब इस प्रकार के उपदेशों को पाकर वह बड़ा होता और अपने कुल मर्यादा के उपदेश तथा शास्त्र के भय से धर्माचरण करता हुआ पाप मार्ग से विमुख होता है तब उसे धर्मात्मा कहा जाताहै । वे धर्मात्मा भी दो प्रकार के होते हैं । एक का लक्ष्य प्रवृत्ति मार्ग की ओर होता है और दूसरे का निवृत्ति की ओर होता है । प्रवृत्ति वाले पुण्य कर्मों को करके स्वर्ग को प्राप्त करना उत्तम समझते हैं । उनको मोक्ष की इच्छा नहीं होती । वे स्वर्ग के फल को ही भोगना चाहते हैं । इस कारण वे संसार में जन्म ले तृणवत भ्रमते रहते हैं और शीघ्र मुक्ति नहीं पाते । कहीं चिरकाल में उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु जो दूसरे निवृत्ति वाले हैं उनको आरम्भ से ही विषय भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे कहते हैं कि संसार मिथ्या है, किस उपाय से मैं इससे मुक्त होकर उस पद को प्राप्त करूँगा कि जो शम, शान्त और अक्षय रूप है । फिर तो वह उसी क्रम से चलकर अपने अभीष्ट पद को प्राप्त कर लेता है । परन्तु इसी में एक पशुधर्मा मनुष्य भी होते हैं । इनको किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वे अपनी इच्छा से स्वतंत्र होकर संसार में विचरते हैं और शास्त्रों के अर्थ को भूल कर भी नहीं जानना चाहते । सर्वदा अशुभ को ग्रहण करते और विचार से रहित रहते हैं । इस कारण हम उनका कोई स्थान नहीं रखते । मानव संसार में केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति वालों को ही स्थान दिया जाता है । तब जिसको शास्त्र शुभ कहता है, उसको ग्रहण कर अशुभ का त्याग करना और कामना युक्त फल के लिये यज्ञादिक शुभ कर्मों को करते हुये स्वर्ग, धन और पुत्रादिककी प्राप्ति के लिये ऐसी अनेक चेष्टाये करना प्रवृत्ति मार्ग है और निवृत्ति मार्ग वह है कि जो निष्काम भाव से शुभ कर्मों को करके अन्तःकरण शुद्ध किया जाये । ऐसा वैराग्यवान पुरुष कहता है कि मुझे कर्मों और फलों से तो क्या प्रयोजन, मैं केवल आत्मपद को ही प्राप्त करना चाहता हूँ । वह प्रति क्षण संसार से मुक्त होने का ही विचार किया

करता है। वह कहता है कि ससार मिथ्या है, मुझे भोग नही चाहिए, भोग सर्पवत है, आदि-आदि। इस प्रकार यह भोगो की निन्दा करता है और संसार से उपराम होता है। वह सर्वदा ही शुभाशुभ का विचार करता हुआ अपनी वाणी को मर्यादा मे स्थिर रखता है, सत्संग करता है और इस प्रकार वारवार सत्शास्त्रोद्वारा ब्रह्म विद्या का विचार करते हुये अपनी बुद्धि को बढ़ाता रहता है। वह तीर्थ देवस्थानो मे जाता तथा वैसे शुभ स्थानो को पूजता और अपने शरीर से सन्तो की सेवा करता हुआ, सर्वसे मयत्री भाव रखता हुआ, सत्य और दया भाव को लेकर ससार में विचरण करता है। वह विचार कर ऐसी वाणी बोलता है कि जिससे प्रत्येक को प्रसन्नता प्राप्त होवे। वह शास्त्रों से विपरीत एक शब्द भी नहीं बोलता। वह अज्ञानी का साथ नहीं करता। उसे स्वर्ग आदिक सुखो की इच्छा नही होती। वह केवल आत्मोपासक वन सतसग और सच्छास्त्र मे मन लगाकर उसकी धुन मे मस्त रहता और चित्तको किसी दूसरी ओर नही जाने देता। जैसे कृपिण और दरिद्र अपने धनकी चिन्ता किया करता है, उसी प्रकार वह सर्वदा ही आत्मा की चिन्ता किया करता है।

हे रामजी! दूसरी भूमिका यह है कि जो पुरुप [जिज्ञासु] उपर्युक्त पहली भूमिका को लॉघ चुका है वह सर्वदा ही अपने बोध को बढ़ाने के लिये तीर्थों मे स्नान, दान करता हुआ सतसग और सच्छास्त्रों का विचार किया करता है। उसका खाना, पीना, देना, लेना जो कुछ भी होता है, सर्व विचार युक्त होता है। वह सर्वदा शुद्ध मार्ग मे विचरता हुआ निष्क्रोध भाव से शुभाचरणों को करता है और वह एक एक करके इन्द्रिय जन्य विषयों को नष्ट कर डालता है और सर्व से उदासीन रह दुर्जनों की सगति का बलपूर्वक त्याग कर देता है। वह सारी इच्छाओं का दमन करके केवल दया नाम्नी इच्छा को अपनाता हुआ सब पर दया करता हुआ सन्तोषवान बना रहता है। उसके पास ग्रहण और त्याज्यगुण स्वभावत ही नहीं रहते और वह लोभ, मोह तथा दम्भा[illegible] से सर्वथा ही पृथक रहता है।

हे रामजी ! जब इस प्रकार जिज्ञासु दूसरी भूमिका को प्राप्त कर तीसरी भूमिका मे पहुँचता है तब उसके लिये यह आवश्यक होजाता और तब वह ऐसी चेष्टा करता है कि ससार से सर्वथा ही असग रह सन्तो की सेवा को ही अपना मुख्य धर्म बना लेता है। वह भोगो को सर्वथा ही त्याग देता है । उसका हृदय सर्वदा ही शुभ गुणों से भरपूर रहता है और वह फूलो की शय्या को सुखदायी न जाकर वन और कन्दरा के वास को ही उत्तम समझता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर वह अपने वैराग्य को बढाता हुआ तालाब, बावलियों और नदियों मे स्नान करता हुआ पाषाण शिलापर शयन करता है। फिर धारणा ध्यान से चित्तको स्थिर करके आत्म-चिन्तन करता हुआ भोगों से सर्वदा ही विरक्त हो जाता है ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग ।

तीसरी, चौथी भूमिका वर्णन ।

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! ज्ञान बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है । ब्रह्म विद्या के विचार बिना ज्ञान दुर्लभ है । जब बारबार उसके अर्थ की भावना की जाये और सर्वदा पुण्य-शील क्रियाओं पर ध्यान दिया जाये, तभी ज्ञान प्राप्त होता है । जो जिज्ञासु प्रतिक्षण अपना लक्ष्य इस ओर बनाये रखते हैं उन्हीं को इसका शुभ दर्शन होता है । ऐसे जिज्ञासु सर्वदा ही असग रहते हैं । उनके निकट यदि बिना इच्छा किये ही नाना प्रकारकी सुगन्ध और अप्सराये भी आ जावे तौ भी वे उनका निरादर कर देते हैं और स्त्री को देखते हैं तो उसे माता के ही समान जानते हैं । उनके लिये पराया धन मिट्टी के समान है । वे प्राणिमात्र पर दया करते हैं और परोपकार करना ही उनका ध्येय होता है । वे किसी का दु ख नहीं देते। इस प्रकार वे सर्वदा ही पुण्यशील रह सत्शास्त्रों के अर्थ का अभ्यास

करते हुये सर्वदा ही असंग बने रहते हैं। रामजीने पूछा—हे भगवन ! यहाँ असंग से क्या अर्थ है ? वशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे रामजी ! असंग दो प्रकार का होता है। समान और विशेष। समान असग यह कि मैं कुछ नही करता। मेरा देना लेना जो कुछ है, सब भगवान का है। उन्ही की आज्ञासे मैं देता लेता हूँ। मेरे अधीन कुछ नही। हे रामजी ! वह जो कुछ शुभ क्रिया एवं यज्ञादिक कर्म करता है सब इश्वरार्पण करता और उसमे अपना अभिमान कुछ न करके यही कहता है कि सब भगवान की ही आज्ञा से हो रहा है। वह इन्द्रियों के भोगों को आपदा रूप जानता हुआ सबसे पृथक रहता है और इस प्रकार की सभी सम्पदाओ को आपदा रूप जानकर सयोग वियोग से पृथक रहता है। वह पराई स्त्री को विप की लता के समान जानकर उसे दूर से ही त्याग देता है। वह जानता है कि सुख दु:ख जो कुछ है सब ईश्वर के हाथ मे है, अपने हाथ मे कुछ नहीं है। न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता। सब ईश्वर की सत्ता से हो रहा है। इस प्रकार वह निरभिमान होकर समस्त पुण्य क्रियाओं को करता हुआ सर्व से पृथक रहता है। उसकी एक-एक वाणी मे मानो अमृत भरा रहता है।

दूसरा जो विशेष असंग वाला है उसका लक्षण यह है कि वह सर्वदा ही चित्त से रहित चैतन्य सत्ता मे स्थित रहता है। उसके हृदय मे पदार्थों की रचमात्र भी इच्छा नहीं उठती। वह समस्त चेष्टाओं को करता हुआ भी सर्व से वैसा ही पृथक, ऊँचा और निर्लेप रहता है कि जैसे जल से कमल पत्र निर्लेप अथवा कमल पुष्प जल मे रहता हुआ भी ऊँचा ही उठा रहता है। उसे कोई इच्छा नही रहती। चाहे कुछ हो या न हो,वह सर्व कल्पनाओ से पृथक रह कर ससार को नष्ट समझता है। उसके हृदयमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ताका स्फुरण नहीं होता। वह किसी भी कार्य मे हानि, लाभ न समझता हुआ सबसे असग रह ससार मे नहीं डूबता और इस प्रकार इष्ट अनिष्ट जितने भी पदार्थ है उनके सुख दु ख की वेदना से वह कभी सुखी

रहती है और फिर शरीर मे चेतना उत्पन्न हो, जाती है तब वह अपनी वासना के अनुसार शरीरादिको देखता है और यह जानता है कि यह मेरा शरीर है, यहाँ मै उत्पन्न हुआ था और यह सब कुछ मेरा था इत्यादि। पश्चात् शरीर छूट जाता है और वे देखते है कि यमराज के दूत मुझे लिये जा रहे है, यह यमलोक है, यह मेरे पुत्रो ने पिंडदानादि किया है तथा यहाँ धर्मराज बैठे हैं आदि-आदि। तब कुछ ही क्षण मे वे धर्मराज के सम्मुख जाते हैं और देखते है कि उनके पहुँचते ही पाप और पुण्य दोनो ही शरीर धारण कर वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। तब धर्मराज उनसे पूछता है कि बोलो, इसने क्या कर्म किये हैं। तब प्राणी यदि पुण्य किये होता है तो उसको स्वर्ग में देकर फिर नीचे गिरा देते है और यदि पापी होता है तो उसे नरक में डालदेते हैं। इस प्रकार जीवो को स्वर्ग, नर्क मिलता है और उसी क्रम से वह कभी सर्प, तोता, तीतर, मच्छ, बगला, गर्दभ और बेलि वृक्ष योनियो को प्राप्त होता है और ज नता है कि यह मैं हूँ, यह मेरे माता पिता है, इत्यादि। इस प्रकार वह निकृष्ट योनियो में भ्रमता हुआ कभी सुयोग से मनुष्य जन्म भी पा जाता है और जानता है कि यह मेरा कुल है, अभी मैं बालक हूँ, अब मैं युवा हुआ, अब मैं वृद्ध हो गया हूँ इत्यादि। फिर जब काल पाकर वह मरता है तब कर्मानुसार फिर सर्प, तोता, वानर, मच्छ, कच्छ और पशु, पक्षी तथा देवता आदिका शरीर धारण करता है। इस प्रकार वह अपने प्रमाद वश कभी अर्द्ध कभी उर्द्ध को जाता हुआ अनेक दु खों को प्राप्त करता है। हे रामजी! यह जो कुछ विस्तार तुमसे कहा है, वह कुछ बना नहीं है, केवल अद्वैत आत्माही है और वही चित्तके सयोग से इतना भ्रम देखता है, अन्यथा, आत्मासे भिन्न कुछ नहीं, चित्तका सयोग ही इतना भ्रम दिखलाता है। इस कारण तुम चित्त को त्याग शुद्ध और आनन्दरूप आत्मा में ही स्थित रहो। प्रवृत्तिवालों का यही क्रम है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग ।

निवृत्ति-उपदेश ।

हे रामजी ! अब निवृत्तिवालो का क्रम सुनो। जो भूमिका को प्राप्त हो चुके हैं किन्तु आत्मपद का दर्शन नहीं हुआ है उनके भी पाप भस्म हो जाते हैं और वे शरीर छोडने पर वासना के अनुसार अपने साथ शरीर देखते हुये फिर ऐसे परलोक को देखते है कि जहाँ स्वर्ग के सभी सुख उनको विद्यमान रहते हैं। वहाँ पहुँचकर वे विमानारूढ हो अनेक सुन्दर और सुगन्धित स्थानों में विचरते हुये लोकपालो को देखते हैं। वहाँ उन्हें पाँचो इन्द्रियो के ऐसे रमणीय विषय प्राप्त होते है कि जिनके अनुसार व नाना प्रकार के देवोपम सुख को भोगकर फिर ससार मे उत्पन्न हो भूमिका क्रम को प्राप्त होते हैं। फिर जैसी भावना दृढ होती है, वैसा ही वैसा भासता है। वासना के अनुसार ही वह परलोक भ्रम का सुख दुःख देखता है। इसी प्रकार वह अपने सकल्प वश जगत और परलोक मे भटकता हुआ जब फिर संसार मे आता है तब आत्मा की ओर आने पर उसका ससार-भ्रम नष्ट हो जाता है। किन्तु ससार में पुनः आकर भी जब तक वह आत्मा की ओर नही आता तब तक निज संकल्प से ससार को ही देखता है। प्रत्येक जीवो के प्रति अपनी २ सृष्टि भासती है। देव, दानव, पृथ्वी और स्वर्ग सभी सकल्प से रचे हुये हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और यह सारा ससार सब मनोमात्र और संकल्प से रचा हुआ है। इससे यह सब कुछ मिथ्याडम्बर मात्र है। इसमे आना, जाना, अह, त्व की कोई कल्पना नहीं, यह सारी सृष्टि स्वप्न सृष्टि और मनोराज के राज्य समान ही भासित होती है। केवल सत्तामात्र स्वतः अपने आपमे स्थित है और वही सब कुछ है। यह सारा विश्व आत्मा का ही स्वरूप है। हे रामजी ! इस सृष्टि के और परलोक के भी जितने हैं। सब आत्मा से ही भासित

होते हुये आत्मस्वरूप ही हैं। ईख मे मधुरता, मिर्च मे तीक्ष्णता और देखना, सुनना स्पर्शकरना तथा सुगन्ध लेना आदि जो कुछ सारा विश्व है सब आत्मा ही विद्यमान है। इससे तुम सारे विश्व को आत्मरूप ही जानकर उसी मे स्थित हो रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पाँचवाँ सर्ग।

विश्व आकाश की एकता वर्णन।

हे रामजी! इस प्रकार यह सारी सृष्टि सकल्प मात्र और आकाश रूप है। आकाश और स्वर्ग मे कोई भेद नहीं है। जैसे वायु और स्पन मे कुछ भेद नही, वैसे ही आकाश और स्वर्ग में कुछ अन्तर नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि की समस्त वस्तुओ में एक दूसरे से कुछ भी भिन्नता नहीं है और वास्तव मे विश्वका सारा चमत्कार आत्मा से ही चमत्कृत है, इससे सब कुछ आत्मस्वरूप ही जानो। तब—जबकि—सब आत्मरूप ही है—किसी में राग द्वेप क्या करना? आत्मा से भिन्न कुछ नहीं हुआ। समस्त सवेदन आत्मा का ही रूप है। जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है। दृष्टि दोप से नानात्व भास रहा है। धूलि के कण पृथक-पृथक होते हैं पर, सब एक ही धूलि है और जब वर्षा से सब एक समान हो जाती हैं और जैसे नदी मे नदी पडकर एक ही हो जाती है वैसे ही एक के संकल्प एक से मिलते भी है और नही भी मिलते। जैसे सूर्य, दीपक, और मणिका प्रकाश देखने में तो भिन्न २ जान पडता है, पर सब एक ही समान है, वैसे ही कितनी ही सृष्टि एक ही भासती है और भिन्न २ कई एकत्र होती देखने मे भिन्न २ जान पडती है। इनके फुरने एव उत्पन्न होने की सख्या तो क्या कहें। यह सब अधिष्ठान मे कई कोटि उत्पन्न और लीन होती है, पर अधिष्ठान ज्यो

का त्यों है उसमे कुछ भी भिन्नता नही है। ब्रह्म और आत्मा आदि भी कुछ नही। यह सर्वदा ही शब्द अर्थ की भावना मात्र भासित होते है। भावना न हो तो शब्द अर्थ कुछ भी न भासेगा और केवल शुद्ध चैतन्य सत्ता ही शेष रहेगा। ससार का सर्वथा ही अभाव है। जैसे वायु चलने पर ही जानी जाती है और गन्ध भी वायु के चलने पर ही जाना जाता है और जब वायु नहीं चलता तब नहीं जान पडता, वैसे ही फुरना निवृत्त होने पर संसार और संसार का अर्थ दोनों ही नही जान पडता। हे रामजी ! आकाश, पृथ्वी, जल और अग्नि आदि सर्व पदार्थ आत्मा ही है। यदि यह न प्रतीत हो तो यह जानो कि सब कुछ मिथ्या है और सबका जो साक्षीभूत आत्मा है वही ब्रह्म अपने आपमे स्थित है और वही सब कुछ है, उससे भिन्न कुछ नही, उसी ब्रह्म मे अंश से अनेक पदार्थ स्थित है। ऐसा कोई भी पदार्थ नही, जो आत्मा से भिन्न हो। सत्य असत्य सब आत्मा ही है। सत्य असत्य दोनों का स्फुरण आत्मा मे समान ही है। जैसे स्वप्न मे सत्य, असत्य दोनो ही दृश्य दिखलाई पड़ते हैं और जैसे इन्द्रियजन्य विषयों को तो सत्य समझते है और आकाश मे फूल लगे है तथा शशे के सींग होती है—इसको असत्य समझते है, वैसेही सत्य असत्य सब कुछ आत्मा का ही किंचन है और उसी मे विद्यमान है तथा सब कुछ उसीके अनुभव से फुरता है। ऐसा कोई भी है पदार्थ नहीं जो आत्मा से भिन्न हो। परन्तु किसी भी पदार्थ की सत्यता आत्मा से नहीं है और सब कुछ उस एक फुरने मे ही स्थित है। सत्यासत्य जो कुछ है, सब फुरना ही है। इससे हे रामजी ! तुम सत्या-सत्य से रहित हो। इससे उस सर्व गुणों से परे परमात्मा मे ही शीघ्र स्थित हो जावो कि जो आत्मा से भिन्न कुछ नही है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का पाचवां सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठां सर्ग ।

विश्वविजयी होने की युक्ति ।

हे रामजी ! यह सारा विश्व जो तुम्हें भिन्न भिन्न भासता है, कोई भी सत् नहीं है । सब कुछ स्वप्न के समान मिथ्या है । यदि परमार्थ दृष्टि से देखिए तो सब कुछ आत्माही है । जैसे स्वप्न की सेना और नाना प्रकार के दृश्यो युक्त युद्ध आदि मे शस्त्र चलते जान पडते हैं पर आत्मा मे इनकी रूप रेखा और शब्द अर्थ कुछ नही, वह जगत से रहित किन्तु जगदाकार ही भासता, है वैसे ही यह" मैं- तुम" जो कुछ भास रहा है सब मिथ्या और भ्रम युक्त है। सब का अधिष्ठान ही सत्य है और उसी मे सब कल्पित है । अनुभव दृष्टि से देखने पर सब कुछ आत्म स्वरूप ही है। इस प्रकार यह सारा विश्व भ्रम के कारण ही फुर रहा है— अन्यथा इसकी वास्तविकता नही है । वह सत् असत से परे शुद्ध अधिष्ठान ही सब कुछ है । उसी चिन्मात्र मे अहं की भावना होने से, अज्ञान के कारण समस्त दृश्य भासित होते हैं । ज्ञान से देखा जाय तो दृश्य मिथ्या और सकल्प रूप है । अधिष्ठान ही सत्य है और वही अज्ञान के वश होकर सर्वोत्पादक हो रहा है । पर विचार करने से उसमे दृश्यों का वैसा ही अभाव हो जाता है, जैसे सीपी के जानने से रूपे का भ्रम नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार आत्मविचार से विश्व बुद्धि नष्ट हो जाती है और ज्यों का त्यो आत्मरूप का भान होने लगता है । हे रामजी! विचार में बडी शक्ति है । विचार करने से ही सर्व की यथार्थता का बोध होता है । अविचार से कुछ नही होता । जिस फुरने को हम बारबार मिथ्या कह रहे हैं यदि तुम विचार पूर्वक वैसा स्फुरण करो तो उस मे भी तुम्हें आत्मरूप का ही बोध होवेगा और उस प्रकार अर्थात् स्फुरण करते २ वह समय भी आ जायगा कि जब तुम्हें यह विश्व चक्र न भासेगा और सारे दृश्य-भ्रम नाश हो जावेंगे । क्योंकि जो वस्तु सकल्प से उत्पन्न होती है, वह निसकल्प से नष्ट हो जाती है ।

उसी नियम से यह सारा विश्व जो संकल्प से उदय हुआ है नि॰संकल्प से लय हो जावेगा।

इतना सुनकर रामजी बोले—हे भगवन्! उधर जो कह आये हैं कि 'ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादिक, जितने भी उत्पत्ति और संहारकर्ता हैं और यह जो सारा विश्व है— सब भ्रम मात्र है— भला इस के जानने से क्या लाभ— यह तो प्रत्यक्षभी दु॰ख जनक जान पडता है। कृपाकर इस पर भी कुछ प्रकाश डालिये। वशिष्ठ जी बोले— हे रामजी! यह भी तुम्हारा एक दृष्टिदोष है। देखो, मैं कितनी बार कह चुका हूँ कि असम्यक दृष्टि के भाव मे ही विश्व की यथार्थता है, सम्यक दृष्टि मे तो अधिष्ठान ही जैसा का तैसा ज्ञात होता है। जैसे एक अन्धकार के कारण ही जेवरी मे सर्प हो जाता है और भय देता है, प्रकाश से नहीं, वैसे ही जब जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, तब उसको दृश्य आत्मरूप हो जाते हैं। अत॰ अज्ञानी को ही विश्व का भान होता है, ज्ञानी को नहीं। हे रामजी! प्राणी अपने संकल्प से ही बन्धन मे आ जाता है। संकल्प ही उसे ससारी बनाये रहता है। अन्यथा वह सर्व समर्थ है। चाहे तो ब्रह्म रहे और चाहे तो दृश्यो की ओर फुर कर ससारी हो जावे। अस्तु, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो। ससारी होने की इच्छा हो तो ससारी बन जाओ और ब्रह्म होने की इच्छा हो तो ब्रह्म बन कर रहो। यदि मुझसे पूछते हो तो मैं यही कहूँगा कि समस्त दृश्यो मे अहकार को त्यागकर आत्मा में स्थित हो जाओ। सारा विश्व भ्रम मात्र है। इसमे वास्तविकता कुछ नही है। सकल्प से सकल्प का काटना ही सच्चा पुरुषार्थ है। ये दृश्य न तो पूर्व मे थे और न अब है। सब कुछ ब्रह्म ही था और ब्रह्म ही है। इससे बर्हिमुख वृत्तिको त्याग कर अन्तर्मुख हो जाओ—फिर तो तुम्हे ब्रह्महीं ब्रह्म भासेगा और दृश्यकी सारी कल्पनाये नष्ट हो जावेगी। सत् वस्तु का अभाव नहीं होता और न असत् का भाव होता। असत् वस्तु तभी तक भासती है, जब तक उसका यथार्थ बोध नहीं होता। सम्यक विचार से वह अवश्य ही नष्ट हो

जाती है। जैसे अविद्या के पदार्थ विद्या से नष्ट होजाते हैं, वैसे ही स्वरूप-ज्ञान से ससार नष्ट होजाता है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है। फिर तुम्हे ज्ञान और मोक्ष से भी क्या प्रयोजन, तुम तो स्वय ही सर्वात्मा हो। तुम्हारी चैतन्य वृत्ति और अहकार ने ही इतना सब जाल रच रखा है। यदि ये दोनो न रहे तो निश्चय ही तुम ज्ञान और मुक्ति दोनो से ही परे चेतन ब्रह्म जो अपना आप है उसमे स्थित होकर जड के समान हो जाओगे। हे रामजी ! यही ऐसी युक्ति है कि जिससे तुम उस पद को पा सकते हो। अन्यथा आकाश, पाताल मे कहीं भी चले जाओ पृथ्वी के दशो दिशाओ मे भी क्यो न पर्यटन करो, सुख नहीं प्राप्त होगा और आत्मा का दर्शन भी न होवेगा। अहकार आत्म-दर्शन का एक बडा शत्रु है। अहकार रहते उस देवका दर्शन नहीं हो पाता। पर हा, यदि तुम अहकार रहित हो जाओगे तो निश्चय ही उसका दर्शन होवेगा और तब तुम्हारे लिये सारा विश्व आत्मस्वरूप ही भासित होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण का छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सातवाँ सर्ग।

जगत-प्रमाण वर्णन।

हे रामजी ! इस तुच्छ जगत की तो चर्चा ही क्या है, उधर जो युक्ति मैं तुम्हे बतला गया हूँ, उससे विश्व विजयी तो क्या सृष्टि विजयी से भी बढकर जो होना चाहिए वह हो सकते हो। फिर इस तुच्छ सकल्पमय ससार को क्या देखते हो और उस महान पद के सम्बन्ध मे ससारी बनकर मुझ से और क्या सुनना चाहते हो। इस जगत की नश्वरता को कहाँ तक वर्णन करें। यह तो अपनी अज्ञान निद्रा से ही भासित होता है। यदि वास्तव मे जागकर देखा जाये तो इसका कहीं भी पता नहीं चलता। तब भला जो इतना निर्बल, इतना अस्तित्वहीन है, उसका तरना

क्या कठिन है। कमल के बन्द होने मे कुछ यत्न नही होता। सूर्य अस्त हुआ नही कि उसका मुख बन्द हो जाता है। उसी प्रकार तुम्हारी वृत्तियॉ बन्द हुई नही कि यह विना यत्न ही लय हो जावेगा। हमारी स्थूल दृष्टि ने ही इसे इतना प्रवल, इतना विशाल और इतना कठोर वना रखा है। हम भूत प्राणी आकारयुक्त है, इसीसे इसको आकार युक्त देखते हैं। पर नहीं हमे यह जानना चाहिए कि इसमे निराकार का ही वास हैं, हमारा फुरना अफुरना सव कुछ उसीसे होता है। ज्ञानी जन ऐसा ही जानते हैं। उनके निकट फुरना अफुरना सव एक समान है। पर अज्ञानी को द्वैत ही भासता है। जहॉ देखो, उसे द्वैतका ही स्फुरण होता है। पर यह ठीक नहीं है। आत्मा मे जगत का सर्वथा ही अभाव है। जैसे मरुभूमि मे जल की कल्पना व्यर्थ है, वैसे ही आत्मा मे जगत की कल्पना करनी मूर्खता है। भला उस महान सत्ताके आगे यह स्थावर-जंगम सहित जगत क्या वस्तु है। केवल देखने मे ही ये पहाड, नदिया, वन और देश, काल आदिक ऐसे अर्थाकार विशाल प्रतीत होते है किन्तु इन सवको मिलाकर यदि एक ओर रखकर अतमा से समता की जाये तो भी उस महानसत्ता के समान यह सारा जञ्जाल रत्ती मात्रभी पूरा नहीं पड़ता। यही क्या, देव दानव सहित सारा त्रैल्योक्य भी उसकी समता मे नही आ सकते। कारण कि उनकी कोई वास्तविकता नही, केवल भ्रममात्र ही हैं। हा, कितने खेदका विषय है कि मूर्खो को इसका कुछ भी विचार नहीं होता और वे व्यर्थ ही ससार को रमणिय जान इसके भोगो में फॅसकर अपनी उन अमूल्य स्वासो से कि जिनसे ही उनका सर्वस्व रक्षित रहता है, उसे लुहारकी भट्ठीके समान ही गॅवॉ देते है। हे रामजी! यह अपने आधीन है तो भी मूर्ख नही समझते। पर यह निश्चित सिद्धान्त है कि मन से ही सव कुछ होता है। जैसा मनने ख्याल किया, वैसाही आगे आ जाता है। सत्य, असत्य दोनो ही मन से फुरता है। पर आत्मा मे इन दोनो का ही अभाव है। न सत् है,

न असत है, यह ससार मिथ्या ही आ फुरा है। मनके फुरने से क्या नहीं हो जाता। पहाडपुर मे भिक्षुक भीख माँगते हैं, वालुका से तेल निकल रहा है, ब्रह्माण्ड उड रहे हैं, मृतकों का युद्ध हो रहा है, मृग गाते हैं, वन नाच रहे है—यह सब कुछ मनकी कल्पना से दिखलाई पडता है। इसमे इतना शीघ्र सवेग भरा हुआ है कि जिसके कारण मनुष्य इसके सकल्पो को सत्य मानलेता है। यह इतना अज्ञानी है कि सत्य को असत्य और असत्य को भी सत्य स्वीकार करलेता है। जब जैसा सवेग हुआ, वही सत्य हो जाता है। इसका न कोई नियम है, न सिद्धान्त। स्वप्न से मिथ्या और जाग्रत को सत्य कहना, इसीका धर्म है, पर मुख्य सिद्धान्त कहता है कि जाग्रत और स्वप्न दोनो ही मनोगज हैं। आत्मा मे किसीकी सत्यता नही है। यह जितने आकार दृष्टिगोचर होरहे हैं वे सब मिथ्या ही है। न तुम हो, न मैं हूँ और न यह जगत है। परमार्थसत्ता मे इन सबका कुछ भी स्थान नही, वह केवल अपने आप स्वयं ही स्थित है। जैसे बालक मिट्टी की सेना बनाकर उसके भिन्न भिन्न नाम कल्पता है और कहता है कि यह राजा है, यह मत्री है, यह घोडा है, यह हाथी है—वैसे ही मनरूपी बालक नाना प्रकार की सज्ञा कल्पता है, पर आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। तब हे रामजी! तुम्हें किसका भय है? तुम निर्भीक रहो। तुम्हारा स्वरूप सर्वथा ही शुद्ध और अविद्या के कार्य-कारण से रहित है। यह ससार तुम्हारा स्फुरण मात्र है। आत्मा न सत्य है—न असत्य, न जड है—न चैतन्य, न प्रकाश है—न तम, न शून्य है—न अशून्य। शास्त्रकारो ने जो जड और चेतन का विभाग किया है वह केवल जीवको जगानके निमित्त कहा है। पर आत्मा में ऐसी कोई सज्ञा नहीं है। वह केवल आत्मतत्वमात्र है। इस कारण हे रामजी! तुम दृश्य की सारी कल्पनाओं को त्यागकर उस आत्मतत्व में स्थित होजाओ। ब्रह्मा से लेकर स्थावर जगम पर्यन्त यह जितने भी दृश्य दिखलाई पडते हैं, सब कल्पना

युक्त हैं। तब भला इनका क्या विश्वास किया जाय। भावाभाव सब कुछ तो फुरना ही है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥७॥

आठवां सर्ग।

वृहस्तपति-बलि-सम्वाद

वशिष्ठ जी ने कहा हे राघव! तुम्हारे प्रश्नोत्तर निमित्त मैंने वृहस्पति और बलि का आख्यान कहा। तुम सत् को सत् और असत् को असत् समझने के लिये अपने संस्कारो को शुद्ध करो। परन्तु जब तक चित्त मे संसार की वासना है तब तक संस्कार शुद्ध नहीं हो सकते। इस लिये चित्तसे विश्वकी वासना का मूलोच्छेदन कर दो। हे राघव! पुन: मैं वृहस्त-बलि-सम्वाद कहता हूँ सुनो। वृहस्पति ने कहा—हे राजन! जैसे पृथ्वी पर बीज बोया जाता है और फिर उससे वृक्ष, फल, फूल व शाखा-प्रशाखाये निकलती हैं, पर आकाश मे नहीं बोया जा सकता है, ऐसे ही चित्तरूपी पृथ्वी पर जीव जैसी जैसी भावना करता है तैसी तैसी देह धर कर कर्मफल भोगा करता है। पर बोधरूप आकाश में भावना या संस्काररूप बीज नहीं बोया जा सकता। इसलिये तुम संस्कार शुद्धि के लिये आत्मबोध के जिज्ञासू बनो। हे राघव! जैसे मोरके अंडे मे ऐसी शक्ति होती है कि नाना रंग उससे प्रकट होते हैं वैसेही चित्तमें जैसे जैसे संस्कार होते है वैसे वैसे नाम रूप आकार प्रकार इत्यादि रंग समय समय पर प्रगट होते रहते है। बलि ने पूछा—हे भगवन्! आपने कहा कि जीव जीवित होगा और मृतक जैसी जैसी भावना करता है तैसा तैसा शरीर धरता है। यदि मरते वक्त पिंडादिक में भावना न हो तो पुन:शरीर कैसे धारण करेगा? वृहस्पति ने कहा हे राजन्! शरीर रहे या न रहे। वासना ही शरीर धारण कर फल भोग प्राप्त करती रहती है। और चित्त भी अनुभव करता रहता है।

वलि ने कहा-हे भगवन्! मैने निश्चय किया कि भावना के अनुसार ही जीव शरीर धरता रहता है। यदि निरिंकचित की भावना हो तो निरिकचित ही हो जायगा और ससार मे रहते हुये भी पत्थर वत् ही मुक्त हो जायगा। वृहस्पति ने कहा–हे राजन्! निरिकचित की भावना से जीव संसार मे जडवत् हो जाता है। सस्कार व भावनायें नष्ट हो जाती है। त्रिगुणा उसे फिर नहीं सताते। और वह निस्सन्देह मुक्त हो जाता है। इस लिये हे राजन्। तुम वासनाओं का त्याग करो क्योंकि वासनाये जब तक बनी रहेगी तब तक चित्त मे ससार की भावना बनी ही रहेगी। निरिकचन भाव नहीं उत्पन्न होगा। इस लिये तुम वासनाओ का त्याग कर ज्ञान मुक्ति और अभ्यास क्रम से निरिकचन भाव धारण करो। तभी शान्त पदको प्राप्त कर सकोगे। हे राघव! सुरपुर में सुरगुरू वृहस्पति ने असुर नायक वलिको यह ज्ञानोपदेश किया था और मैने तुम्हे सुनाया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का आठवां सर्ग समाप्त ॥८॥

नवां सर्ग।

चित्ताभाव प्रतिपादन

वशिष्ठ जीने कहा–हे राघव! जैसे मोरके अंडे मे रस होता है जो समय पर विस्तार पा जाता है। वैसेही चित्त में वासना होती है, जो समय पर इस विस्तृत ससार की उत्पत्ति करती है। जब तक चित्त है तब तक वासनाये उत्पन्न हुआ करेंगी और ससार के नाना दृश्य भ्रम मे जीवको फँसाये रहेगा। हे राघव! जैसे आकाश मे नीलता भासती है, जल में श्यामता दृश्य होता है, ऐसे ही चित्त मे ससार भासता है। चित्त का नाश ज्ञान की सात भूमिकाओ द्वारा हो जाता है। सात भूमिकाओ मे तीन का क्रम उपदेश मै कर चुका अब चार का उपदेश आगे करूँगा। पहिली भूमिका महापुरुषों की है। तीसरी तक चित्त नष्ट होजाता है। पुन·

उसमें राग द्वेष नहीं रहते। मान मोह और आसक्ति नहीं रहती है। ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे अन्धकार नहीं रहता ऐसेही चित्त शुद्धि होने पर ससार नहीं भासता और मुक्तिपद प्राप्त हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का नवां सर्ग समाप्त ॥९॥

दसवाँ सर्ग।

पांचवी भूमिका वर्णन।

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव! मैं पूर्व तुम्हे तीन भूमिकायें शुभेच्छा, शुभ विचार व जाग्रत योग को बतला चुका हूं। अब चौथी भूमि का स्वप्न योग का बताता हूँ सुनो। इस भूमिका मे किसी को सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है और अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अनादि अनन्तव अखड परमात्मा मे स्थित होजाता है। सम दर्शिता प्राप्त हो जाती है। भेद सब मिट जाता है। अभेद वा अद्वैत तब जागृत हो जाता है। सारी इन्द्रिये स्वप्नवत् व्यवहार करने लगती है। क्योकि योगी जागता हुआ भी स्वप्नावित हुआ करेगा। सूर्य व चन्द्र का गर्म व ठडा प्रकाश उसमे आ जाता है। उसका संकल्प विकल्प नष्ट हो जाता है। राग द्वेष रहित हो जाता है। न तो वह फिर इष्ट वस्तु से राग तथा अनिष्ट से द्वेष करता है। स्वप्नयोग से सारा दृष्य स्वप्न हो जाता है। और स्वप्नवत् क्षण-भंगुर मालूम होने लगता है। राम जी ने पूछा—हे भगवन्! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीया व तुरीयातीत का लक्षण स्वप्न रूप से समझाइये। वशिष्ठजीने कहा हे राघव! जब तक चित्त मे पदार्थ की सत्यता भासती रहे तब तक जाग्रत है। जब पदार्थ की सत्यता मिट जाय तब स्वप्न है। और जब दोनो ही भाव अभाव मिट जाये तब सुषुप्ति है। और जब तीनो का लय होकर ज्ञान से शान्ति पद प्राप्त होवे तब तुरीया है। हे राघव! जीव ...ार को अज्ञान से वर्षा काल के मेघ के समान सत्य देखता ...र्थ भूमि का मे जाकर

के मेघ के सदृश ससार को देखता है । और पचम भूमिका में मेघ सहित आकाश की तरह ससार को देखता है । पर उसका चित्त निर्मल हो जाता है । उसे इष्टानिष्ट मे राग-द्वेप नहीं होता है । वह अपनी सम्पूर्ण क्रियाओ को स्वाभाविक समझने लगता है । जैसे कमल स्वप्नवत् ही सूर्य को देखकर खिलता व रात्रि में बन्द हो जाता है, ऐसे ही वह मोह ममता व अहकार सहित हो स्वाभाविक चेष्टायें करने लगता है । हे राघव ! उसे ससार के भिन्न भिन्न पदार्थों में भेद बुद्धि नही रहती है । वह समान दृष्टि से उन्हें एक ब्रह्म देखता है । उसकी अहता नष्ट हो जाती है । जैसे तिल से तेल और फूल से सुगध की उत्पत्ति होती है ऐसे ही अह से ससार उत्पन्न हुआ है । हे राघव ! जिसकी अहता नष्ट हो गई है वह सब कुछ करता हुआ भी जडवत् स्थिर रहता है । वह बाहर भीतर एक समान आकाशवत् बना रहता है । आकाश मे परिणाम व स्पर्श नहीं । ये तो बीज में होते है क्योंकि बीज से अकुर फुटते हैं अकुर में वृक्ष और वृक्ष मे फल फूल व शाखाये उत्पन्न होती है । पर आकाश ज्यो का त्यो बना रहता है । हे राघव ! वह जागता हुआ भी सुषुप्ति के समान रहता है । ससार विद्यमान व वर्तमान रहते हुए भी उसे सोया हुआ प्रतीत होता है । उसके अन्दर विकार मालूम होते हुए भी उसके हृदय में उनका भाव नहीं रहता है, वह एक अद्वैत स्वरूप मे स्थित व शान्त रूप हो जाता है । इसलिये अहता को त्याग कर संसार मे जागते हुये भी सुषुप्ति के समान बने रहो ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

ग्यारहवाँ सर्ग ।

छठी भूमिका वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव ! मैंने पाँच भूमिकाओ का उपदेश तुम्हे दिया । अब छठवीं भूमिका का लक्षण सुनो । जो इस भूमिका मे प्राप्त होता है, वह सब सासारिक व्यवहारो को करता उद्यार्थ अप्रिय समान बना रहता है । वह कर्मो के

बन्धन मे नहीं फँसता है। जैसे आकाश मे सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान है पर आकाश किसी पदार्थ से स्पर्श नही रखता है, ऐसा ही वह भी सब सासारिक काम को करता हुआ भी उनसे स्पर्श नहीं रखता है। हृदय मे शून्य रहता है। इस लिये कर्मों का बन्धन भी उसे नही क्योंकि बंधन अहंता से होता है, सो उसमे नष्ट हो गया है। जैसे स्वप्न मे खाना पीना लेना देना चलना फिरना इत्यादि सर्वकर्म होते है। पर वह वास्तविक नही, जाग्रत मे नष्ट हो जाते है, ऐसे ही वह सब कर्म परमार्थ भाव से करता है, स्वार्थ भाव से नही। उसको अपना कुछ लक्ष्य नही वह पूर्णखंड सच्चिदानन्द ब्रह्म योग से पूर्ण हो जाता है। अपने लिये कुछ करना नहीं रह जाता है। उसे कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं भासता है। और पदार्थों के नाम रूप सभी रग आकार प्रकार मृगतृष्णा के जलवत ही मिथ्या मालूम पडता है। मेरा तेरा इत्यादि चिद्ग्रंथि उसकी नष्ट हो जाती है। और वह हर एक क्रिया को ईश्वरार्पित व स्वाभाविक समझता है। क्षीर समुद्र से निवृत सा हुये मन्दराचल पर्वत की नाई वह शान्त भाव से स्थिर हो जाताहै। सूर्यके समान वह ज्ञान से प्रकाशित होता है। अज्ञान चक्र में फिरता फिरता एक २ कर स्थिर हो शान्त हो जाता है। पवन रहित दीपक के समान वह विश्वकलना सहित शान्त रूप भी वही रहता है। जैसे आकाश घट के भीतर और बाहर एक रस पूर्ण बना रहता है ऐसे ही वह आत्मरूप हो सम्पूर्ण विश्व के भीतर व बाहर पूर्ण हो जाता है। जल के अन्दर घडा भीतर बाहर से जैसे जल पूर्ण रहता है तैसेही वह पुरुष अपने आपमे भीतर व बाहर से पूर्ण हो जाता है। फाँसी से छुटकारा पाने वाले के समान वह संसार से निवृत्त हो अखड आनन्द को प्राप्त होता है। तीन प्रकार के जो क्लेश है वे भी उसे नहीं सताते। बहुत चलने से थका हुआ पुरुष के समान वह ज्ञानशैय्या पर विश्राम पाता है। वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्ण आनन्दामृत का पान करता है। अज्ञान धूम्र से रहित ज्ञानाग्नि के होता है। अपने ज्ञान रूपी

पर्वत पर स्थित हो संसार को अज्ञान से जलता हुआ देखता है। ससार में जागृत होकर चेष्टा करते हुये भी हृदय में स्वप्नवत् शून्यसा बना रहता है। वाणी इस अवस्था का वर्णन नहीं कर सकती, पर कुछ लोग इसे ही ब्रह्मानन्द कहते हैं, कोई चेतन पद, कोई आत्म पद कोई साक्षी पद, कोई काल पद, कोई ईश्वर पद, और कोई प्रकृति पद इसे ही कहते हैं इत्यादि। किन्तु इस पदको सतजन ही जानते हैं। इस छठवीं भूमिका मे प्राप्त होकर योगी, भीतर बाहर से प्रकाशित मणि के समान हो जाता है। ससार मे सोया हुआ तथा स्वरूप में जागृत के समान हो जाता और उसका जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है। वह अहंकाररूपी घटाकाश मे रहित हो महाकाश के समान एक रस शान्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवां सर्ग।

सातवीं भूमिका

हे रामजी। सातवीं भूमिका मे प्राप्त होकर योगी भूत ज्ञान से भी रहित हो जाता है। उसको अपना भी ज्ञान नहीं रहता। वह देह रहते हुये भी विदेह के समान आचरण करता है। क्योकि उसका देहाभास नष्ट हो जाता है और अपने एक आत्मस्वरूप मे स्थित हो जाता है। जैसे कि आकाश अपनी शून्यता में स्थित हो। वह बालक के समान खान पान, लेन देन इत्यादि चेष्टायें स्वभावत करने लगता है। काठ की पुतली जैसे तागे से बंधी हुयी चेष्टा करती है ऐसे वह प्रारब्ध वेग से बँधा हुआ चेष्टा करता है, पर उसकी कुछ इच्छा नहीं रहती। हे राघव! इस भूमिका में प्राप्त योगी को दूसरे नहीं समझ सकते। इसको वही समझ सकता है जो इस पद पर स्थित हो। वह जीवन्मुक्त तुरीयापद पर स्थित रहता है।

पर इस तुरीयातीत पद सातवीं भूमिका मे आकर योगी ❀ विदेह-मुक्त हो जाता है। हे राघव! यह पद अनिर्वाच्य शुद्ध, निर्मल, अद्वैत, चेतनरूप, कालरहित अच्युत कहा जाता है। वस्त्र पर लिखी हुई मूर्ति के समान योगी 'अह ब्रह्म' से भी रहित हो, शान्त, स्थिर हो पूर्ण हो जाता है।

श्रीयोगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का बारहवॉ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग।

संसरना भाव प्रदिपादन

वशिष्ठजीने कहा, हे रामजी! मैंने जो तुम्हे सात भूमिकाओं का उपदेश किया उसमे प्रथम भूमिका शुभेच्छा से ज्ञानकी प्राप्ति होती है और दूसरी शुभ विचारसे स्वरूप ज्ञान होता है। तीसरी भूमिका तक सासारिक कामनाओ की निवृत्ति हो जाती है। यदि इस अवस्था मे योगी का शरीर छूट जाये तो वह पुनः जन्म लेकर आगे के लिये ज्ञान प्राप्त करता है और चतुर्थ भूमिका में यदि शरीर छूट जाये तो वह जन्म मरण से रहित हो जाता है उसे देव गति प्राप्त होती है। क्योकि उसकी इच्छा भुने हुये बीज के समान रहती है जिससे वृक्ष फल फूल और शाखाये नही उत्पन्न हो सकती यह सत्पद है, वह ससार को स्वप्नवत देखता है। पॉचवीं भूमिका सुषुप्ति के समान है, छठवीं साक्षीरूप तुरीयापद है और सातवी अनिर्वाच्य तुरीयातीत पद है। हे राघव! यह सब जो मैंने वर्णन किया इसका एकमात्र प्रयोजन यह है कि तुम इच्छा और वासना को त्याग करो। यह ससार इच्छा और वासना के रहते हुये अज्ञान से भासता है और ज्ञान से लीन हो जाता है। हे राघव! यह संसार आधिव्याधि रूप दो तरङ्गो वाली नदी के समान है जिसमे राग-द्वेष रूपी छोटे २ मच्छ और तृष्णारूपी बड़े मच्छ तैरते रहते है। जीवगण

❀विदेह मुक्तका यह अभिप्राय नहीं कि योगी देह रहित हो जाये, बल्कि देह रहते हुये भी उस का देहाभास नष्ट हो जाता है और जीवन्मुक्त की बढी हुई अवस्था का ही नाम विदेहमुक्त है।

इस नदी में उत्पन्न होकर दुःख पाते रहते हैं। जैसे जल नीचे को बहता है तैसे ही ससार मृत्यु के मुख मे बहता है। उसमे जीव तृष्णा से फँसे है। उससे निकलने के लिये वैराग्य और अभ्यासरूपी हाथी के दो दाँत ही समर्थ होते हैं। हे राघव! इस संसार क्षेत्र मे तृष्णा रूपी सर्पिणी विषयरूपी फुफकार से विचाररूपी बेलि को जलाती रहती है जिससे जीवरूपी किसान दुःख पाता रहता है। इसलिये तुम वैराग्य रूपी अग्नि से उस मूल तृष्णारूपी सर्पिणी को जला दो। तृष्णा रहते हुये सन्तों के वचन हृदय में ऐसे ही नहीं घुसते जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता। तृष्णा के पर्य्यायवाचक इतने नाम हैं—तृष्णा, अभिलाषा, इच्छा, फुरना और ससरना इत्यादि। इच्छा रूपी मेघ ज्ञान रूपी सूर्य को ढँकदेता है। विचार रूपी पवन के चलने पर ही मेघाच्छादन नष्ट हो जाता है। इसलिये तुम ज्ञान-सूर्य को साक्षात् करने के लिये इच्छा और वासना का त्याग करो। यह जीव इच्छा रूपी तागे से बँधा हुआ आकाश का एक पक्षी है। इस लिये यह दीन हीन और लाचार हो उडने मे असमर्थ रहता है। इस इच्छा का नाश संसार के विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से होता है। हे राघव! इच्छा और वासना ये दो महामत्त हस्थी के पुत्र के समान है कि जिसके जीत लेने पर सम्पूर्ण विश्व का विजय हो जाता है।

रामजी ने पूछा,—हे भगवन्! आपने जो हस्ती का उदाहरण दिया वह हस्ती कौन है, कहाँ रहती है? उसके दाँत और पुत्र कौन है? वह कैसे मरती और उत्पन्न होती है?

वशिष्ठ जीने उत्तर दिया—हे रामजी! इच्छा रूपी हथिनी है जो शरीर रूपी वनके मन रूपी गुफा में रहती है और इन्द्रिय रूपी उसके बालक हैं। सकल्प विकल्प रूपी उसके दाँत हैं, ससरना रूपी नदी है उसमे राग द्वेष रूपी मच्छ रहते हैं। और जिसके सुकृत-दुष्कृत रूपी दो किनारे हैं और जिसमें कर्म रूपी लहरें लहराती हैं और जिसमे चिन्ता रूपी ग्राह तैरता रहता है, जीव रूपी तृण जिसमे भटकता फिरता है और जिसमे तृष्णा रूपी अकुर, फुरना रूपी जल देने से

बढ जाता है। उसके बढाव को स्वरूपाभ्यास से रोक दो। हे राघव! यह तृष्णा रूपी बडा मच्छ धीरज रूपी मांस का भक्षण करता रहता है। उसे वैराग्य रूपी कँडी और अभ्यास रूपी दाँतो से नष्ट करो। इच्छा और निरेच्छा ही बन्धन और मुक्ति है। इस प्रकार स्वरूपार्थ की भावना करने से आत्मपद प्राप्त होगा वासनायें नष्ट हो जायगी, शरीर से स्वाभाविक चेष्टा होगी और तब तुम्हारी विजय होगी।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्धका तेरहवां सर्ग समाप्त ॥१३॥

चौदहवाँ सर्ग।

जीवेच्छाचिकित्सा

रामजी ने पूछा,—हे भगवन्! आपने बतलाया कि स्वरूपार्थ की भावना करने से वासना नष्ट होती है और जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, परन्तु चिरकाल की वासना शीघ्र कैसे नष्ट हो सकती है। और जब वासना ही नष्ट हो जायगी तो शरीर कैसे रहेगा। क्रिया कैसे होगी? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया हे रघुपुङ्गव राम! मेरे वचन कानो के भूषण और धनयुक्त है जिसके सुनने मात्र से दरिद्रता नष्ट हो जाती है, पर तुम्हारी दरिद्रता अभी नष्ट नहीं हुई, संशय के प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हो। हे, राघव! मैने तुम्हे तीन शरीरो का उपदेश किया है और यह समझाया है कि इस जड शरीर से दूसरा और तीसरा शरीर भिन्न है, वह तमसे परे सूर्यरूप है। उसके ज्ञान से फिर अभिलाषाये कहाँ? उसके जाने पर फिर अपूर्णता या कमी नहीं रहती। तुम उस ज्ञान से आदित्यरूप हो तमरूप देह का विनाश कर डालोगे। जब तुम अपने को प्रकाशरूप देखोगे तो तुम्हारा यह तमरूप सांसारिक पञ्चभौतिक न भासेगा, परन्तु शरीर की स्वाभाविक चेष्टा होती ही रहेगी। तब तो तुम अर्ध निद्रावालो की तरह ही चेष्टा करते रहोगे और जैसे बालक उन्मत्त के समान अपनी सर्व चेष्टाओ को करते हुये भी अभिमान नहीं रखता वैसे ही तुम इच्छा शक्ति प्राप्त कर सुख की चाहना करो और दुःख का विच्छेदन करदो। अपने

इच्छा बल से प्रारब्ध पर विजय प्राप्त करके हृदय से संसार की सत्यता का लोप कर दो। जैसे कोई पुरुष किसी देशको जा रहा है वहाँ तक पहुँचने मे जो समय लगेगा इच्छा बलसे थोडे समय मे पहुँच जायगा और थकावट भी नष्ट हो जायेगी,परन्तु वह सब कुछ शरीर से ही साध्य है। हे रामजी जीव की स्वाभाविक इच्छा ही दुःख दायक है इस लिये स्वाभाविक इच्छा का नाश करो। उसी के नाश से तो ज्ञानवान उस तुरीया पदको प्राप्त करता है कि जो आत्मपद से भिन्न और माया की रचना है, वहाँ ही अहकार उत्पन्न होता है और उसी से असत् ससार का मिथ्या ज्ञान होता है। इस लिये तुम ❀जीव-कोटिकी मानुषिक इच्छा का त्याग करो तभी परम कल्याण व शान्तपद को प्राप्त कर सकोगे। जो निरीक्षित है, उसी को अद्वैत आनन्दरूप आत्मा का दर्शन होता है। मूर्खजन आत्मरूपी चिन्तामणि को त्यागकर अह-काररूपी क्रोध को ग्रहण करते है। मन्त्रप्रेरित हो जैसे पुतली चेष्टा करती है, परन्तु उसे कुछ अपने करने का अभिमान नहीं, ऐसे ही प्रारब्ध-प्रेरित हो तुम पुतली की नाई कर्म करते जावो, पर उसका अभिमान त्याग दो। तुम्हारा पुरुषार्थ यही होना चाहिए कि तृष्णा का नाश हो, कर्म फल की इच्छा न हो और स्वय भी कर्म करने की इच्छा न हो क्योकि कर्म का करानेवाला ईश्वर व प्रकृति है। जो योगी सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी उसका कर्ता ईश्वर और प्रकृति को समझता है, उसमे अहकार नही होता। वह बन्धन मे नही फसता, उसे पुण्य पाप नही होते। यदि तुम अपने स्वरूप मे विश्व को नहीं देखते तो तुम्हे विश्व के पदार्थ विद्यमान रहते हुये भी नहीं दिखलाई पड़ेगे। तुम जो कुछ भी देख रहे हो, यह तुम्हारा अनुभव है, रस्सी मे सर्पका अनुभव करके तुम स्वय मिथ्या भय को प्राप्त करते हो। इसलिये तुम मिथ्या भय मत करो और सम्पूर्ण क्रियाये करते

❀जीव-कोटिकी इच्छा-जो जीव को बन्धन मे फसानेवाली है तुम उसका त्याग कर सकते हो, न कि ईश्वराय इच्छा का। जो तुमसे ना-ना कर्म व चेष्टाय करा रही है वह ईश्वरीय इच्छा है और तुम उसका त्याग नहीं कर सकते। यदि उस इच्छा बलको तुम प्राप्त करलो तो तुम स्वय बन्धन से मुक्त हो ईश्वर पदपर स्थित हो जावोगे।

हुये भी स्वाभाविक चेष्टा करो। शरत्काल की वेलि सूख जाने पर भी उसका आकार दिखलाई पडता है। ऐसे ही चित्त राग-द्वेष रहित होने पर भी दिखलाई पडा है। परन्तु वह यदि अहकार रहित हो, शिवपद पर स्थित रहे तो उसे मेरा तेरा त्याग का भेद नष्ट होकर अद्वैत आनन्द की प्राप्ति होती है। इस लिय तुम अपनी इच्छा का अभिमान त्याग कर स्वाभाविक इच्छा बलको प्राप्त करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग।

कर्म-बीज का नाश कैसे हो ?

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव ! जैसे बालक मिट्टी के खिलौने बनाकर हाथी घोडा राजा प्रजा इत्यादि नामों की कल्पना करता है, परन्तु वास्तव में सब मिट्टी ही है, ऐसे ही अद्वैत आत्मा से नाना नाम रूप की कल्पना हुई है पर वे सब उस अद्वैत आत्मा से भिन्न नहीं। भेद बुद्धि से ही यह मैं हूँ, यह वह है, यह मेरा है, वह उसका है इत्यादि अहकार उत्पन्न हुये हैं। इसलिये हे राघव! इस अहंकार का त्याग करो। रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! आपने कहा कि अहमम की फुरना मिथ्या है इसका त्याग करो और तुम ससार से असंग रहो। परन्तु असंग भाव निष्कर्म या सुकर्म भी कैसे प्राप्त होता है, उसे स्पष्ट समझाइये। वशिष्ठ जी ने कहा—तुम जो कुछ सुकर्म निष्कर्म के बारे में जानते हो उसे बतलाओ। कर्म क्या है? कैसे होता है ? इसका नाश कैसे होता है ? और नाश से लाभ क्या है ? तुम जो कुछ इस सम्बन्ध मे सुने व समझे हो उसे बतलाओ। रामजी ने कहा—मैंने जो समझा है वह मैं आप से कहता हूँ। जैसे वृक्ष का नाश फल फूल व शाखाओं के काटने से नहीं होता है, उसका मूल काटना चाहिये तब उसका नाश हो सकता है, इसी प्रकार इस संसार रूपी वन में वृक्ष रूपी शरीर मिला है। इसका बीज कर्म है। हाथ पैर पत्ते है। रुधिर श्वास और वासना ही रस हैं। सुख

दुख फूल हैं। जो जाग्रत कर्म और वासना रूपी वसन्त ऋतु को पाकर प्रफुल्लित होता है, उसीको जब पापरूपी शरत्काल प्राप्त होता है, तब वह सूख जाता है। ऐसा यह शरीररूपी वृक्ष है। तरुणाई अवस्था उसकी कली है जो क्षण क्षण मे सौन्दर्य को प्रदान करती है। जरा रूपी फूल इसको हँसते हैं और राग-द्वेष रूपी बन्दर प्रतिक्षण क्षोभते रहते हैं। यह वासना रूपी रस से बढकर जाग्रतरूपी वसन्त से स्याही शोभायमान हो जाता है। पुत्र कलत्र आदिक तृण और घास हैं और इन्द्रियो के गढ़रूपी मुख हैं जिनसे यह शरीर चेष्टा करता है। इसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पच-स्तम्भ है जिसपर इच्छा रूपी वेलि चढकर अपने २ को चाहती है। इन पाँचों स्तम्भो में सब से बडा स्तम्भ मन है जो सबको धारण किये रहता है और पञ्च प्राण इसके रस हैं जो प्रत्यक्षरूप से सबको ग्रहण करता है। जीव इन सब का बीज है, जो चैतन्योमुखत्व होने से चेतन कहा जाता है। जीव का बीज ब्रह्म है और ब्रह्म का बीज कोई नहीं। हे भगवन्! जब तक इस शरीर का चित्त से सम्बन्ध रहता है तभी तक ससार मे जन्म-मरण होता है और जब चित्त से रहित होता है, तब वह सत्ता पर ब्रह्म, शिवतत्व और शान्त तथा अनन्त रूप कहा जाता है। अह का उत्थान होना ही इस कर्मरूपी बीजका कारण है। जब तक यह बीज नष्ट न होवे तब तक आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती। इस बीज के इच्छा, तृष्णा, अज्ञान चित्त और ग्रहण त्याग की बुद्धि आदि कई सज्ञा है। किसको ग्रहण करें, किसको त्यागें? हे रामजी! अज्ञान के रहते इच्छाओं का नाश नहीं होता और अज्ञानी को भासता है कि यह इच्छा है, यह कर्म है। पर, ज्ञानी को सब ब्रह्म ही भासता है और वह सुखी रहता है। किन्तु अज्ञानी को कर्म में भी कर्म भासता है, इसलिये वही बन्धन में पडा रहता है। हे रामजी! क्रियाओं का त्याग नहीं होता। इन्द्रियाँ कर्म करने मे स्वतन्त्र हैं। इससे क्रियाओ का त्याग नहीं कहा जाता, बल्कि कर्म से कर्म बुद्धि को जानना ही त्याग है। जीव के लिये सबसे बडी उपाधि अहकार है। अहकार रहित

होकर कर्म करना, न करने के ही समान है। जो ऐसा निरहकारी है, वह सब कुछ करते हुये भी मानो कुछ नहीं करता है। परन्तु जो अह कार पूर्वक मौन होकर बैठ जाये और कहे कि मैं कुछ नहीं करता तो यह ठीक नहीं, बैठने से क्या होता है, वह बैठे २ ही सब कर्म करता है। अस्तु अहका त्याग ही सर्व त्याग, है क्रिया के त्याग का नाम सर्व त्याग नहीं अहकार को त्याग देवे तो शान्ति प्राप्त हो जावे। इसी का दूसरा नाम पुरुष प्रयत्न भी है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवां सर्ग।

विद्याधर वैराग्य वर्णन।

व शिष्ठ जी बोले— हेराम जी! शान्ति तो उसी को मिली है कि जिसके हृदय से मैं और मेरे का अभिमान हट गया है। परन्तु जिसके हृदय से अभिमान नहीं गया और जो यह समझता है कि यह गृह मेरा है यह मेरा शरीर है, यह मेरे बान्धव हैं आदि-आदि, तो उसको शान्ति नहीं मिलती। और जब तक शान्ति नहीं तब तक सुख कहाँ? बिना शान्ति के सुख दुर्लभ है। हे रामजी! पहले आप हुआ, तब जग हुआ। जब आपही नहीं प्रकट हुआ तब जग कहाँ से उत्पन्न होगा। और यह उत्पन्न होना ही अनर्थका कारण हुआ है। हे रामजी! वही सर्व-त्यागी है कि जिसने अहकार का त्याग कर दिया है। और जिसने अह को नहीं त्यागा, जानो उसने कुछ नही त्याग किया। क्रिया का त्याग, त्याग नहीं कहलाता। सबसे पहले अहकार को ही त्याग करना चाहिए। अहकार के नष्ट हुये बिना तो क्रिया फिर भी उत्पन्न हो सकती है। इससे अहकारको त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ है। तभी तुम सर्व त्यागी हो सकोगे। अहकार त्याग देने पर ससार स्वप्न में भी न भासेगा। अहकार ही ससार का बीज है। इसीसे स्थावर, जंगम जगत भासता है। अहकार नष्ट हो जाये तो जगत भ्रम नष्ट हो जाता

दुख फूल हैं। जो जाग्रत कर्म और वासना रूपी वसन्त ऋतु को पाकर प्रफुल्लित होता है, उसीको जब पापरूपी शरत्काल प्राप्त होता है, तब वह सूख जाता है। ऐसा यह शरीररूपी वृक्ष है। तरुणाई अवस्था उसकी कली है जो क्षण क्षण में सौन्दर्य को प्रदान करती है। जरा रूपी फूल इसको हॅसते हैं और राग-द्वेष रूपी बन्दर प्रतिक्षण क्षोभते रहते हैं। यह वासना रूपी रस से बढकर जाग्रतरूपी वसन्त से ज्याही शोभायमान हो जाता है। पुत्र कलत्र आदिक तृण और घास हैं और इन्द्रियो के गढरूपी मुख हैं जिनसे यह शरीर चेष्टा करता है। इसकी पॉचो ज्ञानेन्द्रियॉ पच स्तम्भ है जिसपर इच्छा रूपी बेलि चढकर अपने २ को चाहती है। इन पॉचों स्तम्भों में सब से बडा स्तम्भ मन है जो सबको धारण किये रहता है और पच प्राण इसके रस हैं जो प्रत्यक्षरूप से सबको ग्रहण करता है। जीव इन सब का बीज है, जो चैतन्योमुखत्व होने से चेतन कहा जाता है। जीव का बीज ब्रह्म है और ब्रह्म का बीज कोई नहीं। हे भगवन्! जब तक इस शरीर का चित्त से सम्बन्ध रहता है तभी तक ससार मे जन्म-मरण होता है और जब चित्त से रहित होता है, तब वह सत्ता पर ब्रह्म, शिवतत्व और शान्त तथा अनन्त रूप कहा जाता है। अह का उत्थान होना ही इस कर्मरूपी बीजका कारण है। जब तक यह बीज नष्ट न होवे तब तक आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती। इस बीज के इच्छा, तृष्णा, अज्ञान चित्त और ग्रहण त्याग की बुद्धि आदि कई सज्ञा है। किसको ग्रहण करे, किसको त्यागें? हे रामजी! अज्ञान के रहते इच्छाओं का नाश नहीं होता और अज्ञानी को भासता है कि यह इच्छा है, यह कर्म है। पर, ज्ञानी को सब ब्रह्म ही भासता है और वह सुखी रहता है। किन्तु अज्ञानी को कर्म में भी कर्म भासता है, इसलिये वही बन्धन में पडा रहता है। हे रामजी! क्रियाओं का त्याग नहीं होता। इन्द्रियॉ कर्म करने मे स्वतन्त्र हैं। इससे क्रियाओं का त्याग नहीं कहा जाता, बल्कि कर्म से कर्म बुद्धि को जानना ही त्याग है। जीव के लिये सबसे बडी उपाधि अहकार है। अहकार रहित

होकर कर्म करना, न करने के ही समान है। जो ऐसा निरहंकारी है, वह सब कुछ करते हुये भी मानो कुछ नहीं करता है। परन्तु जो अह कार पूर्वक मौन होकर बैठ जाये और कहे कि मैं कुछ नही करता तो यह ठीक नहीं, बैठने से क्या होता है, वह बैठे २ ही सब कर्म करता है। अस्तु अहका त्याग ही सर्व त्याग, है क्रिया के त्याग का नाम सर्व त्याग नही अहकार को त्याग देवे तो शान्ति प्राप्त हो जावे। इसी का दूसरा नाम पुरुष प्रयत्न भी है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवां सर्ग।

विद्याधर वैराग्य वर्णन।

वशिष्ठ जी बोले– हे राम जी! शान्ति तो उसी को मिली है कि जिसके हृदय से मैं और मेरे का अभिमान हट गया है। परन्तु जिसके हृदय से अभिमान नहीं गया और जो यह समझता है कि यह गृह मेरा है यह मेरा शरीर है, यह मेरे बान्धव हैं आदि-आदि, तो उसको शान्ति नहीं मिलती। और जब तक शान्ति नहीं तब तक सुख कहाँ? बिना शान्ति के सुख दुर्लभ है। हे रामजी! पहले आप हुआ, तब जग हुआ। जब आपही नहीं प्रकट हुआ तब जग कहाँ से उत्पन्न होगा। और यह उत्पन्न होना ही अनर्थका कारण हुआ है। हे रामजी! वही सर्व-त्यागी है कि जिसने अहकार का त्याग कर दिया है। और जिसने अह को नहीं त्यागा, जानो उसने कुछ नही त्याग किया। क्रिया का त्याग, त्याग नहीं कहलाता। सबसे पहले अहकार को ही त्याग करना चाहिए। अहकार के नष्ट हुये बिना तो क्रिया फिर भी उत्पन्न हो सकती हैं। इससे अहकार को त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ है। तभी तुम सर्व त्यागी हो सकोगे। अहकार त्याग देने पर ससार स्वप्न मे भी न भासेगा। अहकार ही ससार का बीज है। इसीसे स्थावर जगम जगत भासता है। अहंकार नष्ट हो जाये तो जगत भ्रम नष्ट हो जाता

है । इससे अहकार के नष्ट करने की ही भावना करो । देखो, जब कभी तुम्हे अहका भाव उत्पन्न हो तब उसी क्षण यह निश्चय करलो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' बस, अहकार का अन्त हो गया। फिर तुम्हारे पास आत्मपद ही शेष रहेगा। हे रामजी! यह अहकार ही सब अनर्थों का मूल कारण है। देखो, जब यह शरीर शस्त्रो के प्रहार और कठिन से कठिन दु:खो को भी सहन कर लेता है तब इसको इस अहके त्यागने में क्या कठिनाई होगी, कुछ नहीं । अब इसे ही समूल नाश करने की चेष्टा करो। क्योंकि यही बीज है। जो इसको नष्ट कर देता है, उसके हृदय में ससार की सत्ता फिर नहीं उठती । यद्यपि वह गृहस्थ हो तौ भी उसको यह प्रपच शून्य वन के ही समान भासित होता है। परन्तु यदि वह अहकार सहित है और वन में जा बैठे तो भी जानो कि वह जन समूह मे ही बैठा है । कारण कि उसका अज्ञान तो नष्ट नहीं हुआ है । हे रामजी! जिसने इन्द्रियों सहित अपने मनको वश नहीं किया है उसे मेरी कथा सुनने का कोई भी अधिकार नही है। वह निरा पशु है । और जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पाली हो वही सच्चा पुरुष है किन्तु जो क्रोध, लोभ, मोह से सम्पन्न है वह पशु है । वह महा अन्धकूप को प्राप्त होता है । किन्तु जो पुरुष ज्ञानी है उसमें यदि कर्म की इच्छा भी प्रकट होती है तौ भी वह उसकी अनिच्छा ही जानो उसका वह कर्म अकर्म के ही समान है। क्योंकि जैसे भूना हुआ बीज फिर नहीं उगता पर उसका आकार भासता है वैसे ही देखने मे तो ज्ञानी चेष्टावान भले ही प्रतीत हो किन्तु उसके हृदय मे कर्मों का स्पर्श लेशमात्र भी नही होता। यद्यपि प्रारब्ध बडा ही कठिन है और वह ज्ञानी के मिटाये भी नहीं मिटता तौ भी वह इस सिद्धान्त को जानते हुये भी कर्म करता है और निर्लेप रहता है। उसे प्रारब्ध के अश की तनिक भी चिन्ता नहीं होती और वह जानता है कि ये कर्म शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। वह बारबार शुभ कर्मों को करके पारब्ध वेग को उतारता जाता है । फिरतो इस प्रकार के उतारने से वह आवागमन

से मुक्त हो जाता है और उसे अहकार का पद-प्रहार नहीं सहना पडता । इससे अहंकार को ही नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये । अहकार नष्ट हो जाने से वह निर्वाण पद प्राप्त हो जाता है कि जिसमे पहुँच कर निर्वाण भी निर्वाण हो जाता है । हे रामजी! जैसे वर्षा-काल मे ही बादल होते है, शरत्काल मे नही उसी प्रकार जब तक अज्ञानरूपी वर्षाकाल है तभीतक अहकाररूपी वर्षा है और जब विचाररूपी शरत्काल आवेगा तब अहकाररूपी बादलो का समूल नाश हो जायगा और तब आत्मरूपी आकाश निर्मल भासित होगा। हे रामजी ! अहकार रूपी मैल से ही यह जीव ढँपा हुआ है । और आत्मा नहीं भासता। अहकार रूपी आवरण हट जावे तो आत्मा ज्यों का त्यो भासित होगा । तब उसे यह जो कुछ है सब आत्मा ही जान पडेगा । तब वह पाषाण शिला के समान हो जाता है, कारण कि उसका अहंकार नष्ट हुआ रहता है । किन्तु जिसने क्रिया का त्याग कर दिया है और उसी मे वह अपने को सुखी देखता है, वह महा मूर्ख है । क्योकि क्रिया को त्याग देने से दुःखों का नाश नहीं होता अपितु दुःख और भी बढ जाते है । परन्तु आत्मवान होना भी कोई साधारण चर्या नही है—जब सम्पूर्ण ससार की क्रिया के बीजरूप अहकार को नष्ट कर देवे तब उस अक्रिय आत्मस्वरूप का दर्शन होता है । जैसे ताबा अपना ताम्रभाव त्यागकर सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही जीव अपना जीवत्व भाव त्याग देता है और तब आत्मा हो जाता है । जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है वैसे ही अहकार रूपी वायु से रहित जीव अपने स्वभाव मे होकर आनन्द पद को प्राप्त होता है । तब वह सबका अपना आप हो जाता है तब वह समस्त देश, काल और वस्तु को एक अपने आप मे ही देखता है। पर जब तक अहकार का नाश नही हुआ तब तक मेरे ये वचन हृदय मे स्थित न होंगे । उसके लिये ब्रह्म का पाना वैसेही कठिन और असम्भव है जैसे बालूसे तेल निकालना असम्भव है । क्योकि जब तक हृदय मे अहकार रहता है तब तक उसको

उपदेश नहीं लगता । जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता वैसे ही जिसको अहंकार का स्फुरण होता है उसके हृदय मे मेरे वचन नहीं लगते किन्तु जो शुद्ध हृदयवाला है उसको मेरे थोडे वचन भी बहुत लग जाते हैं। हे रामजी ! इस पर एक प्राचीन इतिहास है, सुनो। मैं एक समय मे हिमालय पर्वत पर गया तो वहां भुशुण्डि से समागम हुआ । तब मैंने भुशुण्डि से पूछा कि हे भुशुण्डि जी ! भला ऐसा भी कोई पुरुष है कि जिसको आयुर्बल तो बहुत लम्बी हो परन्तु वह ज्ञानसे शून्य होवे ? यदि ऐसे पुरुषको तुम देखे होतो मुझे बतलाओ। इस पर भुशुण्डि ने कहा— हॉ, भगवान ! एक विद्याधर की बहुत बडी आयुथी और उसने विद्याध्ययन भी खूब किया था । उसने भोग भी बहुत भोगे थे और वैसाही वह परम सत्कर्मी भी था । उसने सम्पूर्ण चार युग तक अपना जप तप और नियम आदिक व्रतों का पालन किया था। कितनेही काल तक वह भोगोसे प्रेम रखकर और उसमें सलग्न रहकर पुनः वैराग्य वान हुआ था । किन्तु समय आया कि वह सर्व से विरागी होकर लोकालोक पर्वतो पर जो विचरा तो सोचने लगा कि यह ससार असार रूप है औरमै किस प्रकार इससे छुटकारा पाऊँगा । क्योंकि यह तो बारबार के जन्म और मरण का स्थान है और इसमें कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है, फिर मैं इसमें किसका आश्रय करूँ । ऐसा विचार कर वह दुखी आत्मा पुरुष सुमेरु पर्वत पर मेरे पास आया । दण्डवत किया । तब मैंने उसका बहुत कुछ सत्कार करके बैठाया और कुशल समाचार पूछा । तब उसने हाथ जोडकर मुझसे कहा— हे भगवन ! इतने अधिक काल तक मैंने विषयो का भोग किया किन्तु मुझे शाति न प्राप्त हुई । सो, शान्ति कैसे प्राप्त होगी । आप मुझ पर कृपा कर वह उपाय बतलाइये । मैंने बहुत २ सुख भोगे, बहुत २ कष्ट उठाया । कितने ही स्थानो में रहा और कितने ही प्रकार से चित्त को शान्त करना चाहा परन्तु यह चित्त शान्त न हुआ और इस प्रकार मुझे कभी शान्ति न प्राप्त हुई। मैंने कितने ही तप किये, दान किये, यज्ञ किये । व्रत भी कितने ही कर

डाले । मैने हजारो वर्ष तक तो ऐस २ सुन्दर रूप देखे कि जिसकी सुन्दरता कही नही जाती किन्तु मेरे ये नेत्र तब भी तृप्त नही हुये । इसी प्रकार इस रसना से भी मैने कितने ही स्वाद लिये पर यह शान्त न हुई, और तृष्णा बढती ही गई । कानो से कितने ही प्रकार के शब्द और राग-रागिनी सुने ! त्वचा से भी कितने ही स्पर्श किये पर तब भी शान्ति न हुई । जिधर ही जाता हूँ उधर ही दुःख होता है । विषयों को सुख रूप जानकर जितनाही उन्हे ग्रहण करता हूँ उतना ही बड़े दुःखो को प्राप्त होता हूँ । कुछ भी करता हूँ, इन्द्रिया शान्त नही होती। जैसे अग्निको ज्यो-ज्यो घृत मिलता है, वह त्यो-त्यो और भी बढती है वैसे ही भोगो को पाकर तृष्णा और भी बढती जाती और हृदय को जलाती जाती है । अतः अब मेरे विचार मे तो यही आता है कि जो भोगो के लिये यत्न करता है और यह सोचता है कि मै इनसे सुखी होऊँगा वह महान मूर्ख है, उसको धिक्कार है और वह भोगों से जो ऐसी आशा करता है तो उसकी वह आशा वैसे ही मूर्खतापूर्ण है कि जैसे कोई समुद्र मे तरङ्गो का आश्रय करे । क्योकि मेरे विचार से ये भोग तो तभी तक सुख रूप भासते हैं कि जब तक इन्द्रियो और विषयो का संयोग है । जब विषयों का वियोग होता है, तब ये इन्द्रिया महा दुःख को प्राप्त होती हैं क्योकि हृदय मे तृष्णा तो बनी ही रहती है और भोग चले जाते है । हे भगवन ! इसी प्रकार का मेरा दुःख है । इन्द्रियाँ कोमल भले ही हो पर मैं कहूँगा कि ये सुमेरु पर्वत के समान ही कठोर हैं । इनकी कोमलता को ऐसे भले ही कोई कुछ अनुमान करे पर मै तो यही कहूँगा कि इनकी कोमलता वैसे ही है कि जैसे खडग की धार कोमल होती और सर्पिणी जैसे कोमल तो होती है पर स्पर्श करते ही प्राण ले लेती है । मैने एक से एक बढ कर दरिद्र और भिखमङ्गो को देखा है कि जो समस्त दिन तो माँगते ही रहते है किन्तु उनका पेट नही भरता और कितने ही ऐसे महान सुख सम्पदा वालो को भी देखा है कि जिनकी [illegible] नही बनती किन्तु जलकर

दोनो ही भस्म हो जाते हैं और उनकी राख मे कोई भेद नहीं होता, दोनों की भस्म समान ही होती है किन्तु दोनो ही अज्ञानी हैं और उन्हे शान्ति नही प्राप्त हो सकती। कारण कि वे अज्ञानी हैं और इन्द्रियो के बन्धन मे आकर वे बारम्बार जन्म ते और मरते हैं। उन्हें शान्ति कभी नही मिलती। इस पर यदि आप यह कहें कि तुमतो सुखी जान पडते हो सो हे भगवन्! मेरा यह दु:ख ऊपर से देखने मे तो सचमुच कुछ नहीं है पर भीतर ही भीतर ये इन्द्रियां मुझे भस्म किये देती है। हे भगवन! मैं ब्रह्मा के भी लोक में रहा हूँ और वहाँ मैंने बहुत बडे-बड़े भोग और सुख देखे हैं परन्तु मै वहाँ भी दु:खी ही रहा हूँ। इससे मुझे यह जान पडता है कि यह इन्द्रियाँ गुणरूपी वृक्ष के लिये अग्नि के ही समान है। इनके भाव मे शुभ गुणों का अभाव हो जाता है और विचार, धैर्य, सन्तोप, और शान्ति आदिक सभी गुण रूपी वृत्तों का समूल ही विनाश हो जाता है। हा, इन इन्द्रियो ने मुझे बडा दु:ख दिया है। इनके हाथ पडकर मैं वैसे ही मर्दन कर दिया गया हूँ कि जैसे मृग का बच्चा सिह के हाथ पडकर मर्दन कर दिया जाता है। ओह! इनका दमन करना बडा ही कठिन है और जिस पुरुप ने इनपर विजय पा लिया हो वह निश्चय ही देवताओं से भी पूजने योग्य है। किन्तु जिसने मन सहित षटे न्द्रियो को अपने वश मे नहीं कर लिया वह दीन है, तृण की नाईं तुच्छ है। उसको मेरा बारम्बार धिक्कार है। चाहे कोई कितना भी बडा नामधारी महन्तही क्यों न होवे, यदि उसकी इन्द्रियाँ उसके वश मे नहीं है तो वह बहुत बडा दुर्जन है। हा, इन इन्द्रियो ने मुझे बहुत दु:ख दिया है। जैसे उजाड मे किसी धनी को चोर लूट लेते हों वैसे ही इन इन्द्रियो ने अपना डका बजाकर मुझे लूट लिया है। मैं ही क्या, आज इनसे सारा विश्व मोहित हो रहा है। कोई विरलाही ऐसा होगा कि जिस पर इनका प्रहार न पडा हो। भला ये कितनी दुष्ट हैं कि प्रत्येक को अपनी ही अपनी पडी रहती है और अपना स्वाद किसी एक दूसरे को नहीं देतीं। इससे ये बडी ही तुच्छ और

जड़रूप ही है । भला बिजली की चमक तो फिर भी कुछ स्थायी होती है किन्तु इनका उदय और अस्त होना उतना भी स्थिर नहीं रहता। इनके सुख क्षण मात्र दिखाई दिये नहीं कि फिर अस्त हो जाते हैं । इन पर विजय पाना बड़ा ही कठिन है । जिसने इनको जीत लिया मानो समस्त त्रिलोकी उसके वश में आ गई । परन्तु जिसने इनको नहीं जीता, मानों वह महादरिद्र है और जन्म जन्मान्तर ही दु:ख पाता रहता है। मैंने बहुत २ चेष्टा करके देख लिया है कि ये इन्द्रियाँ न तो तप से वश होती हैं, न यह जप से और न व्रत से, इन पर किसी औषधिका भी प्रयोग नहीं चलता और न इनको वश करने की और कोई युक्ति ही है– यह वश होती हैं तो केवल सत्सङ्ग से। अस्तु ! यह जानकर मैं आपकी शरण आया हूँ, कृपाकर मुझे इनकी पाशता और आपदा से बचाइये, मैं डूब रहा हूँ। हे भगवन् आपका बहुत माहात्म्य है, सन्तजन भी आपको शिर नवाते हैं, मैं इस ससारसागरमें दीन होकर डूब रहा हूँ, मुझे इससे पार कीजिए।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवां सर्ग ।

जगताडम्बरोत्पत्ति ।

हे रामजी ! जब भुशुण्डि से विद्याधर ने ऐसे कहा तब भुशुण्डि उससे बोले— हे विद्याधर ! तू धन्य है । निश्चय ही अब तू अपने स्वरूप में जागा है । अत: अब मैं तुझे जो उपदेश करता हूँ उसे सत्य जानकर अङ्गीकार कर और उसमें तनिक भी सशय न करना । आशा है, मेरे इन वचनों से तुम्हारा परम उपकार हो जावेगा । हे अङ्ग ! निश्चय ही तुम्हारा अनुभव सत्य है। इन्द्रियों के सुख आगमापायी है । इनसे सुख तो कभी मिलता ही नहीं, दु:ख ही दु:ख प्राप्त होता है । परन्तु इससे परे परम सुख भी है और युक्ति करने से प्राप्त भी होता है । सो देखो, इसके लिये यह बहुत सुगम उपाय है कि जो कुछ तुम्हें सुखरूप जान पड़े उसे त्याग दो, तभी

जड भी नहीं हूँ और चेतन भी नहीं हूँ तब जो शेप रहेगा वही तेरा स्वरूप है और तब वही तुझे ब्रह्मरूप भासेगा। इस प्रकार इस समस्त विश्व में आत्माके सिवा और कुछ नहीं है। जैसे सूर्य की किरणों का चमत्कार जलाभास हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चेतन का चमत्कार विश्व हो जाता है। परन्तु उसमें आत्मा ने कुछ नहीं किया। केवल इस मन रूपी चितेरे ने ही विश्वरूपी पुतलियों की कल्पना कर ली है। परन्तु जैसे सुवर्ण से भूपण भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत आत्मा से भिन्न नहीं है। जगत, ब्रह्म, आत्मा, देश, काल सब उसी तत्वकी सज्ञा है। वही शुद्ध चेतन आकाश है। तू उसी तत्व में स्थित हो रह।

श्री योगवाशिष्ठ भापा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८॥

उन्नीसवाँ सर्ग।

जगत-सत्ता-विवेचन

हे विद्याधर! यह जो स्थावर जङ्गमरूप जगत भासता है, सब आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। सब आत्मा में ही स्थित है और वह आत्माही सारे विश्व में स्थित है। परन्तु वह आत्मा किसी का कारण नहीं है। वह अद्वैत है, उसमें एक और दो की कोई कल्पना भी नहीं होती। यदि तुझे उस पदके पाने की इच्छा होतो तू ऐसे निश्चय करकि न मैं हूँ और न यह जगत् है। जब तू ऐसा जानेगा तब तू आत्मपद को प्राप्त होवेगा। वह आत्मा देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित और वही सबमें परमात्मतत्व से स्थित है। परन्तु जगत् को सकल्प ने ही रचा है, आत्मा ने नहीं। जैसे वायुसे अग्नि उत्पन्न होता है और वायुसे ही दीपक निर्वाण होता है वैसेही जब संकल्प बहिर्मुख होकर फुरता है तब ससार उदय होकर भासता है। और जब वही सकल्प अतर्मुख होता है तब आत्मपद प्राप्त होता है। इससे संसार की नाना प्रकार की सज्ञायें फुरने से ही होती हैं और स्वरूप में न कुछ सत्य है, न

असत्य है, न स्वत· है, न अन्य है, सब कुछ सकल्प मात्र ही है। तब इसमे अह, त्व कहाँ से आया। हे विद्याधर! यह अहं, त्व कुछ नही है, बालक के यक्षवत भ्रममात्र है। विचार करने से लीन हो जाता है। ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नही है। सब कुछ सकल्प के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत भान होता है। जैसे समुद्र मे लहर उठती है और वह जलसे भिन्न कुछ दूसरी नही है और वायुके सयोग से ही आकास्वत भासती हैं, वैसेही आत्मा मे जगत कुछ भिन्न नहीं है, केवल संकल्प के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत भासता है। हे विद्याधर! सकल्प सहित यह चित्त जैसी भावना करता है वैसा ही रूप देखता है। परन्तु वह स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है, भावना वश औरका और देखता है। जैसे माणिके निकट जो रंग रहता है माणि उसे ग्रहण कर लेती है किन्तु माणि में वैसा कोई रूप है नही, वह शुद्ध ज्यों की त्यो है, वैसे ही चित्त शक्ति में भी कुछ हुआ नहीं, वह जैसा का तैसा ही है किन्तु हुये की नाई स्थित है। इससे तुम अपने स्वरूप की ही भावना करो और जड चैतन्य को त्यागकर शुद्ध चैतन्य में स्थित हो रहो। जब ऐसा जानकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे तब तुम्हें उत्थान में भी अपना ही स्वरूप भासित होगा। जैसे स्थिर समुद्र में तरङ्ग उठती है सो विना जलके तो नहीं उठतीं वैसे ही विना कारण रूप ब्रह्म के जगत नहीं होता। परन्तु इससे यह नहीं जानना चाहिये कि उसमें ब्रह्मसत्ता ही कर्त्तारूप है। नहीं, ब्रह्मसत्ता अकर्तारूप, और अच्युत है। इसीसे कहा है कि वह अकर्ता है और जगत अकारणरूप है। तब जब कि जगत अकारणरूप है तब न यह उपजता है, न नाश होता है और केवल मरुभूमि मे जलके समान ही है। इसीसे कहने में आता है कि यह जगत कुछ वस्तु नहीं केवल अज अच्युत और शान्तरूप आत्मतत्त्व ही अखडित और स्थित है और पाषाण शिला के कोषवत और चेतना रहित चिन्मात्र है। तब, भला जिस मूर्ख के हृदय मे ऐसे चिन्मात्र की भावना न होवे उससे हमारा क्या प्रयोजन है? हे साधो! परमार्थ सत्ताने कुछ नहीं

बनाया है–यह जितना भी प्रपच है सबको मनने ही उत्पन्न किया है। जहाँ मन है, वहाँ ही अनेक प्रकार का जगत भासित हो रहा है। तृण से लेकर सुमेरु पर्यन्त सब कुछ जगत ही है। परन्तु विचार करके देखने से ज्ञात होता है कि सब कुछ वही है और दूसरा कुछ नहीं है। जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण भी सुवर्ण ही प्रतीत होता है, वैसेही जगत का सारा प्रपच विचार पूर्वक देखने से सत्ता समान एक अद्वैत पद ही भासेगा, उसकी कुछ भिन्न सज्ञा नहीं है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

बीसवाँ सर्ग।

भूतार्थ भावरूप योगोपदेश वर्णन।

हे विद्याधर! इस प्रकार जब तुम आत्मपद प्राप्त कर लोगे तब तुम्हारे लिये सुख दुःख दोनो ही समान है। तब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि यदि तुम पर शस्त्रों का भी प्रहार क्यो न होवे और अप्सराये भी तुम्हारे कठ से क्यो न आलगे दोनो मे ही तुम अपने स्वभाव में स्थित रहोगे और कोई भी तुम्हारे लिये दुःखमय और शोकमय न होवेगा। इससे आत्मपद को पाने का पूर्णयत्न करना चाहिये और इस यत्न मे तब तक लगा रहना चाहिए कि जब तक ससार से सुषुप्ति की नाईं न हो जावे। हे विद्याधर! अभ्यास से ही आत्मपद प्राप्त होवेगा और जब यह पद प्राप्त हो जाता है तब तुम्हारे इस पाञ्चभौतिक शरीर को किसी प्रकार का ज्वर स्पर्श नहीं करता। तब वह केवल शान्तपद मे स्थित हो जाता है और जैसे कमलपत्र पर जल नहीं ठहरता वैसेही उसे ससार का रागद्वेष एव सुख दु ख कुछ स्पर्श नहीं करता। यह सुख दु ख तो तभी तक प्रतीत होता है कि जब तक आत्माका साक्षात्कार नहीं होता है। आत्म साक्षात्कार हुआ नहीं कि सारे प्रपच आत्म स्वरूपही हो जाते हैं। आत्मा मे जन्म मरण कुछ नहीं है। वह गुण के सकल्प के सत्य मिलने से जन्म लेता और मरता जान पडता है

और अन्तःकरण, देह इन्द्रियाँ पृथक २ भासती हैं। हे विद्याधर! यह जगत भ्रम से भासता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इस जगत को गोपद की नाईं अपने पुरुषार्थ से लाँघ जाते हैं और जो अज्ञानी है उन्हें थोडा भी बहुत हो जाता है। इससे आत्मपदको ही पाने का प्रयत्न करो कि जिसके पाजाने से यह संसार समुद्र तुच्छ हो जावे। आत्मपद सब से परे है। उसके जानने से अन्तःकरण शीतल हो जाता है, और समस्त ताप नष्ट हो जाते हैं। उसका त्याग करना बडी मूर्खता है। क्योंकि यह सारे पदार्थ ब्रह्मका ही स्वरूप हैं। तब जब कि सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही है, तो मन अहंकार, कलंक आदिक भी वही है, न किसी को कुछ दुःख है न किसी को कुछ सुख। जब आत्मपद को जान लोगे तब सब कुछ ब्रह्म ही भासेगा। इससे निःसंकल्प होकर यह निश्चय कर लो कि न मैं हूँ न यह जगत है। इस निश्चय से तुम्हारे सभी संशयों का नाश हो जायेगा और तुम आनन्दवान हो जाओगे। तब तुम्हे बुद्धि, बोध, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, देश और कीर्ति आदिक जो कुछ शुभाशुभ अवस्थायें हैं सब आत्मस्वरूप ही भासेंगी और इस प्रकार सबमे आत्म-बुद्धि ही विद्यमान रहेगी। और तब यह जितने कुछ भावरूप पदार्थ हैं सबका अभाव हो जायेगा। हे विद्याधर! इस नियम से जिसने आत्मपद पानेका यत्न किया है और जो करेगा वही उसे पावेगा किन्तु जो यह कहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँगा और भगवान् मुझपर दया करेंगे तो वह कदापि मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि बिना पुरुष-प्रयत्न के भला कोई मुक्त होता है? कभी नहीं।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग।

जगत लय कैसे होगा?

हे विद्याधर! आत्मा मे जो अहंकार का स्फुरण हुआ है वह मिथ्या है। परमार्थतत्व बडाही सूक्ष्म और बडाही स्थूल है। वह राग-द्वेषसे रहित, चेतन, केवल और शान्तरूप

बनाया है—यह जितना भी प्रपच है सबको मनने ही उत्पन्न किया है। जहाँ मन है, वहाँ ही अनेक प्रकार का जगत भासित हो रहा है। तृण से लेकर सुमेरु पर्यन्त सब कुछ जगत ही है। परन्तु विचार करके देखने से ज्ञात होता है कि सब कुछ वही है और दूसरा कुछ नहीं है। जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण भी सुवर्ण ही प्रतीत होता है, वैसेही जगत का सारा प्रपच विचार पूर्वक देखने से सत्ता समान एक अद्वैत पद ही भासेगा, उसकी कुछ भिन्न सज्ञा नही है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

बीसवाँ सर्ग।

भूतार्थ भावरूप योगोपदेश वर्णन।

हे विद्याधर! इस प्रकार जब तुम आत्मपद प्राप्त कर लोगे तब तुम्हारे लिये सुख दुःख दोनो ही समान है। तब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि यदि तुम पर शस्त्रों का भी प्रहार क्यों न होवे और अप्सराये भी तुम्हारे कठ से क्यो न आलगे दोनो मे ही तुम अपने स्वभाव मे स्थित रहोगे और कोई भी तुम्हारे लिये दुःखमय और शोकमय न होवेगा। इससे आत्मपद को पाने का पूर्णयत्न करना चाहिये और इस यत्न में तब तक लगा रहना चाहिए कि जब तक ससार से सुषुप्ति की नाईं न हो जावे। हे विद्याधर! अभ्यास से ही आत्मपद प्राप्त होवेगा और जब यह पद प्राप्त हो जाता है तब तुम्हारे इस पाञ्चभौतिक शरीर को किसी प्रकार का ज्वर स्पर्श नहीं करता। तब वह केवल शान्तपद मे स्थित हो जाता है और जैसे कमलपत्र पर जल नहीं ठहरता वैसेही उसे ससार का रागद्वेष एव सुख दुःख कुछ स्पर्श नहीं करता। यह सुख दुःख तो तभी तक प्रतीत होता है कि जब तक आत्माका साक्षात्कार नहीं होता है। आत्म-साक्षात्कार हुआ नहीं कि सारे प्रपच आत्म स्वरूपही हो जाते हैं। आत्मा मे जन्म मरण कुछ नही है। वह गुण के सकल्प के सत्य मिलने से जन्म लेता और मरता जान पड़ता है

और अन्तःकरण, देह इन्द्रियाँ पृथक २ भासती हैं। हे विद्याधर! यह जगत भ्रम से भासता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इस जगत को गोपद की नाईं अपने पुरुषार्थ से लाँघ जाते हैं और जो अज्ञानी हैं उन्हे थोडा भी वहुत हो जाता है। इससे आत्मपदको ही पाने का प्रयत्न करो कि जिसके पाजाने से यह ससार समुद्र तुच्छ हो जावे। आत्म-पद सब से परे है। उसके जानने से अन्तःकरण शीतल हो जाता है, और समस्त ताप नष्ट हो जाते हैं। उसका त्याग करना बडी मूर्खता है। क्योंकि यह सारे पदार्थ ब्रह्मका ही स्वरूप हैं। तब जब कि सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही है, तो मन अहंकार, कलंक आदिक भी वही है, न किसी को कुछ दुःख है न किसी को कुछ सुख। जब आत्मपद को जान लोगे तब सब कुश ब्रह्म ही भासेगा। इससे निःसकल्प होकर यह निश्चय कर लो कि न मैं हूँ न यह जगत है। इस निश्चय से तुम्हारे सभी संशयों का नाश हो जायेगा और तुम आनन्दवान हो जाओगे। तब तुम्हें बुद्धि, बोध, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, देश और कीर्ति आदिक जो कुछ शुभाशुभ अवस्थायें हैं सब आत्मस्वरूप ही भासेगी और इस प्रकार सबमे आत्म-बुद्धि ही विद्यमान रहेगी। और तब यह जितने कुछ भावरूप पदार्थ हैं सबका अभाव हो जायेगा। हे विद्याधर! इस नियम से जिसने आत्मपद पानेका यत्न किया है और जो करेगा वही उसे पावेगा किन्तु जो यह कहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँगा और भगवान् मुझपर दया करेंगे तो वह कदापि मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि विना पुरुष प्रयत्न के भला कोई मुक्त होता है? कभी नहीं।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण उत्तरार्द्ध का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग।

जगत लय कैसे होगा?

हे विद्याधर! आत्मा में जो अहकार का स्फुरण हुआ है वह मिथ्या है। परमार्थतत्व बडाही सूक्ष्म और बड़ाही स्थूल है। वह राग-द्वेषसे रहित, चेतन, केवल और शान्तरूप

है। उसमें गुणो और तत्वों का कोई भी विभाग नहीं है। वह क्षोभ से सर्वथा ही रहित है। हे साधो! यह जितने भी दृश्य-पदार्थ भास रहे हैं, सो कुछ हुये नहीं। इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अपना अनुभव रुपी चन्द्रमा ही, अमृत का वर्षा करने वाला है। अतः तू उस आत्मरूप अमृत की ही भावना कर। तभी जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होवेगा। उस चिदानन्द मे अह का कोई भी उत्थान नही होता। जैसे आकाश अपने आप सेही स्थित है, वैसेही यह आत्म-सत्ता अपने आपमे ही स्थित है और इसमें अहत्व की कोई भी कल्पना नहीं है। किन्तु जब उसमें अहका उत्थान होता है तब जगत फैल जाता है। जैसे फुरने से रहित वायु आकाश रूप हो जाता है वैसेही सवित-सत्ता फुरने से रहित होने पर आतमरूप हो जाती है। तब जगत-भ्रम मिट जाता है। और वास्तव मे ऐसाही है भी। ज्ञानी जनों को आत्माका ही भाव होता है। इस चित्त मे रागरूपी मलिनता ने आकर वास कर लिया है, जब वैराग्यरूपी झाडन से इसे झाड़ा जाता है तब चित्त निर्मल होजाता है। हे विद्याधर! देवता, दैत्य, मनुष्य और नाग आदिक सबको इस चित्तरूपी चितेरे ने ही कल्पित किया है और इसी प्रकार यह सारा जगत इस चित्तरूपी चितेरे की ही कल्पना है। स्वरूप क विचार से निवृत्त हो जाता है। स्नेहरूपी सकल्प ने ही इस भावाभावरूपी जगत को फैला रखाहै, अतः इसको पुरुषार्थ से नष्ट करो। इसके लिए यह नियम करो कि अपने दैनिक जीवन को तीन भागो मे बाट दो। एक भाग मे सत्सङ्ग और दूसरे मे कथा श्रवण रखो और तीसरे भागमें सच्छास्त्र का विचार करो तब जो चौथा भाग होवे उसमें अपने आपही आत्मज्ञान का अभ्यास करो। इस युक्ति से अविद्या नष्ट हो जावेगी और तुम्हे अशब्द पद प्राप्त हो जावेगा।

हे वशिष्ठजी! मेरे ऐसा कहने पर उस विद्याधर ने पूछा—हे मुनीश्वर! अशब्द पद क्या है? तब मैंने उससे कहा—हे विद्याधर! ससार सागर पार करने के लिए ज्ञानियो का सग करना, उनकी

भली प्रकार से सेवा टहल करना चाहिए, इससे अविद्या का आधा प्रभाव नष्ट होजाता है। फिर तीसरा भाग मनन करके और चौथे भाग को अभ्यास करके नष्ट करना चाहिए। यदि यह उपाय न करसके तो यह करना चाहिए कि जिसमे चित्त अभिलाषा करके आसक्त होवे उसीको त्याग दो। इस प्रकार करने से अविद्याका एक भाग नष्ट हो जायगा। तब तीन भाग जो बचते हैं उन्हे शास्त्र विचार और अपने यत्न से क्रमशः धीरे धीरे नष्ट कर देवे। बस, इस प्रकार से भी अविद्या नष्ट हो जावेगी। हाँ, एक यत्न और है। यदि अपना दृढ़ यत्न होवे तो सत्सग और सच्छास्त्र विचार द्वारा एक ही बार में अविद्या नष्ट हो जावेगी। तब, जब अविद्या नष्ट हो जावेगी तब जो बचेगा वही अजर, अनन्त और एक रूप है। अस्तु, संकल्प ने ही समस्त पदार्थों को उत्पन्न किया है, सकल्प रहित होने से सब आपही लीन हो जाते हैं। हे विद्याधर! इस जगत को कौन कहे, मनके स्फुरण से तीनों ही जगत लीन हो जाते हैं क्योंकि तीनों को इस मनने ही रचा है। तब जैसे मनने ही इसे प्रकट किया है तो मनही इसे नष्ट भी कर सकता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवाँ सर्ग।

त्रसरेणु जगत वर्णन।

हे विद्याधर! यह निश्चित सिद्धात जानो कि अपने मे अहं के उत्थान ने ही सृष्टिको उत्पन्न किया है। अस्तु! जब अहं ही इसका कर्ता-धर्ता है, तब जब उसीका दमन [नाश] होगा तब विश्व का अभाव हो जायेगा। इस पर एक आख्यान कहता हूँ, सुनो। पहले यह समझो कि ब्रह्म रूपीएक वन है जिसमे एक कल्पवृक्ष है और उसकी अनक शाखाये फैली हुई हैं। उसकी एक शाखा में पुरैन रूपी फल लगा हुआ है। उस फल मे देवता, दैत्य, नाग आदिक, सभी मच्छर के समान

विद्यमान हैं, वह वासना रूपी रससे परिपूर्ण है और ऐसा जान पड़ता है कि मानो मांस, मज्जा का पहाड़ ही है। उसकी रचना बड़ी ही सुन्दर है, उसमें पचभूतों का जो मुख है वही उस पहाड़ से निकलने का सुन्दर द्वार है। उसीमे त्रिलोकी का ईश्वर एक इन्द्र हुआ कि जिसका अज्ञान उसके गुरु के ही उपदेश से दूर हुआ। तब कुछ काल पश्चात् उस इन्द्र और दैत्यों मे घोर युद्ध हुआ जिसमें इन्द्र पराजित हुआ। तब वह भाग कर दशो दिशाओ मे भ्रमने लगा। परन्तु दैत्य भी उसके पीछे ऐसे लगे हुये थे कि वह जिधर ही जाता वे उसे उधर ही जा घेरते थे। लाख लुकने छिपने पर भी जब उसे कहीं शांति न मिली तब वह अन्तवाहक रूपसे सूर्यकी त्रसरेणु में प्रवेश कर गया। वहाँ पहुँच कर उसे युद्धका स्मरण जाता रहा जिससे वह एक मन्दिर मे बैठकर अपने आपको देखने लगा। उस अवस्था में उसने पहले यह देखा कि एक बहुत बडा नगर मणियों से बना हुआ है जो बहुत ही सुन्दर और चित्त आकर्षक है। फिरतो वह उस नगर मे प्रविष्ट हो गया। वहाँ पहुँचकर वह क्या देखता है कि पृथ्वी, पहाड, नदियाँ, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वहाँ विद्यमान हैं। फिर तो उसको वहाँ एक और ही जगत भासमान होने लगा और तब उसने जाना कि मैं यहाँ सर्व ऐश्वर्या से सम्पन्न इन्द्रके रूपमें स्थित हूँ। पश्चात् उसका शरीर छूट गया और फिर उसका कुन्द नामक पुत्र उसके स्थान पर इन्द्र हुआ। पश्चात् कुन्दका भी देहपात हुआ और उसका पुत्र राज्य करने लगा। फिर उसको भी एक पुत्र हो गया और इसी प्रकार हजारों पुत्र होकर राज्य करते रहे। अब उन्हीं के कुल का यह इन्द्र राज्य कर रहा है। इस प्रकार यह सारा जगत संकल्पमात्र ही है और उसी प्रकार की त्रसरेणु में यह सृष्टि हुई है। अस्तु। इस जगतको संकल्पमात्र जानकर ही इसकी आस्था त्याग दो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेईसवां सर्ग।

सङ्कल्पासङ्कल्प एकता विवेचन।

हे विद्याधर! वासना बड़ी कठिन होती है। इसके हाथ पड़कर जीवकी जो दशा हो जाये, आश्चर्य नहीं। देखो कि उसी इन्द्र-कुल में एक ऐसा इन्द्र हुआ कि जिसने दैत्यों से युद्धकर उन्हें घोर सग्राम मे पराजित किया। और फिर उसे निर्वाण पद भी प्राप्त हुआ। उसके एक पुत्र था जिसको बृहस्पति जी ने उपदेश देकर इन्द्र बना दिया था। एक समय वह किसी कार्य वश कमल की तन्तु मे घुस गया। वहाँ उसे नाना प्रकार का जगत भासित हुआ और यह भी अहङ्कार हुआ कि मैं इन्द्र हूँ। फिर तो उसे वही प्राप्त हुआ और वह वहाँ पर बहुत काल तक राज्य करता रहा। फिर उसे यह इच्छा हुई कि 'मैं ब्रह्मतत्व को प्राप्त होऊँ और वह ब्रह्मतत्व मुझे दृश्यों के समान ही प्रत्यक्ष दिखलाई पडे। तब यह कैसे होगा— इस उपाय में वह एकान्तसेवी बन बैठा और समाधिस्त हो गया। तब उस लम्बी अवस्थामे उसको भीतर बाहर सर्वत्र ही ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ और इस प्रकार उसने दृश्यो के समान ही ब्रह्मको पत्यक्ष देखने की इच्छा पूर्ण कर ली। फिरतो उसे ज्ञात हो गया कि सब कुछ ब्रह्म ही है और सर्व ओर से वही पूजने योग्य है और सब उसीको पूजते हैं। वही सर्व है और वही सर्व शब्द रूप देखने और मनन करने से भी रहित केवल शुद्ध आत्मपद है। इसीके प्राणपद सर्वत्र फैले हुये हैं। सब शीश और मुख उसीके है और सब ओर उसीके कान हे और सब ओर उसीके नेत्र हैं। सब मे आत्मभाव से वही स्थित है और वही सर्वइन्द्रियो और विषयों को प्रकाशित करने वाला है और वही सबको धारण कर रहा है। वही निर्गुण है और वही इन्द्रियों के साथ मिलकर सब गुणों का कर्ता और सबका भोक्ता है। वही सब भूतों के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है और वह [illegible] है। अज्ञानी उसे नही

देख सकते और आत्मतत्व द्वारा ज्ञानी उसे ही अपने निकट देखते हैं। वह अनन्त है, सर्व व्यापी है। वह अकेला ही शान्तरूप है और उसमे दूसरा कोई नहीं है। वह स्थावर जगम और चर अचर सब मे व्याप्त है और देश, काल, वस्तु सबमें वह ब्रह्म भाव से ही विद्यमान रहता है और वह ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। जब उस इन्द्र को ऐसे ज्ञान हुआ तब वह जीवन्मुक्त हुआ। पश्चात् उस इन्द्रका एक बडा ही शूरवीर पुत्र दैत्यो पर विजय पाकर त्रिलोकी का राज्य करने लगा। पश्चात जब उसको भी ज्ञान हुआ तब वह भी निर्वाण हुआ। तब उसका जो पुत्र था, वह इन्द्र हुआ। इस प्रकार कई इन्द्र उत्पन्न होकर राज्य करते रहे। पश्चात् उसके कुल में एक और पुत्र था और वह राज्य करता रहा। पुनः उसे मेरी सृष्टि भासित हुई और वह ब्रह्म ज्ञानी हुआ। इस प्रकार यह जो जगत की उत्पत्ति है वह सकल्प मात्र ही है। पहले उसको त्रसरेणुये भासीं, फिर एक कमल का तन्तु ज्ञात हुआ और फिर उसने सकल्प मात्र से कई वृतांत देखे। किन्तु वास्तव मे वह कुछ हुई नहीं। जैसे आकाश मे नीलता का भान होता है और वह है कुछ नही, वैसे ही यह जगत है। जब अहकार का अभाव होता है तब जगत का पता नहीं चलता। इससे अहको ही मिटाना चाहिए।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग।

भुशुण्डि विद्याधरोपाख्यान।

हे विद्याधर! अह के उत्थान होने पर ही सृष्टि बनकर भासती है और इसी प्रकार जब अहकार का अभाव हो जाता है तब जगत का भी अभाव हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि अह ही सब दुःखों का मूल है। अह न होता तो कोई भी दुःख नहीं पाता। अह के कारण ही तो उस इन्द्र ने सूर्य की त्रसरेणु में ।न। प्रकार के विस्तार देखा और कष्ट पाया था। अत. अह को ही

नाश करने का यत्न करो। आत्मसाक्षात्कार होनेपर अहं का सर्वथा ही नाश हो जाता है। आत्मरूपी पर्वत पर आकाशरूपी एक वन है कि जिसमे यह संसाररूपी वृक्ष लगा हुआ है। यह वृक्ष वासनारूपी रस और अज्ञानरूपी भूमिको ही पाकर उत्पन्न हुआ है। नदियॉ और समुद्र ही उसकी नसे एव नाड़ियां है कि जिससे यह रस पाता रहता है। चन्द्रमा और तारे ही उसके फूल है। वासनारूपी जल [रस] को पाकर ही वह बढ़ता है और उसका बीज अहंकार है। सुख दुःख ही उमके फल हैं और उसकी जड पाताल तक चली गई है। हे विद्याधर! तुम उसको ज्ञानाग्नि से भस्म करो।

इसी प्रकार एक गहरी खाईं है कि जिसके जन्म मरण रूपी दो किनारे है। उसमे आत्मारूपी जल भरा हुआ है जिससे वासना रूपी तरङ्ग और विश्वरूपी बुदबदे उठते है, परन्तु जब वायु का चलना बन्द हो जाता है तब वह शान्त और निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार यदि वायु हुआ तो भी वह जल ही है और वायु न हुआ तब भी वह जल ही कहलायेगा, दूसरा कुछ नही, उसी प्रकार अज्ञान के होते भी वह आत्मपद ही कहलायेगा और अज्ञानके न होने से भी वह आत्मपद ही रहेगा। बस, इसी प्रकार समदृष्टि से वह आत्मपद भासता है और वही अज्ञान से जगत जान पडता है। इसी प्रकार अहं का होना ही अज्ञान है। अह, मम, ससार ही को कहते हैं। जब यह मिट जाता है तब जगत भी मिट जाता है। अह मे दृश्य और दृश्य मे ही अहं होता है। इस कारण तुम उस सवेदन कोही क्यो नहीं त्याग देते कि जिससे निर्वाणता प्राप्त हो जावे।

हे रामजी! इतनी कथा कहकर भुशुण्डिने मुझसे कहा—हेमुनीश्वर! जब मैंने विद्याधर से ऐसे कहा तब वह समाधिस्त हो गया और जान पड़ा कि मानो उसे परम निर्वाणता प्राप्त हो गई है। उसका चित्त क्षोभ से रहित हो गया और वह शान्तमूर्ति दिखलाई पडा। हे मुने! उसका हृदय शुद्ध था, इसी कारण मेरे वचन उसके हृदय मे शीघ्र ही प्रवेश कर गये। तब मैंने उसे कई बार जगाया, परन्तु वह न जागा। जैसे

कोई वनकी अग्निसे जलता हुआ भागकर समुद्रमे जा पैठे और निकालने पर भी न निकले वैसे ही वह संसार तापमे जलता हुआ आत्म समुद्र को प्राप्त हुआ था कि जिससे अज्ञानरूपी ससार के प्रवाह को नहीं देखता था। हे वशिष्ठ जी! जिसका अन्त'करण शुद्ध होता है उसको थोडा उपदेश भी बहुत प्रभाव करता है पर जिसका अन्त करण मलिन होता है उसको बहुत उपदेश थोडा भी नहीं लगता। जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता वैसेही गुरूके वचन उसके मलिन हृदय पर नहीं ठहरते। उपदेश-ग्रहण के लिये तो निर्मल हृदय चाहिए, तभी वह आत्मपद को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! जो आपने मुझमे पूछा था, मो मैंने कहा। इसी गन्धर्व को मैंने इतने काल तक जीवित देखा था और मेरेही उपदेश से वह आत्मपद को प्राप्त हुआ था।

हे रामजी! ऐसा कह कर काकभुशुण्डि चुप हो गया और मैं उसे नमस्कारकर अपने आश्रम पर चला आया। मेरे और काक भुशुण्डि के इस सम्वाद को हुये आज ग्यारह चौकडी युग बीत गये हैं। अस्तु! हे रामजी! ज्ञानका कुछ प्रमाण नहीं है। जैसा शुद्ध हृदय होता है उतने ही शीघ्र और उतने ही विलम्बसे यह विचारवानोको उत्पन्न होता है। यह हृदय की शुद्धता पर निर्भर है। हे रामजी! इतना उपदेश जो मैंने तुमको दिया है उसका यही अभिप्राय है कि फुरने को त्याग करो। न मै हूँ, न यह जगत है। केवल निर्विकल्प आत्मा ही शेष रहता है और वही अपना आप है। तुम उसीका साक्षात्कार करो। आत्मरूपी दर्पण पर अहं रूपी आवरण छाया हुआ है, इसीसे वह अपना आप दिखलाई नहीं पडता। जब इस अहंकारका त्याग करोगे तब आत्मपद प्राप्त हो जावेगा। और तब जगत भी अपना आप ही भासेगा। हे रामजी! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। आत्मा मे यह जगत भ्रमवश वैसे ही भासता है कि जैसे मृग तृष्णा का जल और वन्याका पुत्र भासित होता है। जैसे आकाश में नीलता का भान होता है, पर वास्तव में वह नीलता है नहीं, वैसेही यह जगत प्रत्यक्ष भास्ता है, पर है नहीं। जैसे जेवरी

मे सर्प मिथ्या है वैसे ही आत्मा मे जगत मिथ्या है । जब आत्मा का ज्ञान होता है, तब जगत का अत्यंत ही अभाव हो जाता है और तब केवल अपना आप ही भासित होता है । इससे हे रामजी ! तुम अहं का संवेदन त्याग दो । संसार का बीज अहंकार ही है । शुभाशुभ की वासनाओं ने ही सुख दुःखरूपी फल को उत्पन्न किया है और इस प्रकार वासनाओं से ही सुख दु ख प्रफुल्लित होता है । इससे अहं भावको ही नष्ट करो । क्योंकि ज्यों ही अहंकार का स्फुरण हुआ नहीं कि संसार उठ खड़ा होता है । किन्तु जब तुम अहं को त्याग दोगे तब जगत-भ्रम मिट जावेगा । अस्तु बिना आत्मज्ञान हुये यह नष्ट नहीं होगा । हे रामजी ! इस देह रूपी पत्र पर अहंकार रूपी अणु स्थित है, बोध रूपी सूर्य का उदय हुआ नहीं कि वह स्वयं ही नष्ट हो जावेगा परन्तु यह कहो कि बिना बोध हुये ही यह अहंता नष्ट हो जावे तो ऐसा नहीं होता । बिना इसे नष्ट किये यदि तुम चाहे कीचड में धंस जाओ या चाहे पर्वत की गुफा में प्रविष्ट कर जाओ, चाहे घर में रहो, चाहे वन मे रहो, पर कहीं भी शान्ति न मिलेगी । क्योंकि समस्त अनर्थों का कारण यह अहंता ही है, जब तक यह है तब तक दु:ख नहीं मिटता और तब तक सिद्धता नहीं प्राप्त होती । परन्तु जब यह मिट जाता है तब परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौबीसवां सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग ।

विराट आत्मा वर्णन ।

हे रामजी ! यह सारा संसार संकल्प मात्र है और भ्रम से ही उदय हुआ है । आत्म स्वरूप का क्या कहना है ? इसमें अनेक सृष्टियां बसती है । कोई लीन होती है कोई उत्पन्न होती हैं, कोई उडती हैं, कोई एकत्र होती हैं, यह सब मैं प्रत्यक्ष रूप से नित्य ही देखता हूं । तुम भी देखो । एक सृष्टि यह भी उड़ती है तब भला इस जगत-सृष्टि मे क्या सार है । यह देखने में ही सुन्दर है । परन्तु है आकाश रूप ही । जैसे जल मे छाया हिलती डुलती है, वैसे ही इस जगत को भी जानो ।

वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर रामजी ने उनसे पूछा— हे भगवन्! आप कहते हैं कि सृष्टियाँ उड रही हैं, मैं इन्हे नित्य ही देखता हूँ, तुम भी देखो। सो, यह मेरे समझ में न आया कि आप क्या कहते हैं?

वशिष्ठ जी ने कहा— हे रामजी! सुनो, यह जो अनेक सृष्टियां उड रही हैं वह, पञ्च भौतिक शरीर मे प्राण स्थित है। प्राण में मन है और उस मनमे सब की अपनी २ सृष्टि विद्यमान है। जब यह जीव शरीर को त्याग करता है तब इनका लिङ्ग शरीर जिसे वासना और प्राण वपु कहते हैं, वह जीव को अपने में स्थिर करके उड जाता है। वही लिङ्ग शरीर मुझे सूक्ष्म दृष्टि से भास रहा है। हे रामजी! यह आकाश का वायु है और जिसका कोई आकार नहीं है वही वायु प्राण वायु के साथ मिलकर मुझे प्रत्यक्ष दिखलाई पडती है। यही जीव है। अस्तु! यह ससार अथवा यह सारी सृष्टिया वासनामय हैं। वासना के अनुसार ही एक आत्मा मे इतने विशाल विश्वको देखता है। जैसी वासना होती है, वैसा ही जगत भासित होने लगता है। हे रामजी! वास्तव में सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही है किन्तु प्रमाद वश वह अपने को कुछ का कुछ मानने लगता है। यह कैसे? उत्तर स्पष्ट है कि वासनाओं ने ही इसे खण्ड-खण्ड कर रखा है। अन्यथा यह आत्मा अखण्ड और देश काल से परिच्छिन्न है। जब अहकार रूप चित्त नष्ट होवे तब अखण्ड रूप हो। किन्तु जब तक अहकार नहीं जाता, तब तक जगत-भ्रम दिखलाई पडता है और तब तक वासनाये भटकाती ही रहती हैं। क्योंकि वासना की सृष्टि चित्त में सर्वदा ही स्थित रहती है। शरीर को छोडतेही वह (चित्त) आकाश में उड़ जाता है और इस प्रकार प्राण वायु उडकर जो आकाश में शून्यरूप वायु है उससे जा मिलती है। वहाँ सब को अपनी २ वासना के अनुसार अपनी २ सृष्टियो का ज्ञान हो जाता है और वे इस प्रकार अपनी २ सृष्टि को लेकर वहाँ के लिये उड जाते हैं जैसे कि वायु गन्ध को लेकर अपने आप

मे चली जाती है, वही मुझको सूक्ष्म दृष्टि से उडते हुये जान पडते हैं। हे रामजी! लिङ्ग शरीर को देखने के लिए स्थूल दृष्टि से काम नही चलता, इसके लिये बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिए। मेरी सूक्ष्म दृष्टि है, इसीसे मै उनको उडते हुये देखता हूँ। किन्तु जिसको सूक्ष्म दृष्टि से लिङ्ग शरीर देखने की शक्ति तो प्राप्त है और वह वास्तव में है ज्ञान से रहित, तो मैं उसको भी मूर्ख और पशुके समान ही जानता हू। जब मनुष्य वासनाओको त्याग करदेता है तब उसे विश्व नहीं दिखलाई पडता और उसे केवल निर्विकल्प ब्रह्मही भासता है। ऐसे पुरुषो के प्राण नहीं उडते और वहॉही लीन हो जाते हैं क्योंकि उन का चित्त नही रहता। किन्तु जब तक अहकार का सयोग है तब तक जगत भी चित्तमें स्थित रहता है। जैसे बीज मे वृक्ष और तिलो में तेल स्थित रहता है, वैसेही अह चित्तवालो मे जगत स्थित रहता है। जैसे मिट्टी मे बडे छोटे सभी प्रकार के पात्र स्थित रहते हैं और लोहे मे सुई भी और खड्ग भी स्थित रहता है और जैसे बीज में वृक्ष भाव स्थित है, वैसेही सकल्प कलना में ही जगत स्थित है। किन्तु स्वरूपतः यह कुछ है नही। सारा विश्व सकल्प मात्र ही है। क्योंकि एक अवस्था में तो यह उठता है और दूसरी अवस्था मे नष्ट हो जाता है। सो, यह जाग्रत जगत जो तुमको भासता है सो मिथ्याही है। जैसे स्वप्न मे जाग्रत नहीं होता और जाग्रत अवस्था मे स्वप्न नहीं होता, वैसे ही जब मृत्यु आती है तब सृष्टि का अभाव हो जाता है और तब देश काल पदार्थ सहित अपनी २ वासना के अनुसार सब को अपनी २ सृष्टि भासने लगती है। इससे यह जगत स्वप्नवत ही है। जैसा सकल्प होना है, वैसे ही सकल्प उडते फिरते हैं। कोई सृष्टि अपनी सृष्टि से मिलती जाती है और कोई नही भी मिलती। किन्तु सब सकल्परूप ही है, भ्रम से और का और भासने लगती है। हे रामजी! यह विश्व भ्रमसे ही सिद्ध हो रहा है। जैसे भ्रम वश सीपी मे मोती और जेवरीमे सर्प भासता है, वैसे ही आत्मा के प्रमाद से यह विश्व भासित   १ आत्मा भिन्न नहीं है।

जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न का विश्व आपही आप दीख पड़ता है वैसे ही तब यह विश्व अपना आप दिखाई पडेगा। जैसे जब निद्राका वेग रहता है तब उसे शुभ अशुभ विश्व मे कुछ भी राग नहीं होता और जब निद्राका वेग हटता है तब फिर इष्ट अनिष्ट के राग-द्वेषमें जा पडता है—ऐसेही जब तक ग्रहण त्यागकी बुद्धि वर्तमान है तब तक यदि कोई सर्वज्ञ भी हो तो वहभी मूर्ख ही है। इससे हे राघव! जड होना ही ठीक है। जड यह कि दृश्यो से रहित हो आत्मा मे स्थित हो जावे। जब तक आत्मा से भिन्न रहेगा तब तक स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी। जब संकल्पो के स्फुरण से रहित होवेगा तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है। अस्तु! फुरने का ही त्याग करो। हे रामजी! यह जो स्थावर जगमरूपी जगत तुममें भास रहा है वह सब ब्रह्म ही है। जब तुम ऐसा निश्चय करोगे तब तुमको सर्वत्र आत्मपद ही प्रतीत होगा।

रामजी ने प्रश्न किया—हे महा मुनीश्वर! जीव का स्वरूप क्या है? वह रूप और आकार को कैसे ग्रहण करता है, उसका अधिष्ठान क्या है और वह कहां रहता है।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! यह जीव शुद्ध, परमात्मतत्व निर्विकल्प और चिन्मात्र पद है। जब उसमें—'मैं हूँ' ऐसा चैतन्योन्मुखत्व हुआ तब वह चित्त कलना के स्फुरण से जीव नाम से सम्बोधित होगया। किन्तु वह जीव न तो सूक्ष्म है, न स्थूल है, न शून्य है, न अशून्य है, वह सर्वतोभाव से अनन्त चैतन्य और आकाश रूप है। उसीको जीव कहते हैं। वही सूक्ष्म है और वही स्थूल भी। वही जीव चैतन्य और सर्वगत भी है। वही जीव अद्वैत है। उसका प्रतियोगी कोई नहीं। बस, यही जीव का स्वरूप है। चैतन्योन्मुखत्व होन से ही वह जीव ब्रह्म हुआ और वही शुद्ध, चैतन्य परमात्मतत्वभी है। उसमें जो संवेदन हुआ उसीका नाम जीव पडा। वह जीव सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है। वही सर्वका बीज भी है और वही विराट रूप भी है। उसका शरीर मनोमय है और वह

आदि परमात्म तत्वसे फुरा हुआ है। वही सर्व जीवों का अधिष्ठाता है और वही सब मे व्याप रहा है। उसी के संकल्प से ये सभी जीव रचे हुये हैं। पञ्च ज्ञान संयुक्त ये पांचों इन्द्रियॉ, और अहकार, मन, और बुद्धि ये आठो ही उसीकी सत्ता से अपना २ आकार धारण किये हैं और इसीसे इनमे इतनी शक्ति आगई है कि ये आप ही आप सब कुछ ग्रहण कर लेती हे। और परमार्थ रूप को त्याग कर सकल्प से जो आकर उत्पन्न हुये है उनको ग्रहण करना इसीका नाम पुर्यष्टका है। इस प्रकार पुर्यष्टका और इन्द्रियो की रचना होने पर फिर इनमे चित्र रचे गये और स्थूल रूपकी रचना कर उनमे आत्मा प्रतीत किया गया। जैसे निद्रा में जीव जाग्रत शरीर को त्याग कर स्वप्न शरीर को अंगीकार करता है वैसेही उसने निर्विकार और अद्वैत शक्ति को त्यागकर वासनामय शरीर को अंगीकार किया है। किन्तु उसने अपने असली रूप का त्याग नही किया। वह स्वरूप से नही गिरा और वही शुद्ध एव सकल्प रहित भाव का त्याग कर विराटरूप हुआ। पश्चात् उसी पुरुप ने अपने ज्ञान से चारो वेदो की रचना की और जो २ सकल्प करता गया, वह-वह देश, काल, पदार्थ, दिशा और ब्रह्माण्ड सब होते गये। इस प्रकार ईश्वर, विराट, आत्मा और परमेश्वर आदि उस जीव के ही नाम हुये हैं। जीव का वासनारूप स्वरूप मिथ्या नहीं है। वासना शरीर ग्रहण करने से ही वह वासनारूप कहा गया है और है वह शुद्ध, निर्विकार और अद्वैत। जब उसको अपने चैतन्य भाव से चैत्य का मिलाप हुआ तव उसका वायु वासना रूप हो गया। फिर उसी आदि जीवसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और देवता, दैत्य, आकाश, पाताल और मध्य सहित यह समग्र त्रैलोक्य उत्पन्न हुआ। जैसे दीपक से दीपक और जल से जल उत्पन्न होताहै वैसेही सर्व स्वरूप उत्पन्न हुये है। इस प्रकार सब कर्मो और सर्व शरीरो का आदि वीज वह विराट ही हुआ। चित्तके सम्बन्ध से ही वह तुच्छ हो गया है किन्तु वास्तव मे वह है परमात्मस्वरूप ही। जैसे महाकाश भी घट के सयोग से घटाकाश हो जाता है वैसेही वह विराट परमात्मा मे

फुरने से ही सृष्टि को रचकर अहं प्रत्यय के कारण तुच्छ हो गया है किन्तु वह मिथ्या एवं भ्रम ही है। जैसे स्वप्न में कोई अपनी मृत्यु देखे, वैसेही अपने आपको ही लोग दृश्य देखते हैं। यह क्यों? अविकार से! आत्म-लघुता से!! अन्यथा ये समस्त दृश्य विराटरूप ही हैं आत्मा में उसका अनुभव मात्र है। बस, इसी प्रकार उसने उत्पन्न होकर सृष्टिको रचा है। और उस विराट पुरुष ने इसे जैसा रचा है यह अब तक वैसा ही है भी। स्वयं ही उत्पन्न हुआ है और स्वयं ही लीन हो जाता है। हे रामजी! यह जो कुछ देख रहेहो सब विराट रूपही है। किन्तु जो स्वरूप से गिरे हुये और तुच्छहैं उनको यह भान नहीं हो सकता क्योंकि वे तो दृश्यके ही समान होरहे हैं अथवा दृश्यको ही सब कुछ जानते हैं और अपने आपको नहीं। उन्होंने अपने वास्तव रूपको भुला दिया है और वे स्वरूप से गिरे हुये हैं किन्तु जो स्वरूप से न गिरे और जिसे अपना ही संकल्प रूप विश्व देखकर प्रमाद न होवे उसका नाम विराट आत्मा है। हे रामजी! यह जीव चैतन्य और निराकाररूप है। इसने अपने संकल्पसे ही शरीर रचलिया है। परंतु अब वही दृश्य इसे महा आपदारूप होकर कष्ट भी देरहे हैं। निर्विकल्प होता नहीं, इससे आत्मपद का सुख भी नहीं प्राप्त होता है। किन्तु इस विराट ने ही सबको उत्पन्न किया है और सर्वदा सब युगों में तो क्या जितनी बार जितनी सृष्टियाँ उत्पन्न हुई हैं सबको इस विराट ने ही उत्पन्न किया है। अब जिस विराट ने इस दृष्टि को उत्पन्न किया है इसके पहले और भी कितने ही विराट हुये हैं और कितने ही आगे होंगे। जैसे एक समुद्र से ही लहरें उत्पन्न होती हैं और बुदबुदे उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लय हो जाते हैं वैसेही एक आत्मा से ऐसे कितने ही विराट उत्पन्न हुये और फिर उसीमें लय हो गये। इससे वह आत्मा परमात्मा ही सबका अधिष्ठान है और वही भीतर बाहर सर्वत्र पूर्ण रूपसे विद्यमान और पूर्ण-ज्ञान-स्वरूप है। वही तुम्हारा अपना आप अनुभवरूप भी है। हे रामजी! तुम जहाँ भी कहीं संवेदन से रहित देखोगे वहीं तुम्हें परमात्मस्वरूप का भान होवेगा।

अत· यह जो कुछ तुम्हे भास रहा है सबको विचार पूर्वक त्यागो। जब इस सवेदन का त्याग करदोगे तब जो चिन्मात्र शुद्ध स्वरूप तुम्हारा अपना आपहै वह भासित होगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का पचीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग।

ज्ञान-बन्ध-योग-वर्णन।

हे रामजी! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। अपने स्फुरण से ही वह परमात्मा पुरुष जीव सज्ञा को प्राप्त हुआ है और अपने स्वरूप को भूलकर ही वह ऐसा दुःख पा रहा है। परन्तु वह वही है। वह कभी परिणाम को नही प्राप्त हुआ। यह जीव प्रमाद वश अपने को दृश्य रूप जान रहा है। यदि इसे अपने स्वरूपका स्मरण होता तो यह दृश्य को अपना ही रूप जानता और दु·ख को न प्राप्त होता। तब इसको सारा विश्व अपना ही रूप भासता। हे रामजी! यह विश्व इसीका रूप है। किन्तु अविचार से भिन्न २ भासता है। अहकार रहित होकर देखे तो यह कुछ बना नहीं है। आत्म-स्वरूप मे स्थित होकर देखो तो अपना आपही भासित होगा। वह आत्मा शून्य से भी शून्य, जड़, चैतन्य, किंचन, निष्किंचन, सत्य और असत्य सर्वत्र से पूर्ण है, फिर इस में किस का त्याग कीजियेगा? वह सर्वथाही अनुभव रूप है, उसीसे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। किन्तु खेद है कि ऐसे आत्माको मूर्ख नही जानते। जैसे जन्मान्ध को मार्ग का ज्ञान नही होता वैसे ही अज्ञानी इस जागृत ज्योति आत्मा को नहीं जानता। और जैसे सूर्य के उदय को उलूक पक्षी छिपा नहीं जानते, वैसे ही वासनाओं से घिरे हुये पुरुष अपने आपको नहीं जानते। जैसे जाल मे पक्षी फंसा होता है वैसे ही समस्त जीव वासनाओं में फसे [illegible] है। यही बन्ध है। और जब वासनाओ से छुटकारा मिले [illegible] है। इसी प्रकार विषमता

से ही जीव सज्ञा होती है और समता ही ब्रह्म पद है। हे रामजी! अज्ञान से ही जीव ऐसा दीन हुआ है, अज्ञान नष्ट होवे तो वही आत्मरूप हो जाता है। हे रामजी! उपाधियो के सयोग ने ही निर्गुण को सगुण कर दिया है। जब निर्गुण सगुण की गांठ टूटे तब वह अद्वैत अपना आप भासित होवे। फिर तो उस को पाने पर कुछ पाना शेष नहीं रहता और उसको जानने पर कुछ जानना नहीं रहता। हे रामजी! यह ज्ञान जो तुमसे कहा है उसका आश्रम करके तुम इसमें बधे न रहना क्योंकि ज्ञान बन्ध होने से तो अज्ञानी रहना ही अच्छा है क्योंकि जब ज्ञान को जानकर तुम ज्ञानी ही बने रहे तो क्या हुआ। ऐसे तो अज्ञानी भी साधु सगति को पाकर ज्ञानवान हो जाते हैं, फिर तुम्हारे और उनके में भेद ही क्या रहा। हे रामजी! जो ज्ञान बन्धन में ही पडा रह जाता है वह मुक्त नहीं होता जैसे रोगी कहे कि मुझे कोई रोग नहीं है, मैं निरोग हूँ तो उसे वैद्य के औषधि की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपने को निरोग जानता है, वैसे ही जो ज्ञान से बधा हुआ है वह सतों का साथ नहीं करता और सत् शास्त्रो को भी नहीं विचारता क्योंकि वह तो यह समझता है कि मैं ज्ञानी हू, मुझे इसकी क्या आवश्यकता? इससे वह अन्ध कूप मे ही पड़ा रहता है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जी से पूछा— हे महामुनीश्वर! ज्ञान और ज्ञानबन्ध का क्या लक्षण है और क्या फल है, कृपा कर बतलाइए। वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! जो शास्त्रों द्वारा यह जान चुका है कि आत्मा क्या वस्तु है किन्तु वह फिर भी विषयों को भोगने की तृष्णा किया ही करता है कि यह अमुक-वस्तु मुझे मिले तो ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध कहलाता है। फिर ज्ञानबन्ध वह है कि जो कर्म फल के विचार से रहित है, जो मुख से शुभ अशुभ निरूपण करता है और शास्त्रानुसार अपने को उत्तम मानता है और शास्त्रों के अर्थ भी खूब लगता है, पढ़ता और पढ़ाता भी है किन्तु विषयो मे बँधा ही रहता है और सर्वदा विषयों की ही चिन्ता

किया करता है— ऐसा पुरुष ज्ञान वन्ध है और इसलिये उसे अर्थ-शिल्पी भी कहा जाता है। हे रामजी! दो मार्ग हैं। एक प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति। प्रवृत्ति संसार मार्ग है और निवृत्ति आत्मज्ञान का मार्ग है। जिस पुरुष ने निवृत्ति मार्ग तो धारण किया है किन्तु अपने को प्रवृत्ति मार्गमे ही वर्तता है और इन्द्रियो द्वारा विषयो का रसास्वादन करता है, विषयों से उपराम नहीं होता और उससे संतुष्ट होकर स्वरूप का अभ्यास नहीं करता वह ज्ञानवन्ध कहलाता है। फिर जो आत्मा से प्रेम तो करता है किन्तु विषयों की भी चिन्ता किया करता है और अपने को भी उत्तम मानता है तो वह ज्ञानवन्ध कहलाता है। फिर जो आत्मतत्व विवेचन तो खूब करता है और स्थित नहीं है तो उसे भी ज्ञानका फल नही प्राप्त हुआ। और वह भी ज्ञानवन्धही है। हे रामजी! कोई भी तब तक ज्ञानी नही है जब तक कि उसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई। और जब तक शान्ति न प्राप्त हो जावे तब तक अपने को ज्ञानसे बड़ा न माने। और जब तक ज्ञानकी प्राप्ति न हो जावे तब तक निदिध्यास, अभ्यास, यत्न और शुभ व्यवहार करताही रहे। यह नहीं कि विलासी बन कर प्रमाद करे। वरन् प्राणों की रक्षा के निमित्त उपजीविका उत्पन्न कर और ब्रह्म जिज्ञासा के निमित्त प्राणोंकी धारणा करे। इस प्रकार करने से संसार सागर को पारकर पुरुष आत्मपरायण हो जाता है। तब उसके सारे दु:ख मिट जाते हैं और फिर वह मुक्त होकर ससारी नहीं रहता। इस प्रकार जब आत्मपरायण हो जाता है तब सारे दु:ख मिट जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होतेही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मपद पानेसे सब दु:ख नष्टहो जाते हैं। और वह पद ऐसेही प्राप्त होताहै कि जो शास्त्रों का उपदेश सुने उसपर बारम्बार अभ्यास कर के विचार करे, दृश्यो से उपराम हो जावे और उनको मिथ्या जानकर उनसे वैराग्य करे—इसी प्रकार आत्मपद प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२६॥

सत्ताईसवाँ सर्ग ।

सुखदायक योग उपदेश वर्णन ।

हे रामजी ! ज्ञान निष्ठा ही सबका अधिष्ठान पद है । पहले जिज्ञासी होताहै । फिर जब गुरु और शास्त्रोंसे आत्मविशेषण सुनता है तब उसमें अह प्रत्यय करके स्थित होता है और वही स्थित होना ज्ञान निष्ठाहै। इस निष्ठासे परम उच्चपद प्राप्त हो जाता है। जब उस पद में स्थित हो जाताहै तब उसे कर्मों के फल का ज्ञान नहीं रहता। तब न तो उसे शुभ कर्मों के फल में राग होता है और न अशुभ कर्म फलमे उसे द्वेप होता, प्रत्युत वह सर्वदा ही हृदय से शीतल रहता है और अकृत्रिम शान्तिपदको प्राप्त रहता है। वह कभी भी किसी विपय के सम्बन्ध में नहीं पडता और अकृत्रिम शान्तिपद को प्राप्त होता है । यही क्या, वह किसी विपय के सम्बन्ध में नहीं फँसता और उसकी वासना की गांठ टूट जाती है। वही ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी ही आवागमन से रहित होता है। हे रामजी ! जब ससार से विमुख हो और जब ससार की सत्यता न भासे तब जानो कि फिर जन्म न पावेगा । उसके निकट संसार का कारण नहीं जान पडता। क्योंकि जो पदार्थ कारण से नहीं उत्पन्न हुआ वह सत्य नहीं होता, इससे ससार मिथ्या है । तब जो मिथ्या है उसकी वासना भी कैसे होवे ? फिर ज्ञानीजन प्रवाह-पतित कार्यों में विचरते भी हैं तो भी सकल्प से रहित होकर उसमें अपना अभिमान कुछ नहीं करता कि यह हो यह न हो। उसको सकल्प कोई नहीं होता और उसका हृदय आकाश की नाईं सर्वथा ही शून्य रहता है। ऐसे ही पुरुप आत्मपद को प्राप्त रहते हैं। हे रामजी ! यह जीव परमात्मा का ही रूप है । अपने चैत्य से ही ससार रूप हो रहा है, अन्यथा यह आत्मपद ही है। जब चित्त अर्थात् फुरने को त्याग करे तब वही आत्मा कहलाता है। तब उसकी बडी शोभा हो जाती है। हे रामजी ! ज्ञानी पुरुप कर्म की स्तुति नहीं करता, उसे इन्द्रियों के

इष्ट की वाञ्छा नही होती वह विषयो के सुखकी इच्छा नहीं करता। परन्तु जो मूर्ख हैं वे पदार्थों को ही पाकर सुख मानते हैं। उनकी बुद्धिमे यही बात दृढ़ होरही है कि मै ससार के पदार्थों को ही लेकर मुक्त हो जाऊँगा। किन्तु वे मूढ़ है, उनका यह सोचना व्यर्थ है। इन्द्रियॉ किसीको भी कभी स्थिर नहीं रहने देतीं और वल पूर्वक उसे विषयो मे गिरा देती हैं। चाहे कोई कैसा भी शास्त्र का पण्डित क्यो न हो, यदि परमात्माके ज्ञान से शून्य होतो उसे भी यह इन्द्रियॉ पतन के गर्तमे गिरा देती हैं। जैसे चील पक्षी उड़ता तो है आकाश मे किन्तु मांस का टुकडा देकर पृथ्वी पर गिर पडता है वैसेही अज्ञानी विषयो को देकर गिर पडते हैं। इससे मन सहित इन इन्द्रियों पर ही अधिकार करना चाहिए। मनका सवेदन ही आत्मतत्व से दूर करता है, जब सवेदन दूर होवे तव परमात्मतत्वका साक्षात्कार होता है। तव रूप, अवलोक और मनस्कार सहित जो त्रिपुटी है उसके सव अर्थ की भावना जाती रहती है और केवल आत्मतत्वका ही प्रत्यक्ष भान होता है। हे रामजी! ससार का आदि परमात्मतत्व ही है। वही अन्त भी है। जैसे सुवर्ण को गलाइये तौ भी वह सुवर्ण ही है और न गलाइये तौ भी सुवर्ण ही है ऐसे ही सृष्टिके भावाभाव मे आत्मसत्ताही प्रधान है। सम्यकदर्शी को ऐसाही भासता है। किन्तु अज्ञानी एव असम्यकदर्शी को आत्मसत्ता नही भासती। हे रामजी! यह विश्व आत्माका ही चमत्कार है, वना कुछ नही। उसका चमत्कार ही विश्व होकर स्थित हुआ है। ऐसा ही निश्चय रखने से वासनाओ का अन्त होता है। और जव वासनाओ का अन्त हो जाता है तव चेष्टा स्वाभाविक होने लगती है। अर्थात् तव उसकी चेष्टा उतनी ही होती है कि जितना प्रारब्ध का होना होता है। ऐसी अवस्था मे क्रियाये देखने ही मात्रको होती हैं किन्तु वह हृदय से शून्य होता है। उसे क्रिया कर्म मे कुछ भी अभिमान नहीं होता। जैसे कोई दूध लेनेके लिये दूधका पात्र लेकर ग्वालेके घर जाय और वहॉ दूध मिलने मे देर हो तो ग्वाले से यह कह कर चला आवे कि

जब तक तुम दूध दुहोगे तब तक मैं थोडी देर में आता हू, यह पात्र रखा है, ऐसा कहकर चला जावे और कुछ कार्य करने में लग जाय किन्तु उसका मन दूधमें ही लगा रहता है। वैसेही तत्व ज्ञानी की क्रियायें तो सब कुछ होती है किन्तु उनका मन आत्मपद मे ही लगा रहता है और अहकार नही होता। जबतक अहकार होताहै तबतक जीव की दशा बड़ी ही तुच्छ होती है, उसको केवल अपने शरीरका ही ज्ञान रहता है, वह आत्मअभिमान तो करता है किन्तु ज्ञानसे सर्वथा ही शून्य रहता है। यही जीवके लक्षण हैं। किन्तु इसके आगे मैं जो तुमसे विराट विवेचन कर चुका हू वह ईश्वर है, सबके अन्त.करण का ज्ञाता है, सर्व शरीर है और सबको अपना आप जानने वालाहै। यद्यपि वह विश्वरूप है तथापि अहकार से तुच्छ हो गया है। जैसे घट से घटाकाश होता है वैसही अह के स्फुरण से वह विराट अथवा आत्मसत्ता परिछिन्नता को प्राप्त हुआ है। वह स्फुरण भी दृश्य मे हुआ है और इस प्रकार दृश्य भी स्फुरणमें ही है। आत्मा में बुद्धि आदि का स्फुरणही दृश्य हुआ है। जब अहकार होता है तब आगे इन्द्रियादिक विश्वकी रचना होतीहै। इससे फुरनेही मे दृश्यहै और दृश्य में ही फुरना है। देह और मन आदिक इन्द्रियो मे अहसे जो स्फुरण हुआहै, इसी कारण से इसका जीव नाम पडा। स्फुरण नष्ट हो जावे तो आत्मा का साक्षात्कार होवे। हे रामजी! यह, वह, जीना मरना जो कुछ विकार सयुक्त भासित होता है सब मिथ्या ही है। विचार करने से कुछ नही रहता। जैसे कलक स्तम्भ मे कुछ सार नहीं होता मिथ्या ही है वैसेही यह सब जाग्रत कर्म मिथ्या ही है। हे रामजी! स्वरूपतः कुछ हुआ नहीं और ज्ञानियों को ऐसाही जान पडता है। जब आत्मपद मे जागृत हो जाताहै तब उसके सर्व विकारों का विनाश हो जाता है। किन्तु जो विषयों की ही चिन्ता किया करता है वह बन्ध है, उसकी अभिलाषाये ही उसे दु.ख देती रहती है। हे रामजी! चाहे कोई कितना भी बडा राजा क्यों न होवे यदि उसके हृदय मे अभिलाषा है तो उसे दरिद्रही जानो। किन्तु यदि

कोई भिक्षुकहो, दरिद्रहो और उसे भोजन शयनको भी कोई सुन्दर सुपास न हो और यदि ज्ञानसे पूर्ण होताहै तो वह उस राजासे बढ़कर सुसम्पन्न और सुखी है। उसके आगे चक्रवर्ती सम्राट भी कोई महत्व नहीं रहता। वह क्रिया करता भी है तौ भी कुछ नहीं करता, उसका करना, न करना सब समान है, क्योंकि वह अहंकार रहित है, निराभिमानी है, उसको शुभाशुभ कर्म बाधक नही होते। किन्तु जो अज्ञानी है वह अपने अह वश दु ख पाता है, इससे तुम अहंकार का त्याग कर अपने चैत्य स्वरूप मे स्थित हो जाओ। तभी तुम्हारे सशयो का नाश होगा, अन्यथा नहीं। हे रामजी! जितने जीव हैं, सब ज्ञान स्वरूप ही है परन्तु मूर्ख जो फुरते है इससे भ्रम को प्राप्त हुये हैं, जब अहता शान्त हो तब शान्तरूप होवें। हे रामजी! जहां गुणो और तत्वो का क्षोभ न हो, वह शान्त पद कहलाता है। हे रामजी! उस विराट का मन चन्द्रमा के ही समान निर्मल है और उसी प्रकार सब जीवो का भी मन निर्मल है किन्तु प्रमाद के वश होने से वास्तव रूप नहीं भासता। हे रामजी! जैसे गुलाबकी सुगन्धि सम्पूर्ण वृक्ष मे व्याप्त है परन्तु फूल में ही भासती है वैसे ही चेतन सत्ता समस्त शरीर मे व्याप्त है किन्तु उसका हृदय मे ही भान होता है। हे रामजी! हृदय मे एक त्रिकोण रूप चक्र है। वहा ही अहब्रह्म का उत्थान होता है, वहॉ से ही वृत्तियां फैलकर पंच इन्द्रियो के छिद्र से निकलकर विषयों को ग्रहण करती हैं और वह उन इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष करता है। हे रामजी! इतना कष्ट प्रमाद से ही होता है। किन्तु जब ज्ञान होता है तब ससार-भ्रम नष्ट हो जाता है। हे रामजी! वासना ही ससार का बीज है और वह प्रत्यक्ष ही दिखालाई पड़ता है। जब इसकी अचिन्तना हो और स्वरूप मे अहं न भासे तब संसार भ्रम मिट जावेगा। अहकार के नष्ट होने से ज्ञानी पत्थरकी पुतली की भांति चेष्टा करता है और उसे कुछ स्पर्श नहीं करता। फिर यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि जो पदार्थ सत्य है उसका कभी भी अभाव नही होता किन्तु जो असत्य है वह सत्य भी नही

होता। हे रामजी ! अहकार जो फुरता है वह असत्य है, भ्रम से ही सिद्ध हो रहा है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! यह अहकार रूपी कलङ्क उठा है। जब निरहङ्कार होकर देखोगे तभी मुक्त रूप होवोगे। किन्तु जब तक अहकार रहेगा तब तक बन्धन है। अत: अहकार रहित होकर परम निर्वाण पद को प्राप्त होओ। यही परम भूमिका है। हे रामजी ! अहकार रहित हो जाने पर तुम वैसे ही शोभायमान होवोगे कि जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभायमान होता है। क्योंकि ज्ञानी का चित्त सर्वदा ही उस सत्य-पद आत्मा में ही लगा रहता है और इससे वह अहकार रहित ही रहता है जिस कारण उसके चित्त की चेष्टा फलदायक नहीं होती। जैसे भूना हुआ बीज उगने की शक्ति नहीं रखता, वैसे ही उनको जन्म नहीं लेना पडता। किन्तु अज्ञानी का चित्त जन्म मरण का कारण होता है। इस कारण हे रामजी ! तुम सबसे निराश हो रहो किसी की अभिलाषा न करो और न किसी का सद्भाव करो, पाषाण की नाईं हो रहो। भोग मिथ्या है, इनकी इच्छा मे सुख नहीं है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग।

मङ्की ऋषिका वृतांत।

वशिष्ठ जी बोले– हे रामजी ! यह जो वासना रूपी संसार है इससे तुम वैसे ही तर जावो कि जैसे मङ्की ऋषि तर गये थे। रामजी ने पूछा– हे भगवन् ! वह मङ्की ऋषि कौन थे और उन्होंने कैसे ससार सागर को पार किया था, कृपाकर वह वृतांत बतलाइये। वशिष्ठ जी ने कहा– हे रामजी ! मङ्की ऋषि ने बडा भारी तपकिया था, उनका वृतांत सुनो। एक समय मैं आकाश में अपने गृह में बैठा था कि तुम्हारे पिता महाराजा 'अज' ने मेरा आवाहन किया, तब मैं आकाशसे उतरकर पृथ्वी पर आया तो मार्ग मे मुझे एक बहुत बडा निर्जन वन मिला। यहाँ तक कि उसमे कोई

पशुपत्ती तक दिखाई न पडे और वह वन ऐसा था मानो एकान्त ब्रह्म-स्थान ही है। उसमे एक ओर देखा तो कई योयन पर्यन्त मरुभूमिही दृष्टि आता था। दोपहर का समय था कि मै उसके रेतीले मार्ग में जा पडा। वहां मैनें देखा की धूप की उष्णता से कई वृक्ष दग्द्ध हो रहे हैं और उसी ओर से एक विदेशी मनुष्य चला आ रहा है। जबमै उसके निकट पहुँचा तो उसके मुख से यह शब्द निकलते हुये मैने सुना कि हाय-हाय, मैनें वडा कष्ट पाया है। जैसे किसीको दुष्टोंके कारण घोर कष्ट मिलता है और वे दुःख उस पर दया नहीं करते वैसे ही मुझको इस धूप और मार्ग की कठिनता ने कष्ट दिया है। हा, मुझे अत्यत ही दु·ख मिला है। हे रामजी! इस प्रकार से कहता हुआ वह मेरे साथ चला कि कुछ ही दूर चलने पर धीवरो का एक ग्राम दिखलाई पडा। उसमें केवल पॉच-छ· गृह थे। उस गांव को देखकर वह वहुत शीघ्रता से चला कि वहॉ पहुँचने पर मुझे शीतल जल और छाया मिलेगी कि जिससे मैं सुखी होऊँगा। तव उसे अपना साथ छोडकर शीघ्रता से वढ़ते हुये देखकर मैंने कहा— हे मार्ग के मित्र! तुम साथ छोड़ शीघ्रता से उधर क्यों जा रहे हो। जिसको सुखदायक जानकर उधर दौडते हो वह दुःखकाही देने वाला है। जैसे मरु स्थल मे जल देखकर मूर्ख मृग वहॉ जाता है और जल न पाकर फिर मूर्छित होकर लौटता है, वैसे ही तुम भी वहॉ जाकर सुखी न होवोगे और दु ख ही प्राप्त होगा। हे मार्ग के मित्र! इस ग्राम के जो वासी हैं, इनका साथ तुम कदापि न करना। क्योकि इनका सङ्ग दु·ख रूप है और इनकी चेष्टाये विचार पूर्वक नही होती है। तव जो पुरुष विना विचारके ही चेष्टा करते हैं वे दु·ख को प्राप्त होते हैं। हे मित्र! जव इस ग्राम के वासी स्वयं ही अनाचारसे रहते हैं तव तुम्हें कैसे सुखी कर सकेंगे। यह तो स्वयं ही इन्द्रियों के विषयोकी चिन्तारूपी अग्नि में जल रहे हैं फिर तुम्हारी तप्तता को कैसे शान्त और शीतल कर सकेंगे। हे मित्र! मरु भूमि [illegible] होना अच्छा है, पाषाण का कीडा भी वनकर रहना श्रेय [illegible] के छिद्र मे सर्प होकर रहना

उत्तम है किन्तु इन मूर्खो के साथ मे रहना अच्छा नहीं है कि जो इन्द्रियजन्य विषयों के लिये ही जीते मरते रहते हैं। क्योंकि इन्द्रियों के विषय दु:खदायी और क्षणिक हैं। जब तक इन्द्रियों को विषयों का संयोग है तभी तक वे सुखकर हैं अन्यथा वियोग होते ही महान दु:खदायक हो जाती हैं। इस कारण विषयीजनों की प्रीति भी विषके ही समान दु:खदायक होती है। ऐसों का साथ विचार और बुद्धि को नष्ट कर देता है। ऐसे मूर्खो की सगति से उनके वचन रूपी वायु से वह धूलि उडती है कि उसके निकट बैठने वाले को महा अन्धकार में डाल देती है। इससे इन ग्रामवासी अज्ञानियों का साथ कदापि न करना। मूर्ख विचारवती बुद्धि रूपी सूर्य के आगे बादल के समान आकर घेर लेते हैं जिससे वह बुद्धि महान अन्धकार को प्राप्त हो जाती है। जैसे किसी बेलि वृक्ष पर अग्नि पडतेही वह भस्म हो जाता है वैसे ही इन ग्राम वासियों की सगति वैराग्य को ग्रहण करने वाली बुद्धि का नाश कर देती है। इससे इनका साथ भूलकर भी न करना। इनके साथ से शान्ति कदापि न पाओगे। हे साधो! साथ उनका करना चाहिए कि जिनके साथ हृदय शीतल हो परन्तु ये तो मूर्ख हैं। भला इनके साथ से तुमको क्या सुख प्राप्त होगा। हे रामजी! जब मैंने उससे ऐसा कहा, तब वह मेरे निकट आकर बोला– हे मुनीश्वर! कहो तुम कौन हो, तुम्हारा क्या नाम है। तुम्हारे वचन को सुनकर मुझे बडी शान्ति प्राप्त हुई है। तुम बडे शान्तात्मा प्रतीत होते हो। तुम्हारा दिव्य प्रकाश मुझे बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। तुम आदि पुरुष विराट हो, या कौन हो। तुम्हारे दर्शन से मुझे बडी शान्ति मिल रही है। तुम्हारे समान कोई भी सुन्दर नहीं है। तुम्हारा प्रकाश बड़ा ही शीतल है। सो कहो, तुम कौन हो। तुम विराट हो या क्या हो, मुझे ठीक २ अपना परिचय दो। और यदि मुझसे पूछो कि तुम कौन हो तो मैं माण्डव्य ऋषि के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरा नाम मङ्की है। मैं ब्राह्मण हूँ और तीर्थयात्रा के लिये घर से निकला हूँ। तब घर से चलकर मैं सर्व

दिशाओं में भ्रमता हुआ कितने ही भयानक स्थानों में गया और कई तीर्थों मे भी गया, परन्तु कहीं भी मुझे शान्ति न मिली। अब मैं फिर अपने घर को जा रहा हू। परन्तु हे भगवान्! अब मेरा चित्त तो घर पर भी नहीं लगाता। और घर ही तो क्या कुछ दिनो से मुझे यह संसार ही असत्य सा जान पड़ता है। अब तो मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि यह ससार मिथ्या है और प्रतिदिन नष्ट होरहा है। अब तक मैंने न जाने कितने जन्म पाये हैं और अभी कितने ही पाऊगा। इससे अब मेरा चित्त इस संसार से विरक्त हो रहा है। सो अब तुम्हारे शरणागत हू, मेरा कल्याण करो। आप मुझे कल्याण रूप ही जान पड़ते हो इससे मुझे आपसे बड़ी आशा है, आप मेरा कल्याण करें। हे रामजी! जब ऐसा कह कर वह चुप हो गया तब मैंने उसकी ओर देखकर कहा— हे ब्रह्मन्! मैं ब्राह्मण हूं, मेरा गृह आकाश में है। मुझको राजा अजने स्मरण किया है, अतः मैं उसके पास जा रहा हू। तुम किसी प्रकार का संशय न करो, तुम्हे शीघ्रही ज्ञान प्राप्त होगा। हे रामजी! मेरे ऐसा कहने पर वह मेरे चरणों पर गिर पडा और नेत्रों से जल बहाने लगा। मैंने देखा कि उसका मुख कमल महा आनन्द से खिल उठा है। तब मैंने फिर कहा कि हे ब्रह्मन्! तू सशय न कर। अब मैं तुझे शान्ति देकर ही तेरे साथ से पृथक होऊंगा। तुझे जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछ। मैं तुझे उपदेश करने के लिये पूर्णरूप से तयार हूँ। क्योंकि मैं देखता हूँ तो अब तेरे कषाय परिपक्व हो गये हैं, इससे तू मेरे वचनो का पूर्ण अधिकारी है। और मैं तुझको उपदेश करूँगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अट्ठाईसवा सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥



उन्तीसवाँ सर्ग ।

मद्गी वैराग-योग वर्णन ।

हे रामजी ! मेरे ऐसा कहने पर मद्गी ऋषि ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा कि हे-भगवन् ! अब मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मेरा अभीष्ट पूर्ण होवेगा-मुझको अज्ञात से ही मोह उत्पन्न हुआ था सो अब उसको नष्ट करने के लिये आप सूर्य-रूपसे उदय हुये हे । हे भगवन् ! इस ससार में सार कुछ भी नहीं हैं। फिर भी लोग विपयों की ही ओर दौड रहे हैं । यही कारण है जो वे इतने दुखी है । और हे मुनीश्वर ! मेरी बुद्धि भी निकृष्ट मार्ग को ही जाती है। किन्तु यह जितने भोग हैं उन सभी को मैंने भोग लिया है परन्तु फिर भी शान्ति नही मिलती और तृष्णा बढती ही जाती है। जैसे प्यास लगे और खारा जल पी लेवे तो प्यास नहीं बुझती बल्कि बढती ही जाती है, उसी प्रकार मेरी तृष्णा बढ़ती ही जा रहीहै । हे मुने ! मैं देखता हू तो शरीर जर्जर हो गया है, दांतों ने जवाब ददिया है और उत्तरोत्तर क्षोभ भी बढ़ता ही जाता है किन्तु यह तृष्णा नहीं घटती है । क्योंकि ससार के जितने सुख हैं सब दु:ख रूप ही हैं। इनमें रचमात्रभी सुख नहीं मिलता । इससे मैं दु:खही चाहता हू। हे मुनीश्वर ! सबको अपनी वासना ही कष्टदेरही है और वासना ही प्रत्येक को बांधती है । परन्तु जीवको यह वैताल तभी तक भासता है कि जब तक ज्ञानरूपी सूर्य उदय नहीं होता। ज्ञान के उदय होते ही वासना की यह रात्रि नष्टहो जाती है और तब इस अहकारी वैताल का पता नहीं लगता । हे मुनीश्वर ! संतोंका साथ और सत् शास्त्रों का अभ्यास ही इस वैताल को भगा सकता है, दूसरा नहीं । क्योंकि यह वासनारूपी काली रात्रि है और सन्तजनों का उपदेश चाँदनी रात्रि है। तब जब उनके उपदेश से अज्ञान नष्टहोजाता है तब आत्म-दर्शन होता है और वहाँ दर्शन सूर्यरूप है । किन्तु कुछ ऐसे भी पुरुप

है कि जो सत्सङ्ग और सत्शास्त्र निरूपण भी करते हैं और साथ ही साथ अपनी वासनाओ को भी चलाते रहते हैं, मैं ऐसे पुरुषो को बड़ा अभागा समझता हू। किन्तु अब मैं तो आपकी शरण मे आ गया हू। मैंने मन, शरीर, और वाणी इन तीनो का तप कर लिया है अर्थात् इन तीनो को वशमे कर लिया है परन्तु दीर्घकाल तक ऐसा करने पर भी मुझे आत्म-प्रकाश नहीं प्राप्त हुआ। सो आशा है कि अब आपकी शरण मे आने से मुझे वह मार्ग प्राप्त हो जायगा कि जिसको पाकर मैं फिर बन्धन मे न पड़ूगा। अतः आप कृपाकर मुझे वही उपदेश करे कि जिससे मेरे हृदय का अन्धकार नष्ट होजावे।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

तीसवां सर्ग।

मङ्की-प्रबोध-वर्णन

मङ्की ऋषि के ऐसा कहने पर वशिष्ठ जी बोले—हे तपस्वी! वासना, भावना, कलना और सवेदन ये चारों ही अनर्थ की जड हैं। जब ये नहीं रहते तभी पुरुष का कल्याण होता है। देखो, चिन्मात्रपद अपने आपमे ही स्थित है। तब उसमें जो अहंकार का उत्थान होता है वही संवेदन है। और भावना उसे कहते हैं कि जो पहले स्वय तो कुछ बन जाता है और फिर चेतकर वही चित्त हो जाता है। जब चित्त वैसाही बन गया तब वह उसीकी भावना करने लगता है और तब कहता है कि 'यह मैं हूं और इससे ही संसार मे मेरा विकाश होवेगा अथवा इससे ही संसार होता है। फिर तो वैसीही भावना दृढ़ हो जाती है और तब वह अपने शरीर के अनुसार ही नाना प्रकार के सकल्प विकल्प उठाने लगता है। हे ब्रह्मन्! इस प्रकार ये चारो ही अनर्थ के कारण है। जब इनका ज्ञान होवे तब कल्याण होता है। जितने शब्द है,सबका अधिष्ठान प्रत्येक चैतन्य मे विद्यमान है। वही सब कुछ है और सब कुछ एक उसीके ही

उन्तीसवाँ सर्ग ।

मङ्की वैराग-योग वर्णन ।

हे रामजी ! मेरे ऐसा कहने पर मङ्की ऋषि ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा कि हे-भगवन् ! अब मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मेरा अभीष्ट पूर्ण होवेगा—मुझको अज्ञात से ही मोह उत्पन्न हुआ था सो अब उसको नष्ट करने के लिये आप सूर्य रूपसे उदय हुये हैं। हे भगवन् ! इस ससार में सार कुछ भी नहीं हैं। फिर भी लोग विषयो की ही ओर दौड रहे हैं। यही कारण है जो वे इतने दुखी है। और हे मुनीश्वर ! मेरी बुद्धि भी निकृष्ट मार्ग को ही जाती है। किन्तु यह जितने भोग हैं उन सभी को मैंने भोग लिया है परन्तु फिर भी शान्ति नहीं मिलती और तृष्णा बढ़ती ही जाती है। जैसे प्यास लगे और खारा जल पी लेवे तो प्यास नहीं बुझती बल्कि बढती ही जाती है, उसी प्रकार मेरी तृष्णा बढ़ती ही जा रहीहै। हे मुने ! मैं देखता हू तो शरीर जर्जर हो गया है, दांतों ने जबाव ददिया है और उत्तरोत्तर क्षोभ भी बढ़ता ही जाता है किन्तु यह तृष्णा नहीं घटती है। क्योंकि ससार के जितने सुख हैं सब दुःख रूप ही हैं। इनमें रत्तमात्रभी सुख नही मिलता। इससे मैं दु खही चाहता हू। हे मुनीश्वर ! सबको अपनी वासना ही कष्ट देरही है और वासना ही प्रत्येक को बांधती है। परन्तु जीवको यह बैताल तभी तक भासता है कि जब तक ज्ञानरूपी सूर्य उदय नहीं होता। ज्ञान के उदय होते ही वासना की यह रात्रि नष्टहो जाती है और तब इस अहकारी बैताल का पता नहीं लगता। हे मुनीश्वर ! सतोंका साथ और सत् शास्त्रों का अभ्यास ही इस बैताल को भगा सकता है, दूसरा नहीं। क्योंकि यह वासनारूपी काली रात्रि है और सन्तजनों का उपदेश चाँदनी रात्रि है। तब जब उनके उपदेश से अज्ञान नष्टहोजाता है तब आत्म-दर्शन होता है और वही दर्शन सूर्यरूप है। किन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष

जाग्रत की त्रिपुटी भी आत्मस्वरूप ही है। इस प्रकार स्थावर जंगम सहित यह सारे पदार्थ आत्मस्वरूपही है। यदि ये परमात्मरूप न होते तो भासते ही नही। अनुभव करनेवाला द्रष्टाही एक अद्वैतरूप है, उसके प्रमाद से ही भिन्न २ त्रिपुटियो का भान होता है, जैसे स्वप्न-त्रिपुटी अपने अनुभव से ही भासित होती है और अनुभव न होतो न भासे, वैसेही यह त्रिपुटी भी अनुभवतिक आत्मा सेही भासती है और इस प्रकार सबकी एकता उस परमार्थ स्वरूपसे ही होरही है। हे मुने! सजातीय सभी वस्तुये आपस मे मिल जाती है। जैसे एक रूप होने से जलकी बूंद जलमे मिलजाती है, क्योंकि एक रूप है, और जैसे स्पद और निस्पंद दोनो एकही वायुरूप है, जल और तरङ्ग मे भेद नहीं है, वैसेही यह सारा विश्व परमार्थ स्वरूपही है, इसमे कुछ भेद नहीं है। हे मह्र्षि ऋपि! अहं के पश्चात् मम होता ही है, अहं न होतो मम कहा से होवेगा। अस्तु! अहका होनाही वन्धन है और इससे रहित होना ही मोत्त है। तव भला केवल यह धारण करलेने मे क्या यत्न है? यह तो अपने अधीन की ही वात है। जव इस प्रकार से अहकार को निवृत्त कर लोगे तव वही शेप रहेगा कि जा अपना आप परमार्थ स्वरूप है। उसी को ब्रह्म कहते है। जव अहंकार नही रहता तव वही शेप रहता है कि जो सभी का ब्रह्मरूप और परमार्थस्वरूप है। हे मुने! अहंकार ही नाना प्रकार की वासनाओं को उत्पन्न करता है। और फिर उन्ही वासनाओ के अनुसार जीव अनेक जन्म पाता है कि जो वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे वायु से तृण भटकते फिरते है वैसेही वासना वश यह जीव भटका करता है। अस्तु! वासना ही जीवको घटीयंत्रकी नाई कभी नीचे और कभी ऊपरको ले जाती है। जैसे मिट्टीही घटादिक रूप होकर भासती है, वैसे ही आत्मसत्ता ही जगतरूप होकर भासती है—इससे आत्मासे भिन्न कुछ वस्तु नही है। आत्मा अद्वैत और सारे दृश्य बोध-मात्रही हैं। हे साधो! जो जड है वह चेतन नहीं होता। न कोई जड है न कोई चेतन। चैतन्य आत्माही भावनासे जड़रूप दृश्य होकर भारहा

आश्रित रहता है। हे ब्रह्मन्! जब तुझे ऐसा प्रतीत होगा तभी तू कल्याण पदको प्राप्त कर सकेगा, अन्यथा नही। अहं वेदना का स्फुरण हुआ नही कि झट संसार भास आता है। जैसे वसन्त ऋतु के आतेही लताये प्रफुल्लित होजाती हैं, वैसेही जब सवेदन मे स्फुरण होता है तब ससार भी फुर जाता है। और इस प्रकार जगत का अकुर प्रकट हुआ नहीं कि वासनाये भी फुरने लग जाती हैं और संसार का मिटना असभव हो जाता है। बस, इसी प्रकार से जो संसरण हुआ उसेही ससार कहा जाता है। ससरना मिटे तो आत्मपद का दर्शन होवे। फिर तो वह अपना आप रह जाता है और इस प्रकार जो स्फुरण रहित है वही तुम्हारा अपना आप रूप है। तुम उसी अपने आपमें स्थित हो रहो। जब तक वासना फुरती है तभी तक ससार रहता है। वासनाओ का अन्त कर देने से ससार का भी अन्त हो जाता है। हे पुत्र! आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं, वह केवल परमार्थसत्ता ही है, जैसे रस्सी मे सर्प कुछ वस्तु नहीं है, रस्सी की अज्ञानता मे ही सर्प भासित होताहै वैसेही आत्मा के अज्ञान से ससार भासता है। जब तुझे आत्मपदका ज्ञान होवेगा तब परमार्थसत्ता ही भासित होगी। जैसे अज्ञानी बालक को अपनी छाया ही वैताल के रूपमे भासती और भय देती है और जब वह बडा हो जाता है तब भूत कोई नहीं, वह निडर हो जाता है,वैसे ही जब आत्मज्ञान हो जाता है तब वासनाओं सहित सारे जगत का अभाव हो जाता है। हे पुत्र! जैसे घडे आदिमें मिट्टी के सिवा भिन्न कुछ नहीं है वैसे ही सारे प्रपञ्चो में चिन्मात्र के सिवा और कुछ नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है। और जो आत्मा से भिन्न भासता है वह भ्रम मात्रही है। जैसे आकाश मे नीलता भासती है पर नीलता है नहीं और नीलापन भ्रममात्रही है वैसेही यह सारा विश्व असम्यक दृष्टि से ही भासता है, सम्यक दृष्टिसे तो यह सारा प्रपञ्च आत्म-स्वरूपही है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भी बोध-स्वरूपही हैं। जैसे स्वप्न कालमें एकही अनुभव त्रिपुटीरूप होकर भासता है वैसेही यह

जाग्रत की त्रिपुटी भी आत्मस्वरूप ही है। इस प्रकार स्थावर जंगम सहित यह सारे पदार्थ आत्मस्वरूपही है। यदि ये परमात्मरूप न होते तो भासते ही नही। अनुभव करनेवाला द्रष्टाही एक अद्वैतरूप है, उसके प्रमाद से ही भिन्न २ त्रिपुटियो का भान होता है, जैसे स्वप्न-त्रिपुटी अपने अनुभव से ही भासित होती है और अनुभव न होतो न भासे, वैसेही यह त्रिपुटी भी अनुभवतिक आत्मा सेही भासती है और इस प्रकार सबकी एकता उस परमार्थ स्वरूपसे ही होरही है। हे मुने! सजातीय सभी वस्तुये आपस मे मिल जाती है। जैसे एक रूप होने से जलकी बूंद जलमे मिलजाती है, क्योकि एक रूप है, और जैसे स्पद और निस्पंद दोनो एकही वायुरूप है, जल और तरङ्ग मे भेद नहीं है, वैसेही यह सारा विश्व परमार्थ स्वरूपही है, इसमे कुछ भेद नहीं है। हे मङ्की ऋषि! अहं के पश्चात् मम होता ही है, अहं न होतो मम कहां से होवेगा। अस्तु! अहंका होनाही बन्धन है और इससे रहित होना ही मोक्ष है। तब भला केवल यह धारण करलेने मे क्या यत्न है? यह तो अपने अधीन की ही बात है। जब इस प्रकार से अहकार को निवृत्त कर लोगे तब वही शेष रहेगा कि जो अपना आप परमार्थ स्वरूप है। उसी को ब्रह्म कहते हैं। जब अहकार नहीं रहता तब वही शेष रहता है कि जो सभी का ब्रह्मरूप और परमार्थस्वरूप है। हे मुने! अहकार ही नाना प्रकार की वासनाओ को उत्पन्न करता है। और फिर उन्हीं वासनाओ के अनुसार जिव अनेक जन्म पाता है कि जो वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे वायु से तृण भटकते फिरते हैं वैसेही वासना वश यह जीव भटका करता है। अस्तु! वासना ही जीवको घटीयत्रकी नाई कभी नीचे और कभी ऊपरको ले जाती है। जैसे मिट्टीही घटादिक रूप होकर भासती है, वैसे ही आत्मसत्ता ही जगतरूप होकर भासती है—इससे आत्मासे भिन्न कुछ वस्तु नही है। आत्मा अद्वैत और सारे दृश्य बोध-मात्रही हैं। हे साधो! जो जड है वह चेतन नहीं होता। न कोई जड है न कोई चेतन। चैतन्य आत्माही भावनासे जडरूप दृश्य होकर भारहा

है और वही ज्ञानसे अद्वैतरूप हो जाता है इससे सबकुछ वही है, भिन्न कुछ नही बना। हे मुनीश्वर! अज्ञान से ही यह नाना प्रकार का जगत भासता है। जैसे मेघकी वर्षासे ही नाना प्रकारके बीज उठ खड़े होते हैं, वैसेही अहरूपी बीजसे साररूपी वृक्ष वासना मुखसे प्रफुल्लित होता है। जब इस अहकाररूपी वृक्षका नाश होवे तब मनुष्य प्रफुल्लित हो जाता है। अन्यथा वासनाओ के प्रहारसे तो अध और उर्द्धको जाता हुआ आवागमन के चक्रमे पडाही रहता है और कभी स्थिर नहीं होता। इससे वासनाओ का अतकर तुम आत्मपदमें स्थित होरहो।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण उत्तरार्द्ध का तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवां सर्ग।

मन्की निर्वाणता।

वशिष्ठ जी बोले– हे रामजी! यह ससार का मार्ग बड़ा ही कटकाकीर्ण है। इसमे पड कर जीव अनेक कष्ट उठाते हैं। चैतन्यवृत्ति मे जो ससरण हुआ है, वही ससार है। जब संसरना मिटे तब स्वच्छ अपना आपही भासता है। जब चेतना वृत्ति बहिर्मुख होकर फुरती है तब इसका नाम बन्ध है, अन्य कोई बन्ध नहीं कहलाता। हे साधो! जैसे बसन्त ऋतु से वन फूलता है वैसे ही वासना से ही जगत विस्तरित हो रहा है। किन्तु है यह महान आश्चर्य, वासना मिथ्या है फिर भी वह जीवों को भटका रही है। इस पिशाचिनी के फेर मे पडकर ही जीव आवागमन के कष्टों को भोग रहे हैं। किन्तु जिन्होने इस वासनारूप ससार को पार कर दिया है, वे धन्य हैं और वही प्रत्यक्ष चन्द्रमा के समान अमृतरूप, शीतल और शुभ प्रकाशमान होते हैं। ऐसा ही पुरुष सबको प्रसन्न करता है और वही ज्ञानी है। हे अङ्ग! तू भी धन्य है कि तुझे आत्मपद की इच्छा प्राप्त हुई है। अन्यथा इस ससार को तो तृष्णा जला ही रही है। हे अङ्ग! यह तृष्णा बिल्ली है। जैसे बिल्ली

चूहे को ग्रहण कर लेती है, वैसे ही ही यह तृष्णा भी जीवो को भक्षण कर लेती है। अन्यथा यह शरीर-पुरुषार्थ करने के लिये प्राप्त हुआ है। पुरुषार्थ द्वारा यदि आत्मपद को न प्राप्त किया तो जानो कुछ नहीं प्राप्त किया। वह पशु है। ऐसे पशुधर्मा मनुष्य तो मरते समय तक तृष्णा किया ही करते हैं। हे साधो! ब्रह्म लोक से लेकर काष्ठ पर्यन्त इन्द्रियो के जितने भी विषय है यदि वे सभी प्राप्त हो जावे तौ भी इस जीव को शान्ति नही प्राप्त होती। क्योकि ये सभी भोग आपातरमणीय ही है। इनमे सुख कदापि नहीं मिलता। परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसे ही शीतल और प्रकाशमान होते हैं कि जैसे चन्द्रमा मे शीतलता और सूर्य मे प्रकाश होता है। उन्हे विषयों की तृष्णा कदाचित भी नहीं होती। वे उस अमृत रस से सर्वदा ही शीतल बने रहते है और उन्हे किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती। इस कारण तुम भी बासनाओ का त्याग कर दो। हे साधो! बासना का बीज अहकार है। जब अहकार फुरता है तब उसके आगे ससार फुर आता है। जैसे जेवरी में सर्प फुर आता है और वह भ्रममात्र ही है, वैसेही आत्मा मे अहकार फुर आता है, यद्यपि वह असत्य है और उसका अभाव हो जावे तो सारे भय आपही आप शान्त हो जाते हैं। किन्तु जब अहकार की उत्पत्ति होती है तब स्त्री, कुटुम्ब और धन आदिक उत्पन्न होकर मनुष्य को बन्धन मे डाल देते हैं। और इनकी चमक वैसेही क्षणस्थायी है कि जैसे बिजली का चमत्कार क्षण में उदय होकर तुरत ही नष्ट हो जाता है। इस कारण इनमें कदापि भी बन्ध्यायमान न होवे। इस प्रकार जब अपने आपको अभाव रूप जान लेवे तब परम शान्त रूप आत्मा ही शेष रहता है कि जिसकी अपेक्षा से चन्द्रमा भी अग्नि के समान जान पड़ता है। वह सत्ता परम शून्य और आकाश के समान ही निर्मल है। हे साधो! तुम मेरे इन वचनो को धारण करलो तो मोह मिट जावेगा। जगत का कुछ भी अस्तित्व नही है। आत्मा के प्रमाद से ही यह भासित

हा रहा है। इससे यह भ्रममात्र ही है और असम्यक दृष्टि के कारण ही यह जगत भास रहा है। सम्यक दर्शन से परमार्थ सत्ता ही भासती है। जिसके अज्ञान से ही विश्व भासता है उसीको ज्ञानीजन ब्रह्म कहते हैं और उस ब्रह्म शब्द मे जो अहं का भाव उत्पन्न हुआ है वहां जानो ज्ञान की नष्टता हो गई है। परन्तु सब का अधिष्ठानरूप एक वह 'ब्रह्म' ही है, वही सबको परमार्थरूप से देखता है। तुम उसीमे एकाकी भाव से दृढ होजाओ। वह सबकी परमार्थ सत्ताही एक ब्रह्मपद है और वही अजन्मा, अच्युत, आनन्द, शान्तरूप, निर्विकल्प, अद्वैत और वही सबका अधिष्ठान है। जब उस आत्म-सत्ता मे भिन्न कुछ भी न फुरे तब जानो कि बोध प्राप्त होगया। हे साधो! यह सारे पदार्थ दुःख के ही देने वाले हैं, इनके जितने भी शब्द अर्थ हैं सब आकाश कुसुम के ही समान है, इससे तू इनके लिये कदापि भी शोक न करे क्योकि सब कुछ तो परमार्थसत्ता ही है। जैसे पुरुष निराकार है किन्तु उसकी भावना से ही अङ्ग का सयोग होता है वैसे ही विश्व भी इसी की भावनासे होता है। जैसी-जैसी भावना करता है वैसाही वैसा रूप आगे भासता है। हे साधो! साधनाओं से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। विश्व ही उपादान है और वह शब्द ही है। आत्मा अद्वैत और अचिन्त्य है, इसीसे विश्व स्वप्न के समान फुरा है। जैसे स्वप्न-सृष्टि निरुपादान होती है, वैसे ही यह जाग्रत-सृष्टि भी उपादान रहित होती है। हे साधो! आत्मा अच्युत है। जैसे बिना भीत का चित्र नहीं होता, वैसे ही यह विश्व आकाशवत है। इसी प्रकार यह आत्मा अकर्ता और यह विश्व जो दिखलाई पडता है सो उपादान रहित है। तब फिर इसके लिये हर्ष और शोक कैसा? यह सारा प्रपच आत्मस्वरूप ही है। प्रमाद से कुछ नहीं जाना जाता। हे रामजी! ऐसे ही उपदेश से मङ्की ऋषि निर्वाण पद को प्राप्त हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकण उत्तरार्द्ध का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग ।

स्वाभाविकयोगोपदेश वर्णन ।

वशिष्ठ जी बोले– हे रामजी ! इस प्रकार से जिस पुरुष ने समाधान रूपी वृक्ष के फल को खाकर पचा लिया है जानो वह परम स्थिति को प्राप्त हो गया है । जैसे पख टूटे पर्वत स्थित हो गये हैं वैसे ही वह जीव तृष्णारूपी पखो के टूट जाने से स्थित हो जाता है । हे रामजी ! तब उसको चित्त का लेश नहीं रहता और वह आत्मरूप हो जाता है । जैसे निर्वाण हुये दीपक के प्रकाशका पता नहीं लगता कि वह कहां चला गया वैसे ही आत्मपद के प्राप्त होने से चित्त का सर्वथा ही लोप हो जाता है । किन्तु इस जीव को जब तक आत्मानन्द पद प्राप्त नही होता तब तक इसे उस अकृत्रिम पद में शान्ति नही मिलती । परन्तु ज्योंही जीवको उस पद मे स्थिति प्राप्त हो जाती है त्योंही परम समाधि मिल जाती है । तब जीव की सारी चेष्टायें इच्छा रहित हो जाती हैं और तब इस त्रैलोक्य में ऐसा कोई भी नहीं मिलता कि जो उसे उस महान पद से उतार लेवे । तब वह मानो किसी चित्र-मूर्ति के ही समान अचल भाव से स्थित हो जाता है और मन अमन होकर वह सर्वथा ही शान्तपद को प्राप्त हो जाता है । हे रामजी ! यह मन वासना संयुक्त ही है और वासना युक्त को ही मन कहते हैं । अस्तु ! जिस प्रकार से वासना नष्ट होवे, वही कर्तव्य करना चाहिये । क्योकि जब तक वासना नष्ट नहीं होती तब तक उस शान्ति पद का दर्शन नही होता । अतएव, जिस क्रम से वह प्राप्त होवे वही करना चाहिये । बिना उस पद को प्राप्त हुये शान्ति कहां ? वही एक ऐसा उत्तम पद है कि जिसकी ओर जाने से दुःखों का सर्वथा ही अभाव हो जाता है । क्योंकि वह पद अविनाशी, निर्विभाग, अनन्त और परम शान्तिरूप तथा वही सर्व को शुभाशुभ कर्मो का फल देने वाला है। जब इस जीव को एक

बार उस पद का दर्शन हो जाता है तब उसे उत्थान काल में भी आत्मा का ही भान होता है और द्वैत नहीं भासता तथा फिर वह चाहे जिस किसी प्रकार रहे उसकी समाधि अवस्था भंग नही होती और तब किसी में भी ऐसी शक्ति नही है कि कोई उसे विचलित कर सके। विषयों की तो बात ही क्या है फिर, तो उसे देवता भी समाधि पद स वचित नहीं कर सकते, फिर तो उसके लिये ससार विरस हो जाता है और वह सर्वदा ही समाधि मे ही लगा रहता है। जैसे वर्षा काल की नदिया स्वभावत: ही समुद्र की ओर जाती हैं वैसे ही वह सर्वदा ही समाधि की ओर लगा रहता है। उसके लिये ससार विरस हो जाता है और वह प्रति चण अपनी आत्मा मे ही क्रीड़ित रहता है। चाहे कहीं कुछ भी क्यो न होवे उसका ध्यान किसी दूसरी ओर कदापि नहीं जाता। वह ऐसा आत्मारामी हो जाता है कि उसका शरीर वज्र के समान हो जाता है, वह विषयो से सर्वथा ही निरीच्छित हो जाता है। तब उसे कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी नही रहता। ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उसके लिये सब कुछ सार रहित हो जाते हैं। उनको सकल्प कुछ भी नही होता। वे सर्वदा ही मुक्त रूप नहीं होते हैं, उन्हें क्रियाये नही बाध सकतीं और उन्हें साधनाओं का बन्धन नही होता। तब वे चाहे कोई साधना करे या न करें यह उनकी इच्छा पर निर्भर है तब उन्हें क्या दु ख होगा। उन्हें विषयो की तृष्णा तो तब होवे कि जब कुछ इच्छा हो। जब उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है तब इच्छा किसकी? फिर भला उन्हे कोई भी पदार्थ रस सयुक्त कैसे भासते हैं। निर्वाणता तो आदि और अन्त से सर्वथा ही रहित है। वेदाध्ययन करते हुये उसे प्राप्त कर लिया जाता है। प्रणवका जाप करने से भी उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार करने से समाधि पद प्राप्त हो जाता है। और ऐसा करते हुये भी जब समाधि टूट जावे तब फिर वही पाठ करने लगे अर्थात् तब फिर या तो वेदाध्ययन करे और या प्रणव का जाप ही करे। जब इस प्रकार से दृढाभ्यास करेगा तब फिर उसको समाधि

अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसा करने से अभ्यासी आवागमन से छूट कर उस पद को प्राप्त करलेता है कि जो सर्वथाही शान्तरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तैंतीसवाँ सर्ग।

सर्व-सत्ता-प्रदिपादन।

हे रामजी! इस ससार की गभीरता को कहाँ तक कहें, इसको पार करना अत्यंत ही कठिन है। प्रणव के जाप और वेदाध्ययन से ही इससे छुटकारा मिलता है। जब ऐसा उपाय करे तब चित्त स्थित हो जाता है। तब चित्त के स्थित होने से ही परमात्मा प्रसन्न होते हैं और तभी हृदयमें ज्ञान का कण उत्पन्न होता है और जब हृदय में ज्ञान का उदय हो जाता है और सत्य असत्य जान पड़ता है और सन्तो का साथ मिल जाता है, तब उनके सत्संग और शुभाचार से परम शीलता प्राप्त हो जाती है। फिर तो जगत के सारे रागद्वेष मिट जाते हैं और वह अपने शुभ आचार और कीर्ति को फैलाता हुआ ससारमे सुशोभित हो जाता है। सन्तों के साथ से वह ऐसे ही शीतल हो जाता है कि जैसे चन्द्रमा से शीतलता प्राप्त होती है। सन्तों का दर्शन पापका नाशक है। किन्तु कैसे सन्त? जो निष्काम हों, जो आत्मारामी हों। सकाम यज्ञ कर्म और व्रत करने वालो की तो संगति ही न करनी चाहिये। वे तो वैसे ही निस्सार और व्यर्थ हैं कि जैसे यज्ञका स्तम्भ पवित्र होते हुये भी निस्सार होता है और उसके नीचे बैठ कर कोई भी सुख और छाया नहीं पाता, उनके समस्त साधन आवागमन मे ही रखने वाले हैं। यद्यपि आत्मारामी पुरुष भी यज्ञ, तप और व्रतादिक को करते हैं किन्तु उनके सभी कर्म निष्काम होते हैं, इसलिये उनका कर्म आवागमन में रखने वाला नही होता। अस्तु! तुम ऐसे ही जिज्ञासुओं का

वार उस पद का दर्शन हो जाता है तब उसे उत्थान काल में भी आत्मा का ही भान होता है और द्वैत नहीं भासता तथा फिर वह चाहे जिस किसी प्रकार रहे उसकी समाधि अवस्था भग नहीं होती और तब किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि कोई उसे विचलित कर सके। विषयों की तो बात ही क्या है फिर, तो उसे देवता भी समाधिपद स वचित नहीं कर सकते, फिर तो उसके लिये ससार विरस हो जाता है और वह सर्वदा ही समाधि मे ही लगा रहता है। जैसे वर्षा काल की नदिया स्वभावत' ही समुद्र की ओर जाती हैं वैसे ही वह सर्वदा ही समाधि की ओर लगा रहता है। उसके लिये ससार विरस हो जाता है और वह प्रति क्षण अपनी आत्मा में ही क्रीड़ित रहता है। चाहे कहीं कुछ भी क्यो न होवे उसका ध्यान किसी दूसरी ओर कदापि नहीं जाता। वह ऐसा आत्मारामी हो जाता है कि उसका शरीर वज्र के समान हो जाता है, वह विषयो से सर्वथा ही निरीच्छित हो जाता है। तब उसे कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी नहीं रहता। ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उसके लिये सब कुछ सार रहित हो जाते हैं। उनको सकल्प कुछ भी नहीं होता। वे सर्वदा ही मुक्त रूप नहीं होते हैं, उन्हें क्रियाये नहीं बाध सकतीं और उन्हें साधनाओं का बन्धन नहीं होता। तब वे चाहे कोई साधना करे या न करें यह उनकी इच्छा पर निर्भर है तब उन्हें क्या दु ख होगा। उन्हें विषयों की तृष्णा तो तब होवे कि जब कुछ इच्छा हो। जब उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है तब इच्छा किसकी? फिर भला उन्हे कोई भी पदार्थ रस सयुक्त कैसे भासते हैं। निर्वाणता तो आदि और अन्त से सर्वथा ही रहित है। वेदाध्ययन करते हुये उसे प्राप्त कर लिया जाता है। प्रणव का जाप करने से भी उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार करने से समाधि पद प्राप्त हो जाता है। और ऐसा करते हुये भी जब समाधि टूट जावे तब फिर वही पाठ करने लगे अर्थात् तब फिर या तो वेदाध्ययन करे और या प्रणव का जाप ही करे। जब इस प्रकार से दृढ़ाभ्यास करेगा तब फिर उसको समाधि

अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसा करने से अभ्यासी आवागमन से छूट कर उस पद को प्राप्त करलेता है कि जो सर्वथाही शान्तरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तैंतीसवाँ सर्ग।

सर्व-सत्ता-प्रतिपादन।

हे रामजी! इस संसार की गंभीरता को कहाँ तक कहें, इसको पार करना अत्यंत ही कठिन है। प्रणव के जाप और वेदाध्ययन से ही इससे छुटकारा मिलता है। जब ऐसा उपाय करे तब चित्त स्थित हो जाता है। तब चित्त के स्थित होने से ही परमात्मा प्रसन्न होते हैं और तभी हृदयमें ज्ञान का कण उत्पन्न होता है और जब हृदय में ज्ञान का उदय हो जाता है और सत्य असत्य जान पड़ता है और सन्तो का साथ मिल जाता है, तब उनके सत्संग और शुभाचार से परम शीतलता प्राप्त हो जाती है। फिर तो जगत के सारे रागद्वेष मिट जाते हैं और वह अपने शुभ आचार और कीर्ति को फैलाता हुआ संसारमे सुशोभित हो जाता है। सन्तों के साथ से वह ऐसे ही शीतल हो जाता है कि जैसे चन्द्रमा से शीतलता प्राप्त होती है। सन्तों का दर्शन पापका नाशक है। किन्तु कैसे सन्त? जो निष्काम हों, जो आत्मारामी हों। सकाम यज्ञ कर्म और व्रत करने वालो की तो संगति ही न करनी चाहिये। वे तो वैसे ही निस्सार और व्यर्थ हैं कि जैसे यज्ञका स्तम्भ पवित्र होते हुये भी निस्सार होता है और उसके नीचे बैठ कर कोई भी सुख और छाया नहीं पाता, उनके समस्त साधन आवागमन मे ही रखने वाले हैं। यद्यपि आत्मारामी पुरुष भी यज्ञ, तप और व्रतादिक को करते हैं किन्तु उनके सभी कर्म निष्काम होते हैं, इसलिये उनका कर्म आवागमन मे रखने वाला नहीं होता। अस्तु! तुम ऐसे ही जिज्ञासुओं का

सग करो। क्योकि वे ही विपेश हैं। उन्हींकी चेष्टाये वन्दनीन हैं और वही सबको सुख देनेवाले हैं। ऐसे जिज्ञासु नवनीतके ही समान सुन्दर कोमल और स्निग्द्ध होते हैं। उनके साथ से जितना भी अधिक सुख मिलता है उससे भी अधिक सुख पुष्प शैय्या और ऐसे किसी भी निर्भीक विषय से नहीं मिलता। जब ऐसे ज्ञानियों की सगति से सुख प्राप्त होवे तब जानो कि आत्मतत्व प्राप्त होगया किन्तु हृदय में जब तक मलिनताका वास है तब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती। परन्तु ज्योंही उस प्रकार से विवेक प्राप्त होगया अथवा ज्ञान दृढ़ होगया कि त्योंही जीवको परमपद प्राप्त हो जाता है। वह पद चैत्यसे रहित और चैतन्य घन है। जब इस प्रकार से जीव शुद्ध चैतन्य मे चैतन्योमुखत्व होता है तब उसकी शरीर में मनोमात्र शरीर धारण करने की शक्ति आजाती है, वही मनोमात्र शरीरही अन्तवाहक शरीर कहा जाताहै। और आधिभौतिक वहहै कि जिस शरीरमें वासनाओं की दृढ़ता भासती है। इसीका प्रतीत होना अनर्थका कारण है। यह आधिभौतिक शरीर जो कुछ भी चेतता है, उससे अनर्थकी ही प्राप्ति होती है। मैं और मेरा आदिक क्या है, यही जगत है और आधिभौतिक शरीर में यही सब भासता है, किन्तु मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हू कि तुम अन्तवाहकरूपी चेतनासे भी रहित अपने बोध स्वरूपमेंही स्थित हो जावो। मनने ही जगत् को उत्पन्न किया है। इससे मन और जगत दोनोंही मिथ्या हैं। हे रामजी! इन दोनों के समान ही शून्य रूपभी है। परन्तु यह भी मिथ्याही है। इसका भी अभाव कर देना चाहिये। इस प्रकार जब ये तीनो ही अस्त हो जाते हैं तब बोधमात्र चेतन उत्पन्न होता है। हे रामजी! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य भी भावना-मात्रही हैं। इनके रहनसे ही जगत भासता है। क्योंकि अहन्ताही इसकी उत्पत्तिका कारण है। अहन्ता न होवे तो जगतभी नहीं रहता। किन्तु जबतक वासनाये उठती हैं तब तक मनमे शान्ति नहीं होती। जैसे चालोंको घुमावे तो वह बल खाता जाता है और ज्योंही घुमाना

छोड़े कि फिर उसकी ऐंठन खुल जाती है, वैसेही जब तक चित्त वासनाओ के वशसे भ्रमता है तब तक आवागमन रूपी बल बढ़ता जाता है और ज्योही चित्त ठहरता है कि आवागमन का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। परन्तु जब तक इस चित्तका सम्बन्ध दृश्यो के साथ लगा हुआहै तब तक शुद्ध और अद्वैतपद नहीं प्राप्त होता। हे रामजी! जब उस शुद्ध चिन्मात्र मे उत्थान होता है तब उसेही चैतन्योमुखत्व कहा जाता और जब वही अज्ञानता दृश्यों की ओर जाती है तभी प्रमाद और जडता उत्पन्न होता है। जैसे अत्यंत शीतलतासे ही जल बरफ रूप हो जाता है वैसेही चित्तशक्ति प्रमाद से जड़ हो जाती है। और जब वासनाओ की दृढता से अंतवाहक शरीर आधिभौतिक हो जाता है तब पृथ्वी आदिक भूतोका भान होने लगता है। और जैसेही जैसे चित्तकी वृत्ति बहिमुर्ख होकर फुरती जाती है वैसेही वैसे ससार भासने लगता है। किन्तु जब वही चित्त वृत्ति स्फुरण से रहित हो जाती है तब वह स्वरूप की ओर आती है और तब अपना ही आप भासने लगता है। अस्तु! इस प्रकार द्वैतभाव के नष्ट होने पर परमानन्द अद्वैतपद भासजाता है। तब एककी भी सज्ञा नहीं रहती। और केवल आत्मशक्ति शुद्धचैतन्य ही रह जाता है अर्थात् तब ईश्वर से मिलाप हो जाता है और जगत का सर्वथा ही अभाव होजाता है और यही होनाभी चाहिये। क्योंकि यह जगत् भावना मात्रहै, इससे इसका अभाव करनाही उचित और आवश्यक है। यह जगत् कुछ बना नहीं, सब कुछ भ्रान्ति मात्रही है। हे रामजी! मेरे वचनो का अनुभव तब होगा जब स्वरूपका ज्ञान होगा। किन्तु ज्ञान भी तभी होगा कि जब मेरे वचनोको अपने हृदय मे धारण कर उन्हीं का स्फुरण करोगे। जैसे कथा का अर्थ हृदय में जब फुरता है तभी उसका बोध होता है वैसेही मेरे ये वचनभी है। अन्यथा जब तक तुम मनके पीछे घूमते रहोगे अथवा जब तक मनमे फुरना बना रहेगा तब तक इस जगत् का अभाव नहीं होगा। किन्तु मन ज्योंही उपशम

हो जायगा कि त्योंही जगत् का अभाव हो जावेगा। हे रामजी! समस्त जीवो पर वासनाका आवरण चढ़ा हुआहै। वासनाओं का अन्त होजावे तो जानो कि ज्ञान प्राप्त होगया। किन्तु जबतक वासनाओं का अन्त न होगा तब तक जगत् भासता ही रहेगा। हे रामजी! जगत् के भानमें ही वासनाये दृढ़ होरही हैं और उसीसे जीव दु ख पारहे हैं। जब यह चित्त अचित्त होवे, आत्मभावना की दृढ़ता करे तब ज्ञान रूपी मन्त्र की प्राप्ति होवे। फिरतो अज्ञान रूपी भूत भाग जाता है। हे राघव! यह शरीर पहले अन्तवाहक ही था, स्वरूप के प्रमादसे ही आधिभौतिक हागया है। अब वही आधिभौतिक इसे कष्ट देरहा है। अन्यथा इसको न कोई सुख है, न कोई दुःख, सब कुछ भावना मात्रही है। इस चित्तमें जैसी भावना होती है वैसाही आगे भासता है। इसी भावना को अर्थात् मनकी वृत्तियों को अन्तर्मुख कर लेवे तो उस एक बोधका ही भान होता है और जब उस एक का भान होगया तब द्वैत कोई नहीं रहता। सब आपही आप नष्ट हो जाते हैं। किन्तु आत्मामें अन्तवाहकभी नहीं है। क्योंकि अन्तवाहक तो उसे ही कहते हैं कि जो उस शुद्ध चिन्मात्र में चैतन्योमुखत्व होने के लिये चित्तशक्ति मे स्फुरण होकर वह भाव उसमे स्थित हुआ। यदि उसी भावको पचज्ञान इन्द्रियोंने लेलिया तो वही जड और चेतन की ग्रन्थि हो जाता है। चित्तशक्तिही चेतन है और पञ्चतन्मात्रायें जड हैं। जब यह चेतन चित्तशक्ति और पञ्चतन्मात्रायें एकत्र हो जाती हैं तब उसीका नाम अन्तवाहक पडता है। परन्तु यहभी तो आत्मा में नहीं हुआ न? यदि यह कुछ होता तो मैं ऐसा क्यों कहता कि 'यह कुछ बना नहीं, यह चिन्मात्र है अथवा आत्मा अद्वैत है। जब इनका कुछ अस्तित्व नहीं है तब जगत भ्रान्ति से ही तो उत्पन्न रूप और भ्रमसे ही द्वैतभासता है। ऐसेही यह जाग्रत भी भ्रांति ही से भासित हो रहा है, कुछ बना नहीं है। परतु इतना होते हुये भी इसके त्यागने में महान कष्ट होता है। शिर दे देनेपर ही इसका त्याग होता है। बिना

ऐसा किये इसमे सफलता नहीं मिलती। हे रामजी! जब इस मन के समस्त अर्थों को तृणो के समान ही ज्ञानाग्नि से जलाइयेगा तभी ब्रह्मसत्ता का भान होवेगा। और जब इन तृणोको भस्मकर डालोगे तभी शांतिको प्राप्त करोगे। हे रामजी! मनको जलादेने पर महान संपदा मिलजाती है। मनके उपशन करने मे ही कल्याण है। यह जो भीतर बाहर के अनेक पदार्थ भास रहे हैं सब मनके मोह से ही उत्पन्न हुये हैं, मन उपराम होजावे तो यह जो नाना प्रकारकी भूत जातियां है सभी आकाशरूप हो जावे। क्योंकि सब कुछ ब्रह्मही है। ज्ञानी जनोका एकही सत्ता भासती है। क्योंकि वे जानते हैं कि यह जगत् भ्रमपूर्ण है और इसमे किसीकी कुछभी वास्तविकता नहीं है। अपनी वासनाओ के अनुसारही यह नाना प्रकारका जगत भासित होरहा है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३॥

चौंतीसवाँ सर्ग।

सप्त सृष्टि वर्णन।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जगत मे सात प्रकार की सृष्टियां होती हैं और सातही प्रकार के जीवभी होतेहैं। उनको अलग २ सुनो। स्वप्न जाग्रत, सकल्प जाग्रत, केवल जाग्रत, जाग्रत, दृढ़जाग्रत, जाग्रत स्वप्न और क्षीणजाग्रत। हे रामजी! स्वप्न-जाग्रत वह है कि जो स्वप्न मे जाग जावे। और यदि कोई पुरुष बैठा हो और बैठेही बैठे उसकी चित्त वृत्तियां नितांत ही ठहर जाये परतु निद्रा न आवे तब वैसी अवस्था मे उसको जो मनोराज उत्पन्न होजावे और उसमे उसकी जो वासना दृढ होजावे और पूर्वकी वासना भूत जावे तो इस प्रकार उसे अब जो सत्ता भास आई और उसमे उसने जो मनोराज शरीर की रचना की वही उसका संकल्प जाग्रत होगया। केवल जाग्रत वह है कि जो आदि परमात्मतत्व से फुरकर निश्चय आत्मपदमे [illegible]। हुआ और तब उसे जो जगत भास-आया, उसी ऐसे [illegible] को 'केवल जाग्रत' कहा जाता है।

तीसरा जाग्रत जगत यह है कि आदि परमात्मत्व से जो स्फुरण हुआ और उससे जो सृष्टि उत्पन्न हुई तब उसीको सत्य जानकर जो ग्रहण किया तो स्वरूप मे प्रमाद होगया और आवागमन में आगया। बस, यही जाग्रत जगत है। दृढ जाग्रत वह है कि आदितत्व में जो कम्प हुआ तो सृष्टि उत्पन्न हुई और उसको सत जानकर जो ग्रहण किया तो स्वरूपका प्रमाद हुआ जिससे वह जन्म जन्मान्तर को पाने लगा और जब उसमे वासनायें दृढ होगईं तो वह पाप कर्म करने लगा। फिर तो उसके वश हो जाने से वह ऐसा स्थूल हो गया कि उसे स्थावर योनि में जाना पडा। वही घन जाग्रत और सुषुप्त जाग्रत भी कहा जाता है। फिर जब उसे सतों की वाणी ने जगया तो वह ज्ञान को पाकर जाग जाता है और उसका ज्ञान दृढ हो जाता है तब उसी को क्षीण जाग्रत कहते हैं। इस पद में पहुँचने पर परमानन्द पद प्राप्त होता है। हे रामजी! इस प्रकार से यह सात सृष्टियाँ होती है। परन्तु इनको भी क्या कहूँ। मनके स्फुरण से ही सारे दृश्य भासते हैं। मनको स्थिर करके देखा जाय तो सभी कुछ शून्य हो जाते हैं और अन्तमें उस शून्य का भी अभाव हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवां सर्ग।

सर्व शान्ति का उपदेश।

वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर! यह जो आपने जाग्रत की उत्पत्ति अकारण अकर्म और बोधमात्र मे कहा है सो असम्भव है। जैसे आकाश में वृक्ष नहीं होता, वैसे ही आत्मा में सृष्टि नहीं उत्पन्न हो सकती। आत्मा निराकाश और निष्क्रिय है। उसमें न तो समवायकारण है और न कोई निमित्त कारण है। जैसे घडे का कारण मृत्तिका होती है वैसे ही कुम्हार उसका निमित्त कारण होता है। परन्तु आत्मा तो सृष्टि का निमित्त कारण भी नहीं है। क्योंकि वह सर्वथा ही अक्रिय है।

तब भला उसमें सृष्टि कहां से उत्पन्न होगी ? वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी ! तुम धन्य हो । निश्चही अब तुम जागे हो । आत्मा मे सृष्टि का अत्यन्त ही अभाव है । क्योकि वह सर्वथाही निर्विकार और निष्क्रियरूप है । वह न भीतर है, न बाहर, न उर्द्ध्व है न अध, वह केवल बोध मात्र और आरम्भ परिणाम से रहित है । जैसे सूर्य की किरणों मे जल नहीं होता वैसे ही आत्मा में जगत नहीं होता । आत्मा के अभाव से ही सबका अभाव हो जाता है । उसमें न कुछ उपजता है न भास होता है । उपदेश देने के लिये ही [illegible] सब कुछ कहा जाता है । रामजीने पूछा—हे भगवन ! [illegible] अपना आप मे कुछ है ही नही, तब यह सब पिण्डाकार [illegible] से प्रकट हुआ ? इनको किसने रचा है और एक उसमें [illegible] इन्द्रियो का भान कैसे होता है । वशिष्ठजीने कहा—[illegible] आत्मा मे न कोई पिण्ड है और न किसीने इसको रचा [illegible] कोई भी भूत-प्राणी नहीं है और न इनको किसीने [illegible] है । उसमे कोई आवरण नहीं है, भ्रान्ति से आवरण [illegible] किन्तु आत्मा तो सर्वदा ज्ञान-स्वरूप है । इससे [illegible] नहीं हो सकता । उसमे मन और बुद्धि भी कुछ [illegible] उसमे मोहका भी आवरण नहीं हुआ । वह [illegible] आत्मतत्व ही है, ज्ञानी को ऐसे ही भासता है [illegible] ॥ नाना प्रकार का जगत ही भासता है । उसके [illegible] व समान ही है । फिर भी उसमे ज्ञान अज्ञान [illegible] गा जैसे समुद्र एक ही है परन्तु उसमे तरङ्ग [illegible] त और लीन होना दोनो ही भाव विद्यमान [illegible] जल से भिन्न नहीं है, ऐसेही जितने [illegible] सबका वास आत्मा मे होता है । अस्तु [illegible] ती मात्मा में ही होता है । [illegible] को और वह सुवर्ण ही है,

भासता है, वैसे ही वह भी है। जैसे कोई जागकर बैठा हो और नींद आने से स्वप्न सृष्टि भासे तो चाहे उसे जाग्रत के अज्ञान से स्वप्न सृष्टि भासी हो किन्तु जब निद्रा टूटती है तब जाग्रत ही भासता है किन्तु जाग्रत और स्वप्न दोनो ही मिथ्या हैं। जब उस पदका बोध होवे तभी जाग्रत और स्वप्न का भ्रम मिटे। हे रामजी! अपने स्फुरण से ही जगत उत्पन्न हुआ है। जब वही फुरना दृढ़ होता है तब दुःख पाने लगता है। जैसे बालक अपनी परछाईं मे बैताल की कल्पना करके दुःखी होता है ऐसे ही जीव अपने स्फुरण से ही आप दुःख पाता है। आत्मबोध होता है तो ससार भ्रम नष्ट हो जाता है। हे रामजी! यह देह और इन्द्रियां आदिक तो आत्मा के अज्ञान से ही स्फुरण हुआ है। तब उनमे जो यह अहंभावना उठी है वह आत्मभावना से ही निवृत्त भी हो जावेगी। जैसे वर्षा कालके मेघ शरत्कालके आते ही नष्ट हो जाते हैं वैसेही जब बोधरूपी शरत्काल आता है तब अनात्मा मे अभिमान रूपी मेघ नष्ट हो जाता है और तब परम स्वच्छता प्रकट हो जाती है। हे रामजी! यह जितना कुछ पिण्डाकार जगत भास रहा है वह सब आत्मसाक्षात्कार मे लय हो जाता है। ये समस्त क्षोभ और विकार तो आत्मप्रमाद से ही भासते है। आत्मबोध होने पर समस्त विकारों का शमन हो जाता है। तब सारे प्रपञ्च एक होजाते हैं और द्वैत कोई नहीं रहता। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत, इन्धन और मिष्ठानादिक समस्त द्रव्य जो कुछ पडता है सब एक रूप हो जाता है, वैसे ही जब बोध की प्राप्ति होती है तब सारा जगत एक रूप हो जाता है। जैसे नाना प्रकार के भूषणो को अग्नि में डालिये तो वह गलकर एक सुवर्ण ही हो जाता है और वहा भूषण की कोई सज्ञा नही रहती वैसे ही जब मनको आत्मबोध होता है तब जगत की सज्ञा नहीं रहती और केवल परमात्मतत्व हो जाता है। हे रामजी! इन्द्रिया और जगत तभी तक भासते हैं कि जब तक स्वरूप मे निद्रित है। जब स्वरूप से जीव जागता है तब ससार की

सत्यता नष्ट हो जाती है और तब कोई भी इच्छा नहीं रहती। तब उसकी सारी चेष्टाये जीवन्मुक्त के ही समान होती हैं परन्तु उसके हृदय मे जगत की कोई सत्यता नहीं रहती। आत्मा का अनुभव हो जाने से वह सब कुछ से वीतराग हो जाता है। जैसे सूर्य की किरणो मे जल भासता है और जो जानता है कि यह किरणे हैं उसे उसमें जलका ज्ञान नहीं होता, वैसेही आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाने पर ससार का भान नहीं होता। ऐसे दृष्टि तो दोनों की ही समान है। केवल भेद इतनाही है कि ज्ञानीके निश्चय में जगत जलवत नहीं है और अज्ञानी को जगत जलके समान ही दृढ भासता है। हे रामजी! मनरूपी दीपक जल रहा है, उसमें ज्ञानरूपी जल जलने से वह निर्वाण हो जाता है। और जब मन निर्वाण हो जाता है तब सारे अहभाव नष्ट होजाते हैं। फिरतो यह जीव कृतकृत्य होकर रागद्वेष से रहित हो जाता है और केवल निर्वाच्यपद प्राप्त होता है। फिर वहां कोई उत्थान नहीं होता। अस्तु! आत्मामे जगतके कोई पदार्थ नहीं हैं, सब कुछ मनके ही सकल्प से भासता है। जैसे स्तम्भ में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है किन्तु उसमे पुतलियाँ हैं नहीं, वैसेही मनके निश्चय में जगत है, आत्मा में कुछ बना नहीं है। जिसका मन सूक्ष्म होगया है उसको जगत स्वप्न केही समान भासता है। तब भला उसे इच्छा भी क्या होवे। हे रामजी! यह जगत तो तभी तक भासता है कि जब तक आत्मदर्शन् नहीं हुआ। आत्मानुभव होतेही, यह रससयुक्त जगत कदापि न भासेगा। जैसे धूप और छाया इकट्ठा नहीं होतीं वैसेही ज्ञान और जगत इकट्ठे नहीं होते। जैसे भूत और वर्तमान इकट्ठे नहीं होते वैसेही आत्मामें जगत नहीं होता। हे रामजी! यह जो द्रष्टा, दर्शन, और दृश्य संयुक्त त्रिपुटी भासती है वह मिथ्या है। निद्रादोष एवं स्वप्न के समान ही यह तीनों भासती हैं। जाग्रत में इन सबका अभाव [illegible] है। मनोराजही जगत को स्थित कर रहा है। परन्तु [illegible] सत्यता नहीं है। अतः इस

जगत का भ्रम त्यागकर तुम अपने स्वभाव मे स्थित हो रहो। हेराम जी! यह जगत भ्रमसेही उदय हुआ है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। जिसका मन उपशम हो जाता है, वही पुरुष मौनी कहलाता हैं क्योंकि उसने अपना इन्द्रियों का निरोध कर लिया है। और ससार सागर को पारकर कर्मोंके अन्तको प्राप्त हो चुका है।

श्रीयोगवाशिष्ट-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का पैंतीसवॉ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवां सर्ग।

ब्रह्मरूप प्रदर्शन।

हे रामजी! यह जितना कुछ जगत दिखलाई पड़ता है, उसका निश्चय पहले चित्त मे ही होता है। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, सब को यह जगत चित्त से ही भासता है। भेद केवल इतना ही है कि अज्ञानी जगत को सत् मानता है और ज्ञानी उसे शास्त्रानुकूल विचार करने से भ्रममात्र ही जानता है। अस्तु! यह जगत अविद्या से ही भास रहा है। किन्तु यह अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं है। जैसे सूर्य की किरणोंमे जलाभास कुछ नहीं है वैसे ही यह अविद्या भी कुछ नहीं है। यह स्थावर जगमरूपी जगत कल्प के अन्त मे नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र से एक बूंद निकालिये तो वह नष्ट हो जाता है क्योकि वह विभाग रूप है, ऐसे ही माया, अविद्या, सत, असत, आदिक सबका अभाव हो जाता है क्योंकि सारे शब्द जगत में ही है, प्रलय में जगत का भी अभाव हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि जगत असत्य है क्योंकि नाश हो जाता है। इस पर यदि तुम यह कहो कि असत्य है तो उपजता क्यों है तो इसका उत्तर यह है कि उपजी वस्तु सत्य नहीं होती। इस पर भी यदि तुम प्रश्न करो कि, महा प्रलयमे तो चिदाकाश ही रहता है

और फिर वही जगदाकार होकर भासता है तो इसका भी उत्तर यही है कि आकार कुछ भी भासे किन्तु रूप तो वही है। वह उत्पन्न कहां हुआ और उत्पन्न हुआ भी तो उसमे विकार और भेद कैसे हुआ। विकार और भेद तो तब होवे जब कुछ उत्पन्न हुआ हो। अस्तु! सब कुछ बोधमात्र अपने आप मे ही स्थित है। उसमें कोई कार्य कारण नहीं है। वह आत्मा कार्य कारण से रहित परम शान्तरूप अपने आप मे ही स्थित है। वही जगतरूप होकर भासता है। किन्तु उसके सहित देश, काल और पदार्थ आदिक सब महा प्रलयरूप ही है। महा प्रलय में तो ब्रह्मदेव तक सभी नष्ट हो जाते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि कुछ भी नहीं रहता। केवल बोधमात्र परम शान्त रूप, अचेतन चिन्मात्र सत्ता ही कि जो वाणी का विषय नही है वही शेप रहता है। तत्वदर्शी उसे अनुभव भी कहते है। वहाँ तक मनकी पहुँच नहीं होती। उसे कोई नहीं जान सकता। हे रामजी! जिसको अविद्या नही है उसमे किसी प्रकार का भास नही होता, उसको चित्त और चैत्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इससे वह परम प्रकाश रूप होकर आत्मपद एवं तत्वभाव मे ही स्थित रहता है। भाव यह कि उस पदसे प्रकृति का प्रभाव जाता रहता है। उसके लिये वही जगत जो कि पहले भिन्न भिन्न जान पडता था अब वही एक रूप हो जाता है। जैसे स्वप्न मे सारे पदार्थ भिन्न भासते हैं वह जागने पर एक रूप होजाते हैं वैसेही जब आत्मानुभव होजाता है तब सारे पदार्थों सहित जगत एक रूप होकर अपना आपही भासने लगता है। तब निश्चय होजाता है कि जगत कुछ बना नही है। जैसे अनेकों स्वर्ण भूषणों को अग्नि मे डालने पर वह एक पिण्डाकार होजाता है वैसेही जब नाना प्रकार के पदार्थों युक्त इस जगत को ज्ञानाग्नि में तपा दिया जाता है तो वह सब कुछ नष्ट होकर एक रूप होजाता है। अस्तु, जगत के होते हुये भी वह सब कुछ आत्मरूपही है। हे रामजी! ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है। उसके आगे विदेहमुक्त क्या है और जीवन्मुक्त क्या है, वह कुछ

नहीं जानता उसके लिये दोनों ही समान हैं। जैसे भूषण बन जाने पर भी स्वर्णही है और भूषण न बनने पर भी स्वर्णही है वैसेही ज्ञानी को देह होते हुये भी ब्रह्म ही भासता है। किन्तु जो अज्ञानी है उसको नाना प्रकार का जगत ही भासता है। हे रामजी! अज्ञानी वही है कि जिसका सम्बन्ध मनसे होता है। और अज्ञानी कोही यह जगत भासता है। जैसे शिल्पी काष्ठ के स्तम्भ में पुतलियों की कल्पना करता है यद्यपि उसमें पुतलियाँ नहीं हैं वैसेही मन इस असत्यरूप जगत की कल्पना करता है किन्तु ज्ञानी को मनका स्फुरण नहीं होता। हे रामजी! काष्ठ का भी तो एक आधार होता है कि उसमें शिल्पी पुतलियो की कल्पना करता है किन्तु यह आश्चर्य है कि यह मनरूपी शिल्पी विना आधार केही आकाश मे भी जगत की रचना कर लेता है। जैसे किसी ने कागज पर चित्र लिखा हो सो कागजरूप ही है और कुछ उसपर बना नहीं वैसे ही यह जगत भी परब्रह्म-स्वरूप ही है। उस आत्मपद का अनुभव कराने के लिये ही नाना प्रकार के शब्द-अर्थ कहे गये हैं। जब आत्मपद जान लोगे तब ये सभी उसमे समा जायगे। हे रामजी! यह जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किन्तु इसी में सारी सृष्टिया सन्निहित है। अनेक स्फुरणों ने ही सबको खडा कर रखा है। जब अफुर होवे तब आत्मरूप हो जाता है। हे रामजी! आकाश, काल, दिशायें और पदार्थ आदिक सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है और वह अपने आपमे ही स्थित और चिन्मात्रपद है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैतीसवां सर्ग ।

निर्वाण वर्णन ।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! महाप्रलय में सब कुछ लीन हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर कोई भी नहीं रहते । प्रलय का अर्थही यह है कि सब कुछ निर्वाण हो जावे । हे रामजी ! वह अनन्त आकाश सबसे परे, सम, शुद्ध और आदि अंत सबसे रहित है । इससे वह सूक्ष्म भी है और पत्थर के समान स्थूल भी है । उसमें फुरना कोई नहीं है । वह सर्वथा ही चैतन्यघन है और उसमें एक दो कुछ भी नहीं है—ऐसी जो सत्ता है वह चित्तके फुरने से अपने आपही मे स्थित है । हे रामजी ! तुम उसी मे स्थित होवो । तब तुम्हे पता चलेगा कि जगत् कहाँ है और यह कैसे उत्पन्न हुआ ? हे रामजी ! इसकी उत्पत्ति समवाय और निमित्त कारण से होती है किन्तु आत्मा निराकार, अद्वैत और सर्व कारणो से पृथक है । वह अच्युत और निराकार है,उसमे जगत कोई नहीं,जगतो सर्वथाही भ्रान्तिमात्र और अविद्या के कारण ही भास रहा है, कुछ भी प्रतीत नहीं होता । तब जिसका सर्वथा ही अभाव है और फिर भी वह भासता है तो उसे यही जानो कि वह अविद्या से ही भास रहा है । अस्तु ! ब्रह्म सत्ता सर्वदा अपने आपमे ही स्थित है । जैसे जल और तरंग दोनो ही जल रूप ही हैं और जल से भिन्न कुछ नहीं है वैसे ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध जानो । जब तुम अपने आप मे ही स्थित होकर देखोगे तब जगत का शब्द अर्थ आप ही आप जान जाओगे । हे रामजी ! ब्रह्म का कोई आकार नहीं है, वह सर्वथा ही मूर्ति रहित है, फिर उसमे मूर्ति कहाँ से उत्पन्न होगी । जब कोई वस्तु कारण रहित उत्पन्न होवे तब भले ही वह सत् हो किन्तु जो विनाकारण ही दृष्टि आवे उसे सत् कैसे कहा जाय ? जैसे आकाश मे दूसरा चन्द्रमा विना कारण ही भासित होवे वैसेही यह मिथ्या जगत विचार करने

से नही रहता और विना कारण ही भास रहा है। आत्मा में कुछ भी उदय नहीं हुआ है। वह आकाश और काल आदिक सभी पदार्थों से शून्य है। किन्तु आत्मा ज्यो का त्यों स्वतः है और स्थित उसमें उदय अास्त कोई नहीं होता।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग।

ब्रह्मैकता प्रदिपादन।

हे रामजी! आत्मा अद्वैत, निर्गुण, निराकार और आरम्भ परिणाम से सर्वथा ही पृथक है। उसमें एक और दो कुछ भी नहीं है। उसमे कोई कारण नहीं होता। वह ब्रह्मरूप से अपने आत्मपद मे ही स्थित है। उसमें मनका फुरना कुछ भी नहीं है। वह काष्ठ के समान सर्वथा ही अफुर है। उसमें जो कुछ द्वैत भासता है, सब भ्रम मात्र ही है। उसमे यह पृथ्वी और जल संयुक्त जगत का स्फुरण स्वप्न के ही समान है। जैसे स्वप्न की चेष्टा में सकल्प मात्र है वैसे ही यह जगत सकल्प मात्र और स्वप्न ही है। जैसे खरगोस को सींग उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं और कारण न होने से ही उसे सींग नहीं होता वैसे ही इस जगत का कोई कारण नहीं है और उसी नियम से यह कहीं भी नहीं है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! यह तो आपने ठीक ही कहा है, परन्तु जैसे बीज समय पाकर वृक्ष हो जाता है वैसेही इस जगत का कारण परमाणु क्यो नहीं है। वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी! क्यों नहीं है, यह जो सूक्ष्म मे स्थूल दिखलाई पडता है, वह बीज नही तो क्या है? यह जगत जो,अब इतना विशाल दिख लाई पडता है यह क्या है, यह सकल्प रूप से ही तो इतना बड़ा हुआ है। परन्तु नहीं, इसको बीज भी इस कारण नहीं कह सकते कि यह महान सूक्ष्म है। वटका बीज तो फिर भी कुछ परिणाम मे

होता है परन्तु इस जगत के वीज का परिणाम क्या कहे। यह तो परमाणु से भी सूक्षातिसूक्ष्म होता है। और वट का वीज तो ऐसे गोलक मे होता है कि जो तुम स्पष्ट दीखते हो किन्तु इसका वास तो उस एक अद्वैत आत्मा में है कि जिसको तुम न तो एक कह सकते हो और न दो। उस मे एक और दो का सर्वथा ही अभाव है। वह आधार और आधेय से सर्वथा ही रहित केवल आत्मतत्व मात्र है। इसी प्रकार वट का वीज भी तव वृक्षरूप धारण करता है कि जव उसको जल मिलता है और जव उस की रक्षा का भी स्थान होता है किन्तु इसके वढ़ने का स्थान तो किसी भी आधार आधेय से सर्वथा ही रहित और अपने आप में ही स्थित अद्वैत सत्तामात्र ही है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का कोई कारण नहीं होता, वैसे ही जगत का भी कोई कारण नही है। और जैसे जव वन्ध्या का पुत्र है ही नहीं तव उसका कारण भी कैसे हो वैसे ही जव जगत है ही नहीं तव ब्रह्मभी जगत का कारण कैसे हो सकता है। किन्तु सर्व में दृश्य ही दृश्य-रूप होकर स्थित हुआ है। जैसे सूर्य की किरणो में जलका आभास स्थित है, वैसे ही ब्रह्म ही जगतरूप मे दिखलाई पड रहा है। परन्तु यह दृश्य भी कुछ और वस्तु नहीं है। जैसे समुद्र का जलही तरङ्ग और आवर्तरूप होकर भासता है वैसे ही अनन्त शक्ति परमात्मा ही प्रकट रूप से सर्वत्र स्थित है। हे रामजी! मैं और तुम भी इस जगत के स्फुरण मात्र हूँ। जैसे मनकी कल्पना ही गन्धर्वपुर की रचना कर लेता है वैसे ही यह जगत् भी आत्मा मे कुछ बना नहीं है। केवल ब्रह्म ही अपने आप मे स्थित है। हमको ऐसा ही भासता है। आत्मा ज्यो का त्यो निर्मल और शान्त पद है। उसमे इस जगत का उदय और अस्त कुछ भी नहीं है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अड़त सवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग ।

शान्ति-निर्वाण-वर्णन ।

हे रामजी ! यह आत्मा केवल अपने आप में ही स्थित है। इसमें देश, काल, वस्तु कुछ भी नहीं है। इस में जगत का भी कुछ अस्तित्व नहीं है। यह जो कुछ भी भावाभाव पदार्थ तुम देख रहे हो वह स्थावर जगम सहित सूक्ष्म, स्थूल, और शुभाशुभ कुछ भी उत्पन्न नही हुआ है। यह सब कुछ कार्य कारण से रहित है। तब मैं कैसे कहूँ कि यह जगत कुछ होकर उत्पन्न हुआ है। यह तो है भी और नहीं भी, ऐसा जो स्थित हो गया है वह संवेदन मात्र ही है और उसीके स्फुरण से जगत भास रहा है। जब यह स्फुरण न हो अर्थात् जब यही अपनी ओर आजावे तब जगत का भ्रम मिट जाय अन्यथा जब यह फुरता है तब धाता, ध्यान, ध्येय रूप होकर यह स्थिर हो जाता है। बस इसी का नाम जगत है और यही बन्ध और मोक्ष है। किन्तु स्पष्टता यह है कि आत्मा में बन्ध और मोक्ष कुछ भी नही है। राग द्वेषही बन्धनका कारण होरहा है। वासनायें नष्ट हो जायँ तो जगत का अभाव होकर स्वच्छ आत्मा का ही भान होता है। हे रामजी ! मृत्यु के समय जो जीव निकल जाता है वह मृतक नहीं कहा जाता, वह तो जीवित ही रहता है, मृतक तो तब कहिये कि जब उसका अत्यन्त ही अभाव हो जावे पर वैसा तो होता नही और फिर जगत भास जाता है। वह मरना तो सुषुप्ति के ही समान है। जैसे सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् जाग्रत में आने पर फिर जैसा का तैसा ही भासने लगता है और जैसे स्वप्न के पश्चात् जाग्रत दशा में फिर अपनी चेष्टा करने लगता है, वैसेही मृत्यु और जन्म होता है। यदि मृतक अवस्था में शोक किया जाता है तो जीने का भी हर्ष होता है और यदि हर्ष होता है तो शोक भी होता है, इसलिये यह मरना जीना दोनो ही अवस्थायें समान हैं।

हे रामजी ! जब तुम इन दोनो अवस्थाओं को समान दृष्टि से देखोगे तभी शीतलता प्राप्त होगी। जब फुरनेका अभाव होताहै तभी शांति प्राप्त होती है। फिर तो धाता, ध्यान, ध्येय तीनो का ही अभाव हो जाता है और अज्ञान नही रहता। फिर तो इन सब विकारो का ऐसा अभाव हो जाता है कि स्वच्छ और निर्मल पदही शेष रह जाता है। हे रामजी ! वह निर्मल पद तो अभी विद्यवान है। भ्रमोके कारण ही पदार्थसत्ता प्रतीत होती है। अस्तु ! परमार्थ स्वरूप के प्रमाद ने ही जगत् को रच लिया है, स्वरूप मे जाग्रित होवे तो इसका सर्वथा ही अभाव होजाता है। हे रामजी ! जैसे स्वप्न में जीवको बिना भये ही राज्य दिखलाई पडता है वैसेही लोग इस जगत को देख रहे हैं। परन्तु वास्तव मे यह कुछ हुआ नहीं है। फुरनाही सब बन्धनो का कारण है। फुरना से रहित होवे तो परमानन्द को प्राप्त होकर परम स्वच्छता और शान्ति प्राप्त होवे।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्तालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

चालीसवाँ सर्ग।

वसिष्ठ समाधि वर्णन।

वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! यह सृष्टि आत्मा का एक विवर मात्र है। इस पर मैं तुम्हें एक और आख्यान सुनाता हूं कि जिसको सुनने और समझने मे तुम जरा और मृत्यु मे छूट जाओगे। इस कथा को स्वयं मैंने अपनी आंखो मे देखा है। यह इतिहास परम सुन्दर और चित्तको प्रसन्न करने वाला आश्चर्य रूप है। इसका आरम्भ ऐसे होता है कि एक समय जब कि मेरा चित्त जगत मे उपराम हो गया तब मैंने विचारा कि अब किसी एकान्त स्थान में चलना चाहिय कि जहां पहुँच कर मैं अपनी प्राप्त सभी क्रियाओं को व्यवहारिक रूप में देखकर शान्ति को पा सकूँ। क्योंकि बिना निर्विकल्प समाधि मे अपने

आदि, अन्त और मध्य से रहित परमानन्द स्वरूप और अविनाशी पद को नहीं पाऊँगा। ऐसा विचार कर मैं निर्विकल्प समाधि लेने की इच्छा से आकाश मे उडा और एक देवता के पर्वत पर जा बैठा। परन्तु वहॉ भी मैंने क्या देखा कि इन्द्रियो के अनेक विपय यत्र-तत्र फैले हुये है, वाराङ्गनायें जा रही हैं, उनके शिर पर चमर हो रहे हैं, शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही है। तव वह दृश्य देखकर मैंने सोचा कि यहॉ भी शान्ति नहीं है और आगे चलूॅ। तव मै वहॉ से भी उडा और निकट ही एक परम सुन्दर कन्दरा मे जा पहुॅचा। वह कन्दरा एक वडेही सुन्दर वन में थी कि जहॉ मन्द सुगन्ध वायु हिलोरें ले रहा था। किन्तु वह भी मुझे शत्रुवत ही प्रतीत हुआ क्योंकि वहॉ भी पक्षियों के शव्द हो रहे थे, वायु का स्पर्श हो रहा था तथा और भी ऐसे कई एक विघ्न विद्यमान थे। तव वहॉ भी मुझे अच्छा न लगा और मैं आगे वढा। तव आगे चलकर मैं नागों के देश में पहुॅचा। वहॉ कई सुन्दर नाग-कन्यायें मुझे दिखलाई पडीं, इन्द्रियों के भी कितने ही सुन्दर विपय दिखलाई पडे किन्तु वे सभी मुझे सर्प केही समान विपधर प्रतीत हुये। तव मैं समुद्र के तटपर गया। और वहॉ जो पुष्प-स्थान थे उसमें विचरा और कन्दरा और वनको देखता हुआ पर्वत पाताल और दशों दिशाओं को देखता हुआ कोई एकान्त स्थान देखने लगा परन्तु वहुत शोध करने पर भी मुझे कोई वैसा स्थान दिखलाई न पडा कि जहॉ रहकर मै अपनी इच्छित शान्ति को प्राप्त करता। तव मैं फिर आकाश को उडा, पवन मेघमण्डल और देवताओं तथा विद्याधरों और सिद्धो के स्थानो को लाघता हुआ आगे वढता चला जा रहा था कि भूतों के कई ब्रह्माण्ड मुझे उडते हुए दिखलाई पडो उसमे कई अपूर्व भूते और नाना प्रकार के स्थानो को मैंने उडते हुए देखा। तव कई स्थानों को पार कर जव मैं और आगे वढ़ा तो क्या देखता हूॅ कि कहीं तो सूर्यका प्रकाश हो रहा है और कहीं प्रकाश नहीं भी है। तव मैं चन्द्रमण्डलको लाघ कर जो आगे वढा

तो महा आकाश मे जा पहुँचा। फिर तो वहाँ मुझे इन्द्रियों का रोक कुछ भी कठिन न रहा क्योंकि वहाँ इन्द्रिय-जन्य विषय कुछ भी दिखलाई न पडे और केवल एक आकाश ही आकाश दृष्टि आता था और वायु, अग्नि जल और पृथ्वी का सर्वथा ही अभाव था। तब मै उस स्थान में गया और वहाँ मुझे कभी स्वप्न में भी कोई भूत दिखलाई न पडे और सिद्धोंका भी कोई आवागमन न था। तब यह देखकर वहाँ मैंने संकल्प की कुटी रची और उसके साथ फूल पत्रो से पूर्ण एक कल्पवृक्ष को रचा कि जिसके एक ओर मे छिद्र रख दिया था। तब ऐसी कुटी बनाकर मैंने उसमें प्रवेश किया और यह संकल्प किया कि अब एक वर्ष पर्यन्त मे समाधि मे बैठूँगा। ऐसा निश्चय करके पद्मासन बाँध मै उस गुफा में जा बैठा। मुझे कोई इच्छा तो थी नहीं इस कारण उस दशा मे भी मुझे कुछ भी सकल्प न हुए और जब एक वर्ष व्यतीत हो गया तब फिर पूर्वका निश्चय किया सकल्प फुर आया। तब जैसे कि प्रथम उगा हुआ बीज वसन्तऋतु को पाकर हरा हो आता है वैसेही मेरे प्राण फुर आये और जैसे वसन्तऋतु को पाकर पुष्प खिल आते हैं वैसेही मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ खिल आईं और अहकारूपी यह पिशाच फुरने लगा कि मै वशिष्ठ हूँ। वह वर्ष मुझे एक निमेष मात्र ज्ञात हुआ। हे रामजी! इसी प्रकार उस दशा में बैठने पर कितने ही काल व्यतीत हो जाते हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि मानो अभी बहुत थोड़ा ही हुआ है। जैसे सुखकी अवस्था में बहुत कालभी थोडा ही जान पड़ता है और दुःखद अवस्था में अल्प समय भी बहुत हो जाता है। हे रामजी यह शक्ति सब जीवों में विद्यमान है पर किसी को इसकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती और वासनायें अन्त करण को सर्वदा ही मलिन किये रहती है। यदि अन्तः-करण पवित्र रहता है तो पुरुष जो संकल्प करता है वह सिद्ध होता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ सर्ग ।

विदेह अहकार मीमासा ।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आप तो निर्वाण-अस्वरूप हैं फिर इस अवस्था में आपका अहकार का स्फुरण कैसे हुआ ? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! ज्ञानी हो या अज्ञानी देहका सम्बन्ध तो सभी को है न ? तब जब तक शरीर का सम्बन्ध बना रहता है तब तक अहकार फुरा करता है। क्योंकि आधार से ही आधेय होता है ऐसे ही जहाँ शरीर होता है वहाँ अहकार अवश्य ही उठ खड़ा होता है और जहाँ होता है वहाँ शरीर होता है। अहकार के बिना शरीर नहीं होता और उस अहभाव की कल्पना यह अज्ञान रूपी बालक ही करता है। ज्ञान हो जाने पर अहकार नष्ट हो जाता है। अहंकार को अविद्या ने ही कल्पा है। परन्तु यह अविद्या भी असत्य है। तब जब कि स्वय अविद्या ही असत्य है तब उससे उत्पन्न होने वाला अज्ञान कैसे सत्य हो सकता है ? यह केवल असत्य ही भ्रम से उदय हुआ है। इसकी उत्पत्ति अविचार से ही हुई है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। विचार के आगे अविद्या नहीं ठहरती। जैसे दीपक के आते ही अधकार भाग जाता है, वैसे ही विचार के आते ही अज्ञानता नष्ट हो जाती है। तब इस प्रकार जो वस्तु विचार कर तेही नष्ट हो जाती है वह असत्य नहीं तो क्या है। तब भला उसके कार्य भी कैसे सत्य हो सकते हैं। अस्तु इस अहकार को भी असत्य ही जानो। इसके कोई कारण नहीं हैं। हे रामजी! यह शुद्ध आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियाँ साकार हैं और आत्मा निराकार है। तब भला इस साकार और निराकार का साथ कैसे हो। हे रामजी! यह जो कुछ आकार है सब मिथ्या ही है। अकुर तो तब होता है जब उसका कोई बीज होता है परन्तु जब बीज ही नहीं है तब अंकुर कहाँ से होगा। इसी प्रकार जब जगत

का कारणरूप सवेद नहीं होता तव जगत कहॉ होगा आकाश मे दुसरा चन्द्रमा तव माने जव वहॉ कोई दूसरा चन्द्रमा हो परन्तु जव वहॉ कोई दूसरा चन्द्रमा ही न होतो उसका कारण कैसे माना जाय ? हे रामजी ! ब्रह्म में कोई कार्य कारण नहीं होता, वह आकाश के ही समान निर्मल अद्वैत शुद्ध और सकल्प रहित अच्युत और अविनासी है। इस प्रकार यह जो पृथ्वी आदिक तत्व भास रहे हैं,ये अविद्यमान ही हैं, भ्रमसे ही भास रहे हैं। जैसे स्वप्न काल की अविद्यमान सृष्टि भी विद्यमानही जान पड़ती है वैसेही यह अविद्यमान जगत विद्यमान प्रतीत होरहा है, इसकी सत्यता कुछ भी नहीं है। यह आकाश वृक्षके समान ही सकल्प वश भासरहा है। परन्तु यह सव कुछ स्वरूप से भिन्न नहीं है, उसीमे सवका भाव होरहा है, विचार करने से अभाव होजाता है। क्योकि जिसके द्वारा जिसका भाव होताहै उसीके द्वारा अभाव भी होजाता है। हे रामजी ! यह जो शुद्धसत्ता अपने आप मे स्थित है वही जगताकार होकर भासती है। इस प्रकार यह सारा जगत ब्रह्मका ही स्वरूप है, उसमें अहकार का लेसभी नहीं है। उसमें मैं, मेरा और फुरना आदिक कुछ भी नहीं है। तव, जवकि मै ही सर्व आत्मसता हू तव मुझमे अहकार कैसा ? यदि मुझमे अहंकार दिखलाई भी पड़ता हो तो वह वहुत सूक्ष्म होगा और उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता, उसमे कर्त्तापन और भोक्तापन नहीं होता। क्योंकि ऐसे ज्ञानियों मे अहंकार का सर्वथा ही अभाव रहता है। उन्हें सव कुछ ब्रह्मही भासता है और उनमें अहकार नही होता। फिर अहंकार न तो पहले ही था और न अवही है और न फिर होगा, भ्रमसेही प्रतीत होरहा है, ऐसा जानने से अहकार नष्ट हो जाता है और जव इस प्रकार अहकार का नाश होजाता है तव अविद्या का भी नाश होजाता है। हे रामजी ! इन सवसे भी तुमको क्या प्रयोजनहै जैसा प्रकृत आचार [illegible] वैसा करो और हृदय में शिलाकोश के समान वने रहकर [illegible] को गुप्त रखते हुए [illegible]

सब क्रियाओं को करो। इस प्रकार तुममें अहंकार का कुछ भी स्पर्श न होगा। तब तुम्हें केवल एक ब्रह्मसत्ता ही भासित होगी और अन्य कुछभी न भासेगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकतालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥४१॥

बयालिसवाँ सर्ग।

जगज्जाल समूह वर्णन।

वशिष्ठजीके इतना कहने पर रामजी बोले—हे महाज्ञानिन! आपने जो एक वर्ष की समाधि लगाई थी उसमे आपने क्या-क्या देखे थे, कृपाकर वह वृतात मुझे बतलाये? इस पर वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! समाधि की उस अवस्था में मैं क्या देखता, वह तो निर्विकल्प समाधि थी। हा जब उससे उतरा तब एक मनोहर तान से बजता हुआ बहुत ही सुरीला शब्द मुझे सुनाई पडा। तब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं बहुत ऊँचे पर आ गया हू। फिर मैंने विचार किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि जहाँ मैं बैठा हू वह तीन लाख योयन की ऊँचाई है और यहाँ सिद्ध आदि भी नहीं आते, तब यह शब्द कहा से आता है। यहाँ तो कोई सृष्टि कर्त्ता भी नहीं दिखलाई पडता और दशों दिशायें भी शून्य हैं—फिर यह शब्द कहाँ से आया? ऐसा मैं विचार कर ही रहा था कि उस शून्याकाश में मेरा चित्त ऐसा रम गया कि मुझे यह इच्छा हुई कि मैं आकाश ही हो जाऊँ और इस प्रकार उस शब्द को प्राप्त करू, देखू कि यह शब्द कहा से आता है और यदि यह शब्द इस आकाश में न मिले तो मैं वह चिदाकाश ही हो जाऊँ कि जहाँ भूताकाश भी एक छोटी कुटी के ही समान भासता है। तब ब्रह्म मे निश्चय ही इस शब्द का पता लगेगा। ऐसा विचार कर मैंने फिर समाधि लगा ली और इस प्रकार बाहर भीतर से सर्व इन्द्रियों की चेष्टा को रोक कर आकाश

के समान ही स्थित हो गया। फिर तो वैसा करने से मेरी समस्त अहंता नष्ट हो गई और उस आकाश से भी चिदाकाश रूप हो गया। फिर मैंने उस आकाश को भी त्याग दिया और बुद्धि आकाश मे गया। किन्तु उसे भी त्याग कर फिर चिदाकाश में ही आना पडा। चिदाकाश में पहुँच कर मैं उस शब्द को सुनने लगा। फिर तो उसे सुनते २ मैं चिदाकाश ही हो गया कि जिस का संकल्प ही उसका स्वरूप है। हे रामजी! वह चिदाकाश निराकार स्वरूप है और वही आधार रूप भी है कि जिसने सब को धारण कर रखा है, इससे वह परमानन्द-स्वरूप, शान्त और अनन्त भी है, उसीमें समस्त ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। हे रामजी! इस प्रकार जब वह आदर्श मुझ में स्थित हुआ तब मुझ में ही मुझे अनन्त सृष्टियाँ भासने लगीं। हे रामजी! वे सृष्टियाँ ब्रह्म मे वैसे ही भास रही थीं कि जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं। किन्तु उनमें मैंने यह देखा कि प्रत्येक जीवाणु को अपनी ही अपनी सृष्टि भास रही थी और एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता था। जैसे कई मनुष्य एक साथ सोते हों और सब को स्वप्न हो तो सभी को अपनी ही सृष्टि भासेगी, दूसरे की नहीं, वैसे ही उसे ब्रह्म के समस्त जीवाणु अपनी ही अपनी सृष्टि को जानते थे। परन्तु मैं सभी को जानता था। हे रामजी! उस समय मैंने एक सृष्टि को ऐसा देखा कि वह बहुत ही निर्मल थी और उसमें कहीं लेशमात्र को भी आवरण न था और एक सृष्टि तो ऐसी दिखलाई पडी कि जिसपर पाँचो तत्वों का आवरण चढा था। कुछ सृष्टियां ऐसी भी दिखलाई पडीं कि जिनपर चार तत्वका ही आवरण था और वैसे ही कोई-कोई को छः आवरण थे, किसी पर दश आवरण चढे थे और कोई ऐसी थीं कि जिन पर चौंतीस और छत्तीस आवरण तक चढे हुये थे, परन्तु वे सभी आकाश रूप ही थीं, केवल मेरे मन के सकल्प और स्फुरण से ही वैसा ज्ञात हो रहीं थीं— इससे यह निश्चय हुआ कि एक आत्मा मे ही समस्त समावेश है और फिर भी

वह आत्मा निराकार और निर्लेप है । तब जब कि आत्मा निर्लेप है तब उसमें सर्व पदार्थ भी निःसार ही हैं, सकल्प से ही सब कुछ बन जाता है । जैसे दीवार पर चित्र लिखे हों, वैसे ही आत्मरूपी दीवार पर चित्ररूपी सृष्टि आई हुई है कि जो सभी अपने २ व्यवहार में निमग्न हैं और वे सभी अपनी ही अपनी सृष्टि को जानती हैं, और एक दूसरे को नहीं जानती थीं । परन्तु यह जो कुछ दृश्य मैंने देखा, सब अपने संकल्प से ही देखा । जब सकल्प करता तब सृष्टिया भासने लगतीं और जब स्वरूप की ओर देखता तब केवल ब्रह्म ही भासता था और उसमें कुछ बना हुआ नहीं जान पड़ता था । हे रामजी ! कहीं ऐसी भी सृष्टि दिखलाई पडा कि जिसमें बाल, वृद्ध और युवावस्था की कोई मर्यादा भी न था, वे जैसे जन्मे वैसे ही रह गये । कोई सृष्टि ऐसी भी थी कि जिसमें सूर्य और चन्द्र प्रकाश हीन होता था और केवल अग्नि के प्रकाश से ही वे अपनी समस्त चेष्टायें करते थे और कोई ऊपर को जाते थे तो कोई-कोई नीचे भी आ रहे थे । कोई शास्त्रानुसार अपनी चेष्टा करते थे और कोई कीट के ही समान थे और कोई उससे भी निकृष्ट अवस्था में अपनी चेष्टायें कर रहे थे । इस प्रकार उस चैतन्य रूपी वन में मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखीं कि जिन सबमे चेतन्य का ही आभास आ रहा था । परन्तु वे सब कुछ बनी नहीं थीं और जैसे आकाश मे दूसरा चन्द्रमा भासे या नीलता का भान होता है, वैसे ही विना होते ही वे सृष्टिया भास रही थीं । जैसे गन्धर्व नगर होवे और जैसे मरुस्थलमें जल होता है वैसे ही समस्त सृष्टिया भासती हैं । हे रामजी ! ब्रह्मरूपी आकाश मे चित्तरूपी गन्धर्व ने सृष्टि रची है किन्तु स्वरूपतः वे कुछ उत्पन्न नहीं हुई हैं, भ्रम से ही भासता है । जैसे स्वप्न की सृष्टि विना कारण होती है वैसे ही समस्त सृष्टिया अकारण और आभास मात्र ही हैं । इस पर यदि तुम कहो कि अकारण सृष्टि ऐसा नहीं भासेगी तो मेरा उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न की सृष्टि विना कारण ही होती है किन्तु

वह होती है अर्थ सहित और विना उपजे ही उपज जाती है वैसे ही यह सम्पूर्ण सृष्टि आभास मात्र है और अधिष्ठानसत्ता के ही आश्रय होकर फुर रही है। ब्रह्म ही सब का अधिष्ठान है और सर्व का स्फुरण एक उसी सत्ता से हो रहा है, उसे ब्रह्म सत्ता से भिन्न कुछ भी नही है। चेतना वश उसे एक मे ही नानात्व भासता है। परन्तु उसमे वह अनेकता कुछ नहीं, वह अत्मा सर्व कालमे अपने आप ही मे स्थित है। जैसे क्षीर समुद्र में तरङ्गे वायु द्वारा ही उठती है और वह चीर सागर से भिन्न नहीं है ऐसेही पदार्थ में ब्रह्मसत्ता ओतप्रता नहीं हो सकती। किन्तु जो दुग्ध मथन करने से घृत निकता है उसमे आत्म सत्ता अपने आप मे ही स्थित है, स्फुरण से ही सब कुछ भ्रमसा दिखलाई पड रहा है, फुरना एव भ्रम न हो तो सब कुछ ब्रह्म ही दिखलाई पड़े। हे रामजी! तुम भी फुरने को त्याग कर अपने निर्विकल्प स्वरूप मे ही स्थित होओ, तभी जगत-भ्रम शान्त होवेगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का बयालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग।

जगज्जाल वर्णन।

हे रामजी! इस प्रकार जब मैने सृष्टियों को देखा तो यह विचार करने लगा कि 'शब्द कहाँ से आता है उसका उच्चारण करने वाला कौन है'? ऐसा विचार कर मै चारों ओर देखने लगा तो मुझे फिर तीतर कासा एक शब्द और सुनाई पडा। तब तो मै और भी आश्चर्य मे पड़ गया और बारम्बार उसका विचार करने लगा। फिर तो उस प्रकार के ध्यान से मुझे उस शब्द का अर्थ भी प्रकट होने लगा और फिर मैने क्या देखा कि एक महा सुन्दरी वस्त्राभूषणो से सुसज्जित हो मेरे सामने चली आ रही है। हे रामजी! उसकी शोभा को तो मैं क्या कहू, वह ऐसा शोभायमान

थी मानो साक्षात लक्ष्मी पार्वती ही शरीर धारण किये हो। इस प्रकार वह सुन्दरी मेरे निकट आकर बोली कि हे मुनीश्वर! मैंने बहुत ससार देखा पर तुम्हारे जैसा सामान्यधर्मा पुरुष नहीं देखा, अपने समान तुम्हीं दिखलाई पडे हो। हे मुनीश्वर! तुम ऐसे हो कि जो ससार सागर मे बहता हुआ तुम्हारी ओर आ जाता है तुम उसे अवश्य ही निकाल देते हो, क्योंकि तुम उस सागर से पार हो चुके हो, तुमको मेरा नमस्कार है। हे रामजी! उसे सुन्दरी के इस कथन को सुनकर मैं बडे आश्चर्य में पड गया कि इसने मुझे कभी देखा भी नहीं और सुना नहीं,फिर यह मुझे कैसे जानता है। तब मैंने विचार किया कि यह कोई माया है जो अपना चरित्र दिखलाने आई है,निश्चयही समस्त ब्रह्माण्ड इसीसे दृष्टि आ रहे हैं। हे रामजी! ऐसा उसको जानकर मैं फिर आकाश को उडा तब क्या देखता हू कि कहीं सत सृष्टि भासरही है तो कहीं सकल्प की सृष्टि और कहीं गन्धर्व नगर की सृष्टि भासित हो रही है। तब मैंने जाना कि जैसे यह सत सृष्टियां हैं वैसे ही जगत की सृष्टि भी स्वप्नवत है और बोधमात्र ही अपने आपमे स्थित है। तब मैं अपने आप स्वरूप मे स्थित हुआ तो क्या देखता हू कि वहाँ वह अपने आपही स्थित है और उसमें कोई नहीं है। किन्तु जब उसीमें मैं सकल्प करके देखू तो मुझे आत्माका ही भान होवे और जब सकल्प करके देखू तब नाना प्रकार का जगत ही भासित होवे जो कहीं नष्ट होता हुआ भास और कहीं उत्पन्न होते हुये जान पड़े। कहीं ऐसा भी भासित होवे कि उत्पन्न होकर भी और का और ही हो जावे। उत्पन्न कहीं हों और दृष्टिमें कहीं और ही आवे। कहीं भिन्न सृष्टि और कहीं भिन्न शास्त्र दिखलाई पडे। कहीं नरककी सृष्टि भासे और कहीं स्वर्ग की। कही सूर्य चन्द्रमा और तारों का चक्र चलता हुआ दृष्टि आवे और कहीं अनन्त सृष्टियां और कहीं अनन्त ही सूर्य रुद्र, ब्रह्मा और अनेकों विष्णु दिखलाई पडे। कहीं प्रलय ऐसे मेघ गर्जें और कहीं सुमेरु आदिक पर्वत उडते हुये दृष्टि आवें और रूप

ब्रह्माण्ड जलते और बारहो सूर्य तपते हुये दृष्टि आते थे। कोई ऐसे स्थान दिखलाई पडे कि जिनमे जन्मते ही जीव पुष्ट हो जावे। कोई ऐसी सृष्टि दिखलाई पड़े कि जिसमें जीव उत्पन्न होकर मर जावें और फिर दूसरी सृष्टिमें जाकर जन्म लेवें। उसी क्षण मरे और उसी क्षण जी जावें। कही प्रलय होता रहे तो कहीं उत्पत्ति दिखलाई पडे। इस प्रकार वहां मैंने अनेक सृष्टियां देखीं। परन्तु सबका सार ब्रह्मसत्ता ही था। अतः! हे रामजी! वह ब्रह्मस्वरूपही सब काल और समस्त विश्वका आधारभूत है। उससे भिन्न कुछ नही है। जैसे समुद्र मे बुदबुदे और तरग सब जलरूप ही हैं वैसेही सारा जगत ब्रह्मस्वरूप ही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। इसलिये हे रामजी! मैं तुम और यह जगत भी ब्रह्म रूपही हू। ज्ञान पूर्वक देखो तो सब ब्रह्म ही भासित होगा। संकल्प से ही नाना प्रकार की सृष्टियां भास रही हैं। हे रामजी! उस अवस्था में कई सृष्टियां तो ऐसी भी देखीं कि जो नीचेकी ही ओर जा रही थीं और कुछ सृष्टियों को धर्म अधर्म का विचार ही न था। एक सौ पचास सृष्टिया तो मुझे ऐसी दिखलाई पड़ीं कि जो त्रेता युग की थीं। वे जैसी भिन्नथीं वैसेही उनके जगत भी भिन्न-भिन्न थे। उसींमें ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठ भी भिन्न २ प्रकार से कई दिखलाई पड़े कि जिन सबको मेरेही समान ज्ञान था और स्वरूप एव आकार प्रकार मे भी वे मेरेही समान थे। कुछ मुझसे उत्तम भी थे और उन सबके आगे उपदेश लेनेके लिये रामजी बैठेथे। वे सभी वसिष्ठ मेरेही समान ज्ञानीथे और सब रामजी को उपदेश कर रहेथे। उस कालमें मैंने अनेक त्रेता और सतयुग भी देखे कि जो सभी चैतन्यके आश्रित फुर रहे थे। कहीं महा प्रलय के क्षोभ होरहे थे, कही समुद्र हिलोरें ले रहाथा, कहीं श्यामरूप चन्द्रमा उष्ण और सूर्य शीतल जान पडता था और कही ऐसी भी सृष्टि दिखलाई थी कि जहा दिन में ही अन्धकार रहता और उसमें रात्रिके समान उलूक आदिक पक्षी चेष्टा करते थेकोई सृष्टि ऐसीभी थी कि जिसमें रात्रि और दिनका कुछ

भी ज्ञान न होता था। किसी २ मे धर्मका तो लेश भी नहीं था और जैसी इच्छा होती थी वैसी ही चेष्टा करते थे। कहीं पुण्य वाले नरक को जाते थे और कहीं पापी स्वर्ग को जा रहे थे। कहीं बालु का से तेल निकल रहाथा और कहीं विषपान करते कोई अमर हो रहेथे और किसीको अमृत ही विष होरहा था। जिसका जैसा संकल्प था, वह वैसा ही होरहा था। कहीं पाषाण से कमल उत्पन्न होरहे थे और कहीं वृक्षो में रत्न और हीरे दिखलाई पड़ते थे, कहीं प्रकाश युक्त आकाश में बड़े-बडे वन दीखते थे और कहीं ऐसी सृष्टि दिखलाई पडती थी कि जिनमे मेघही उनके वस्त्र थे और कहीं वस्त्रों के ही समान मेघ होरहे थे। इस प्रकार अन्ध, बहरे, काने और लूले लंगडे अनेक प्रकार से दिखलाई पडे। किन्तु वास्तव में वे सभी सृष्टियां शून्यरूप थीं और सकल्प वशही नाना प्रकार का जगत भासित हो रहा था। कोई सृष्टि ऐसी भी दिखलाई पड़ता थी कि जिनमें सूर्य और चन्द्रमा बिल्कुल ही नहीं जान पड़ते थे। कहीं पृथ्वी की सृष्टि, पृथ्वी में, आग की अग्नि में और जल की जल मे दिखलाई पड़ती थी। कोई सृष्टि पांच भूतकी थी और कोई काष्ठकी पुतली के समान ही चेष्टा कर रही थी। ऐसे-ऐसे देखते हुये मैं न जाने कितने ही योयन की दूरी पर चला गया तब मुझे फिर एक आकाश दिखलाई पडा और वहा भी कोई तत्व न दृष्टि आया। तब मैं फिर आगे बढ़ा तो ऐसी सृष्टि दिखलाई पडी कि जो खाना पीना आदिक सब चेष्टाये वैतालके ही समान करती थी किन्तु स्पष्ट प्रतीत न होती थी। किसी किसी सृष्टिमे मैं और तुमकी भी कोई कल्पना न थी और उनमें केवल निर्द्वन्द पदही विद्यमान था, मन नहीं था। कोई सृष्टि अहकार पूर्ण थी और कोई आत्मभावना कर रही थी, कोई अपना आपही जानती थीं और किसी में भेदभावभी था और किसी मे नहीं भी था। कोई सृष्टि मोक्ष लक्ष्मी से अत्यत ही शोभायमान होरही थी और कोई उत्पन्न होकर तुरंतही नष्ट हो जाती थी। कोई चिरकाल से ज्यों की

त्यों बनी हुई थी। हे रामजी ! इस प्रकार से मैंने वहा अनन्त सृष्टियां देखीं कि जो अंन होतेही फुर रही थीं और सभी सकल्प मात्र थीं। किन्तु वास्तवमें वे थीं कुछ नहीं। मेरे सकल्प ने ही इतनी सृष्टियो को देखा था। मैं जब संकल्प को लय कर देता था तब सृष्टिया भी लय होजाती थीं। हे रामजी ! यह सारा जगत संकल्प मात्रही है, चित्तके फुरनेमें ही समस्त जाल बैठा हुआ है, जैसे-जैसे चित्त फुरता है वैसेही वैसे जगत फैलता जाता है। इस प्रकार मैं नीचे ऊपर सब ओर गया किन्तु चेतन रूपी समुद्र के बुदबुदे के समान ही सब कुछ दिखलाई पडा अन्य कुछ नहीं था। इस प्रकार निश्चय हुआ कि जो जैसी भावना करता है उसे आगे २ वैसा ही भासता है। परन्तु वह सब कुछ संकल्प ही है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चवालिसवाँ सर्ग।

ज्ञान-जगत-एकता वर्णन।

हे रामजी ! वह चिदाकाश ब्रह्म अपने आपही में स्थित है। जैसे जल अपने भावमें सर्वथा स्थित है वैसेही ब्रह्म स्थित है। तब उस ब्रह्म में जो चैतन्योमुखत्व हुआ है उसीसे वह चिदाकाश कहलाया। इसी प्रकार जो मनमें संकल्प हुआ और उसका फुरने से जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड फुरा वह भूताकाश हुआ। मनसे उपजने के कारण ही उसका नाम भूताकाश पडाहै परन्तु यह सब सकल्प मात्रही है और आत्मा से भिन्न कुछ नही है। जब महा प्रलय होताहै तब सभी भूत नष्ट होजाते है और केवल सूक्ष्म ब्रह्मही रहजाता है। हे रामजी ! वह ब्रह्म आकाश के बारहवे भागसे भी अत्यन्त ही सूक्ष्महै, मैं उसकी उत्पत्ति कैसे कहू। जब उसकी उत्पत्ति

ही नहींहै तब उसका प्रलय भी कैसे होगा। हे रामजी ! यह जितना भी जगत दिखलाई पडरहा है सब उस ब्रह्मका इक्षाहै। इस प्रकार से अपनी जो कुछभी स्वभाविक चेष्टा है उसका नाम हृदय है और वह ब्रह्ममय है। वही ब्रम्ह जगतका वपु है। जैसे स्वप्न मे अपना ही सवित देश, कालका रूप होकर भासता है, वैसे ही अपने स्वरूप के अज्ञान से यह दु:खदाई जगत भासता है। जैसे अपनी ही छाया मे अज्ञान वश बालक वैताल की कल्पना करके भयभीत होता है। जब उसको ज्ञान हो जाता तब भय कोई नहीं रहता वैसे ही यह जगत कुछ उपजा नहीं है अज्ञान से ही भासता है। उसमें यथार्थता कुछ नहीं होती। चेतनसत्ता ही जगताकार होकर भास रही है। उत्पत्ति और प्रलय सब उसीके अङ्ग हैं। वही सबका अधिष्ठान रूप और आकाश रूप आत्म सत्ता है। समाज शब्द उस ब्रह्म में ही स्थित है और वह ब्रह्म सर्व शब्दों से रहित भी है। तब उसमें उत्पत्ति और प्रलय भी कहा से आवे। वह आत्मा तो अछेद्य, अदाह्य, अल्केद्य और सर्वथा ही अदृश्य है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है और वह अन उपजा ही अविनाशी है। परन्तु उस आत्मा से जगत भिन्न नहीं है, सब आत्मरूप ही है। तब भला उस आत्मरूप में विकार कैसा ? सब कुछ तो ब्रह्मका ही स्वरूप है और सर्वशब्द एक उसी अधिष्ठान सत्ता मे स्थित है। जैसे शरीर वाला अपने शरीर के सब अङ्गों को अपना ही जानता है वैसे ही यह सारा जगत ब्रह्म के ही अङ्ग है अर्थात् उस अवस्था में योगी को ऐसा ही प्रतीत होता है कि मैं ही सब कुछ हू। और यह सत्य ही है कि देश, काल, वस्तु सहित यह जो कुछ भी जन्म, मरण और साकार, निराकार, केवल, आकेल और नाशी अविनाशी पद है सब उसीके नाम हैं। जैसे अपने अवयव और अवयवी उसी के हैं, फैलाव तब भी अपनी ही स्वरूप है और न फैलावे सिकोड लेवे तब भी अपने ही अङ्ग हैं वैसे ही उत्पत्ति और प्रलय सब उस ब्रह्म के ही अङ्ग हैं, भिन्न नहीं, परन्तु

भिन्न के ही समान भासता है। जैसे सूर्य की किरणो मे जल होता नहीं, परन्तु जल भासता है वैसेही ब्रह्म में जगत कुछ है नहीं किन्तु भासता है। इससे यह सारा जगत आत्मस्वरूपही है। वह शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म एक ऐसा है कि जिसमे संवितरूपी जड़ लगी हुई है। और चित्त एव शरीर रूपी स्तम्भ उसमे लगे हुये हैं। लोकपाल ही उस वृक्ष की शाखाये है और फलही उसका प्रकाश है। अन्धकारही उसमे श्यामता है, फूलो के गुच्छे प्रलय हैं और उन गुच्छों के हिलाने वाले विष्णु अलि-स्वरूप है और रुद्रा आदिकही उसकी जड़ तह और त्वचा है। किन्तु यह सब कुछ सम और सतभाव मे आत्म-ब्रह्म ही विद्यमान है और उसमे कुछ बना नहीं है। वह सर्वदा निज स्वभाव सत्ता मे ही स्थित है। उसमे विकारता कुछ नहीं है और वह सर्वदा ही निर्मल और आकाशरूप, आदि, अन्त और मध्य कल्पना से रहित अपने ही आप मे स्थित है। फिर उसमें लोकपाल आदिक भ्रम कहाँ से होवे! किन्तु उसमे जो अज्ञानता आ गई है, उसी से यह सारा भ्रम भास रहा है। एकाग्र चित्त होने से जगत का भ्रम नहीं रहता। फुरने से ही सारा भ्रम भासता है। फुरने से उलट कर आत्मा की ओर आवे तो जगत-भ्रम नष्ट हो जावेगा। जैसे वायुसे अग्नि जागता है वैसे ही फुरने से जगत भासता है। फुरना मिटे तो जगत-भ्रम भी मिट जाव। और वह फुरना ज्ञान से विना ज्ञान के नहीं मिटता। ज्ञान होजावे तो फुरनेका मिटना ही क्या है? बन्ध भी छूटकर मुक्ति ही हो जावे क्योंकि आत्मा मे बन्ध और मोक्ष कुछ भी नहीं है। उसमे बन्ध और मुक्ति भी जो भासती है सो अज्ञान सेही भास रही है, अज्ञान नष्ट होवे तो आत्मा में बन्ध और मोक्ष न भासे। इसी प्रकार जगत का यह सारा प्रपञ्च आत्मा मे कुछ उत्पन्न नही हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का चवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग ।

जगत एकता प्रति पादन ।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर ! यह सब दृश्य जो आपने देखा वह किसी स्थान में बैठकर समाधिस्त होकर देखा है या उन उन ब्रह्माण्डो मे जाकर देखा है। क्या प्रसङ्ग है, स्पष्ट बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! मैं सर्व शक्तिमान आत्मा हूँ और मेरी शक्तियाँ अनन्त हैं, मुझे कहीं आना जाना क्या है। इन दृश्यों को न तो मैंने एक स्थान में बैठकर देखा है और न कोई सृष्टिही देखा। मैं तो स्वय ही चिदाकाश हूँ और चिदाकाश को ही देखा है। हे रामजी ! जैसे तुम अपने अङ्गो को शिखा से लेकर नखपर्यन्त देखते हो वैसेही मैंने ज्ञाननेत्र से अपने आपही मे जगत् देखा जो निराकार निरवयव आकाशरूप निर्मल और फुरन से रहित दृष्टि आया है, वास्तव मे कुछ नहीं केवल आकाशरूप है। जैसे स्वप्न में सृष्टि का अनुभव हो परन्तु संवितरूप है बना कुछ नहीं और जैसे वृक्ष के पत्र, टास, फूल, फल, सब वृक्षके अग होते हैं वैसेही ज्ञाननेनेत्रसे मैंने जगत् को देखा। हे रामजी ! जैसे समुद्र तरग, फेन, बुदबुदे और अपने आपही मे देखता है, तैसेही मैं अपने आप में जगत् को देखता हूँ और अब भी मैं इस देह मे स्थित हुआ पर्वत की सृष्टि को ज्ञान से देखता हू। जैसे कुटी के भीतर बाहर आकाश एक रूप है वैसेही मुझको आगे और अब भी जगत् आकाशरूप अपने आप मे भासते हैं। जैसे जल अपने रसको जानता है, बरफ अपने शीतलता को जानता है और पवन अपनी स्पन्दता को जानता है वैसेही मैं ज्ञानरूप से सृष्टि अपने मे देखता भया। जिस ज्ञानवान पुरुषको शुद्ध बुद्धि में एकता हुई है वह अपने को सर्वात्मा देखता है और

जिसको आत्मस्थिति हुई है वह वेदन को भी अवेदन देखता है और कदाचित् उपजा नही मानता। जैसे देवता अपने २ स्थानों मे बैठे हुये दिव्यनेत्र से कोटियोजन पर्यन्त अपने को विद्यमान देखते हैं वैसेही जगतो को मैने सर्वात्म होकर देखा। जैसे पृथ्वी मे निधि औषध और रससहित पदार्थ होते हैं सो पृथ्वी अपने मे ही देखती ह, वैसेही मैंने जगत् को अपने ही मे देखा। रामजी ने पूछा हे भगवान्! वह जो कमल नयनी कान्ता छन्दके पाठ करनेवाली थी उसने फिर क्या किया? वसिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह आकाश को धारके मेरे निकट आई और जैसे भवानी आकाश मे आन स्थिति हो वैसेही वह आन स्थित हुई। जैसे मै आकाशवपु था वैसेही उसको भी मैंने आकशवपु देखा। प्रथम मैंने आकाश में इस कारण न देखा कि, मेरा आधिभौतिक शरीर था। जब चित्तपद होकर मैं स्थित हुआ तब वह कान्ता देखी। मैं आकाशरूपी हूँ और वह सुन्दरी भी आकाशरूप है और जगत् जाल जो देखे सो भी आकाशरूप है। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम भी आकाशरूप थे और वह भी आकाशरूप थी, पर वचन विलास तो तब होता है जब शरीर होता है और उसमें बोलनेका स्थान कण्ठ, तालु, नासिका, दन्त, होंठ और हृदय मे प्रेरनेवाले प्राण होते है और अक्षर का उच्चार होता है और तुमतो दोनों निराकार थे; तुम्हारा देखना और बोलना किस प्रकार हुआ। बोलना, रूप, अवलोक और मनस्कार से होता है—रूप अर्थात् दृश्य, अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ और मनस्कार अर्थात् मनका फुरना—इन तीनो विना तुम्हारा बोलना कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! जैसे स्वप्ने मे रूप, अवलोक और मनस्कार, शब्द पाठ और परस्पर वचन होते हैं सो आकाशरूप होते है वैसेही हमारा देखना, और आपस में सवाद हुआ था जैसे स्वप्ने मे रूप अवलोक , आकाशरूप होते हैं और प्रत्यक्ष भासते हैं वैसेही . और बोलना है। तब तुम्हारा प्रश्न कहाँ रहा? जैसी . देखी वैसी ही सृष्टि

है। क्योकि जैसे उनके शरीर के वैसेही इनके भी है और हमारे भी है। जैसा वह जगत था वैसाही यह भी है। पर आश्चर्य है सत् वस्तु तो नहीं भासती और असत् भास रही है। जैसे स्वप्न मे पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और जगत के सर्व व्यवहार कही हैं नहीं परन्तु प्रत्यक्षही भासते हैं और सत् वस्तु अनुभवरूप नहीं भासती वैसेही हम तुम और यह सारा जगत सब आकाशरूप ही है। जैसे स्वप्न में युद्ध होता हुआ जान पडे और शब्द होवे और आना जाना भी भासित हो किन्तु वह हुआ कुछ नहीं, सब आकाशरूप ही है वैसेही यह जगत भी है। हे रामजी! इस पर यदि तुम यह पूछो कि स्वप्न क्या है और कैसे होता है तो सुनो! स्वप्न मिथ्या है, कुछ बना नही, सब अनुभव रूप है। आदि परमात्म सत्ता से जो स्वप्न में शब्द उत्पन्न हुआ वही विराट आत्मा है, उसी से समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई और वे आकाशरूप ही हैं। क्योंकि जब स्वप्न ही आकाशरूप है, उसमें कुछ बना नहीं, तब उससे जो विराट उत्पन्न हुआ वह भी स्वप्नही हुआ। तुम्हारे बोध के लिये ही दृष्टान्त के रूप में मुझे यह स्वप्न और विराट शब्द कहना पडा। परन्तु यथार्थ में यह स्वप्न और विराट भी कुछ हुये नहीं, सब केवल आत्मतत्त्वमात्र ही है और सर्व में वह ब्रह्मही स्थित है। हे रामजी! जैसे स्वप्न की सृष्टि आकाशरूप होती है, वैसे ही हम तुम और यह सारा जगत भी आकाशरूप ही है वास्तव में कुछ हुआ नहीं। स्वप्न जगत और यह जाग्रत जगत सब एकही है। जाग्रत दीर्घ कालका स्वप्ना है और स्वप्न अल्पकालका। जाग्रत के व्यवहार दृढ़ होते हैं और वे उत्पन्न और प्रत्यक्ष होते हुये भासते हैं और स्वप्न के वैसे नहीं भासते। स्वप्न में जो भोग प्रत्यक्ष होते हैं वे भ्रान्तिमात्र हैं और निर्मल आत्मा में उनकी कुछ भी दृढ़ता नहीं है, सब अनहोते ही भासते हैं। हे रामजी! यह हम और तुम आदिक दृश्यों को मनरूपी द्रष्टा ही सत्य मानता है किन्तु इनकी उत्पत्ति अज्ञान एवं भ्रम से ही हुई है। शुद्ध द्रष्टा दृश्य से रहित है।

जेसे द्रष्टा आकाशरूप है वैसे ही दृश्य भी आकाशरूपही है और जैसे स्वप्नकी सृष्टि अनुभव से भिन्न कुछ नहीं भासती वैसेही यह जाग्रत सृष्टि भी अनुभव रूप ही है। चिदाकाश अनन्त आत्मामें जगत का कोई कारण नहीं है। स्वप्न-सृष्टि के समान ही यह जाग्रत जगत भी विना कारण ही है। इसमे भी कुछ हुआ नहीं, सब अनुभव रूप है। समस्त जीव साकार रूप हैं और इनकी जो स्वप्न-सृष्टि अनेक प्रकार की होती है, वह भी आकाशरूप ही है, कुछ बना नहीं। सब कुछ निराकार अद्वैत आत्मसत्ता ही है तब उसमें जो आदि आभास रूप जगत फुरा वह आकाशरूप क्यों न होवे ? साकार और निराकार भी क्या है, सुनो। एक चित्त है दूसरा चैत्य है। चित्त शुद्ध चिन्मात्र को कहते हैं और चैत्य अर्थात दृश्य फुरने को कहते है। तब जिस चित्त को दृश्य का सम्बन्ध है उसका नाम जीव है और जिस चित्तका अज्ञानता वश द्वैत का सम्पर्क है और जो अनात्मामें भी आत्माको अभिमान करता है वही जिव साकार रूप कहलाता है और उसकी स्वप्न सृष्टि आकाशरूप ही है। तब इस प्रकार जो अचैत्य चिन्मात्र और निराकार सत्ता है उसका स्वप्न आभास रूप जगत आकाश रूप क्यों न होवे। हे रामजी ! यह सारा जगत विना कारण ही है। कुछ बना नहीं इससे चिदाकाश और निराकार रूप ही है। जैसे स्वप्न जगत अकृत्रिम होता है वैसेही यह जगत भी अकृत्रिम ही है। इस में निमित्त और समवाय कारण कोई भी नहीं है। सब कुछ अच्युत और अद्वैत आत्मा ही विद्यमान है। तब इसमे दृश्य का कारण कैसे कहा जाय। इसमे कर्त्ता, भोगता भी कोई नही है और न यह जगत ही कुछ है। हे रामजी ! ऐसा जानकर ही ज्ञानी जन मौन बन रहते हैं और जैसा प्राकृत आचार आ पड़ता है। वैसा ही करते है।

उत्तरार्द्ध का पैंतालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालिसवाँ सर्ग ।

विद्याधरी का शोक वर्णन ।

रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! उस एक वर्ष की अवधि में जब कि आप चिदाकाश मे स्थित होकर सृष्टियो को देख रहे थे और वह जो शब्द हुआ था जब उसका आप खोज कर रहे थे तब उस समय मे जो सुन्दरी आप के निकट आकर बोली थी वह कौन थी और उसने क्या-क्या कहा था ।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब उस शब्द की टोह में मैं लगा था तब वह देवी मेरे पास आई तो मैंने उससे प्रश्न किया कि तुम कौन हो और कहा से आई हो और मेरे पास आनेका क्या प्रयोजन है तब वह देवी बोली कि हे मुनीश्वर ! मैं इस लिये आई हू कि आपको बतला दू कि आप क्या हैं और यह सब जो दृश्य आप देख रहे हैं सब उस ब्रह्मरूपी महाकाश के अणु का भी एक अणु है और उसके छिद्र में जो छिद्र है उसी मे तुम्हारा वास है और यह सारा जगतभी उसी में विद्यमान है । उसी सृष्टि के ब्रह्मा को एक कम्प ने इस जगत को रचा है और उसी तुम्हारे जगत मे यह सारी पृथ्वी और पृथ्वी के ऊपर समुद्र विद्यमान है । उसी समुद्र से यह पृथ्वी घिरी हुई है और उसके ऊपर उससे दूना द्वीप है और उस द्वीप के ऊपर उससे दूना समुद्र है । उससे जब आगे जाइयेगा तब आपको सुवर्णकी पृथ्वी मिलेगी जो दश हजार योजन की दूरी तक प्रकाशमान फैली हुई है। उसके प्रकाश के आगे सूर्य और चन्द्रमा का भी प्रकाश फीका जान पडता है । उसके आगे लोकालोक पर्वत है कि जो सब स्थानो में प्रसिद्ध है और उनमे बहुत से नगर बसे हुये हैं । कोई ऐसे भी स्थान हैं कि जहाँ सर्वदा प्रकाश ही रहता है और कोई ऐसे भी स्थान हैं कि जहाँ सर्वदा अन्धकार ही फैला रहता है । किसी स्थान मे पदार्थ मिलते भी है और कहीं नही भी मिलते । किसी स्थान को देखने से

हृदय प्रसन्न होता है और किसी को देखकर दु:खही प्राप्त होता है। कहीं सूर्य नहीं उदय होते और कहीं सूर्य और चन्द्रमा दोनों साथही उदय होते हैं। कहीं पशु रहते हैं, कहीं मनुष्य रहते हैं और कहीं देवता और दैत्य रहते हैं। किसी स्थान मे किसान बसते हैं और कहीं धर्म होता है। किसी स्थान मे विद्याधर रहते हैं तो कहीं-कहीं मदोन्मत्त हस्ती ही विचर रहे हैं। कहीं नन्दन वन है तो कहीं शास्त्र का विचार होता है और कहीं नहीं भी होता है। कहीं राजा हैं, कहीं बड़े बड़े नगर हैं, कहीं उजाड वन हैं, कहीं वायु चलता है, कहीं बड़े २ छिद्र हैं, कहीं ऊँचे शिखर हैं, कहीं देवता रहते हैं तो कहीं मच्छ, यक्ष और राक्षस वास करते हैं। कहीं विद्याधरी देवियाँ रहती हैं तो कहीं अनन्त देशों के बड़े-बड़े स्थान और बड़ी-बड़ी बस्तियाँ विद्यमान हैं। उस लोकालोक के शिखर पर सात योजन का एक लम्बा तालाब है कि जिसमें कमल फूल रहे हैं और चारों ओर कल्पवृक्ष लगा हुआ है तथा वहाँ के सब पत्थर चिन्तामणि के ही समान हैं। उसके उत्तर दि[illegible] मे एक सुवर्ण की शिला पड़ी हुई है कि जिसके शिखर पर ब्रह्मा विष्णु और रुद्र बैठे हुए हैं। हे मुनीश्वर! उसीके ऊपर शिला मे मैं रहती हूँ और वहीं पर मेरा पति और सारा परिवार भी वहीं रहता है हे मुनीश्वर! उसीमें मेरे साथ एक ब्राह्मण भी रहता है कि जो अब बुड्ढा हो गया है फिर भी वह एकान्त मे जाकर सर्वदा वेदाध्ययन ही किया करता है। जब मैं छोटी थी तब उसने कहा था कि मैं तेरे साथ विवाह करूँगा। सो अब जबकि मैं बड़ी हुई तो वह मेरे साथ विवाह करने से इन्कार करता है। हे मुनीश्वर! जबसे वह वृद्ध उपजा है तबसे ब्रह्मचारी ही रहा है और सर्वदा वेदाध्ययन करके विरक्त चित्त बना रहा और मुझमें भी सर्वदा से ही कोई न्यूनता नहीं रही। अबभी आप देखिये कि मैं वस्त्राभूषणो से सर्वथाही सुसज्जित हूँ और मेरे अङ्ग प्रत्यग चन्द्रमा केही समान कोमल और सुन्दर हैं। मैं सर्वजीवोको मोहित करने वाली हू, मुझे देखकर कामदेव भी मूर्छित हो जाता है। मेरे

हंसने से मानों फूल झड़ता है और इस प्रकार मुझमें सर्व गुण विद्यमान हैं। मैं लक्ष्मी की सखी हू परन्तु न जाने क्या कारण है कि वह ब्राह्मण मुझसे विवाह का वचन देकर भी अब एकान्त में जाकर बैठा है और सर्वदा वेदाध्ययन मे ही लगा रहता है। देखिये वह कैसा दीर्घ सूत्री है कि जब मैं उत्पन्न हुई तब तो उसने मुझसे विवाह करने का वचन दिया और जब मैं युवा हुई तब मुझको त्याग कर एकान्त में जा बैठा है। आप महात्यागी हैं। तो भी आप जानते होंगे कि स्त्री को भर्त्तार अवश्य चाहिये। सो अब मैं युवा हुई, मुझे भी पति की आवश्यकता है। पतिके न रहने से मुझे यह बडे २ सरोवर कि जिनमे कमल फूल रहे हैं अग्नि के अङ्गारे के ही समान जान पडते हैं, फूलों से भरे हुये बडे-बडे बाग मुझे मरुस्थलके ही समान जान पडते हैं। उनको देख कर मैं रुदन करती हूं और मेरे नेत्रो से ऐसा प्रवाह चलता है कि जैसे वर्षाकाल का मेघ जल-धारा बरसाता है। जब मैं अपने मुख आदिक अङ्गों को देखती हू तो मेरे आँसुओं का अन्त नहीं रहता। जब मैं कल्पवृक्ष और तमाल तरुके पुष्पों की शय्या बिछाकर उसके ऊपर शयन करने जाती हू तब मेरे अङ्गोंके स्पर्शसे वे पुष्प जलने लगते हैं। जिस कमल को मैं स्पर्श करदेती हू वह भस्म होजाता है। इस प्रकार पतिके वियोगिनी हुई यदि मैं बरफ के पर्वत पर भी जाकर बैठ जाती हूं तो वह भी अग्निके समान ही हो जाता है। तब उससे अपने हृदय की अग्निको शान्त करनेके लिये मैं नाना प्रकार के फूलो का हार बनाकर जो गले में डालती हूँ तो तब भी मेरी तप्तता नष्ट नही होती। इससे मैं समझती हूँ कि मेरे पति का शरीर ही त्रिलोकी है और उनके चरणो में मेरी प्रीति है। मैं घरको सब काम करती हूँ मुझमें सभी गुण विद्यमान हैं। मैंही सबको धारण किये हूँ। मैं ही सबका पालन करती हूँ और मुझको सर्वदाही धेय की इच्छा बनी रहती है। मैं पतिव्रता हूँ। जो पुरुष पतिव्रता की इच्छा करता है वह बहुत सुख पाता है, उसे कोई भी ताप नहीं लगते

वह सब गुणों से सम्पन्न रहता है वह स्त्री भी सर्वदा अपने पति से ही प्रेम करती है और पति भी स्त्री को सर्वदा प्यार ही करता है। हे मुनीश्वर! मैं ऐसी हूँ। पर इस पर भी वह ब्राह्मण मुझको त्यागकर एकान्त में जा बैठा है। मेरे उस पति को कुछ भी इच्छा और कामना नहीं है परन्तु मैं उसके वियोग में जल रही हू। हे मुनीश्वर! वह स्त्री भी भली है कि जिसका पति विवाह करके मर गया हो, क्वांरी भी भली है और जो पति के सयोग से पहले ही मर जाती है, वह भी भली है परन्तु जिसको पति तो प्राप्त हो जावे और उसे स्पर्श न करे तो उसको बड़ा दु:ख होता है। हे मुनीश्वर! जैसे जो पुरुष परमात्मा की भावना के संस्कार से रहित उत्पन्न हुआ है वह निष्फल है वैसे ही पति के विना मैं निष्फल हू। क्योंकि जब मैं शय्या विछाकर शयन करती हू तब मेरी दाहाग्नि से समस्त पुष्प जल जाते है। सुख के स्थान दुखदायक जान पडते है और जो म य स्थान है वे भी न तो सुख देते हैं और न दु ख देते है, मैं सब से ही विरक्त हो रही हुं। सो हे मुनीश्वर! जब उस मेरे पति ने मुझे नहीं अपनाया तब मैं वियोगिनी होकर तप करने लग गई हू। मुझे पति से वैराग्य उत्पन्न हो गया है और अब मुझ कुछ भी इच्छा नहीं रह गई है। मेरे भर्ता का वैराग्यरूपी ओला मेरी तृष्णारूपी कमलिनी पर पडकर उसे जर्जर कर दिया है, इससे मुझे जगत विरस जान पड़ता है और यह ठीक भी है क्योंकि जगत की कोई भी वस्तुये स्थिर नहीं हैं। अतः अब मुझको वैराग्य उत्पन्न हुआ है। तब एक तो मुझे ऐसा वैराग्य हुआ और दूसरी ओर मेरा वह भर्ता भी महा वैराग्यवान होकर एकान्त मे वैठकर वेदाध्ययन करता हुआ आत्मसाक्षात्कार की चेष्टा में लगा हुआ है और उसने भी इस जगत से सर्वथा ही वैराग्य कर लिया है। परन्तु उसे भी अभीष्ट पद आत्मा का दर्शन नही हुआ है। वह मन को स्थिर करने का उपाय करता है, शास्त्रो का अध्ययन एव मनन भी करता है परन्तु अभी तक उसका मन स्थित

नहीं हुआ है। इधर मैं भी ससार से विरागिनी होकर योग मार्गका ही अनुसरण कर रही हू, मुझे यह शरीर विरस हो रहा है, परन्तु जो पाना चाहिये उसे मैं भी अब तक न पा सकी। हां, योग की धारण करते-करते अब मुझमे इतना तो अवश्य हो गया है कि मैं आकाश मार्ग से उड सकती हू, सिद्धो के मार्ग मे भी आती जाती हू, परन्तु इससे भी मेरा वह आत्मपद प्राप्त करने की इच्छा पूर्ण नहीं होती है। हे मुनीश्वर! मुझे निर्वाण पद पाने की इच्छा है। सो अब आप मिल गये हैं, मुझे वही उपदेश दीजिए कि जिस प्रकार मैं पाने योग्य आत्मपद को पाऊँ। हे मुने, इसके लिये मैं सिद्ध विद्या धर और ज्ञानियों के बहुत से स्थानो मे गई परन्तु मुझे कहीं भी सफलता न मिली और जिससे सुना सब आपही का यशोगान करते हैं। कितनों ही ने मुझसे कहा कि वशिष्ठजी ही ज्ञानके द्वारा सबका अज्ञान दूर करते है। सो हे मुनीश्वर! आप निश्चय ही अज्ञान के नष्टकर्त्ता हैं, तब यह दृढ़ रूप से जानकर ही मैं धारणा के अभ्यास से आप की दृष्टि में आई हू। अब आप मुझे वही उपदेश दीजिये कि जिस प्रकार से मेरा अज्ञान नष्ट होकर शीघ्रही मुझे आत्म लाभ होवे और हे मुनीश्वर! वह मेरा भर्ता जो आत्मपद के विना भटक रहा है उसे भी आत्मा का दर्शन कराइये जिससे कि वह मुझे भी आत्मज्ञान का उपदेश देवे। हे मुनीश्वर! आप मुझे माया से पार हुये जान पडते हैं, इसी कारण मैं आपकी शरण आई हूं। मैं स्त्री भाव से आप के पास नहीं आई हू, किन्तु शिष्य भाव से ही आई हू। यदि कोई महान आत्मा की शरण मे जाता है तो वह निष्फल होकर नहीं लौटता वरन् उसका अभीष्ट पूर्ण हो जाता है। सो आप कृपा करके मुझे उपदेश कीजिये कि जिससे मैं आत्मपद को पा जाऊ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छियालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥४६॥



सैंतालीसवाँ सर्ग।

अङ्गना द्वारा अभ्यास योग निरूपण।

हे रामजी! जब उस अङ्गना ने मुझसे ऐसा कहा तब मैं आकाश मे अपने सकल्प से दो आसन बनाकर एक पर उसे और दूसरे पर स्वयं ही पद्मासन लगाकर बैठ गया और उससे पूछा कि हे देवि! तुमने जो यह कहा है कि मेरी सृष्टि एक सुवर्ण की किला मे है, सो यह कैसे? और उस सृष्टि का ब्रह्मा भी तेरा भर्ता कैसे हुआ, यह मुझे बतला। तब उस सुन्दरी ने कहा—हे भगवन्! यह समग्र त्रिलोकी उसी प्रकार बसी हुई है कि जैसे उर्ध्व-लोक में तो देवता वास करते हैं, और पाताल मे दैत्य, नाग और मध्यमण्डल में मनुष्य और पशु पक्षी आदिक जीव तथा समुद्र, पर्वत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी स्थित है। सो इन सबकी चेष्टा जैसी होनी चाहिये वैसी नीति के अनुसार होती है। जैसी पर-मात्मा की नीति है वैसी ही उसके आश्रय सर्व की चेष्टाये हो रही हैं और वह मर्यादा कालान्त मे भी जैसी की तैसी ही बनी रहती है। साधारण जीव जन्मते और मरते है और देवता विमानारूढ़ रहते हैं। दिन का स्वामी सूर्य है और रात्रिका स्वामी चन्द्रमा है। दो ध्रुव हैं तारो का मण्डल चक्रवायु से चलता है। इसी प्रकार से परमात्मा की नीति द्वारा सारे चक्र चल रहे हैं। परमात्मा अनन्त है और उसका अन्त कोई नही पा सकता। जब सवेदन फुरता है तब जगत फैल जाता है और तब यह प्रतीत हो जाता है कि इसके कोई ईश्वरीय सत्ता भी है। और जब वही फुरना नहीं होता तब जगत का सर्वथाही अभाव हो जाता है। हे मुनीश्वर! यदि आप चाहे तो चलकर मेरी सृष्टि का विलास देखे। यद्यपि आपको कोई इच्छा नही है और आप सर्व विलासों से पार हो चुके है तब भी अब आपको कृपाकर मेरी सृष्टि को देखने चलना ही होगा।

वशिष्ठजी कहते हैं ! ऐसा कहकर वह अप्सरा आकाश मार्ग से लेकर दोनो भूताकाश में...

उडते २ लोकालोक पर्वतो को पार करते हुये एक ऐसे सुन्दर पर्वत की शिखर पर जा पहुँचे कि जो चन्द्रमा के ही समान सुन्दर था। तब वहाँ मैने एक ऐसी सुवर्ण की शिला देखी कि जो चारो ओर से एक समान ही जान पडती थी और उसमे सृष्टि आदि का कुछ भी क्रम न था। तब मैने उस अङ्गना से कहा—हे देवि! तू तो कहती थी कि मेरी सृष्टि स्वर्ण शिला में है तो वह स्वर्ण शिला तो यही है न, इसमें कोई सृष्टि कहाँ है? हे रामजी! जब मैने इस प्रकार आश्चर्य युक्त हो उससे पूछा तब वह बोली कि हे भगवन्! इस शिला मे तो मुझे अपनी सृष्टि वैसेही भासती है कि जैसे स्वच्छ दर्पण में अपनी प्रतिबिम्ब भासता है। मेरे हृदय मे जो पूर्व सस्कार पडा हुआ है क्या वह कहीं जा सकता है? देश कालकी जैसी कुछ चर्या है उसके अनुसार वह अवश्य भासेगा। परन्तु अब आप कहते हैं कि इसमे तो कोई सृष्टि नहीं दिखलाई पडती सो निश्चयही यह आपकी दृष्टि में कैसे आवेगा जब कि आपके हृदय में इसका कुछ सस्कार ही नहीं है। बस यही कारण है कि जो आपको इस शिला मे अपनी सृष्टि नहीं भासती है। जैसा अभ्यास होता है वैसाही पदार्थ प्राप्त होता है और केवल उसके उपदेश से ही इष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरन् जब शिष्य उसका अभ्यास करता है तभी उसका अभीष्ट पद प्राप्त होता है। अभ्यास से क्या नहीं मिलता। सारी सिद्धियाँ एक अभ्यास मे ही स्थित हैं। जो कुछ अभ्यास करे वही मिलता है। जब मै पहले यहाँ आई थी तो मुझे इस शिला मे सब सृष्टियाँ न जान पडती थीं क्योंकि तब मुझे अन्तवाहकता प्राप्त थी और यह सृष्टि अन्तवाहक शरीर में ही स्थित है परन्तु अब आपके साथ से द्वैतरूपी कथा के कहने सुनने से मुझे अन्तवाहक का विस्मरण हो गया है जिससे अब मुझे भी इसमे कोई सृष्टि नही भास रही है। जैसे मलिन दर्पण मे अपना मुख नहीं भासता वैसेही आपकी सृष्टि के सकल्प से अब मुझे अपनी सृष्टि नहीं भास रही है। जैसा कुछ दृढाभ्यास होता है वैसेही ज्ञात होती है। अस्तु! इसी प्रकार से जानिये कि जैसे जब उस आदि चिन्मात्र में प्रमाद का

दृढ़ अभ्यास हुआ तब आधिभौतिक भासने लगा, नही तो अन्तवाहकता ही रहती है, वैसेही इसका भी अर्थ समझ लीजिये। हे मुनीश्वर! आप देखे कि अभ्यास से ही सब कुछ सिद्ध होता है। जब अज्ञान का अभ्यास करता है तब अहकार रूपी पिशाच लगकर नाना प्रकार के कष्ट देता है और जब शास्त्रो के वचन सुनता है एव उसमे दृढ़ अभ्यास होता है तब कष्ट क्षीण हो जाता है। हे मुने! आप यह देखे कि जिसको जो कुछ भी सृष्टि प्राप्त होती है सो अभ्यास के ही बल से प्राप्त होती है। इसी प्रकार यदि अज्ञानी ब्रह्मका अभ्यास करता है तो वह ज्ञानी हो जाता है। अभ्यास मे अद्भुत शक्ति है। अभ्यास से पर्वत भी चूर्ण किया जा सकता है। देखिए! अभ्यास से घुन शनै शनैः वृक्षों का भी चर्वण कर डालता है। अभ्यास से अगम अस्तु भी सुगम हो जाती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु के निकट जाकर जिस पदार्थ की वाञ्छा करो सो सिद्ध होता है, वैसेही यह आत्मरूपी चिन्तामणि कल्पतरु है। इसमें जिस पदार्थ का अभ्यास किया जाता है वह सिद्ध होता है। इस प्रकार यह अभ्यासरूपी भूमिका इच्छित फलको प्रदान करती है। बाल्यावस्था का अभ्यास वृद्धावस्था तक बना रहता है। अस्तु! अभ्यास ही सब कुछ है। अभ्यास से बान्धव अबान्धव और अबान्धव बान्धव हो जाते हैं। जैसे मिष्ठान्न मे यदि तीक्ष्णता की भावना होवे तो वह तीक्ष्ण हो जाता है वैसेही जैसा अभ्यास होता है वैसाही प्राप्त होता है। जैसे पुण्य किया रहे तो वह फिर पापके अभ्यास से क्षीण हो जाता है और वैसेही पाप भी पुण्य के अभ्यास से नष्ट हो जाता है, माता भी अमाता हो जाती है, अर्थ के अनर्थ हो जाते हैं, मित्र अमित्र हो जाता है, भाग्य अभाग्य रूप हो जाते हैं वैसेही समस्त पदार्थों को अभ्यास चलायमान कर देता है, अभ्यास का नाश कदापि भी नहीं होता। हे मुनीश्वर! यदि कोई पदार्थ निकट ही क्यो न पडा होवे और इन्द्रियाँ भी निकट ही विद्यमान हो तौ अभ्यास के वह नही मिलता इससे आप देखिये कि जो होता है सब अभ्यास के

बल से सिद्ध होता है। अभ्यास के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ऐसेही अज्ञानरूपी विशूचिका रोग ब्रह्मचर्चा के अभ्यास से नाश हो जाता है। अस्तु! अभ्यासरूपी नौका से ससार सागर बड़ी सुगमता मे पार हो जावेगा, इसमे तनिक भी सशय नही है। जैसे उदित-उदय पदार्थो के अस्तकी भावना कीजिये तो वह अस्तही हो जाये और यदि कोई पदार्थ अस्त हो तो उसके उदय की भावना करने से वह उदय हो जावेगा और वैसेही वरकी सिद्धता शाप से नष्ट हो जाता है और शाप वर से नष्ट हो जाते हैं—ऐसे ही अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। अभ्यासही समस्त शक्तियो का केन्द्र है और अभ्यास ही सब कुछ करने वाला है। अभ्यास न करेगा तो कुछ भी न होगा। कोई कितना भी शास्त्र क्यो न सुने, यदि उसमे विचार अभ्यास न करे तो वह शास्त्र सुनना व्यर्थ है, बिना उसके अभ्यास के दृष्टपदार्थों की प्राप्ति कदापि न होगी। जैसे वन्ध्याको पुत्र नहीं होता वैसेही अभ्यास के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अभ्यास करने से आतमपदका दर्शन शीघ्रही हो जाता है, अभ्यास से इष्ट प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाश से पदार्थ देखा जाता है तो वह देखना ही अभ्यास हुआ। और जो उसके लिये यत्न करना है वह अभ्यास का भी अभ्यास कहलाता है। इस प्रकार जब यत्न और अभ्यास किया जाता है तब पदार्थ प्राप्त हो जाते है। हे मुनीश्वर! किसी वस्तु का बारम्बार चिन्तन करने का ही नाम अभ्यास है। जब ऐसा अभ्यास करेगा तब भला कोई पदार्थ कैसे न प्राप्त होगा। यह जो चौदह प्रकार की भूत जातियाँ हैं,जो उसमें जैसा अभ्यास करता है उसे वैसाही सिद्ध होता है। हे रामजी! यह अभ्यासरूपी एक ऐसा सूर्य है कि जिसके प्रकाश से जीव अपने इष्ट पदार्थ को पाता है। अत उसी प्रकार अभ्यास बल से सारे भय नष्ट हो जाते है और प्राणी निर्भीक होकर पृथ्वी, वन, पर्वत और कन्दराओ में जहाँ चाहे विचरता है। ऐसी क्या वस्तु है कि जो अभ्यास से न मिले। इसी प्रकार हे मुनीश्वर! आपका निश्चय इस दृढ शिलामे है इसी कारण आपको यह शिला

ही भासती है परन्तु मुझको इसमे शृष्टि का अभ्यास है इससे मुझे इसमे शृष्टि ही भासती है। जब आप अपने संकल्प को मेरे संकल्प के साथ मिला कर देखेगे तब आपको भी यही जगत भासेगा। हे मुनीश्वर! अन्तवाहकता सबके पास विद्यमान रहती है और सबका आदि वपु अन्तवाहक ही है। जैसे समुद्र मे सब तरङ्गो की एकता विद्यमान होती है वैसेही एक अन्तवाहकता मे ही सर्व की एकता विद्यमान है। हे मुनीश्वर! जब तुम इस प्रकार के अभ्यासको धारण करोगे अथवा जब धारणाके अभ्यास से तुम्हे शुद्ध बुद्धि प्राप्त होगी तब तुम्हे इस शिलामें शृष्टि भासने लगेगी।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

अड़तालिसवाँ सर्ग।

प्रत्यक्षादिक प्रमाणों द्वारा जगत की निर्वाणता वर्णन।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार उस अगनाने मुझसे कहा तब मैंने पद्मासन बांधकर धारणा—ध्यान करना आरम्भ किया। फिर तो वैसा करने से मेरी आधिभौतिकता नष्ट हो गई और निरन्तर शुद्ध बोध का अभ्यास करने से मुझे बोध का पूर्ण अनुभव उदय होगया। मेरी समस्त कलनाये नष्ट हो गई और मैं उस परम शान्त पदमें स्थित हो गया कि जो पद सर्वथा ही वैसा निर्मल है कि जैसे शीतकाल का आकाश निर्मल होता है। फिर तो वह शिला भी मुझे बोध मात्र ज्ञात हुई और तब मुझे आत्मतत्व मात्र ही वह सब कुछ भासने लगा। हे रामजी! जैसे मैंने आकाशरूप वह शिला देखी वैसे ही सारा जगत आकाश रूप ही है, द्वैत कुछ बना नहीं। आत्म अज्ञान से ही द्वैत भास रहा है। अन्यथा सर्वदा काल वह आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। जैसे कोई स्वप्न में अपने शिर को कटा हुआ देखे और रुदन करे किन्तु जागकर फिर अपने को ज्यो का त्यों देखकर आनन्द करता है वैसे ही जब तक जीव अज्ञान निद्रा में सोता है तब तक जगत के

नाना प्रकार के भ्रमो को देखता है और जब स्वरूप में जागृत हो जाता है तब उसके सारे भ्रम मिट जाते हैं और तब केवल अपना आपही भासता है। परन्तु हे रामजी! यह आश्चर्य तो देखो कि जो वस्तु सत्रूप है वह असत् की नाईं जान पड़ता है। आत्मा सत् रूप है परन्तु भासता नहीं और जो असत्रूप है वह सत् की नाईं भासता है ऐसे ही यह शरीर आदिक दृश्य असत्रूप है परन्तु वे सत्य जान पडते हैं और आत्मा जो कि सर्वदा ही प्रत्यक्षरूप है वह नहीं भासता और शरीरादिक अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान के कारण प्रत्यक्ष भासते हैं। भला यह कैसा आश्चर्य है? आत्मा सर्वदा ही प्रत्यक्ष है और उसीसे लोक परलोक की सारी क्रियाये सिद्ध हो रही हैं और जगत के सारे पदार्थ आत्मसत्ता से ही सिद्ध हो रहे हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही आत्मसत्ता भासित होता है और सबका भ्रमवश अधिभौतिक भासने लगा है और इस प्रकार वह भ्रमके कारण ही अपने आपको आधिभौतिक जानने लगा है परन्तु है वह निर्विकार और निर्गुण। वही सर्वका रूप है और उसको कोई नहीं जानता। परन्तु यह जानना चाहिये कि समस्त जीवों का आदि शरीर अन्तवाहक ही है और वह शुद्ध आत्मा का किंचन केवल और आकाशरूप ही है। उसमें कुछ बना नहीं सकल्प से ही आधिभौतिकता दृढ हुई और वह मिथ्या भ्रमके कारण ही ऐसी भास रही है जैसे स्वप्न में आधिभौतिक शरीर भासता है वैसेही जाग्रत में भी भासता है परन्तु अन्तवाहकता अविनाशी है और उसका लोक परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। वह वास्तव बोधस्वरूप कुछ भिन्न नहीं है और भ्रमके कारण ही आधिभौतिक दृष्टि आता है। जैसे अज्ञान के कारण ही सीप में मोती और सूर्य की किरणों में भी जल का आभास होता है और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे ही भ्रमवश अपने में आधिभौतिक भास रहा है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अडतालिसवां सर्ग समाप्त ॥४८॥

उनचासवाँ सर्ग

स्वर्ण शिला वृतान्त वर्णन



हे रामजी ! जब इस प्रकार से बोध दृष्टि करके मैंने उस शिला को देखा तो वह मुझको ब्रह्म रूपही भासित हुआ और जब उसे संकल्प दृष्टि से देखा तो उसमे पृथ्वी, समुद्र, पर्वत और सूर्य चन्द्रमा आदिक सब कुछ भासित हुये। जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब भासता है वैसे ही आत्मरूप दर्पण में सारा जगत भासता है। हे रामजी ! तब इस प्रकार से उस शिला को देखकर मै देवी के साथ उसमें सकल्प शरीर रचकर प्रविष्ट हुआ। फिर तो हम दोनो जगत् के व्यवहारको लाघते गये और जहाँ परमेष्ठी ब्रह्मा का स्थान था वहां हम जा बैठे। तब देवीने कहा, हे भगवान् ! तुम परमेष्ठीसे ऐसे कहना कि, यह देवी मुझको यहां ले आई है, और यह पूछना कि, इसको जो तुमने विवाहके निमित्त उपजाया था तो फिर तुमने इसका त्याग क्यों किया? हे मुनीश्वर! उसने मुझको विवाह के अर्थ उत्पन्न किया था पर जब मै बडी हुई तब उसने मेरा त्याग किया ? उसको वैराग्य उपजा है और उसे देखकर अब मुझको भी वराग्य उपजा है, इसीसे हम उस परमपदकी इच्छा रखता हैं कि जहां न द्रष्टा है न दृश्य है और न शून्य है केवल शान्तरूप है और जो सर्ग के आदि और महाकल्पके अन्तमे रहता है उसमे स्थित होने की इच्छा कि है जिसमे स्थित हुये पहाडवत् समाधि हो जावे। ऐसे परमपद का उपदेश करो। हे रामजी ! इस प्रकार कहकर वह भर्त्ताके जगाने के निमित्त निकट [illegible] बोली, हे नाथ ! तुम जागो, तुम्हारे गृह मे यह दूसरी सृ[illegible] पुत्र वशिष्ठ मुनि आये हैं। तुम उठकर इनका अर्घ्य, पा[illegible] करो क्योंकि, गृहमे अ[illegible] आये हैं। महापुरुष केवल [illegible] होते हैं। हे रा[illegible]

जब इस प्रकार देवीने कहा तब ब्रह्माजी समाधिसे उतरे और उनके प्राण देह और नडियो मे वैसेही आन स्थित हुये कि जैसे वसत ऋतु से सब वृक्षों मे रस हो, आता है वैसेही उसकी दशों इन्द्रियों और चारो अन्त. कारण मे शनैः २ करके प्राण स्थित हुये और सब इन्द्रिया खिल आईं। तब उन्होने मुझको और देवी को अपने सन्मुख देखा और ज्ञानसे ॐकार का उच्चार करके सिंहासन पर बैठे। ब्रह्माजी के जागने से बडा शब्द होने लगा और विद्याधर, गन्धर्व, ऋषि, मुनि आ प्रणाम करके स्तुति और वेद की ध्वनि से पाठ करने लगे। ब्रह्मा बोले, हे ऋषे! कुशल तो है? तुम इतनी दूर से क्यो आये हो, तुम तो सार असार को जानने वाले हो। जैसे हाथमें बेलका फल होता है वैसेही तुमको ज्ञान है, बल्कि ज्ञानरूपी समुद्र हो। ऐसे कहकर उसने अपने निकट आसन दिया और नेत्रों से आज्ञा की कि, इस पर विश्राम करो। हे रामजी! जब इस प्रकार उसने मुझसे कहा तब मै प्रणाम करके उसके निकट जा बैठा और एक मुहूर्त पर्यन्त देवता, सिद्ध और ऋषियों के प्रणाम होते रहे। उसके अनन्तर जब विद्याधर और देवता सब चले गये तब मैंने कहा हे भूत–भविष्य–वर्तमान तीनो कालोके ज्ञाता ईश्वर परमेष्ठी! तुम ऊँचे आसन पर विराजमान हो और साक्षात् ब्रह्मज्ञानके समुद्र हो, यह जो तुम्हारी शक्ति देवी है जिसको तुमने भार्या करने के निमित्त उत्पन्न किया था और फिर उसे विरस जानकर त्याग किया है सो तुम्हारे वैराग्य करने से इसको भी वैराग्य उपजा है इस निमित्त यह मुझको यहां ले आई है। आप मुझे उपदेश न कीजिये। ब्रह्माने कहा हे मुने! मुझमें उदय और अस्त कुछ भी नहीं है मै तो सर्वथा ही सब से शान्त अजर और अमर रूप हूँ। मै ही अपने आपमें स्थित और परम आकाशरूप हूँ। मेरे स्त्री बच्चे कहाँ? तौभी जैसी कथा है वैसी कहता हूँ, सुनें। आप एक महान पुरुष हैं, आपके सन्मुख में जैसा का तैसा ही कहूँगा। देखिये,

वह आदि शुद्ध चिदात्मा चिन्मात्र पद है, उसने जन्मों का फुरना बना कुछ नहीं। जैसे जहा समुद्र हैं वहां तरङ्ग भी होते हे परन्तु समुद्रसे भिन्न कुछ तरङ्ग हुये भी नहीं—वही रूप हैं, तैसेही यह जगत् भी कुछ उपजता नहीं और न लीन होता है, ज्यो का त्यो आत्म समुद्र अपने आपमे ही स्थित है, जगत् सकल्प शक्तिमे फुरताहै और शकल्प शक्ति अहरूपी किञ्चन मात्र उदय हुई है। जैसे कमल से सुगन्ध लेकर परियाँ निकलती है तैसे ही भूलसे देवी जगतरूपी सुगन्धको लेकर उदय हुई भासती है। हे मुनीश्वर ! वास्तव मे न कोई सकल्प है और न प्रलय है ज्यों का त्यों ब्रह्म अपने स्वभाव मे स्थित है। जैसे आकाश में आकाश और समुद्र मे समुद्र स्थित है, वैसेही ब्रह्म मे ब्रह्म स्थित है। आत्मा मे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ; वह उदय और अस्त सबसे परे है। आकाश में नीलता नहीं होती, आकाश न तो सत्य है और न असत्य, ऐसेही ब्रह्म मे जगत सत्य असत्य कुछ भी नहीं है। मै उसी ब्रह्म का किञ्चन रूप ब्रह्मा हूँ, और यह जगत् मेरे ही सकल्प से उत्पन्न हुआ है। अस्तु, अब मै अपने सर्व सकल्पों को निर्वाण करता हूँ। फिर तो जैसे कमल के नष्ट हो जाने से सुगन्धि का अभाव हो जाता है वैसेही जगत् का अभाव हो जावेगा क्योंकि मेरी ही इच्छा तो फुरी थी और अब उसीका निर्वाण हुआहै, तब वासना न होनेसे जगत् भी कहा होगा यह जो तुम्हारा शरीर भास रहा है वह भी तो संकल्प से ही भासता है परन्तु अब तुम अपनी सृष्टि मे चले जाओ तो देखें कि फिर यह कैसे भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥



पचासवाँ सर्ग

प्रलयकाल वर्णन



रामजी। इस प्रकार मुझसे कहकर ब्रह्मा जी ने पद्मासन लगा लिया। पद्मासनका लगाना था कि उनके मनोगत विचार तत्क्षण ही कार्यरूप में परिणत हो गये और जगत मे लगी हुई वृत्तियाँ सर्वथा ही शान्त हो गईं। वृत्तियों का शान्त होना था कि हे रामजी! वह देवी भी उन्हीं के समान हो पद्मासन लगाकर उनमें लीन होने लगी। फिर तो इस प्रकार ब्रह्मा के लीन होते ही सृष्टि प्रलय के सारे उपद्रव उठ खड़े हुये। मनुष्य पाप करने लगे, स्त्रियाँ दुराचारिणी हो गई। सर्व जीवोंने अपने २ धर्म को त्याग दिया। काम, क्रोध, लोभ, मोह और राग द्वेष बढ़ गये तथा सर्व साधारण शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हुये अनीश्वरवादी हो गये। फिर तो वर्षा बन्द हो गई, प्रतिक्षण कुहिरा छाया रहता, कहीं अकाल पड़ता और कहीं धनी दरिद्र और दरिद्र धनी होते थे। धर्मात्माओंको आपदायें भोगनी पड़तीं और राजानीति त्याग मद्यपान करते, चोर चोरी करते तथा जीवों को महान आपदायें भोगनी पड़तीं। राजा अन्याय करने लगे। धर्म लुप्त हो गया अधर्म फैल गया। मूर्ख राजा बन बैठे और पण्डित ज्ञानी सेवा टहल करने लगे। दुष्टों को मान प्रतिष्ठा होने लगी और सत्य व्रत-धारियोंका उपहास होने लगा। पृथ्वीने अपनी सत्ता त्याग दी और इस प्रकार सभी जीव निष्प्राण हो गये। समस्त स्थान धसकर खाई हो गया, भूचाल आया, पर्वत कांपने लगे। चारों ओर हाहाकारी शब्द होने लगा और समस्त वेलि वृक्ष सूखकर जर्जर हो गये। ब्रह्माने ही पृथ्वी की रचना की थी, जब वही नहीं रहा तब उसकी रची हुई पृथ्वी कैसे रहती और इस प्रकार जब ब्रह्माके अस्त होते ही पृथ्वी भी लय हो गई अथवा जब ब्रह्माके विरस

होते हो वह भी विरस हो गई तो उस पर विस्तृत जगत कैसे प्रफुलित होता। फिर तो सारे जगत की चैत्यता नष्ट होगई और पृथ्वी महान दुःखको प्राप्त होकर धूल उडाने लगी तथा नगर के नगर नष्ट भ्रष्ट हो गये। समुद्र ने अपनी मर्यादा त्यागदी, पर्वत और कन्दरायें गिर २ कर नष्ट हो गईं। राजा और उसके नगरके लोग भागने लगे। समुद्र को तरङ्गें उछल उछल कर आकाश को चूमने लगीं। बड़े बडे रत्नों के पर्वत गिर पड़े और पड़े और उन सब गिरे हुये रत्नों की चमत्कार तारा मण्डल के समान ही पृथ्वी पर भासने लगा। महान क्षोभ उत्पन्न हुआ, सूर्य और चन्द्रका प्रकाश क्षीण हो गया। बड़वाग्नि उदय हो गई। वरुण और कुवेर आदिक देवताओं के वाहन भयभीत होगये। जलके वेग से बडे २ पर्वत कांप उठे। पक्ष धारी पर्वत उड़–उडकर नन्दन वनमें जाने लगे और इस प्रकार कल्पतरु और नन्दन वनभी टूट–टूटकर समुद्र में गिरने लगा, सिद्ध और गन्धर्व भी आकाश से टूट–टूट कर गिर पडे। सब समुद्र इकठ्ठे हो गये। गंगा, जमुना और सरस्वती आदिक सब नदियां समुद्र मे मिलकर घोर शब्द करने लगी। उनमें से मच्छ कच्छ निकल कर पर्वतो पर जाने लगे, कितने ही पखधारी जलचर उड–उडकर आकाश देखने लगे। हाथी चिग्घाडने लगे, तारा मण्डल टूट गया, सूर्य और चन्द्रमा भी टूट टूटकर समुद्र में गिरने लगे। महान क्षोभ उत्पन्न हो गया।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥



इक्यावनवाँ सर्ग

निर्वाण वर्णन



हे रामजी ! इस प्रकार जब उस विराट रूप ब्रह्माने अपने जगतरूप प्राणोंको खैंच लिया तब जगत चक्रको सचालित करने वाला वायु अपनी मर्यादा को त्याग कर क्षुब्ध हो गया और उस चक्रके समस्त यन्त्र नष्ट होने लगे। कारण कि वे सकल्प ब्रह्माके ही सकल्प थे और ब्रह्माने ही अपने प्राणों एव सर्व सकल्पों को खैंच लिया था। फिर किसकी सामर्थ ऐसी थी कि उन्हे रोक सके। घडी भरमें महाप्रलय उपस्थित हो गया। तेजोमय देवता जो वायुके आधार रहते थे, वायु के निकल जानेसे वे निराधार होकर समुद्रमे ऐसे ही गिर पडे कि जैसे पके हुये फल वृक्षसे गिर पडते हैं। ऐसी प्रबल वायु चली कि उससे महान क्षोभ उत्पन्न हो गया। घोर शब्द होने लगे। प्रबल वायुके झोकेसे सुमेरु पर्वतकी कदरा गिर पडी और सुमेरु पर्वत भी गिर पडा।

वशिष्ठजी ऐसा ही कह ही रहे थे कि रामजीने पूछा—हे भगवन्! यह जो सकल्परूप ब्रह्माको आपने विराटरूप कहा है सो मेरी बुद्धिमें तो ऐसा आ रहा है कि यह सारा जगत उसीका शरीर है और वह सकल्परूप नहीं है। सकल्परूप तो आकाशरूप होता है। किन्तु यह जगत तो प्रत्यक्ष ही स्थूलरूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। हे मुनीश्वर! जो जिससे उपजता है, वह वैसाही होता है, तब इस जगत को ब्रह्मा का अङ्ग कैसे मानें ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! इस जगत का और केवल आत्म तत्व मात्र ही अपने आपमे स्थित था। तब उस केवल चिन्मात्र में 'अह' की किंचनता होकर स्थित हुई और उस किचनता ने दृश्यों का साथ कर लिया तब उसके अनुभव ग्रहण से जो निश्चय हुआ उसका नाम बुद्धि पडा और जब बुद्धि हुई तब मन हुआ। फिर तो उस मनके फुरने से ही जगत दृश्य फैल गया। इस

प्रकार उस शुद्ध चिन्मात्र में जो चेत्य है वही ब्रह्माका स्वरूप है और उसीके स्फुरणसे यह जगत उठ खडा हुआ है। बस, उसी संकल्परूप जगतका यह विराट है परन्तु वह आकाशरूप ही हे और उसमे कुछ बना नहीं। यह जितने कुछ आकार भास रहे हैं सब ब्रह्मसे ही भासता है किन्तु जितने भी सकल्प हैं सब आकाशरूप ही हैं, आत्मसत्ता केवल आकाशरूप स्वतः अपने आपमें ही स्थित है। उसमें अहका स्फुरण मिथ्या है और अज्ञान से ही दृढ हुआ है। अज्ञानी को ही भासता है, ज्ञानी को नहीं। क्योंकि सब सकल्पमय है, कुछ बना नहीं। सारा जगत चिन्मात्र स्वरूप ही है। एक अद्वैत कलना ही सर्व शब्दो से रहित आत्मामात्र, मैं—तुम—आदिक शब्दो से रहित स्थित है, यह जगत उसी आत्मा का किञ्चन है। परन्तु यह वास्तव मे कुछ है नहीं, सकल्प की दृढ़ता से ही दृश्यरूप भास रहा है। जैसे सूर्य की किरणो में जलका आभास होता है वैसेही जगत आत्मा का आभास रूप है। हे रामजी! जिस रूप में मै इस जगत का विवेचन कर रहा हूँ यदि कोई इसे ऐसा ही समझ कर अपने हृदय में धारण कर लेवे तो निश्चय ही उसकी भासनायें नष्ट हो जावेंगी हुआ हे उसीका नाम आदि ब्रह्मा है और वह मै ही हूँ। परन्तु मे सर्वदा ही अपने आप में स्थित हूँ। मुझमें अपने आपही अहं विद्यमान है। तब उसी अह में जो आदि सकल्प फुरा उसीमें जगत् का जाल रच उठा। पश्चात् उसी जगत् भ्रम का एक नियम बना, परन्तु वह ब्रह्म शक्ति कि जो सर्व सकल्पों की जन्मदात्री है शुद्ध और निराकार है। उसे उत्पन्न हुए आज एक हजार चौकडी युग बीत गये और अब यह कलयुग चल रहाहै। इस कारण अब मै परम चिदाकाश मे ही स्थित होना चाहता हूँ, क्योंकि अब कल्पों और महा कल्पो की मर्यादा पूर्ण हो चुकी और अब इसमे कुछ रस नहीं रहा, इस कारण अब मे इसे त्याग [illegible] यदि इसे त्यागूँगा नहीं तो निर्वाणपद नहीं [illegible] तो होना ही चाहिये

था कि अपनी खोई हुई अन्तवाहक शक्ति को प्राप्त कर लूँ। सो धारणा के अभ्यास से इसे प्राप्त किया। यह आकाश में ही फुरी है इससे इसको अन्तवाहक होना ही चाहिये। आकाशमें इसको तुम्हारी सृष्टि भासित हुईथीकि जिससे परम पद पानेकी इच्छासे तुम्हारा साथ हो गया, और यह तुमको यहाँले आई है। देखो, श्रेष्ठ पुरुषों का यही धर्म है कि वे अपने शरणागतोंकी रक्षा करें। यह तुम्हारा शरण देखकर आई है, तुम इसका कल्याण करो। यह मेरी मूर्तिरूप वासना-शक्ति है। पहले मैंने इसको रचकर तब समस्त जगत्को रचा है। परन्तु अब मुझे अफुर और निर्वाण पदको पानेकी इच्छा हुई है कि जिससे मैंने इसे त्याग दिया है और अब यह देखिये कि इसको भी वैराग्य उत्पन्न हो गया है। अच्छा है, वैराग्य होना ही चाहिये, क्योंकि जगत्का सारा विलास तो सकल्प मात्र ही है, इसमें कुछ भी वास्त विकता नहीं है, यह परमात्म तत्व ज्योंका त्यों अपने आप में ही स्थित है। इसमें मैं, तुम, और मेरा, तेरा आदिक शब्द समुद्र के तरग की समान ही स्थित हैं, जैसे समुद्रमें तरङ्ग उपजकर शब्द करते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं, वैसेही हमारा तुम्हारा बोलना और मिलाप होना है। हे मुनीश्वर! वास्तवमें न कोई उपजा है और न कोई लीन होता है। जैसे तरङ्ग जलरूप है भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही सब जगत् ब्रह्म स्वरूप है, भिन्न कुछ नहीं, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सब वही रूप है। हे मुनीश्वर! मैं चिदाकाश हूँ और चिदाकाश में स्थित हूँ। यह ब्रह्मशक्ति है जिसने जगत् रचा है, यह भी अजर और अमर है और न कदाचित् उपजा है और न नाश होगा। शुद्ध आत्मा किञ्चन द्वारा जगत होकर भासता है। जैसे सूर्यकी किरणें जल हो भासती हैं, परन्तु जल कुछ हुआ नहीं वैसेही आत्मा ही है, विश्व कुछ हुआ नहीं। हे मुनीश्वर! जगत जाल होकर आत्मा भासता है पर जगतके उदय अस्त होनेसे आत्मामें कुछ क्षोभ नहीं होता, वह ज्योंका त्यों एक रस स्थित है। जैसे समुद्रमें तरग उपजते और लीन

होते हैं परन्तु समुद्र ज्योंका त्यों रहता है, वैसेही जगत कुछ उपजा नहीं सङ्कल्पसे उपजे की नाई भासता है। जैसे दृढतासे जल ओला हो जाता है, वैसे ही चिन्मात्र मे चेतन्यता से पिण्डाकार भासता है परन्तु उपजा कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! यह जो शिला है जिसमें हमारी सृष्टि है सो केवल चिदघन रूप है। तुम्हारी सृष्टिमें यह शिला है और हम चैतन्यघन हैं। चैतन्य आकाश आत्मा शिला होकर भासता है। जैसे स्वप्न में सृष्टि सब जाग्रत भासती है सो बोधरूप है बोध ही जगतसा भासता है, वेसेही यह जगत और शिलारूप होकर बोध ही भासता है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, नदी, वरुण, कुबेर आदिक जगत जो भ्रमसे दृष्ट आता है सो बना कुछ नहीं चैतन्यका किञ्चन ही ऐसे भासता है। जैसे सूर्यकी किरणो मे किंचन जला भास होता है वैसेही जहाँ आत्मसत्ता है वहाँ जगत भासता है। सब पदार्थ आत्मसत्ता से ही भासते हैं। ब्रह्मसत्ता सबमें अनुस्तूप है इससे सब ओरसे सृष्टि बसती है। जैसे एक शिलामे हमारी सृष्टिमे जो कुछ पदार्थ भासते हैं और इनमें सृष्टिसे बसती है सो प्रच्छन्न दृष्टिसे नहीं भासती पर जब अन्तवाहक दृष्टि देखिये तब सृष्टि भासती है। घटोंमें, गढ़ोंमें और पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदि ठौरोंमें सृष्टि है और और उसे पूर्ववत आत्मा ही ज्यों का त्यों भासित होगा। उस आत्मा में समवाय और निमित्त कारण कुछ भी नहीं है। उसमें इस जगत का उदय और नाश होना सर्वथा ही असत्य है, उसमें अद्वैत और अनन्त भी क्या कहा जाय? महाप्रलय मे जब कि सर्व शब्दों का अभाव हो जाता है तब परम चिदाकाश अनुभव सत्ता ही शेष रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! हमको अब भी संवित सत्ता ही भासती है। मै शुद्ध और सर्व कलनाओंसे रहित हूँ और चिन्मात्ररूप ही हूँ। मुझमें जो वशिष्ठ का अह फुरा है सो कुछ फुरा नही और फुरे के भासता है परन्तु वह आत्मा का ही किञ्चन है, उसमें नहीं। हे रामजी! इसी

तुम भी वासना रहित होकर अपनी स्वाभाविक चेष्टा करो या न करो अथवा जो इच्छा हो वही करो परन्तु कुछ सकल्प न करो कि मैं यह करूंगा—परम मौनता धारण—करके उसी मे स्थित हो जाओ। यही ज्ञानियों का आचरण है और उनको ऐसाही अनुभव होता है, तुम भी ऐसा ही निश्चय करलो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–निर्वाण प्रकरण इक्यावनवां सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

बावनवाँ सर्ग।

परमार्थ योगोपदेश वर्णन



हे राम जी। यह संसार अज्ञानी को ही सरल भासता है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी को तो सब कुछ ब्रह्म ही भासता है। ब्रह्म मे अह, त्व आदिक कोई भी शब्द नहीं है। वह केवल चिन्मात्र और आकाश रूप ही है। उसमे अह त्व आदिक शब्द तो विचारके निमित्त ही कहे गये हैं। पर वास्तव में वह चेतना रहित और चिन्मात्र पद ही है उसमें जब सर्व शब्दों का ज्ञान किया जाता है, तब शेष शान्त पद ही रहता है, अन्यथा नही। हे रामजी। एक अधिष्ठान ज्ञान है और दूसरा ज्ञप्तिज्ञान है, अधिष्ठान ज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर का है और ज्ञप्ति ज्ञान जीवको है। एक लिङ्ग शरीर का जिसको अभिमान है वह जीव है और सर्वलिङ्ग शरीर का अभिमान ईश्वर है। जहाँ इस जीव की ज्ञप्ति पहुँचती है उसको जानता है। जैसे एक शय्या पर दो पुरुष सोये हों और एक को स्वप्ना आवे उसमे मेघ गर्जते हैं और दूसरा वह मेघका शब्द नहीं सुनता क्योंकि ज्ञप्ति उसके नहीं आई परन्तु मेघ तो उसके स्वप्न मे है। जैसे सिद्ध विचरते हैं और जीवको दृढ़ नहीं आते क्योंकि, इसकी ज्ञप्ति नहीं आती और सब सृष्टि बसती है तिसका ज्ञान ईश्वर को है सो सृष्टि भी सङ्कल्प मात्र है, कुछ बनी नहीं और भ्रमसे भासती है। जैसे बादल मे

हाथी, घोडे, मनुष्य आदिक विकार भासते हैं वे भ्रान्ति मात्र हैं वैसेही आत्मा के अज्ञान से यह शृष्टि नाना प्रकार की भासती है हे रामजी। यह आश्चर्य है कि आत्मामें अहकार का उत्थान होता है कि, मैं हूँ और अपने का वर्णाश्रम मानता है पर विचार करके देखिये तो अह कुछ वस्तु नहीं सिद्ध होती है और यह अहं फुरती है। यह आश्चर्य हैं कि, भूत कहासे उठा है और शुद्ध आत्मा ब्रह्म यह कैसे हुआ है? अनहोते अहकार ने तुमको मोहित किया है इसके त्यागने मे तो कुछ यत्न नही इसका त्याग करो। हे रामजी। यह मिथ्या सकल्प उठा है। जब अहकार का उत्थान होता है तब जगत् होता है है और जब अहन्ता मिट जाती है तब जगत् का भी अभाव हो जाता है क्योंकि कुछ बना नहीं भ्रम मात्र है। जैसे संकल्प नगर और स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र है वैसेही यह विश्व भी भ्रममात्र है। कुछ बना नहीं और आत्म तत्व रूप है–भिन्न नहीं। जैसे पवने के दो रूप हैं चलता है तोभी पवन है और ठहरता है तो भी पवन है, वैसेही विश्व भी आत्म स्वरूप है। जैसे पवन चलता है तब भासता है और ठहर जाता है तब नही भासता, वैसेही चित्त चैतन्य शक्ति का चमत्कार है, जब फुरती है तब विश्व भासता है पर तौभी चिदघन है और जब ठहर जाता है तब विश्व नही भासता परन्तु आत्मा सदा एक रस है। जैसे जलमें तरङ्ग और सुवर्ण मे भूषण है सो भिन्न नहीं, वैसेही आत्मा मे विश्व कुछ हुआ नहीं–आत्म स्वरूप ही है। ज्ञप्ति भी ब्रह्म है और ज्ञप्ति मे फुरा विश्व भी ब्रह्म है तो विधि, निषेध और हर्ष, शोक किसका करें? सब वही है। हे रामजी! सकल्पो को स्थिर करके देखो कि, सब तुम्हारा ही स्वरूप है। जैसे मनुष्य शयन करता है तो उसको स्वप्न सृष्टि भासती है और जब जागता है तब देखता [illegible] मेराही स्वरूप है। [illegible] विश्व भी तुम्हारा [illegible] जैसे समुद्रमे तरङ्ग [illegible] रूप हैं

वैसेही विश्व आत्म स्वरूप है और जैसे चितेरा काष्ठमें कल्पना करता है कि, इतनी पुतलियाँ निकलेगी और जैसे मृत्तिकामे कुम्हार घटादिक कल्पता है कि, इसमे इतने पात्र बनेंगे पर काष्ठ और मृत्तिका में तो कुछ नहीं, ज्यों का त्यों काष्ठ है और ज्यो की त्यो मृत्तिका है परन्तु उनके मनमे आकार की कल्पना है, वैसेही आत्मा मे ससार रूपी पुतलिया मन कल्पता है। जब मनका सकल्प निवृत्त हो तब ज्यो का त्यों आत्म पद भासे। जैसे तरङ्ग जलरूप है, जिसको जलका ज्ञान है सो तरङ्ग भी जलरूप जानताहै और जिसको जलका ज्ञान नहीं सो भिन्न २ तरङ्गके आकार देखताहै, वैसेही जब निस्सकल्प होकर स्वरूप को देखे तब फुरने मे भी आत्मसत्ता ही भासेगी। अह त्व आदिक सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है तो भ्रम कैसे हो और किसको हो। सब विश्व आत्मस्वरूप ही है और आत्मा निरावलम्ब अर्थात् चैत्य और अहकार से रहित केवल आकाशरूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे तब नाना प्रकार की भावना मिट जायेगी क्योंकि, नाना प्रकार की भावना जगतमें फुरती है। जगत् का बीज अहन्ता है, जब अहन्ता नष्ट होतब जगत् का भी अभाव हो जावेगा। हे रामजी! अहन्ताका फुरना ही बन्धन है और निरहकार होनाही मोक्ष है। एक चित्त बोध है और दूसरा ब्रह्म बोध है—चित्त बोध जगत् है और ब्रह्म-बोध मोक्ष है। चित बोध अहन्ता का नाम है, जबतक चित्तबोध फुरता है तब तक ससार है और जब चित की भावना होती है तब मुक्त होता है। इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्म बोध है। हे रामजी! जैसे पवन फुरता है वैसेही ब्रह्म में चित्त-बोध है। जैसे फुर अफुर दोनों पवन ही है, वैसेही चित्त-बोध और ब्रह्म-बोध ब्रह्म ही है—भिन्न कुछ नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासता है जो चैतन्य मात्र और शान्तरूप अपने स्वभाव मे स्थित है। जिसको अधिष्ठानका ज्ञान होता है उसको निवृत्त भी वही रूप भासता है। और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नही होता उसको

भिन्न २ जगत् ही भासता है। जैसे एक बीजमें पत्र, डाल, फूल और फल भासते हैं पर जिसको बीजका ज्ञान नहीं उसको भिन्न २ भासते हैं। हे रामजी! हमको अधिष्ठान आत्मतत्त्व का ज्ञान है, इससे सब विश्व आत्मस्वरूप ही भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का विश्व और जन्म मरण भासते हैं। हे रामजी! सब शब्द आत्मतत्त्व में फुरते हैं और सबका अधिष्ठान, निराकार निर्विकार, शुद्ध आत्मा सबका अपने आप है, इससे सब विश्व आकाशरूप है, कुछ भिन्न नहीं है। जैसे तरङ्ग जलरूप है वैसेही विश्व आत्मस्वरूप है। चित्त जो फुरता है उसके अनुभव करनेवाली चैतन्य सत्ता है सोही ब्रह्म है और तुम्हारा स्वरूप भी वही है, इससे अहंत्वं आदिक जगत सब ब्रह्मरूप है तुम संशय त्यागकर अपने स्वरूप मे स्थित होओ। आगे तुमसे जो द्वैत अद्वैत कहा है वह सब उपदेश मात्र है एक चित्तकी वृत्तिको स्थित करके देखो तो सब ब्रह्म ही है, भिन्न कुछ नहीं तो निषेध किसका कीजिये? हे रामजी! चित्त की दो वृत्ति ज्ञानवान् कहते हैं—एक मोक्षरूप है और दूसरी बन्धरूप है। जो वृत्तिस्वरूप की ओर फुरती है सो मोक्षरूप है और जो दृश्य की ओर फुरती है सो बन्धरूप है। जो तुमको शुद्ध भासती हो वही करो। जो द्रष्टा है सो दृश्य नहीं होता और जो दृश्य है वह द्रष्टा नहीं होता पर आत्मा तो अद्वैत है इससे द्रष्टामें दृश्य पदार्थ कोई नहीं। तुम क्यों दृश्यकी ओर फुरते हो और जब होता दृश्यका अभाव जानो तब अवाच्य पद है उसको वाणी से कुछ कहा नहीं जाता। हे रामजी! जैसे अङ्गी और अङ्गवाले, आकाश और शून्यता, जल और द्रवता और बरफ और शीतलता मे कुछ भेद नहीं, वैसेही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं। कोई जगत है। इससे आत्मपद मे स्थित हो रहो, भ्रम करके जो आपको कुछ और मानते हो उसको त्यागकर ब्रह्म की ही भावना करो और आपको मनुष्य कदाचित न जानो जो आपको मनुष्य जानोगे तो यह निश्चय अधोगति को प्राप्त करने वाला है, इससे अपने स्वरूप मे स्थित हो रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण का बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

वैसेही विश्व आत्म स्वरूप है और जैसे चितेरा काष्ठमें कल्पना करता है कि, इतनी पुतलियाँ निकलेगी और जैसे मृत्तिकामे कुम्हार घटादिक कल्पता है कि, इसमे इतने पात्र बनेंगे पर काष्ठ और मृत्तिका में तो कुछ नही, ज्यों का त्यों काष्ठ है और ज्यों की त्यों मृत्तिका है परन्तु उनके मनमे आकार की कल्पना है, वैसेही आत्मा में ससार रूपी पुतलिया मन कल्पता है। जब मनका सकल्प निवृत्त हो तब ज्यों का त्यो आत्म पद भासे। जैसे तरङ्ग जलरूप है, जिसको जलका ज्ञान है सो तरङ्ग भी जलरूप जानताहै और जिसको जलका ज्ञान नही सो भिन्न २ तरङ्गके आकार देखताहै, वैसेही जब निरसरूप होकर स्वरूप को देखे तब फुरने में भी आत्मसत्ता ही भासेगी। अह त्व आदिक सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है तो भ्रम कैसे हो और किसको हो। सब विश्व आत्मस्वरूप ही है और आत्मा निरावलम्ब अर्थात् चैत्य और अहकार से रहित केवल आकाशरूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे तब नाना प्रकार की भावना मिट जायेगी क्योकि, नाना प्रकार की भावना जगतमें फुरती है। जगत् का बीज अहन्ता है, जब अहन्ता नष्ट हो तब जगत् का भी अभाव हो जावेगा। हे रामजी! अहन्ताका फुरना ही बन्धन है और निरहकार होनाही मोक्ष है। एक चित्त बोध है और दूसरा ब्रह्म बोध है—चित्त बोध जगत् है और ब्रह्म बोध मोक्ष है। चित बोध अहन्ता का नाम है, जबतक चित्तबोध फुरता है तब तक ससार है और जब चित की भावना होती है तब मुक्त होता है। इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्म बोध है। हे रामजी! जैसे पवन फुरता है वैसेही ब्रह्म में चित्त-बोध है। जैसे फुर अफुर दोनों पवन ही है, वैसेही चित्त-बोध और ब्रह्म-बोध ब्रह्म ही है—भिन्न कुछ नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासता है जो चैतन्य मात्र और शान्तरूप अपने स्वभाव में स्थित है। जिसको अधिष्ठानका ज्ञान होता है उसको निवृत्त भी वही रूप भासता है। और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता उसको

अवयव रहित, अक्रिय और निरयव है। उसको अशाशी भावमे देखना सक्रिय और अवयवी कहना मुर्खता है। क्योंकि वह सर्वथा ही निष्कलंक प्रत्यक्ष है। उसके परोक्षमें और कुछ कलंकयुक्त कहना मुर्खता है। आत्मरोगी ही उसे परोक्षवासी कहते हैं, ज्ञानी नहीं। हे रामजी! आत्मा मे कोई भी विकार नहीं है, वह सर्वथा ही शुद्ध, सूक्ष्म, लघु से भी लघु और सर्व शब्दों और अर्थोंका अधिष्ठान स्वरूप ही है। हे रामजी! उसी ब्रह्मरूपी डब्बे मे यह जगतरूपी रत्न पडा है। परतु उससे आत्माको क्या? उस डब्बेके समान ही आत्माका जगत से कोई सम्बन्ध नही है। उसके निकट यह जगत रूईके रोमसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। हे रामजी! आत्मरूपी एक बन है कि जिसमे जगतरूपी मजरी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश ये पॉचो तत्व ही उसके पत्र हैं कि जिनसे वह शोभित हो रही है। परन्तु यह मञ्जरी ऐसी निकम्मी और इतना अस्तित्व हीन है कि अहन्ता के उदय होनेसे ही उदय होती और अहन्ता के ही नष्ट होनेसे नष्ट हो जाती है। हे रामजी! यह आत्म प्रमाद से ही भास रहा है। माया रूपी चन्द्रमा की किरणें ही जगत है जो अपनी नेति नियति शक्तिसे नृत्य कर रही हैं परन्तु यह अविचार से ही सिद्ध है और विचार करनेसे शान्त हो जाते हैं। जैसे दोपक को हाथमे लेनेसे अन्धकार देखिये तो नहीं दिखलाई पडता वैसेही विचार पूर्वक देखने से जगत का अभाव हो जाता है। परन्तु वह केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष भासता है। सो उस आत्मा में यह जगत कुछ बना नही। आत्मा और जगत मे कुछ भी भेद नहीं है। उसमें जो भासता है, भ्रममात्र है। जैसे तागे और पटुमे कुछ भेद नहीं है वैसेही आत्मा और जगत मे कुछ भी भेद नही है। आत्मारूपी रगमें जगतरूपी चित्र रगा हुआ है, सो जैसे समुद्रका तरंग होता है वैसेही यह जगत आत्मामें स्थित है और उसमें भेद कुछ नहीं है। सारे सदार्थ उसीसे सिद्ध हो रहे हैं। सारी क्रियाओंको वही सिद्ध कर रहा है। वह सर्वदा ही अनु

तिरपनवाँ सर्ग

परमार्थयोग-उपदेश वर्णन


हे रामजी ! जब मनकी वृत्ति देशसे देशान्तर को जाती है तब उसके मध्यमे जो सवित तत्व है उसको जो अनुभव करता है वही तुम्हारा स्वरूप है, तुम उसीमे स्थित हो रहो। तब तुम चाहे जैसी चेष्टा करो, देखो, सूँघो, स्पर्श करो, बोलो, चलो, हँसो और सब क्रियाये करो, तुम्हे कुछ भी स्पर्श न होगा। यह जाग्रत सुपुप्ति योग कहलाता है। इस अवस्था में पहुँच कर तुम जो भी चेष्टाये करो सब शुभ होवे और हृदय में फुरने से तो ऐसे ही रहित हो जाओ कि मानो तुम कोई पाषाण शिला हो गये हो। क्योंकि तुम्हारा स्वरूप आभास रहित, निर्मल और शांत रूप ही है। जैसे सुमेरु पर्वत स्थित है, तुम वैसेही स्थित हो जाओ। दृश्योंका क्या है, ये तो अज्ञान से ही फुर रहे हैं, इससे ये सर्वथाही अन्धकाररूप हैं और आत्मा सर्वदा ही प्रकाशरूप है ! किन्तु खेद है कि ऐसे उत्तम प्रकाश में भी अज्ञानी को अन्धकार ही भासता है। क्योंकि वह आत्माको न देखकर जगतको देखता है और जगत अविद्या रूप एव अविचार से ही सिद्ध है। विपर्यय दृष्टिसे ही जगत भासता है—अन्यथा इसका वास्तविकरूप निराकार ही है। अज्ञानी को ही साकार भासता है। परन्तु आनन्दरूप ही हे, उसमे दुःख कुछ भी नहीं है, वह शान्तरूप है। परन्तु अज्ञानी उसको भी अशान्त जानता है। महत को लघु जानता है, नित्यको अनित्य देखता है। किन्तु आत्मा ऐसा नहीं है। वह चैतन्य है, जड नहीं। शुद्ध चिन्मात्र है, चैत्य नहीं। उसे चैत्य सयुक्त देखना मूर्खता है। वह शुद्ध चैतन्य है। मूर्ख उसे जडरूप देखते है। परन्तु वह तो अह रहित अपने आप में ही स्थित है। उसने नही, अनात्म ने ही अह मे प्रतीति किया है, इसीसे इसको जगत दृष्ट हो रहा है। परन्तु आत्मा तो सर्वथा ही

अवयव रहित, अक्रिय और निरयव है। उसको अशाशी भावमें देखना सक्रिय और अवयवी कहना मुर्खता है। क्योंकि वह सर्वथा ही निष्कलक प्रत्यक्ष है। उसके परोक्षमें और कुछ कलंकयुक्त कहना मुर्खता है। आत्मरोगी ही उसे परोक्षवासी कहते हैं, ज्ञानी नहीं। हे रामजी! आत्मा में कोई भी विकार नहीं है, वह सर्वथा ही शुद्ध, सूक्ष्म, लघु से भी लघु और सर्व शब्दो और अर्थोंका अधिष्ठान स्वरूप ही है। हे रामजी! उसी ब्रह्मरूपी डब्बे में यह जगतरूपी रत्न पडा है। परतु उससे आत्माको क्या? उस डब्बेके समान ही आत्माका जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके निकट यह जगत रूईके रोमसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। हे रामजी! आत्मरूपी एक वन है कि जिसमें जगतरूपी मजरी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश ये पाँचों तत्व ही उसके पत्र हैं कि जिनसे वह शोभित हो रही है। परन्तु यह मञ्जरी ऐसी निकम्मी और इतना अस्तित्व हीन है कि अहन्ता के उदय होनेसे ही उदय होती और अहन्ता के ही नष्ट होनेसे नष्ट हो जाती है। हे रामजी! यह आत्म प्रमाद से ही भास रहा है। माया रूपी चन्द्रमा की किरणें ही जगत है जो अपनी नेति नियति शक्तिसे नृत्य कर रही हैं परन्तु यह अविचार से ही सिद्ध है और विचार करनेसे शान्त हो जाते हैं। जैसे दीपक को हाथमे लेनेसे अन्धकार देखिये तो नही दिखलाई पडता वैसेही विचार पूर्वक देखने से जगत का अभाव हो जाता है। परन्तु वह केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष भासता है। सो उस आत्मा मे यह जगत कुछ बना नहीं। आत्मा और जगत मे कुछ भी भेद नहीं है। उसमें जो भासता है, भ्रममात्र है। जैसे तागे और पटमे कुछ भेद नही है वैसेही आत्मा और जगत मे कुछ भी भेद नहीं है। आत्मारूपी रगमे जगतरूपी चित्र रगा हुआ है, सो जैसे समुद्रका तरग होता है वैसेही यह जगत आत्मामें स्थित है और उसमें भेद कुछ नहीं है। सारे सदार्थ उसीसे सिद्ध हो रहे हैं। सारी क्रियाओंको वही सिद्ध कर रहा है। वह सर्वदा ही अनु

भवरूप और अप्रौढ़ है, उसको प्रौढ़ कहना मूर्खता है। हे रामजी! यह सारा विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है, उसमे जाग्रत होकर देखो तो सर्वत्र तुम्हीं स्वच्छ, आकाशरूप, प्रत्यक्ष, सूक्ष्म और ज्योतिस्वरूप अपने आपही में स्थित और खड़े दिखलाई पड़ोगे। जैसे जलमें लहर और तरंग उठते हुये जान पडते हैं और वे जल स्वरूप ही हैं वैसेही आत्मा में रूप अवलोक और मनस्कारोंका स्फुरण होता है किन्तु सब आत्मरूप ही हैं, भिन्न कुछ नहीं। यह सारा चमत्कार उस शुद्ध चिन्मात्र परमात्मा से ही उदय हुआ है। परन्तु उसमें यह जगत कुछ बना नहीं। आकाश नगरके समान ही उसमें यह सारी रचनायें हुई हैं, यह अज्ञानी के ही दृश्यमें दृढ़ हो रहा है, ज्ञानीको नहीं। ज्ञानी को संकल्प सृष्टि नहीं भासती और उसे सब कुछ शून्याकाश ही भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

चौवनवाँ सर्ग।

इच्छा त्यागोपदेश



रामजी! इच्छा करनी ही मूर्खता है। फिर इच्छा करे भी तो किसकी। क्या इस जगत की? नहीं, कदापि नहीं। यह जगत तो मृग-तृष्णा के जलवत ही मिथ्या है। तब जब यह स्वयं ही असत्य है तो इसकी इच्छा भी क्या करें। फिर इच्छा ही तो मनुष्य के बन्धन का कारण है। इच्छा न हो तो मोक्षही है। ज्ञानी को इच्छा नहीं होती अर्थात् वह सारी इच्छाओं का दमन किये रहता है। उसकी सारी चेष्टायें अनिच्छित हो होती हैं। जैसे सूखे बाँस के भीतर बाहर शून्य होता है और संवेदन उसको कुछ नहीं फुरता वैसेही ज्ञानवान् के अन्तः करण और बाह्यकरण में भी शान्ति होती है, अन्तः करण मे संकल्प कोई नहीं उठता और बाहर भी कोई उपाधि नहीं नि संकल्प निरुपाधि ही उसकी चेष्टा होती है।

जिस पुरुष के हृदय से संसार का रस सूख गया है वह ससार समुद्र से पार हुआ है और जिसका रस नही सूखा उसको रागद्वेप फुरते हैं उसे ससार बन्धन मे जानों। मैं तुमसे ऐसी समाधि कहता हूँ कि, जो सुख से प्राप्त हो और जिसमे मुक्त हो सर्व इच्छा से रहित होना ही परम समाधि है। जिस पुरुषको इच्छा फुरती है उसको उपदेश भी नही लगता। जैसे आरसी के ऊपर मोती नही ठहरता वैसेही उसके हृदय मे उपदेश नहीं ठहरता। इच्छा ही जीवको दान करती है और इच्छा से रहित हुआ शान्तरूप होता है और फिर शान्तिके निमित्त कर्तव्य कुछ नहीं रहता। हमतो निरीच्छित हैं इससे हमको भीतर बाहर शान्ति है और हमको कर्तव्य करने योग्य कुछ नहीं—यह सब प्रारब्ध के अनुसार राग द्वेष से रहित चेष्टा होती है और बोलते हैं परन्तु बांसुरी की नाईं। जैसे बासुरी अहकार से रहित बोलती है वैसेही ज्ञानवान् अहकार से रहित हैं और स्वाद को ग्रहण करते हैं। जैसे करछी सब पदार्थों मे डाली जाती है और उसी के द्वारा सब पदार्थ निकलते हैं परन्तु उसको कुछ राग-द्वेप नहीं फुरता, वैसेही ज्ञानवान् स्वाद लेता है। जैसे पवन भली बुरी गन्ध को लेता है परन्तु राग द्वेप से रहित है वैसेही ज्ञानवान् रागद्वेप सवेदन से रहित गन्धको लेता है और इसी प्रकार सब इन्द्रियों की चेष्टा करता है परन्तु इच्छा से रहित होता है इसीसे परम सुख रूप है। जिसकी चेष्टा इच्छा सहित है वह परम दु:खी है। जिस पुरुष को भोग रस नहीं देते वही सुखी है और जिसको रस देते हैं और जिसकी राग से तृष्णा बढ़ती जाती है उसको ऐसे जानो जैसे किसी के मस्तक पर अग्नि लगे और उस पर तृण बुझाने के निमित्त डाले तो वह बुझती नही बल्कि बढ़ती जाती है, वैसे ही विषयों की इच्छा भोगने से वृद्ध नहीं होगी। इच्छा ही बंधन है और इछा की निमिरि का नाम मोक्ष है। ससार रूपी विष का वृक्ष है और उसका बीज इछा है जिसकी इछा बढ़ती जाती है उसका

ससार बढ़ता जाता है और उससे वह वारम्वार जन्म पाता है। ऐसा सुख ब्रह्मा के लोक में भी नहीं जैसा सुख इछा की निवृत्ति मे है और ऐसा दुख नरक मे भी नहीं जैसा दुख इछा के उपजाने में है। इछा के नाश का नाम मोक्ष है। इच्छाके उपजाने का नाम बन्धन है। जिस पुरुष को इच्छा उत्पन्न होती है वह दुख पाता है और ससार रूपी गढे और खेत मे पडता है, इच्छा रूपी विष की वेलि है उसको समता रूपी अग्नि से जलाओ। सम्यक्दर्शन से जलाये विना बडा दुख देगी और बढ़ती जावेगी। जिस पुरुष ने इच्छा के दूर करनेका उपाय नहीं किया उसने अन्धेरे कूप मे प्रवेश किया है शास्त्र का श्रवण और तप, दान, यज्ञ इसी निमित्त है कि, किसी प्रकार इच्छा निवृत्त हो जो एक ही वार निवृत्त न कर सको तो शनैः शनैः निवृत्त करो। यह विषयकी वेलि वढी हुई दुख देती है। जो पुरुष शास्त्रों को पढता और इच्छा का बढाता है वह मानो दीपक को हाथ में लेकर कूप मे गिरता है। इच्छा रूपी कटिआरी का वृक्ष है जिसमें सर्वदा कण्टक लगे रहते हैं। उसमे कदाचित् सुख नहीं। जो पुरुष कांटे की शय्या पर शयन करके सुखी हुआ चाहे तो नहीं होता, वैसे ही ससार से कोई सुख पाया चाहे तो कदाचित् न होगा। जिनसे इच्छा निवृत्त हो वही उपाय करना चाहिये। इच्छा के निवृत्त होनेमे सुख है और इच्छा के उत्पन्न होने मे वडा दु.ख है। जो अनिच्छित पद में स्थित हुआ है उसको यदि एक क्षण भी इच्छा उपजती है तो वह रुदन करता है। जैसे चोर से लूटा रुदन करता है वैसे ही वह रुदन और पश्चताप करता है और उसके नाश करने का उपाय करता है। इच्छारूपी क्षेत्र मे रागद्वेष रूपी विष की वेलि है। जो पुरुष उसके दूर करने का उपाय नहीं करता वह मनुष्यों मे पशु है। यह इच्छा रूपी विषका वृक्ष बढ़ा हुआ नाश का कारण है। इससे तुम इसका नाश करो। हे रामजी! इस इच्छा को नष्ट करने का उपाय तुमसे पहले भी कह चुका हूँ और

अब भी स्पष्ट करके कहे देता हूँ कि इस संसार में आकर जहाँ तक शीघ्र सभव हो सके इच्छा को नष्ट कर देवे। तभी कल्याण होवेगा अन्यथा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

पचपनवाँ सर्ग

विराट आत्मा विवेचन।



इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवान! यह ससार भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे अनुभव होता है, कृपा कर मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! यह जो कुछ स्थावर जङ्गम जगत तुमको दिखलाई पड रहा है यह सब प्रलय में नाश हो जाता है। यहाँ तक कि तब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र भी लीन हो जाते हैं और वह स्वच्छ, अज अनादि और केवल आत्मतत्व मात्र ही शेष रहता है। उसमे वाणी की गम नहीं, वह केवल अपने आप मे ही स्थित है और वह ऐसा सूक्ष्म है कि उसमें यह सूक्ष्म आकाश भी स्थूल जान पडता है। जैसे सुमेरु पर्वत के निकट राई का एक दाना सूक्ष्म है वैसे ही आकाश से भी आत्मा सूक्ष्म है किन्तु उसमे अह किञ्चन होकर यह जगत फुर आया है। परन्तु वह आत्मा सर्वदा निर्विकल्प और समुद्र के समान ही देश काल से परे चेतन घन अपने आप ही मे स्थित है। जैसे स्वप्नकाल मे जीव अपने भाव को ही लेकर स्थित होता है वैसे ही आत्मा अपने भाव को ही लेकर चेतन किंचन होता है। वही ब्रह्म है और वही चित्तस्वरूप है उसीने चैत्य नाम से दृश्यों को देखकर अपने भाव को लेकर उदय हुआ है। इससे उसने जो कुछ अनुभव किया वह मिथ्या है। जैसे कोई स्वप्न काल में अपना मरण देखे तो वह अनुभव मिथ्या है वैसे ही चिद्अणु दृष्टि से दृश्य को जो देखता है तो उसकी मिथ्या

ही दृष्टि है। वह जब चिद् अणु अपने स्वरूप को देखता है कि जो केवल निराकाररूप है तब उसमे अहका ऐसा बीज दृढ़ होता है कि वह अपने आप से निकल कर सकल्पवश दृश्यो को ही देखने लगता है। जैसे बीज में अकुर निकलता है वैसे ही सकल्प के फुरने से देश, काल, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य हो जाता है। पर वास्तव में कुछ हुआ नहीं। आत्मा सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है और सकल्प से ही भासता है। जहाँ चिद्अणु भासे वहाँ ही देश है और जिस समय भासे वह काल है और जो भाव हो वह क्रिया हुई। भाव का ग्रहण द्रव्य है और देखने को जो वृत्ति दौड़नी है वह नेत्र होकर स्थित हुई है और जिसको देखते हैं वह शून्य है और देखने वाले भी शून्य हैं, अस्त हैं, कुछ बने नहीं। जैसे आकाश में ही आकाश स्थित है वैसे ही आत्मा अपने आपमें ही स्थित है, संकल्प वश सब कुछ भासता है। इस प्रकार चिद्अणु ही दृश्य रूप होकर स्थित हुआ है। उसी चिद्अणु मे जब स्वरूप की वृत्ति फुरती है तब पहले नेत्र इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्थित होती है और जब सुनने की वृति फुरती है तब श्रवण इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्थित होती है। इसी प्रकार जब स्पर्श वृत्ति फुरती है तब त्वचा इन्द्रिय और जब सुगन्ध लेने की वृत्ति फुरती है तब नासिका इन्द्रिय उत्पन्न होती है। जब रस ग्रहण करने की इच्छा होती है तब रसना इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्वाद लेती है। परन्तु पहले इस चिद्अणु का कुछ भी नाम नहीं था और अब यह सारा जगत उसीका रूप है और यह केवल आकाश रूप ही है। परन्तु सकल्पवश अपने मे यह स्थूलता और इन्द्रियों को देख रहा है। परतु इसका अनादि स्वरूप चिद्अणु ही है। वही अब इन्द्रियों के सयोग से पदार्थों को ग्रहण करने लगा है। उसमे स्पन्दरूप से जो वृति फुरी है उसका नाम मन हुआ है। अनिश्चयात्मक बुद्धि से निश्चय और वही अहकार वश द्रष्टा के रूपमे हो गया है। जब उस चिद्अणु का सयोग अहकार से हुआ तब वही

अपने मे देश काल को देखने लगा और इस प्रकार जैसे २ उसने आगे दृश्य देखा वैसे ही वैसे उसे देश काल दिखलाई पडा। यह उसके अहकार की विषमता हुई। फिर तो उस विषमता में पड कर वह देश, काल, क्रिया और द्रव्यो के अर्थ को भिन्न २ ग्रहण करने लगा और इस प्रकार आकाश होकर आकाश को भी गृहण कर लिया अन्यथा उस आदि फुरने से चिदणुमें पहले अतवाहक शरीर हुआ और फिर संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासने लगा। जैसे भ्रम वश एक आकाश मे और आकाश भासे वैसे ही अनहोते ही सत्य दृश्य उसमे भ्रमवश भासने लगे। जैसे मरुस्थल में नदी भासती है वैसे ही अविचार से सकल्प की दृढ़ता वश पञ्चभौतिक आकार भासने लगे। फिर तो इसी प्रकार अह प्रत्यय होने से वह सब कुछ देखने लगा कि यह मेरा शिर है, यह मेरे चरण हैं, यह अमुक देश है और यह अमुक बल और अमुक पदार्थ है। जब इस प्रकार से चित्त विषयों की ओर दौडा और राग द्वेष को गृहण करने लगा तब यह सभी देहादिक फुरने से भास गये। परतु यह सब सकल्प की दृढ़ता से ही भासित हुए और सकल्प से ही दृढ़ हुए हैं। हे रामजी! इस प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु और कीट पतिङ्ग सब उत्पन्न हुए हैं परतु सारा भेद प्रमाद अप्रमाद से उत्पन्न हुआ है। प्रमादियों को जगत भासता है और अप्रमादी को सर्वदा आनन्दरूप स्वतन्त्र ईश्वर ही भासते हैं। उनको यह जगत और वह जगत सब कुछ अपना आप ही रूप भासता है। किन्तु अप्रमादियों को तो सवदा दु:ख ही दुःख भोगना पडता है और वे महान तुच्छ हैं। पर वास्तव में कुछ हुआ नहीं। परमात्मतत्व ही सब कुछ है। आत्मसत्ता अपने आप में ही स्थित है। वही सब कारणों का कारण, काल मे नीति, क्रिया में क्रिया और वही सर्व का बीज स्वरूप इस त्रिलोकी रूप बूंद का मेघ है कि जिस आदि विराट पुरुष धन में न तो कोई शरीर है और न उसमें हम हैं और न तुम हो, वह केवल और चिदाकाश रूप ही

प्रकार सारा जगत उसका शरीर है, ब्रह्मा हृदय है जो आकाशरूप है परन्तु सकल्प से ही वह नाना रूप भासता है, स्वरूपत. कुछ है नहीं। आकाश आदिक सारा जगत उस चिदाकाश का ही स्वरूप है और वह अपने आप मे हो स्थित है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ सर्ग।

विराट–शरीर–वर्णन



शिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार जो विराट है वही ब्रह्मा है, उसका आदि और अन्त कुछ भी नहीं है। उसका शरीर बहुत छोटा है और वही चैतन्य-शरीर वाला अपनी किञ्चनता वश ब्रह्मा रूप हुआ है। अब तुम उसके विस्तार का वर्णन सुनो। हे रामजी! उस ब्रह्माने अपने सकल्प से एक अखड रचना की। फिर उसको तोडफोड कर दो भाग किये। एक को ऊपर कर दिया और एकको नीचे। ऊपर वाला भाग ब्रह्माका शिर हुआ और नीचे वाला भाग जो पाताल को गया वही उसका चरण हुआ। तब जो बीच का भाग आकाशवत रहा वही ब्रह्मा का उदर हुआ। फिर तो दशों दिशायें उसके वक्षस्थल हो गये और सुमेरु आदिक पर्वत हाथ हुए, पृथ्वी मांस हुई, समुद्र रक्त हुआ, नदियां नाडियाँ हुईं, प्राण, अपान वायु हुये, हिमालय पर्वत उसका रूप हुआ, समस्त तेज वित्त हुआ, चन्द्रमा सूर्य उसके नेत्र हुये और तारागण स्थूल लार हुये कि जो उसके प्राण के बल से निकलती है। उसकी शिखा मे मनुष्य हुये, पशुपक्षी उसके रोम हुये और सर्व भूतों की चेष्टा व्यवहार हुआ। फिर पर्वत ही उसकी अस्थियां हैं और ब्रह्म लोक को ही उसने अपना मुख बनाया। इस प्रकार सारा जगत उस विराट का ही वपु है।

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले—हे भगवन्! इस सकल्परूप

है। हे रामजी! इतना विस्तार होने पर भी वह अब भी आकाश रूप ही है। वह आत्मसत्ता भिन्न अवस्था को कदापि भी नहीं प्राप्त हुई, केवल आकाशरूप ही है। जैसे स्वप्न में मेघों का गर्जन होवे परंतु वह निद्रा दोष है, कहीं मेघ नहीं गर्जे वैसेही यह जगत आकाशरूप ही है—आत्मा में जगत कुछ हुआ नहीं। सब आकाश रूप ही है। हे रामजी! उस विराट पुरुष का देह बहुत योजन पर्यंत लम्बा है तो भी वह ब्रह्म आकाश के सूक्ष्म अणु में ही स्थित है। यह सारा त्रिलोकी एक चिद्‌अणु में ही स्थित है और उस विराट पुरुष का वपु ऐसा है कि जिसका आदि अन्त और मध्य नहीं भासता तो भी वह एक चावल के समान भी नहीं है। हे रामजी! यह जगत जो इतना विस्तृत दिखलाई पड़ता है वह स्वप्न के पर्वत जाग्रत के एक अणु के समान भी नहीं है। विचार रूपी तराजू से तौलिये तो परमार्थ सत्ता से कुछ भिन्न नहीं हुआ। आत्मसत्ता ही ऐसे भासती है। इसी का नाम स्वायम्भुव मनु और विराट है, इसी को जगत कहते हैं। हे रामजी! जगत और विराट में कुछ भी भेद नहीं है। सब आकाशरूप ही है। इसी को सनातन कहते हैं और यही रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, मेघ, वायु, पर्वत और जल है। उसमें चेतन्यता से अपना अणु शरीर रूप जान पड़ता है। जैसे स्वप्न में कोई अपने आपको पर्वत देखे वैसेही वह अपने आपको विराटरूप देखता है। जैसे वायु के दो रूप हैं—गमनता और अगमनता, परन्तु दोनों में वह वायु जैसा का तैसा ही है वैसे ही यह ब्रह्म सत्ता ज्यों का त्यों है। चाहे चित्त फुरे या न फुरे। सर्वदा अद्वैत सत्ता ही भासती है जो अद्वैत विराट स्वरूप है। हे रामजी! इस दृष्टि से उसके शिर पाद नहीं होते। ब्रह्माण्ड की सारी पृथ्वी उसका मांस है और समुद्र ही उसका रुधिर है, नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं और दशों दिशायें वक्षःस्थल हैं, तारागण रोमावलि है। सुमेरु आदिक अंगुलियाँ हैं और सूर्यादिक तेज पित्त है। चन्द्रमा कफ है, पवन प्राणवायु है और इस

और आत्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है, साकार निराकार सब कुछ विराट का ही शरीर है। यह जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, सङ्कल्प से ही उत्पन्न के समान भासता है। जैसे सूर्य की किरणों मे जल नहीं है और जल भासता है वैसे ही ब्रह्मसत्ता मे जगत नहीं है परतु जगत भासता है। परंतु वह कुछ उत्पन्न हुआ नहीं, बिना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न के समान भासता है और वह केवल अपने आपमे ही स्थित है। हे रामजी ! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो, तुममें संकल्प विकल्प कुछ नहीं है, तुम चैत्य से रहित चिन्मात्र स्वरूप हो। इससे तुम सर्व सङ्कल्पों को त्याग कर निज स्वभाव में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छप्पनवां सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग।

प्रलय-दृश्य-वर्णन



हे रामजी! अब मै तुम्हे प्रलय का प्रसङ्ग फिर सुनाता हूँ। एक समय जब कि मै ब्रह्मपुरी में ब्रह्माके पास ही बैठा था तो मैने नेत्र खोलकर देखा कि मध्याह्न का समय है और दूसरा सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हुआ है। उसका अद्भुत प्रकाश था और बिजली के समान ही चमचमा रहा था-उसे देखकर मै आश्चर्य में पड गया कि यह बडवाग्नि के समान तेजस्वी सूर्य कहा से आ गया। यह दृश्य मै देख ही रहा था कि एक और सूर्य उदय हुआ। फिर उत्तर दिशा मे भी एक सूर्य दिखलाई पडा। इस प्रकार मेरे देखते-देखते दश सूर्य उदय हो गये। तब एक पहलेही से था और दश सूर्य फिर उदय हुये और एक वह बडवाग्नि वाला सूर्य, इस प्रकार द्वादश सूर्य एकत्र होकर विश्वको तप्त करने लगे। फिर प्रलय का त्रैनेत्र सूर्य उदय हुआ कि जिसका एक नेत्र सूर्य के समान था, दूसरा बड़वाग्नि के समान और तीसरा नेत्र बिजली के समान था। फिर तो

ब्रह्मा को तो मैं भी जानता हूँ परन्तु मेरी बुद्धि में यह नहीं आता कि जब यह सारा जगत उसी का वपु है तब वह फिर ब्रह्मलोक में ब्रह्मा होकर कैसे जा बैठा है अथवा भिन्नरूप से वह वहां कैसे स्थित हो गया है—कृपाकर मुझे यह समझाइये।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह कोई आश्चर्य नहीं है। यदि तुम ध्यान लगाकर बैठो और उस अवस्था मे अपनी ही मूर्तिको हृदय मे संकल्पवश रचकर स्थित होवो तो वैसा ही भासेगा। देखो, जब मनुष्य को स्वप्न आता है तब उसमे जगत भासता है, वह क्या है—वह भी तो अपना ही स्वरूप है परन्तु अपने पृथक का औरको देखता है—वैसेही यह सारा जगज्जाल उस ब्रह्माका ही रूप है और वह अपने एक शरीरसे ब्रह्मलोक में भी स्थित है। हे रामजी! ब्रह्म और जीवमे केवल इतना ही भेद है कि जीव अपनी स्वप्न सृष्टिका विराट है परन्तु उसपर प्रमादावरण ऐसा पडा हुआ है कि जिससे उसको अपनी सृष्टि नहीं भासती और अन्यका अन्य ही भासता है किन्तु ब्रह्माको कोई आवरण नहीं है इस कारण उसको यह सारा जगत अपना ही शरीर भासता है। देव, दानव, मनुष्य, ऋषि और विद्याधर सब उसी विराट पुरुष की ग्रीवामें स्थित हैं। भूत, प्रेत, पिशाच सब उसी विराट पुरुष के मलसे उत्पन्न हुये हैं। कहाँ तक कहे—यह सारा स्थावर जंगमरूपी जगत सब उसीके संकल्प से रचा हुआ उसी विराट पुरुष मे स्थित है और सब उसीके अङ्ग हैं। जब तक यह जगत है तब तक वह विराट भी है, जगत नहीं होगा तो विराट भी नहीं होगा। यह जगत ब्रह्म और विराट तीनो ही एक ही हैं। सारा जगत् उस विराटका ही स्वरूप है। उसमे निराकार और साकार कुछ नहीं। भीतर बाहर सब विराट का ही वपु है। जैसे आकाश भीतर बाहर से एक ही है और उसमे कुछ भेद भाव नहीं है वैसेही उस विराट आत्मा मे कुछ भेद-भाव नहीं है। जैसे वायुके स्पन्द और निस्पन्द में कुछ भेद नहीं होता वैसेही विराट

लगी। इस प्रकार उस प्रलय में जीवों को जो महान कष्ट हुआ वह कहा नही जाता, और जब इस प्रकार अग्नि से समस्त स्थान जलकर भस्म हो गये तब उसके पश्चात् पुष्कल मेघ घोर गर्जन करके अपार जलधारा बरसाने लगा कि जिससे पहले तो मुशल वृष्टि हुई और फिर स्तम्भ धारा की वृष्टि हुई और फिर नदी तथा महानद के समान वर्षा होने लगी। फिर तो जलका वेग गङ्गा और यमुना की लहरो के समान प्रवाहित हुआ और इस प्रकार समस्त स्थान फिर शीतल हो गये। जलकी उस वेगवता धार मे सुमेरु आदिक पर्वत नृत्य करने लगे और सभी पर्वत ऐसे जान पडते थे मानो जलचर हैं। हे रामजी। उस जलका वेग ऐसा बढ़ा कि कुछ कहा नही जाता। बड़े बड़े स्थान, देवता, सिद्ध और गन्धर्व उस जल मे बह गये। फिर तो वह जल ब्रह्मलोक तक चढ़ गया कि जिसको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु ब्रह्म दृष्टि से वह सब मेरे लिये ब्रह्मरूप ही था। जब सकल्प दृष्टिसे देखता तो वही प्रलय जान पडता और जब विचार दृष्टि से देखता तो वही ब्रह्म रूप भासित होता था।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५७॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

वासना-क्षय विवेचन



राम जी! इस प्रकार उस ब्रह्मा का सारा जगत जलकर जलमय हो गया। परन्तु मुझे वह जलसे भिन्न कुछ न भासे और सब शून्य ही भासता था। ऊपर, नीचे, मध्य और दिशायें भी कुछ न भासित होवे। तत्त्व, पर्वत, देवता, पशु, और पक्षी कहीं भी दिखलाई न पडे। तब मैंने देखा तो ब्रह्मपुरी की भी यह दशा हो रही थी कि जैसे प्रातःकाल का सूर्य

ये तीनों ही नेत्र विश्व को जलाने लगे, दिशायें लाल हो गईं, अट्ट-अट्ट शब्द होने लगे, नगर, वन, कन्दरा और पृथ्वी जलने लगी, देवताओं के स्थान जल कर गिर पड़े, पहाड़ जलकर काले होगये। ज्वाला की चिनगारी निकल कर पातालको गई और पाताल भी जल गया, समुद्र जलकर सूख गये, हिमालय पर्वत का बरफ़ जल होकर जलने लगा। हे रामजी! जब इस प्रकार बडवाग्नि प्रज्वलित हुई, तब मुझे भी तपन हुई और मैं वहां से नीचे जाकर स्थित हुआ। तब मैंने वहा देखा कि अस्ताचल पर्वत जलता हुआ उदयाचल पर्वत के पास जा पडा है। मन्दराचल और सुमेरु पर्वत जलकर गिर पडे। अग्नि की प्रचड ज्वालायें आकाश को चूमने लगीं, उनमें तड-तड, भड़-भड शब्द हो रहा था। सारा विश्व जलने लगा। महान क्षोभ उत्पन्न हुआ। पृथ्वी के रस फैलकर, फूटकर जलने लगे। हे रामजी! इस प्रकार से वह महान प्रलय का दृश्य मैंने देखा है। इसी लिये कहता हूँ कि जगत के जितने भी रस हैं सब विरस हैं परन्तु अपने-अपने काल में सब रस संयुक्त ही भासते हैं। उस समय तो मुझे सब कुछ ऐसा ही भासित हुआ कि जैसे जली हुइ बेलि लतायें भासित हों। हे रामजी! उस समय मैंने देखा कि सारा विश्व जल रहा है और उसमें जो ज्ञानी पुरुष हैं वे तो सुखी हैं और अज्ञानी नष्ट हो रहे हैं। बडा भयानक शब्द हो रहा था। जब वह अग्नि शिवके कैलाश पर्वत के निकट आई तो सदा शिव ने भी अपने नेत्र से एक अग्नि प्रकट की कि जिससे और भी महान क्षोभ उत्पन्न होगया और समग्र ब्रह्माण्ड जलने लगा। फिर तो वह वायु चली कि बडे-बड़े पवत भी तृण के समान उडने लगे। यक्षों के भी स्थान उड गये और बडा क्षोभ उत्पन्न हुआ। इन्द्रादिक देवता भी अपने स्थान को छोडकर ब्रह्मलोक में चले गये। बडे बड़े मेघ जो सर्वदा ही जलसे भरे रहते थे वे भी उस बडवाग्नि मे जलकर सूख गये और कल्परूपी पुतली नृत्य करने

लगी। इस प्रकार उस प्रलय में जीवों को जो महान कष्ट हुआ वह कहा नहीं जाता, और जब इस प्रकार अग्नि से समस्त स्थान जलकर भस्म हो गये तब उसके पश्चात् पुष्कल मेघ घोर गर्जन करके अपार जलधारा बरसाने लगा कि जिससे पहले तो मुशल वृष्टि हुई और फिर स्तम्भ धारा की वृष्टि हुई और फिर नदी तथा महानद के समान वर्षा होने लगी। फिर तो जलका वेग गङ्गा और यमुना की लहरों के समान प्रवाहित हुआ और इस प्रकार समस्त स्थान फिर शीतल हो गये। जलकी उस वेगवता धार में सुमेरु आदिक पर्वत नृत्य करने लगे और सभी पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानों जलचर हैं। हे रामजी। उस जलका वेग ऐसा बढ़ा कि कुछ कहा नहीं जाता। बड़े बड़े स्थान, देवता, सिद्ध और गन्धर्व उस जल मे वह गये। फिर तो वह जल ब्रह्मलोक तक चढ़ गया कि जिसको देखकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। परन्तु ब्रह्म दृष्टि से वह सब मेरे लिये ब्रह्मरूप ही था। जब सकल्प दृष्टिसे देखता तो वही प्रलय जान पड़ता और जब विचार दृष्टि से देखता तो वही ब्रह्म रूप भासित होता था।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५७॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

वासना-क्षय विवेचन



राम जी! इस प्रकार उस ब्रह्मा का सारा जगत जलकर जलमय हो गया। परन्तु मुझे वह जलसे भिन्न कुछ न भासे और सब शून्य ही भासता था। ऊपर, नीचे, मध्य और दिशायें भी कुछ न भासित होवे। तत्त्व, पर्वत, देवता, पशु, और पक्षी कहीं भी दिखलाई न पडे। तब मैंने देखा तो ब्रह्मपुरा की भी यह दशा हो रही थी कि जैसे प्रात.काल का सूर्य

रहा है सब अपने भावमें आपही स्थित है, भावसे उत्थान होनेका ही नाम बन्ध है और उत्थानके लुप्त होनेको ही मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! इस नेत्रको खोलने और बन्द करने में तो फिर भी कुछ यत्न करना ही पडता है किन्तु मुक्त होनेके लिये तो कुछ भी यत्न नहीं करना पडता। जब वृत्ति बहिर्मुख हुई तो बन्धन हुआ और वृत्ति अन्तर्मुख हुई तो मुक्त हुआ। बस, बन्ध और मोक्षका यही सिद्धात है। तब भला तुम्हीं कहो कि इसमे क्या यत्न है? अतएव, तुम सुपुप्तके समान ही निर्वासनिक हो जाओ। क्योंकि अह सवेदन सेही यह मिथ्या जगत फुर रहा है। अहका सवेदन न होवे तो जानो कि निर्वाणता प्राप्त हो गई। फिर तो एक और दो की कोइ कल्पना नहीं होती और परमशान्त निर्विकल्प पद प्राप्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

उनसठवाँ सर्ग

जगतकी असत्यता वर्णन



हे रामजी! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा भी ब्रह्म पदमें लीन होकर अन्तर्ध्यान हो गये तब द्वादशरूपी सूर्य फिर ब्रह्मपुरी को जलाने लगे और समस्त ब्रह्मपुरी जलकर भस्म हो गई। तब वे सूर्य भी ब्रह्माके ही समान पद्मासन बाँध कर स्थित हुये और कुछ काल पश्चात् वे सूर्य भी वैसे ही निर्वाण हो गये कि जैसे तेलके बिना दीपक निर्वाण हो जाता है। इस प्रकार जब वे द्वादश सूर्य भी निर्वाण हो गये तब समुद्र उछलने लगे और उससे ब्रह्मपुरी भी ढॅक गई। जैसे बीचमे अन्धकार नगर को ढॅक लेता है वैसेही समुद्रने ब्रह्मपुरी को ढॅक लिया। बडी बडी लहरे उठी और पुष्कल मेघ भी तरङ्गोसे छिप गये। और वे भी जल रूप हो गये। तब आकाशसे एक महा भयानक काले शरीरका मनुष्य निकला कि जिसका उग्रवेश देखते ही भय मालुम होता था। उसने

निकलकर समस्त ब्रह्मपुरी को ढँक लिया। वह कृष्णमूर्ति मानो कल्प पर्यन्त रात्रि एकत्र होकर उसका रूप आन स्थित हुआ है। उसके मुखसे लाल लाल लपटें निकल रही थीं। उसके शरीरका ऐसा प्रकाश था मानों करोड़ो सूर्य और बिजली का प्रकाश एकत्र स्थित है। उसके पाँच मुख थे, दश भुजायें थी, तीन नेत्र थे। उसके हाथमें त्रिशूल था और आकाश के ही समान उसकी मूर्ति थी। जैसे विष्णुजी ने समुद्र मथन के लिये विशाल भुजायें धारण की थी और उससे समुद्र को क्षोभ उत्पन्न हुआ था वैसेही उसकी भुजाये विशाल थीं और वह अपनी नासिकाके वायुसे समुद्रको भी क्षुब्ध कर रहा था। हे रामजी! जैसे आकाश और जल वपु बिना है वैसाही उसने विशाल रूप धारण कियाथा। वह ऐसा जान पडता था मानों प्रलय कालके समुद्र ही मूर्ति धारण करके स्थित हुये हैं अथवा मानो समस्त अहंकार की समष्टिता एवं महाप्रलय की वडवाग्नि ही साक्षात् मूर्ति धारण किये स्थित है। हे रामजी! जब इस प्रकार भलीभाँति मैंने उसकी उग्र मूर्तिको देख लिया तब मुझे ज्ञात हो गया कि यह महारुद्र है और इसीसे इसके हाथमें त्रिशूल है। फिर इससे भी समझ गया कि जो उसके तीन नेत्र और पञ्चमुख थे। तब मैने उसे प्रणाम किया।

रामजीने पूछा—हे भगवन्! रुद्र किसको कहते हैं और उसका भयानक रूप क्या था। उसने हाथमें कैसा त्रिशूल लिया था। क्या उसे किसीने भेजा था और वहाँ आकर उसने क्या किया और फिर कहाँ गया। वह अकेला ही था या उसके साथ और भी कोई था। उसका शरीर काला क्यों था।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! अहकार ऐसा है कि जिसमें विषम विष भरा हुआ है, उसको त्याग करना ही उचित है। परन्तु समष्टि अहंकार सेवने ही योग्य है। सर्व भूतोको अपना ही रूप जानना यह समष्टि अहंकार है। [illegible] को रुद्र कहा जाता है। वह रुद्र आकाश रूप है इसीसे उसका [illegible] का था। उसीमें समस्त जीव

अहंकार त्याग कर स्थित होते हैं, इसीसे वह इतना कृष्णवर्ण और इतना उग्रवेशी था। पञ्चमुख ज्ञान इन्द्रियों की समष्टिता थी और दश भुजा कर्मइन्द्रियों की समष्टिताथी। राजस, तामस और सात्विक तीन गुण तीनों नेत्र थे अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान; वा ऋग्, यजुः और साम तीनों वेद नेत्र थे, अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों नेत्र थे॥ ॐकार की तीन मात्रा उसके नेत्र और आकाशरूपी वपु था और त्रिलोकी रूपी हाथमें त्रिशूलथे जो चित्सवित् से फुरा था इससे उसी का भेजा हुआ था और फिर उसी में लीन होगा। वह केवल आकाशरूप था। जो कुछ उसने किया था वह भी सुनो। ऐसा वह रुद्र था मानों आकाश में पंख लगे हैं, उसने अपने नेत्र प्राणों को खींचा तो सर्व जल उसके मुखमें प्रवेश करने लगे। जिस तरह नदी समुद्र में प्रवेश करती है, वैसेही सब जल रुद्र में लीन हुये और जिस प्रकार बड़वाग्नि समुद्र को पान कर लेती है, वैसेही उस रुद्र ने एक मुहूर्त में सब जलपान कर लिया औ जिस प्रकार अज्ञानीका अज्ञान सत संग से नष्ट हो जाता है, वैसेही उसने जलको पान कर लिया। तब केवल शुद्ध आकाश हो गया, न कहीं पृथ्वी दृष्टि आवे, न अग्नि, न वायु, कोई तत्त्व कहीं दृष्टि न आवे, एक आकाशही दृष्टि आवे—जिस प्रकार उज्वल मोती होता है वैसेही उज्वल आकाशमें दृष्टि आवे और चारों तत्त्व कहीं न भासें। एक तो अधोभाग दृष्टि आवे, दूसरे मध्य भाग आकाशमे रुद्रही दृष्टिआवे, तीसरे ऊर्ध्वभाग दृष्टि आवे और चौथे चिदाकाश दृष्टि आवेकि सर्वात्माहै और कुछ दृष्टि न आवे। वह रुद्र भी आकाशरूप था और उसका कोई आकार न था केवल भ्रान्ति से आकार भासता थो। जिस प्रकार भ्रम से आकाश में नीलता और तरुवरे भासते हैं और जिस प्रकार स्वप्ने मे भ्रम से आकार भासते हैं, वैसेही रुद्र का आकार दृष्टि आया पर आत्मा आकारा भिन्न न था। जिस प्रकार चिदाकाश में भूताकाश भ्रम से भासता है, वैसेही रुद्र का शरीर भासा। वह

रुद्र सर्वात्मा था और आकाश होकर भासा सो किञ्चन था। आकाश मे रुद्र निराधार भासा था। जिस प्रकार मेघ निराधार होते हैं वैसे ही वह निराधार दृष्टि आता था। श्री रामजी ने पूछा, हे भगवन्! इस ब्रह्माण्ड के ऊपर क्या है और फिर उसके ऊपर क्या है सो कहिये? वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी! यह जो ब्रह्माण्ड का आकाश है उस पर दश गुणा जल अवशेष है, जल के ऊपर दशगुणा अग्नि है उसके ऊपर दशगुणा वायु है और उसके ऊपर दश गुणा आकाश है। रामजीने पूछा, हे भगवन्! ये तत्त्व जो तुमने वर्णन किये सो किसके ऊपर है? वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी! ये तत्त्व पृथ्वीके ऊपर स्थित हैं। जिस प्रकार माताकी गोदमे बालक आन बैठता है वैसेही ये तत्व पृथ्वी पर हैं और पृथ्वी उस भागके आश्रय है। रामजी ने पूछा, हे भगवान्! पृथ्वी आदिक तत्व सहित निराधार ब्रह्माड किसके आश्रय स्थित हुआ है, उनका चलना और ठहरना कैसे होता है और नाश कैसे होते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हीं कहो कि आकाशमें मेघ किसके आश्रय होते हैं? सूर्य और चन्द्रमा किसके आश्रय होते हैं? जिस प्रकार ये सकल्प के आश्रय हैं वैसेही ब्रह्माण्ड भी सकल्प के आश्रय है। जैसे स्वप्नकी सृष्टि सकल्प के ही सहारे होती है और सकल्प आत्माके आश्रित है, वैसेही यह जगत और सारे तत्व आत्म सत्ता केही आश्रित है। इनका ठहरना और गिरना भी आत्मा के ही आश्रित रहता है। चित्त स्पन्दमें जैसो नीति हुई है वैसीही स्थित है। परम स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे सूर्य की किरणो में जलका आभास होता है वैसेही आत्मा मे यह जगत भासित हो रहा है। जैसे आकाशमे नीलता और नेत्र दोष से आकाश में मोती भासते हैं वैसेही भ्रमवश आत्मामे जगत भासित हो रहा है। इससे इस मिथ्या जगत की सख्या नहीं [illegible]। जैसे सूर्य किरणो और रेतके कण की सख्या करनी [illegible] जगत की संख्या नहीं हो सकती। क्योंकि यह [illegible] बना नहीं। यह

अजात जात है। जैसे बिना हुये ही स्वप्न सृष्टि भासतीहै वैसेही यह जगत भासताहै। अतः इसको मिथ्या जानकर इसकी वासना त्यागदो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का उनसठवा सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

साठवाँ सर्ग।

भैरव–भैरवी उपाख्यान वर्णन।



हे रामजी! वह रुद्र बडाही भयानक था। उसके विशाल नेत्र तेज से ऐसे पूर्ण थे कि मानों सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि ही उसके नेत्र हैं। उसकी भयानकता तो और क्या कहूँ मानों महाप्रलय का समुद ही मूर्ति धारण कर आ गया था। उसका श्यामरूप छाया बडी ही विशाल थी और उसके कण्ठ में रुण्ड-मुण्डों की माला पडी हुई थी, पहले तो उसे देखकर मैं यह कुछ भी न समझ सका कि यह अग्निदेव हैं अथवा सूर्य आदिक कौन है। परन्तु मैंने देखा कि तत्काल ही उसकी छाया नृत्य करने लगी। फिर उससे एक महा दुर्बल स्त्री निकली कि जिसका भी शरीर श्यामवर्ण ही था, मानों अँधेरी रात हो साक्षात् मूर्ति धारण करके आई हो। उसके भी तीन ही नेत्र थे। उसकी भुजायें विशाल थीं और ग्रीवा भी बहुत लम्बी थी। रुद्रके समान ही वह भी गले में रुद्राक्ष और रुण्ड-मुण्डों की माला पहने हुये थी। उसका भी स्वभाव वैसा ही महा विकराल था और वह भी हाथों में त्रिशूल, तलवार, बाण, ध्वजा, ऊखल और मुशल आदि शस्त्रों को धारण किये हुये थी। उसका ऐसा भयानकरूप देखकर मुझे ज्ञात हुआ कि यह काली भवानी है। तब काली देवी समझ कर मैंने उसे नमस्कार किया। वह अपने श्यामाकार को धारण किये ऐसा ही मालूम होती थी जैसे कोई पर्वत का श्याम शिखर हो। उसके मस्तक का तीसरा नेत्र ऐसा ही प्रज्वलित हो रहा था जैसे बडवाग्नि धधक रही हो। कभी उसकी दो भुजायें दिखलाई पड़ती और कभी हजारों भुजाये चमक जाती

थी। कभी एक ही भुजा दृष्ट आवे और कभी वह अनन्त भुजाओं वाली जान पड़े और कभी उसमे कोई भी भुजा न दिखलाई पडे। कभी उसमें शिर पात कुछ भी न दृष्टि आवे और कभी वह किसी देवाङ्गना के समान ही नित्य करने लगे। तब नृत्य करते २ वह कभी ऐसी स्थूल भासित होवे कि मानो उससे आकाश और सब दिशायें ढँक गई और इस प्रकार उसका नख से शिख तक कुछ भी न दिखलाई पडे। जब कभी वह अपनी भुजाओं को हिलावे तो ऐसा जान पडे कि यह आकाश का नाप रही है। इस प्रकार वह महाप्रलय रूप होकर आकाश, पाताल और सर्व दिशाओ को ढँके हुये थी। उसकी विशाल नासिका ऐसी जान पडती थी मानों कोई पर्वत की कन्दरा है और लोकालोक पर्वत के समान ही उसके अस्थि पिञ्जर जान पडते थे। उसके कण्ठ मे नदियों की माला सी चलती हुई जान पडती थी। उसके नासिकाके निकले हुये स्वांस प्रश्वांस से बडे-बड़े पर्वत भी उड़े जाते थे। मानों समग्र ब्रह्माण्ड की माला उसके गले में पडी हुई था। उसके हाथो में ब्रह्माण्ड रूपी भूषण पडे हुये थे और पाव मे ब्रह्माण्ड के ही घुँघरू और ब्रह्माण्ड की ही किंकिणि उसकी कटि मे लगी हुई थी। जब वह नृत्य करती तो सारा ब्रह्माण्ड नाच उठता था। उसके नृत्य करते ही सुमेरु आदिक पर्वत भी तृण और पत्र के समान नाच उठते थे; उसके एक-एक रोममे ब्रह्माण्ड स्थित था। वह धर्म अधर्म रूपी मुद्रा अपने कानो मे पहने हुये थी। उसका विशाल मुख मानों समग्र ब्रह्माण्ड को भक्षण कर रहा था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा चारों वेदो का सारा रूपी दुग्ध उनके शरीर से श्रवित हो रहा था। इस प्रकार मानों समस्त जगत की मर्यादा उसके ही शरीर में स्थित थी। उसके आधे ही शरीरमे मानो समस्त आकाश मडल समाया हुआ था, उसके आधे ही शरीर मे मानों सभी सिद्ध, देवता दैत्य विद्याधर, गन्धर्व, और किन्नर समाये हुये थे। मानो वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों

की आदर्श थी, जब वह अपनी भुजाओं को उछालती तो उसके नखो की चमक चन्द्रमा को भी तुच्छ कर देती थी। मन्दराचल और उदयाचल पर्वत उसके कानों के भूषण हो रहे थे। उसमें हिमालय पर्वत बरफ का एक कण का ही जान पडता था। उसके चेष्टाये नाना प्रकार की हो रही थीं। मानों सारा ब्रह्माण्ड रूपी रत्न उस एक ही डब्बे में पडा हुआ था। परन्तु यह सभी दृश्य मैंने अपने सकल्पसे उसमें देखे। जब सकल्प करूँ तब ऐसाही दिखलाई पड़े और जब आत्माकी ओर देखूँ तब वह केवल एक आत्माही जान पडे और उसमे दूसरी कुछ भी न दृष्टि आवे। परन्तु सकल्प मे तो मुझे सारा ब्रह्माण्ड उसी मे दिखलाई पडता था। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी उसमे भासते दे। मानो एक उसीमें जगत की सारी क्रियायें हो रही हैं और देव, दानव, गन्धर्व तथा अप्सरायें भी मानों उस एक ही मे विमाना रूढ़ स्थित हे। इस प्रकार मै अपने सकल्प से उसमें नक्षत्रों का चक्र भी चलता हुआ देखता था। परन्तु जब मैं उसे आत्म दृष्टि से देखूँ तब वह मुझे ब्रह्मरूप ही जान पड़े और सकल्प से सारा जगत उसीमें भासता था। जगत हो क्या, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि और सूर्य, चन्द्रमा आदि सब एक उसीमे दिखलाई पडते थे। देह में अनन्त सृष्टिया मुझे उडती हुई जान पडती थीं। तब मैने जाना कि वह रुद्र जो मैने पहले देखा है वह भैरव है और यह भैरवी उसकी शक्ति है। साक्षात् शरीर धारण करके आये है। इस प्रकार दोनो ही मुझे विशाल शरीर वाले जान पडे। वह सर्वात्मा और नित्य शक्ति थी। वह सारे विश्व को एक अपने आपही मे स्थित देखती थी। जैसे समुद्र अपने मे उठने वाली समस्त तरङ्गों को अपना ही रूप जानता हे वैसेही वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपनाही रूप जानती थी। वह सदाशिव से भी कहीं अधिक अहंकार वाली थी। मानों उसने समस्त अहकारोंकी माला धारण किये थी और सारे ब्रह्माण्ड

तो उसके गले में माला के ही समान पड़े हुये थे। यम आदिक उसकी मर्यादा थे। रुद्र के शिर पर जो जटा थीं, उसमे मोर पुच्छ की कलङ्गी लटकी हुई थी और काली भवानी दम्–दम् शब्द करती हुई जाकर श्मशान मे नृत्य करने लगी थी। हे रामजी। ऐसी काली भवानी तुम्हारी सहायता करें।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का साठवाँ सर्ग समाप्त । ६० ॥

इकसठवाँ सर्ग।

भीतरी भेद



तनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जी से पूछा-हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि उस देवीके हाथमे क्या शस्त्र थे और वह कहां से आई थी तथा उसके एकही शरीर में सारे ब्रह्माण्ड का महाप्रलय कैसे हो रहा था और वह रुद्र भी कौन थे कि जिन दोनो का आपने ऐसा अद्‌भुत वर्णन किया है। हे मुने! फिर वह कहा चली गई और उसका स्वरूप क्या था?

वशिष्ठ जी कहने लगे-हे राम जी! सुनो, न कोई काली भवानी। न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री। न कोई ब्रह्माण्ड है। न कोई पिण्ड। केवल चिदाकाश ही सर्वत्र स्थित है। सकल्प से ही आकार–प्रकार भासते हैं। हे रामजी! अपने स्वभाव मे ही चैतन्य, प्रकाश, सत्य, अनन्त, अविनाशी और आत्मपद स्थित है चेतन आत्माही रुद्रका आकार भास रहा था। जैसे सुवर्ण ही भूषण हो जाता है वैसेही वह परमदेव चिदाकाश ही चेतन स्वरूप होकर भासता है। जैसे ईख मे मधुरता ही ईखका स्वरूप है वैसेही आत्मा की चेतनता ही उसका स्वरूप है। चैतन्य सत्ता अपने स्वरूप को कदापि नहीं त्यागती। वही अपने आपमे स्थित है और वही बाहर भी जैसा आकार चाहिए सकल्प से भासने लगती है। जैसे ईख मे

मधुरता न होवे तो उसको ईख नही कहता वैसे ही आत्मसत्ता मे चेतनता न हो तो उसे कोई चेतन्य नही कहेगा। यदि आत्मा चेतनता को त्याग देवे तब तो वह परिणामी ही हो जायगा, फिर उसे चेतन कोई कैसे कहेगा और तब वह अपने आपमे स्थित भी कैसे रहेगा किन्तु अभी वह अपने स्वभाव में ही स्थित है और किसी अन्य अवस्थाको नही प्राप्त हुआ है। इसी नियम से यह कहा जाता है कि सारा जगत आत्मा का किञ्चन है। जैसे इक्षुरस मे मधुरता विद्यमान रहती है वैसेही आत्मा मे चेतनता विद्यमान है। उसमे चेतना युक्त लक्षण हो उसकी चेतनता स्वरुप है और इसी कारण यह जगत भावरूप प्रदर्शित हो रहा है। यदि उस शुद्ध चिन्मात्र में चित्त का उत्थान न होता तो जगत का भाव कदापि न लखाता। दोनो अवस्थाओं मे आत्मा ज्यों की त्यों अपने आपमें ही स्थित है। जैसे वायुका स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही वायु रूप ही है वैसेही आत्म भीतर बाहर सर्वत्र आत्मरूप ही है। उस शुद्ध चेतन में किसी और शब्दका प्रवेश नहीं होने पाता। वह आत्मा सर्वदा एक समान ही रहता है। इस कारण उसमे यह जगत भी कुछ नहीं है। जगत का घटना, बढ़ना आदि, मध्य, अन्त और आकाश, प्रलय, कल्प, महाकल्प, उत्पत्ति स्थिति, प्रलय, जीवन, मरण, सत, असत्, प्रकाश-अन्धकार, ज्ञानी, अज्ञानी, मूर्ख, पण्डित, नाम, रूप, लोक, अवलोक, विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, दुख, सुख, पृथ्वी, जल, जड, चेतन, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आना, जाना कुछ नहीं है। हे रामजी! उसमें मै, तुम, वेद, शास्त्र, पुराण, मन्त्र, आकार, उकार, मकार, जप और नाम सहित यह जो कुछ स्थावर जङ्गम रूपी जगत है सब ब्रह्म स्वरूपही है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। जैसे समुद्रमे लहरें और बुलबुले तथा भवरे भी सब जल रूप ही हैं, वैसेही सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्मसे जगत भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न मे पर्वत भासे और अनुभव से नही भासता है वैसे ही यह जगत ब्रह्म

से भिन्न नहीं है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है वैसे ही आत्मसत्ता जगतरूप होकर भासती है। यह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुवेर, यम, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश आदिक जितने भी शब्द हैं सब ब्रह्मसत्ता से ही भास रहे हैं किन्तु वह ब्रह्मसत्ता अपने निज स्वभाव मे ही जैसा का तैसा प्रत्येक के अपने आपमें ही स्थित है। वह कभी भी परिणाम भाव को नहीं प्राप्त होती और वही सत्ता सब की अपने आप आत्मा है। जैसे समुद्र अपने तरग भावको त्याग कर सौम्यरूप से फिर अपने आपही में स्थित हो जाता है और वह अपना ही वास्तविक रूप है वैसे ही ब्रह्मसत्ता स्फुरण अर्थात सकल्प विकल्प को त्यागने पर अपने आपही में ज्यों को त्यों स्थित अनामय, अनन्त और परमशान्त स्वरूप, निर्विकार और दुःखों से रहित है। जब ज्ञान होता है तब वही ब्रह्मसत्ता को प्राप्त होता है। वही बोध है। वही अबोध है और वही विधि, निषेध सब कुछ है। जीवत्व भाव को त्याग देने पर सब आत्माही आत्मा दिखलाई पडता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

बासठवाँ सर्ग।

शिव शक्ति विचार



हे राम जी! यह जो चिदाकाश एवं परम चिदाकाश मैंने तुमसे कहा है वह सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है। वही रुद्र रूप है और वही नृत्य करता था। वहाँ न कोई आकार था और न कोई काली भवानी थी। अपनी चिद्घन सत्ताही किंचनता वश वैसा होकर भासती थी परन्तु आत्म-दृष्टि से देखने पर सब कुछ चिदाकाशरूप ही था। परन्तु जो कोई मेरी अवस्था (योगावस्था) को पहुचा हो वही वैसा रूप देख सकता है अन्य नहीं। भैरव और रुद्र का रूप कल्पान्त है और वह कल्पान्त

मधुरता न होने तो उसको ईख नही कहता वैसे ही आत्मसत्ता में चेतनता न हो तो उसे कोई चेतन्य नहीं कहेगा। यदि आत्मा चेतनता को त्याग देवे तब तो वह परिणामी ही हो जायगा, फिर उसे चेतन कोई कैसे कहेगा और तब वह अपने आपमें स्थित भी कैसे रहेगा किन्तु अभी वह अपने स्वभाव में ही स्थित है और किसी अन्य अवस्थाको नही प्राप्त हुआ है। इसी नियम से यह कहा जाता है कि सारा जगत आत्मा का किञ्चन है। जैसे इक्षुरस मे मधुरता विद्यमान रहती है वेसेही आत्मा मे चेतनता विद्यमान है। उसमे चेतना युक्त लक्षण हो उसकी चेतनता स्वरूप है और इसी कारण यह जगत भावरूप प्रदर्शित हो रहा है। यदि उस शुद्ध चिन्मात्र में चित्त का उत्थान न होता तो जगत का भाव कदापि न लखाता। दोनो अवस्थाओं मे आत्मा ज्यों की त्यों अपने आपमें ही स्थित है। जैसे वायुका स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही वायु रूप ही है वेसेही आत्म भीतर बाहर सर्वत्र आत्मरूप ही है। उस शुद्ध चेतन में किसी और शब्दका प्रवेश नहीं होने पाता। वह आत्मा सर्वदा एक समान ही रहता है। इस कारण उसमें यह जगत भी कुछ नहीं है। जगत का घटना, बढ़ना आदि, मध्य, अन्त और आकाश, प्रलय, कल्प, महाकल्प, उत्पत्ति स्थिति, प्रलय, जीवन, मरण, सत, असत्, प्रकाश अन्धकार, ज्ञानी, अज्ञानी, मूर्ख, पण्डित, नाम, रूप, लोक, अवलोक, विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, दुख, सुख, पृथ्वी, जल, जड, चेतन, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आना, जाना कुछ नहीं है। हे रामजी! उसमें मे, तुम, वेद, शास्त्र, पुराण, मन्त्र, आकार, उकार, मकार, जय और नाम सहित यह जो कुछ स्थावर जङ्गम रूपी जगत है सब ब्रह्म स्वरूपही है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। जैसे समुद्रमें लहरें और बुलबुले तथा भवरें भी सब जल रूप ही हैं, वैसेही सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्मसे जगत भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न में पर्वत भासे और अनुभव से नही भासता है वैसे ही यह जगत ब्रह्म

वत भासते हैं। जैसे मनोराजका युद्ध भासता है और जैसे कथाओंके अर्थ भासते हैं और वे भी विना कुछ हुये ही सकल्पवश भासते हैं वैसे ही यह जगत चिदात्मा में भास रहा है। आकाश मे तारे नहीं हैं परन्तु भासते हैं। आत्मा एक, अद्वैत और चेतन है। उसकी चेतनता का अभाव नही होता। वह अपने आपही मे स्थित है और वह निष्किंचन है। जैसे सूर्यकी किरणे किञ्चन रूप होती है और उनमे जल भासता है वैसेही चैत्यका किञ्चन जगत भासता है और महाप्रलय में भैरव और भैरवी रूप होकर भासती है परन्तु न तो कोई भैरव है और न कोई काली हैं, सब कुछ आत्माही है। उस आत्मामें कोई वाच्य-वाचक नहीं है और न तो उसमें कुछ कहना है न सुनना है। सकल्प से ही वह रुद्र नाचता था। जैसे सुवर्णमे भूषण भासता है वैसेही सकल्प वश चिदाकाश मे आकार भासते हैं और उसमे कुछ बना नहीं। मैं, तुम और यह सारा जगत उस आत्मा निष्किंचन का ही स्वरूप है, उसमें एक भी शब्द नही फुरा है। जैसे स्वप्नके शब्दोका स्फुरण कोई अस्तित्व नही रखता और वे सब पत्थर के ही समान मौन रूप हैं वैसे ही इस जाग्रत जगत में जोभी शब्द हो रहे हैं सब स्वाप्नवत हैं। कुछ हुये नही-आत्म सत्ताही अपने आपमें भासित हो रही है। जैसे आकाश सर्वथाही शून्य है, वैसेही आत्म सत्ता अपने आप मे ही स्थित है। उसमे एक, दो, सत्य, असत्य, चित्त, अचित्त, मौन, अमौन कुछ भी नही है। वह केवल, चिन्मात्र, और निर्विकल्प रूप आत्म-सत्ताही ज्यों की त्यो स्थितहै। हे रामजी! यह शास्त्र का एक महान सिद्धान्त है कि इस सम्बन्ध मे तुम सर्वथा ही मौन हो जाओ। निर्विकल्प हो जाना ही सब सिद्धान्तों की महान समता है। जैसी स्वाभाविक चेष्टा हो वैसा आचरण करते हुये सर्वदा आत्म निश्चय रखना ही मौन कहलाता है। इसीका पाषाणवत मौन भी कहते हैं। सारी क्रियायें करो पर अपने आपसे कुछ भिन्न न देखो, यही आत्मस्थिति कह लाती

की मूर्ति ही नृत्य करके अन्तर्ध्यान हो गई थी परन्तु वह सब कुछ मायावासी स्वरूप मात्र था और चेतनसत्ता के आश्रय होकर ही वह दोनों नृत्य किये थे। इस प्रकार यह शुद्ध चिदाकाश ही जगत रूप होकर भासित हो रहा है और चेतना के किंचन से ही जगत भासता है और वह भी कैसा कि जैसे सुवर्णमे भूषणोंका मान होता है।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर! पहले तो आपने यह कहा है कि आत्मतत्व अद्वैत है और उसमें यह नश्वर जगत प्रमाद से कल्पित है और कल्प से इसका नाश हो जाता है और तब केवल अद्वैत सत्ताही शेष रहती है। परन्तु अब आप यह कहते हैं कि चैन्यतासे ही जगत भासता है। तब उस अद्वैत मे चैत्यता कैसे हुई और इसको चेतनेवाला कौन है और प्रलय होनेके पहले ही काली कैसे भासित हुई, कृपाकर मुझे यह बतलाइये।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! न कोई चैत्य है और न कोई चेतनेवाला है, केवल आत्म सत्ता ही अपने आपमे स्थित है। वही शिव तत्त्व है और वही चेतनघन, परम निर्मल और शान्तस्वरूप है। वही परम चिदाकाशरूप एवं शिवतत्व रुद्र आकार को धारण कर मुझे दिखलाई पड़ा था। इस प्रकार वह चिदाकाश ही आकार होकर भासता है, नहीं तो न कोई भैरव है और न कोई भवानी। सारा जगत भ्रम मात्र है। आत्मसत्ताके चेत्यता ही जगतरूप होकर भासित हो रही है और स्वरूपतः न तो जगत है न चेत्यता, आत्मा ही अपने आपमे स्थित है। उस अद्वैत सत्तामे कुछ हुआ नहीं। फिर उसमें चेत और चेतने वाला मैं कोई क्या कहूँ, सब वृत्तियोंको ही शक्ति भास रही है। परन्तु आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है। हे रामजी! हमको तो ऐसा ही भासता है और अज्ञानीको नाना प्रकारका जगत ही भासता है किन्तु आत्मा सर्वदा ही एक रस है, किञ्चनता वश उसमें सभी आकार-प्रकार भासने लगते हैं। ऐसे ही भैव और भैरवी सब निराकार रूप हैं, भ्रमवश आकार

फुरती है। और जब इस प्रकार वासना फुरी कि तब वैसाही वैसा दृश्य आगे फुरा और तब त्रिपुटी भी फुर आई जिसे वासना, वासक और वास्य भी कहा जाता है। इस त्रिपुटी मे जीवत्व भावस्थित होता है। जब इसको यह भावना होती है कि मै जीव हूँ, मेरा नाश कदाचित भी न होवे तब इच्छा मे वह जीव कहलाया और जो चित्शक्ति की ऐसी सज्ञा हुई वही स्पन्दता कहलाई। परन्तु शिवतत्व सर्वदा ही अफुर और अचेत शक्ति मे फुरने की नाई स्थित है। जैसे सूर्य की किरणो मे जल नहीं होता और हुये की नाई ही भासता है वैसेही यह जगत है और जो काली देवी है वह परमात्मा की क्रिया शक्ति है सो यह पहले तो कारणरूप प्रकृति है और फिर उसी से सब हैं इसीसे वह प्रकृति रूप है और विकृति नहीं अर्थात् किसी का कार्य नही। महदादिक पञ्चभूत, महत्तत्व और अहकार यह सप्तप्रकृति विकृति है, इसीको कार्य कारण भी कहते हैं। कार्य आदि देवीके हैं और कारण षोडश है। पाच ज्ञान-इन्द्रियां, पांच कर्म इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण और एक मन। इनके सत्तर कारण हैं। इनमें सोलह तो कार्यरूप हैं और इनमे कारण किसी का नहीं होता, वह पुरुष परमात्मा अद्वैत, अचित्त और चिन्मात्र है, उसमे किसी का न तो कारण है और न कार्य है। वह पुरुष परमात्मा अद्वैत, अचित् और चिन्मात्र है और वह अपने आपही में सर्वदा स्थित है। समस्त द्वैत कलना कार्य कारण मे और चित्त शक्ति मे ही स्थित है। वही जब निस्पन्द होताहै तब तत्वरूप शिवपद मे निर्वाण हो जाता है। तब कारण और कार्य रूपी सारे भ्रम मिट जाते है और तब केवल आकाशवत ही शेष रहता है। वह शुद्ध, अद्वैत, अचेत और चिन्मात्र पद सर्वदा अपने अपने आप मे ही स्थित है। उसकी स्पन्द रूप क्रिया शक्ति की ही इतनी सज्ञायें हैं। पहले तो सब कारण रूप प्रकृति है अर्थात् जैसे बडवाग्नि समुद्र को सुखाती है वेसेही वह जगत को सुखाती है इससे वही

है। जैसे नटवा सब स्वांगो को धरता है पर वह अपना लक्ष्य उसी नट क्रिया में ही रखता है वैसेही तुमभी हो रहो। जो कुछ तुम्हें अनिच्छित ही प्राप्त हो जाय उसको शास्त्रानुसार भोग करो और अपने निर्गुण और निष्क्रियरूप से अविचल बने हुये सर्वदा उसी अद्वैत रूपमें ही स्थित बने रहो।

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! अभी तो आपने यह बत लाया ही नहीं कि वह रुद्र कौन था और काली कौन थी और उनकी जो अङ्ग घटते बढ़ते थे तथा वे जो नृत्य करते थे वह क्या था—कृपाकर यह भी बतलाइये।

वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! वह भी शिवतत्व ही जैसा भास रहा था और वास्तव मे कोई आकार-प्रकार न था। वह निर्वाच्य पद ही सब कुछ वैसा दृश्यरूप से भासित हो रहा था। जितनी भी संज्ञायें मैंने तुमसे कही है वह सब संकल्प में हैं, आत्मपद में और आत्म वेत्ताओं में नहीं हैं। तौभी मैं तुम्हें समझानें की चेष्टा करता हूँ। हे रामजी! देखो, सबका आत्मतत्व जो है वही केवल पद चिदाकाश है, वही शिव भैरव है और उसीके चमत्कार का नाम चित्त-शक्ति है, वह काली है, वही भैरवी है और वही रुद्र तथा वही भैरव है। उस शिवरूप आत्मा में कोई भेद नहीं है। जैसे वायु और उसकी गमनता में कुछ भेद नहीं होता, अग्नि और उष्णता मे कुछ भेद नहीं होता, वैसेही चित्तकला और आत्मा मे कुछ भेद नहीं होता। जैसे निस्पन्द वायु का कुछ लक्षण नहीं होता और वह अवाच्यरूप है किन्तु जब वही वायु स्पन्द रूप होता है तब उसका लक्षण होता है और तब उसकी गमनता में शब्द होता है, वैसेही चित्तशक्ति मे उसका लक्षण होना है और उसके अनेकों नाम होते हैं। स्पन्द, इच्छा, वासना वासक जो भी कहिये सब उपयुक्त ही है। जैसा २ चित्त का भाव होता है अथवा चित्त संवित में जैसी २ वासनायें फुरती हैं वैसी ही वैसी वासना

काली कहा गया है। फिर वह जगत की नाशक है, इसीलिये उसे काली कहा जाता है और जब वह स्वरूप की ओर आती है तब जगत का नाश कर देती है। कहने का भाव यह कि जब वही शुभ सत्ता अपने से पृथक होकर भासती है तब जगत उठ खडा होता है और जब स्वरूप मे भासती है तब उसमे जगता भास नहीं रहता। जैसे आकाश का अङ्ग आकाश ही है, वैसेही जगत इसका अग है और जैसे समुद्र मे तरङ्ग समुद्र रूप ही है वैसेही इसका (शुभ सत्ता, आत्मसत्ता का) रूप जगत ही है। और यही शक्ति चिदाकाश है, और उससे पृथक कुछ नहीं है। यही जब फुरती है तब जगत रूप भासतीहै और जब नही फुरती तब शुभ स्वरूप आत्मरूप रहती है। हे रामजी!इसी प्रकारसे तुम्हारी चित शक्ति जब तुम्हारी ओर आवे तब जगत भ्रम मिटेगा, अन्यथा नहीं। इस चित् शक्तिने ही जगत के सारे भ्रमों को रच दिया है। परन्तु वह शुभ सत्ता सर्वथाही शान्त स्वरूप, अजर, अमर, चिन्मात्र और क्षोभ रहित है।

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! आपने जो काली के अङ्ग और उसमें स्थित सृष्टि देखी थी वह उसकी आत्मा मे कहाँ तक स्थिति है, यह आप मुझे समझाकर कहिये—वह सत् है या असत।

वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! काली आत्माकी क्रिया-शक्ति है इससे वह सत्य ही है परन्तु आत्मामे वह कुछ वैसी नहीं हुई है। मनोराज मे जैसा चिन्तन किया जाता है वसाही भासता है। परन्तु आत्मा मे कुछ भी सत्य नही है, चित्त शक्ति ही बसा हुई है। विधि निषेध युक्त जितने भी पदार्थ और महास्थावर जगमरूपी जगत जो कुछ भी भासता है सब चिदाकाश ब्रह्म स्वरूप ही है परन्तु वास्तविकता यही है कि ब्रह्म मे यह कुछ हुये नहीं। सर्व प्रकारेण सर्व काल में आत्माही अपने आपमे स्थित है और वह शुद्ध, निर्विकार और ज्यों का त्यो स्थित है। क्रिया-शक्तिने ही देश, काल सब कुछ रच लिया है। और वह मायाकालमें तो सत्य है परन्तु उसकी कोई

सिद्धि है अर्थात् सभी सिद्धियां उसीके आश्रयभूत रहती हैं, वही जयन्ती है, वही चण्डिका है, उसीके क्रोधसे जगत का प्रलय होता है और उसीसे सब भय पाते हैं, वही वीर्य है, अनन्त वीर्य है, दुर्गा है, गायत्री है, सावित्री है और इस प्रकार कुमारी, गौरी, शिवा, जया विजया, शक्ति और सुशक्ति उसीके नाम हैं। वही राजसी, तामसी और सात्विकी तीनों प्रकार की क्रियाओं को करने वाली है और वही सूर्य सज्ञाओं की क्रिया शक्ति है। हे रामजी! इस प्रकार ही उस देवी और रुद्रका वर्णन है। अब वह जो नृत्य करती थी उस क्रिया को भी सुनिये। वह जो सात्विकी, राजसी और तामसी तीनों प्रकार की क्रियायें करती थी वह कैसे? देखिए, उसमें जो ग्राम, पुर और नगर भासते थे वह सब उसीके अङ्ग थे और वही सृष्टि थी। जब वह शुभ सत्ता से पृथक होती थी तब उसके अङ्ग सृष्टि रूप अनेक हो जाते थे और जब वह शुभ सत्ता अर्थात् आत्म सत्ता या चिद् घन सत्ता की ओर आती थी तब सृष्टि रूप उसके अङ्ग सूक्ष्म हो जाते थे और जब उस प्रकार वह शिवतत्व से आ मिलती थी तब सृष्टि रूपी कोई भी अङ्ग न रहते थे। इसी प्रकार उस रुद्र या भैरव में भी कुछ हुआ नहीं, केवल क्रिया शक्ति के फुरने से ही वह जगत रूप होकर भासता है और जब वही अपने अधिष्ठानकी ओर देखता तब उसे अपनाही स्वरूप भासित होता था। हे रामजी! आत्मा और क्रिया-शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं है, अवयव और अवयवी में कुछ भेद नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता मे कुछ भेद नहीं है वैसेही आत्मा और उसकी क्रिया शक्ति मे कुछ भेद नही है, वह चित्त शक्ति आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वह कृष्ण रूप है उसीसे उसका नाम काली पड़ा। श्याम रङ्ग होने से ही उर्ध्व के भाग को आकाश कहा गया है अन्यथा वह तो निराकार ही है। ऐसे ही काली भी निराकार है परन्तु श्यामता के कारण उसे

विद्या और अविद्या ही भेद हैं। इसको ऐसे समझना चाहिये कि जैसे—जो कुछ कहने को होता है पहले उसका चित्र खिच जाता अर्थात् पहले ही से वह चित्त विद्यमान रहता है तब चित्र खिचता है और वह स्पन्दरूप हो है, ऐसे ही उस शुभसत्ता मे एक ऐसा अंकुर विद्यमान होता है कि जिससे वह ऐसा विकृतरूप हो जाता है परतु वह सर्वथा ही निरकुर रूप अद्वैत ही है, उसमें किसो की शम नहीं है। हे रामजी! यह समस्तजीव शिव स्वरूप ही हैं परन्तु इनमे जो स्फुरण हुआ है अथवा इनका चित्त जो फुरा करतो है वही कालीरूप है। जब यह इच्छा शक्ति बाहर फुरने लगती है तब इसके भ्रमो का अन्त नहीं रहता। फिरतो वह नाना प्रकार के विकारों उठाकर अनुभव करता हुआ लेशमात्र भी शान्तिको नहीं पाता और कष्ट पर कष्ट भोगता है। किन्तु जब उसी चित्त शक्ति को उलट कर पटक देता है अर्थात् जब अधिष्ठान की ओर लगा देता है तब जगत का सारा भ्रम मिट जाता है और तब वह परम शान्तिमान हो जाता है। इससे आत्मा और चित्त शक्ति में कुछ भी अन्तर नही है। जब उसमें स्पन्दता होती है तब वह और की ओर भासने लगता है। और स्पन्दता नहीं होती तो वह जैसा का तैसा अपना आप ही भासता है। उसमें जानना न जानना कुछ भी नहीं है। बस, उसको इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि जब तक इच्छा शक्ति शिवसत्ताकी ओर नहीं देखती तब तक नाना प्रकार के नृत्य करती रहती है और जब शिव की ओर देखती है तब उसका नृत्यविरस हो जाता है। और उसके सारे ही अङ्ग सूक्ष्म हो जाते हैं। हे रामजी! तुमको स्मरण तो है न कि मैने क्या कहा है। जब उस काली का आकार बेप्रमाण हो गया तब वह आत्मा की ओर देखने लगी जिससे सूक्ष्म होता था। क्यो मेरा वह कहना कि काली कभी सूक्ष्म हो जाती और कभी चिदाकाश हो जाती और कभी विस्तृत होती। सो मुझे इसी प्रकार से समझ लो कि जब

वास्तविकता नहीं है। जैसे निद्रा वस्थामे सब सृष्टि भासती है वैसे ही से निद्रित स्वरूप से अज्ञानता होने के कारण जगत की सृष्टि भासती है, जैसे जब नींद टूट जाती है तब स्वप्न-सृष्टि नहा भासती, वैसे ही यह सृष्टि भी कुछ वास्तव में नहीं है जो कुछ भासती है वह अज्ञान से ही भास रही है। सारे पदार्थ चित्त के फुरने से ही भासते है। शुद्ध सकल्प वालों को यह प्रत्यक्ष भासती है अर्थात वह जैसी सृष्टि चाहे रच लेता है और अशुद्ध सकल्प वालों को मनोराज की यह सृष्टि भासती है कि जो मिथ्या है और जिसका आत्मा में कुछ भी अस्तित्व नहीं है। जैसा संकल्प फुरता है वैसा ही भासने लगता है। इसी प्रकार यह सृष्टि सकल्परूप ही है और हृदय में इसकी सत्यता विद्यमान रहती है कि जिसका अर्थ अनुभव होने लगता है। जैसे परलोक को कोई देखता नहीं है परन्तु उसकी सत्यता जो हृदय में होती है तो उसका राग द्वेष हृदय में फुरता है और सकल्पवश वैसाही भाव उठ खडा होता है, इसी प्रकार से जब तक चित्त–स्पन्द फुर रहा है तब तक यह जगत खडा ही रहेगा और जब चित्त निस्पन्द हो जायगा जब जगत की सत्यता भी नष्ट हो जायेगी। अस्तु! क्रिया-शक्ति ने ही जगत को रच रखा है। जब यह क्रिया-शक्ति या काली-शक्ति आत्मासे पृथक रहती है तब तक नाना प्रकारका जगत रचती है और क्षोभ को प्राप्त होती है और जब वही शुभ सत्ता आत्मा की ओर जाती है तब शान्तरूप हो जाती है। फिरतो वह प्रकृति सज्ञा नहीं रहती और सब अद्वैतरूप हो जाता है। जिस प्रकार वायु जब तक चलता है तभी तक उसके अनुसार उतना ही शीत, उष्ण, सुगन्धि, दुर्गन्धि और बडी छोटी आदि सज्ञा होती है और जब वह ठहर जाता है तब कहा नहीं जाता कि वह ऐसा है और वैसा है। इसी प्रकार चित्त शक्ति की स्पन्दता ही सारे जगत को रच रही है। उसीको प्रकृति और कारण रूप भी कहते हैं। उसके

कुछ भी न भासित हुई । जैसे वर्षा कालके मेघ शरत् काल के आने से नष्ट हो जाते हैं वैसे ही वह रुद्र भी नष्ट हो गया । उस समय मुझको तीन वस्तु दिखलाई पडी । एक देवी ब्रह्माकी शक्ति, दूसरी काली और तीसरी शिला । तब मुझे ज्ञान हुआ कि यह तो स्वप्न नगर के समान ही कुछ नहीं है और सारा प्रपञ्च मिथ्या ही दिखलाई पडा है । तब मैने विचार करके देखा कि स्वर्ण शिला ही पडी है और यह समस्त सृष्टि इस शिला के ही कोष मे स्थित है । तब मै उसमे भी सृष्टि देखने लगा तो नाना प्रकार की सृष्टि ही दिखलाई पडी । परन्तु जब मै उसे बोध दृष्टिसे देखूँ तो सब ब्रह्म ही भासे । इस प्रकार सकल्प दृष्टि से देखने पर उस आत्म आदर्श मे अनन्त सृष्टिया दिखलाई पडें और चर्म दृष्टि देखूँ तब शिला ही जान पडे । परन्तु जब निःसकल्प होकर देखूं तो वह शिला मुझे अद्वैत आत्मा ही दृष्टि आवे । इस प्रकार उस शिला मे मैने अनन्त सृष्टियां देखीं जो कहीं तो ऐसी जान पडती थी कि यहां ब्रह्मा उत्पन्न हुये है, यहां ब्रह्माने सूर्य और चन्द्रमा रचे हैं, यहा मर्यादा स्थापित हुई है, यहीं सम्पूर्ण पृथ्वी आदिक तत्व उत्पन्न किये हैं परन्तु प्राण नहीं उत्पन्न किये, कहीं समुद्र ही नहीं है और कहीं सर्व व्यवहार करते हुये दृष्टि आते थे, कहीं सूर्य और चन्द्रमा उत्पन्न थे और कहीं नहीं थे । कहीं चन्द्रमा शिव से उत्पन्न हुये थे और कहीं शिवसे नहीं निकले थे । कहीं क्षार समुद्र मथा गया था और कहीं नहीं मथा गया था और अमृत नहीं निकला और लक्ष्मी, हाथी, घोडा और धन्वन्तरि वैद्य नहीं निकले थे । कहीं विष और अमृत नहीं निकला था, देवता मृतक हो रहे थे और जहां समुद्र मथा गया था वहा से अमृत निकला था, वहाँ के देवता सुखी थे । कहीं प्रकाश हो रहा था, कहीं नहीं था । कहीं पर्वत ही पर्वत दिखलाई पडते थे, और कहीं इन्द्रके वज्रसे पर्वत कटने और उडते हुये दिखलाई पडते थे । कहीं प्राणियों को जरा मृत्यु ग्रसे हुये थी और कहीं स्पर्श

बाहर की ओर देखती तब उतना विस्तार पाती और जब अपनी ओर अर्थात् आत्माविमुख होती तब सूक्ष्म हो जाती। बस, इसी प्रकार से वह उतना नृत्य करती फैलाती और क्या क्या हो जाती थी परन्तु जब शिवतत्त्व की ओर जाती थी तब उसीमें समा जाती थी अर्थात् तब वह भी शिवरूप ही हो जाती थी। शिवके सम्मिलन से उसका विलास शून्य हो जाता था। इसी प्रकार के अभ्यास से प्रत्येक को शुभसत्ता एवं शिवपद की प्राप्ति हो जाती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का बासठवां सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

अनन्त सृष्टि वर्णन



राम जी! इस प्रकार जब वह काली नृत्य करके निर्वाण हो गई तब शिव (रुद्र) अकेला ही रह गया और तब वही मुझको दिखलाई पड़े और दो खण्ड आकाश के देख पड़े। एक नीचे का भाग और दूसरा ऊपरी भाग। इसके अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई न पड़े। तब शिव नेत्र फैलाकर दोनों खण्डों को ऐसे ही देखने लगा कि कि जैसे सूर्यदेव जगत को देखते हैं। और जब उसने अपने प्राणों को खींचा तब उर्द्ध और अध: दोनों ही खण्ड इकट्ठे हो गये। इस प्रकार उसने ब्रह्माण्डको अन्तर्मुख कर लिया। तब वह रुद्र ही अकेला रह गया और कुछ भी दिखलाई न पड़ा। परन्तु एक ही क्षण के पश्चात् उस रुद्र ने महा विशालरूप धारण किया कि जिससे वह ब्रह्माण्ड को भी लांघ गया और एक वृक्ष के समान हो गया। फिर अंगुष्ठ मात्र शरीर धारण कर एकही क्षणमें परम सूक्ष्म अणु के समान ऐसा हो गया कि नेत्रों से दिखलाई भी न पड़े। मैं बहुत ध्यान से देखता किन्तु कुछ भी दिखलाई न पड़ा और सर्वथा ही नष्ट हो गया, केवल चिदाकाश ही शेष रहा और दूसरी वस्तु

पहले भी ऐसा ही उत्पन्न हुआ हूँ ? यदि ऐसा प्रसग होवे तो कृपा-कर उसे भी बतलाइये।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! अवश्य ही तुम पहले भी हो चुके हो, अब भी हो और आगे भी होवोगे। मै भी पहले था और आगे भी होऊँगा ? यह तो आत्मा का विवर्त है कि उसमें जैसा का तैसा ही कणका उत्पन्न होती है। तुम पहले भी ऐसेही उत्पन्न हुये हो। हां, कुछ अल्प परिवर्तन भलेही हुआ हो। कभी यह पूरे लक्षण तुम में रहे और कभी तुम अर्द्ध लक्षण के हुये और कभी चतुर्थ भाग लक्षण वाले हुये हो। जैसे अन्न का बीज जैसा होता है तो वैसाही अन्न पैदा होता है। भलेही उसमें कुछ लघु और कुछ बड़ा होवे। ऐसेही सब पदार्थ होते हैं। जैसे समुद्र में कोई छोटी और बडी लहरें उठती हैं परन्तु वे सभी तरग रूप ही हैं। ऐसे ही हमारे समान भी फिर होंगे किन्तु आत्मतत्व कुछ भिन्न नहीं है, संकल्प से ही भिन्नता और विलक्षणता जान पडती है। जैसे समुद्र में वायुसे तरङ्ग उठते हैं ऐसे ही आत्मा में सकल्प वश ही जगत भासता है, अन्यथा आत्मा में कुछ है नहीं। यह सारा जगत चैतन्य का ही विलास है और चित्त के फुरने में ही अनन्त सृष्टिया भास रही हैं। जैसे स्वप्न सष्टि बडे आरम्भ से भासती है परन्तु वह स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है, वैसेही यह जगत आरम्भ के परिणाम से कुछ बना नहीं और वह आत्म सत्ता ज्यों की त्यों स्वत. अपने आप मे ही स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥



भी नहीं करती थी। कहीं प्रलय हो रहा था और कहीं कल्प पर्यंत ज्यो के त्यों पड़े थे। कहीं मेघो का गर्जन हो रहा था और कहीं समग्र पृथ्वी जलमग्न दिखलाई पडती थी। कहीं आकाश ही आकाश दिखलाई पडता था तो कहीं कोई प्राणी ही न दीखे और कहीं देवता और दैत्यो के युद्ध चल रहे थे। कहीं लोगों मे परस्पर प्रेम था और कही शत्रुता। कहीं राजा बलि और इन्द्र का युद्ध हो रहा था तो कहीं रुद्र और वृत्रासुर का ही युद्ध चल रहा था। कहीं सर्वदा प्रसन्नता ही रहती थी और कहीं सर्वदा शोक ही बना रहता था। कहीं सतयुग था तो कहीं कलयुग। कही राम-रावण युद्ध चल रहा था और कहीं रामने रावण को भूमि मे गिरा दिया था और कहीं रामही को रावण पछाड रहा था। कहीं सुमेरु पर्वत नीचे था तो पृथ्वी उसके ऊपर थी। कहीं पृथ्वी शेष नागपर थी और कहीं शेष नाग पर ही पृथ्वी थी। कही भूचाल हो रहा था और कहीं प्रलय हो रहा था। एक स्थान मे एक बालक वट के वृक्ष पर बैठा हुआ अंगूठा चूस रहा था जो विष्णु भगवान थे, कहीं ब्रह्माके कल्प की रात्रि थी, जहा महा शून्यता और घोर अन्धकार फैला हुआ था। हे रामजी! वहा मैंने यह भी देखा कि कौरव और पाण्डवों में युद्ध हो रहा है और कृष्ण पाण्डवो की सहायता कर रहे हैं। कोई सृष्टि नष्ट हो रही थी और कोई उसी स्थान पर फिर उत्पन्न हो रही थी। हे रामजी! इस प्रकार एक ही आत्म आदर्श मे मैंने अनेक सृष्टियां देखीं कि जो उसमें प्रतिबिम्बित थे। परन्तु जब मैं उसको आत्मदृष्टि से देखूँ तो सब चिदाकाश ही दिखलाई पडे और जब सकल्प से देखूं तब जगत का ही भान होवे। कहीं दशरथ के पुत्र राम रावण को मारने चले हैं और कहीं ठीक तुम्हारे ही स्वरूप के अनेक तपस्विगण बैठे हुये तप कर रहे थे कि जिनका मन अत्यत ही प्रसन्न था। इस प्रकार से मैंने उस शिलामे अनेक सृष्टियोंको देखा।

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जी से पूछा—हे भगवन्! क्या मैं

पैंसठवाँ सर्ग

वशिष्ठजीका जलरूप वर्णन



इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन्! यह जो आपको पृथ्वी का अनुभव हुआ वह संकल्प रूप था या मनसे उत्पन्न हुआ अथवा आधिभौतिक था, जैसे हुआ हो वैसा मुझसे कहिये।

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी! सारा जगत संकल्प रूप ही है, केवल चिदाकाश ही अपने आपमे स्थित है और वह चिदाकाश भी मै ही हूँ कि जो न तो कभी उत्पन्न हुआ और न कभी मेरा नाश होगा। मैं सर्वदा ही अद्वैत, अचेत्य और चिन्मात्र रूप ही हूँ। उसमे जो संकल्प हुआ उसीका नाम मन है और वही संकल्पाभास ब्रह्मा और इच्छा होकर उत्पन्न हुआ है कि जिसमे जगत स्थित है और वह भी आकाश रूप ही है, कुछ बना नहीं। यह समस्त शुभाशुभ रूप जगत केवल मनमें स्थित है और इसके जितने भी आकार दिखलाई पड़ते हैं सब निराकार रूप ही है, भ्रमसे पिण्डाकार भासते हैं। जैसे स्वप्नमें शुभाशुभ पदार्थ भासते हैं और वे सब निराकार ही है वैसेही यह जगत भी भ्रमसे ही पिण्डाकार भासता है, विचार करनेसे लुप्त हो जाता है। क्योंकि स्वरूपसे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे बालक मिट्टीकी सेना रचकर उसको भिन्न २ नामो से कल्पते हैं वैसे ही अद्वैत आत्मा मे इस मनरूपी बालकने नाना प्रकारके जगतकी कल्पना कर ली है परन्तु आत्म तत्व अपने आप ही में स्थित है। जैसे जब मृग तृष्णाका जल है ही नही तब उसमे कोई डूबा कैसे, वैसेही जब मन स्वय ही अभासरूप है तब वह जगत को कैसे रचेगा। सारा जगत चिदाकाशरूप हो है, कुछ बना नहीं। उस आत्मरूपी आकाशमे मनरूपी नीलता अविचार से ही सिद्ध हो रही है। विचार करते ही लोप हो जाती है। जैसे दीपकके आतेही

है। जैसे स्वप्न सृष्टि, सकल्पपुर, मनोराज का नगर और कथाका वृतान्त बिना उपजेही केवल भ्रमवश ही प्रत्यक्ष भासता है वैसेही यह जगत भी केवल भ्रमवश सत्य जान पडता है, वास्तव में कुछ है नहीं। हे रामजी! अब वह सुनो कि जिस प्रकार से मुझमे सृष्टि भासित हुई थी। देखो, जब मुझमें पृथ्वी की धारणा हुई तब मुझे वही शरीर रूप जान पडी क्योंकि मैं विराट आत्मा था और तब उस पृथ्वी पर वन, पर्वत नदी, समुद्र, वृक्ष, फल, फूल, मनुष्य, पशु, पक्षी देवता, ऋषीश्वर, दैत्य और नाग आदिक जो स्थित हैं सब मेरे ही शरीर हो गये और तब पर्वत मेरा मुख हो गया और सुमेरु आदिक पर्वत मेरी भुजाये हुई और सातो समुद्र इन्द्रियां तथा सब नदियां मेरे कण्ठमें मालाके समान हो गई और सारा वन रोम हो गये और मरुस्थलकी नदी मेरे ऊपर फैल गई कि जिसमे देवता, दैत्य, मनुष्य और पशु, पक्षी आदिक सब मेरे कीड़के समान ही भासित हुये। तब मेरे ऊपर ही किसी स्थान मे लोग हल चलाते, बीज बोते, अन्न उत्पन्न होता कि जिसे प्राणी खाते थे; कहीं पृथ्वी खोदते, कहीं कोई पूजा करते, कहीं समुद्र स्थित था, कही नदी चलती थी, कहीं राजा राज्य करते और कही वही लोग मेरे ही ऊपर युद्ध करते थे। कोई कहता यह मेरी पृथ्वी है कोई कहता मेरी है। इस प्रकार ममता करके लोग एक दूसरे से युद्ध करते थे। कहीं हाथी चलते, कोई रोता विलाप करता, कोई हँसता, कोई सुगन्ध लेता, कहीं दुर्गन्धि आती, कही नदियोंका प्रवाह चल रहा था और कहीं नदियाँ जलके बिना क्षोभ कर रही थीं। कहीं मेरे ऊपर बरफ जमा हुआ पडा था, कही इष्ट स्थान थे और अनिष्ट। कहीं जीव सात्वकी चेष्टा करते कहीं राजसी और कहीं-कहीं लोग तामसी चेष्टाओं में ही लगे रहते थे। इस प्रकार से सर्व जीव अपनी अपनी चेष्टा कर रहे थे परन्तु उन सबका आधार भूत मैं ही था। सारी चेष्टायें मुझसे ही फुर रही थीं और वह सब सवेदन का फुरना ही था और कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का, चौंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥६४॥

पैंसठवाँ सर्ग

वशिष्ठजीका जलरूप वर्णन


इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन्! यह जो आपको पृथ्वी का अनुभव हुआ वह सकल्प रूप था या मनसे उत्पन्न हुआ अथवा आधिभौतिक था, जैसे हुआ हो वैसा मुझसे कहिये।

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी! सारा जगत संकल्प रूप ही है, केवल चिदाकाश ही अपने आपमे स्थित है और वह चिदाकाश भी मैं ही हूँ कि जो न तो कभी उत्पन्न हुआ और न कभी मेरा नाश होगा। मै सर्वदा ही अद्वैत, अचेत्य और चिन्मात्र रूप ही हूँ। उसमे जो सकल्प हुआ उसीका नाम मन है और वही सकल्पाभास ब्रह्मा और इच्छा होकर उत्पन्न हुआ है कि जिसमे जगत स्थित है और वह भी आकाश रूप ही है, कुछ बना नहीं। यह समस्त शुभाशुभ रूप जगत केवल मनमें स्थित है और इसके जितने भी आकार दिखलाई पडते हैं सब निराकार रूप ही है, भ्रमसे पिण्डाकार भासते हैं। जैसे स्वप्नमे शुभाशुभ पदार्थ भासते हैं और वे सब निराकार ही हैं वैसेही यह जगत भी भ्रमसे ही पिण्डाकार भासता है, विचार करनेसे लुप्त हो जाता है। क्योंकि स्वरूपसे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे बालक मिट्टीकी सेना रचकर उसको भिन्न २ नामो से कल्पते हैं वैसे ही अद्वैत आत्मा मे इस मनरूपी बालकने नाना प्रकारके जगतकी कल्पना कर ली है परन्तु आत्म तत्व अपने आप ही में स्थित है। जैसे जब मृग तृष्णाका जल है ही नहीं तब उसमें कोई डूबा कैसे, वैसेही जब मन स्वय ही अभासरूप है तब वह जगत को कैसे रचेगा। सारा जगत चिदाकाशरूप ही है, कुछ बना नहीं। उस आत्मरूपी आकाशमे मनरूपी नीलता अविचार से ही सिद्ध हो रही है। विचार करते ही लोप हो जाती है। जैसे दीपकके आतेही

अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसेही विचार करने से मनका रचा हुआ यह जगत नष्ट हो जाता है। अस्तु, मनको निर्वाण करना ही परम शान्ति है। क्योकि जितने भी क्षोभ उत्पन्न होने हैं सबको मन ही उत्पन्न करता है और इस प्रकार समस्त शब्द अर्थ मनकी ही कल्पना से उत्पन्न होते हैं। मन निर्वाण हो जावे तो कोई भी शब्द अर्थ नहीं रहता।

रामजीने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर ! यह तो मैंने जाना कि आप अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुये थे परन्तु यह भी तो बतलाइये कि उस समय आप कुछ और रूप भी हुये या ऐसे ही रहे।

वशिष्ठजी कहने लगे—और क्या होता। इस आत्मरूपी जाग्रत मे मैं अनन्त ब्रह्माण्डकी पृथ्वीरूप होकर तो उत्पन्न ही हुआ था और जैसा स्थित हुआ उस समय तक वैसाही स्थित बना रहा। चैतन्य होकर भी मैं जडके समान स्थित हो गया था। परन्तु वह मैं जगत आदि कुछ नहीं था, केवल वह चिदाकाश ही था कि जिसमे एकता अनेकता और अस्ति नास्ति, अह, त्व और इद कुछ भी नहीं है, सर्व शब्द ब्रह्म ही है। जगत के होते भी वह अरूप ही है और उसमें जगत केवल चमत्कार मात्र है। जहाँ पदार्थ होता है वहाँ जगतकी सत्ता होती ही है। परन्तु वह ब्रह्म तो सर्वदा और सर्व प्रकार से सर्व पदार्थो का स्पन्द मात्र ही है। उसमें स्थित होकर ही मैंने समस्त ब्रह्माण्डको देखा था। जब मैं पृथ्वी की भावना की तो पृथ्वी रूप हुआ और जब जलकी भावना की तब जलरूप होकर फैल गया और इसी प्रकार मुझपर वृक्ष, घास, फूल गुच्छे आदि उत्पन्न हो गये। सबमे मैं ही तो विद्यमान था, पत्रोंमे रस होकर मै ही स्थित था, स्तम्भ मे मै ही शक्तिरूपसे था, मै ही समुद्र हुआ और मुझमे ही नदियों का प्रवाह चला, मै ही प्रवाहित हो रहा था और मुझमे ही बादलो के समान गडगडाहट होती थी। तरग और फेनमें भी मै ही था। कणका होकर मैं ही स्थित हुआ था और मैं ही तो सब

प्राणियों में रक्त और रसरूपसे विद्यमान था और सबकी नाडियोका मथन करके में हो सबमें प्रविष्ट था सा जैसी नाडियाँ होती हैं मै वेसा ही रस होकर स्थित हुआ था। मै ही सबमें कफ, पित्त, मुत्र आदिक नस नाड़ियो मे स्थित था। सबकी जिह्वाके जग्र भागपर म ही विराजमान रहता था और मै ही सब स्वादो को लेनेवाला था। मै ही बरफ रूप से स्थित था और मै ही जड़ चैतन्य के समान स्थित था। मैंने ही सबको उत्पन्न किया था और मै हो प्रलय का मेघ होकर गर्जन कर रहा था तथा मैने ही फिर सबका नाश किया था। इस प्रकार उस स्थावर जगमरूपी जगत मे मै ही स्थित था। परन्तु जेसे स्वप्न कालका जगत अनुभव रूप हीं है और अनहोता ही उपज कर भासता है वेसेही मैने जलरूप होकर जगत को फिर धारण कर लिया। परन्तु नाना प्रकार के स्थानो में मै ही स्थित था। मै ही पुष्प शैय्या पर कितने ही कालतक विश्राम करता रहा और मैं हीं पुष्पों मे गन्धरूप से विद्यमान था। मैंने ही आकाशमे मेघ होकर गर्जन किया, विचरा, विर्षा किया और मैंही पर्वतो पर प्रचड वायु रूप से प्रवाहित हुआ और मैं ही एक-एक कण में विद्यमान था।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण -प्रकरण उत्तार्द्ध का पैंसठवा सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

छाछठवाँ सर्ग

ब्रह्म और जगत की एकता वर्णन



हे रामजी! इस प्रकार मैंने पहले पृथ्वी रूप, फिर जल रूप जो धारण किया और उसमें जिस २ क्रम से जगत-दृश्य देखा वह तुम्हे सुना दिया। अब वह सुनो कि जो तेजरूप धारण करके मैने जगत की क्रिया सिद्ध की है। देखो, जैसे राजा के सेवक चोर को पकड़ कर मारते हैं वेसेही मैने तमरूपी चोर को तेजरूपी दीपक से पकड कर मारा था। मै तो आकाशरूप ही था, इससे मेरे कण्ठ में तारा-

वली रूपी माला पहले ही से पडी हुई थी जिससे मै सूर्य रूप होकर सब जलो को सोखने लगा और मुझसे दशो दिशायें प्रकाशित हो गई। तब वह आकाश की ऊचापन से श्याम भासता है वह भी मेरे निकट प्रकाशमान हो गया और इस प्रकार सारे जगतमें मै ही फैल गया और जहा मे रहूँ वहाँसे तमका सर्वथा ही अभाव हो जाता था। मुझे सूर्य और चन्द्रमा एक डब्बे के ही समान भासित होता था, परन्तु मै तो सात्विकी राजसी और तामसी समस्त क्रियाओं को प्रकाशित करने वाला सूर्य हुआ। मे ही सब देवताओं और सब पितरो को तृप्त करता था। मैं ही यज्ञ की अग्नि रत्न, मोती और मणि आदिकों को प्रकाश देने वाला था और सर्व के प्राणो मे मैं ही स्थित था तथा प्राण-अपान के क्षोभ से मै ही अन्न को पचाने लगा। जैसे आत्मा के प्रकाशसे रूप अवलोक और मनस्कार प्रकाशते हैं वैसे समस्त पदार्थ मुझसे ही प्रकाश पाने लगे। मैं ऐसा तेज रूप था कि मानों चैतन्य सत्ता का मैं एक दूसरा बन्धु हूँ। जिस प्रकार सब पदार्थ आत्मा से सिद्ध होते हैं वैसेही सब मुझसे सिद्ध होने लगे। रजों मे तेज और सिद्धो मे वीर्यरूपसे मै ही विद्यमान था और सारे जगत को बल रूपसे मैं ही पुष्ट कर रहा था, दाहक शक्ति लिये बड़वाग्निके समान मे ही जगत को नष्ट करने वाला था और तेजधारियों तेजरूप से और बलवानों में बलरूप से मैं ही विद्यमान था। नीचे भी मै था, मध्यमें भी मैं था और चन्द्रमा सूर्य से रहित जो स्थान हैं, उनमे भी मैं ही विद्यमान था। मैं ही अग्निरूपी दीपक था और मैं ही सूर्यरूपी नेत्र था तथा मध्य मण्डल में इस प्रकार मैं ही स्पष्ट देखता था। स्थावर जङ्गम रूपी जगत के समग्र पदार्थों मे मैं ही स्थित था परन्तु जब मैं ज्ञान दृष्टि से देखूँ तो मुझे सर्वत्र आत्मा का ही भान होता था और जब मैं अपने को अन्तवाहक दृष्टि से विराट जानूँ तब मुझे ऐसा प्रतीत होवे कि मानों समस्त ससार से मैं ही फैल रहा हूँ और समस्त पदार्थ मेरे

ही अङ्ग हैं। तेजस्वियों मे तेज, क्रोधियो मे क्रोध, यतियो में यती मैं ही था और सब ओर से मेरी ही जय जयकार होती थी और सुवर्ण और रत्नों में जो प्रकाश और रूप है वह भी मैं ही हूँ।

रामजी ने पूछा–हे भगवन्! इस प्रकार जो आप जगत की क्रिया का अनुभव कर रहे थे और जलरूप होकर अग्निको बुझाते तथा अग्नि होकर जलको जलाते थे और इष्ट अनिष्ट को जो कुछ अपने ऊपर सहन करते थे, वह कैसे–मेरे दृढ़ बोधके लिये कृपाकर वह वृतान्त कथन कीजिए।

वशिष्ठ जी बोले–हे रामजी। जैसे कोई स्वप्न मे नाना प्रकार के जड़ पदार्थो को देखता है और वास्तव में वे हैं नही, केवल अनुभवका ही खेल है, निद्रा दोष से ही वे सब द्वैत भासते हैं वैसे ही वह सब जो कुछ हुआ सब स्वप्नके ही समान मुझको जान पडा था और नही तो बोध–स्वरूप में कुछ नहीं है। जब पदार्थ भावना नहीं रहती तब सारा जगत बोधरूप ही भासित होता है। हे राम जी! जिसको देश काल और वस्तु के भेद से रहित अखण्ड सत्ता उदय हुई है उसको ज्ञानी कहते हैं और जब यह पुरुष परमात्मा को देखता है तब उसे सारा जगत आत्मस्वरूप ही जान पडता है और जिस पुरुषको स्वप्न सृष्टि मे पूर्व का रूप भूला नही है उसको अन्तवाहक कहते हैं। उसके लिये पत्थर, जल और अग्नि मे प्रवेश करने से खेद नहीं होता। हे रामजी! मै जो आकाश मे उडता रहा और आकाश को भी लाघकर जो ब्रह्म खप्पर मे फिरा वह भी अन्तवाहक शरीर से ही फिरा। हे रामजी! जिसको कोई आवरण नही होता उस अन्तवाहकता प्राप्त रहतीहैं। मुझे शुद्ध आत्मामे जो स्वप्न हुआथा और पूर्वकारूप विस्मरण नहीं हुआ इससे सारा जगत मुझको अपना ही स्वरूप भासता रहा और अपने सकल्प से कल्पना करने पर अपना ही अङ्ग भासता था। जैसे कोई मनोराज से अग्नि का समुद्र रचे और उसमे स्नान करे तो वह भी होता है क्योकि उसको

खेद नहीं होता सब अपने सकल्प में ही उसको भासते हैं। अन्तवाहक शरीर से विराट् सब को अपना आप देखता है वैसे ही सब जगत् मुझको अपना आप भासता था तो खेद कैसे हो ? जिस प्रकार स्वप्नवाला स्वप्ने मे पर्वत, नदियाँ और अग्नि देखता है सो वही रूप है और आप भी एक आकार धारण करके बन जाता है और पूर्व का स्वरूप है उसकी प्रच्छन्नता से भूल जाता है और राग द्वेष से जलता है। मैंने तत्वरूप बन के जो आपको जड रूप देखा तो मैंने आपको चतन्यरूप देखा और जड की नाईं भी जाना। इस प्रकार मुझको अपना स्वरूप विस्मरण न हुआ तब मैं विराटरूप सबको अपना अङ्ग ही देखता रहा इससे मुझे खेद होता है? खेद तब होता है कि जब अपना स्वरूप भूलता है और प्रच्छन्न बन जाता है, पर मै तो बोधवान् रहा कि, मैंने स्पन्द से सब रूप धारे हैं। हे रामजी ! जिसको यह निश्चय है उसको दुःख कहाँ ? सुख दु.खरूप जो पदार्थ हैं सो मैंने अपने में ऐसे देखे जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब भासता है। जिसको यह दृष्टि हो उसको दुःख कहाँ है ? हे रामजी ! जिसको अन्तवाहक शक्ति भास होती है वह पाताल और आकाश मे जाने को समर्थ होता है और जहाँ प्रवेश किया चाहे वहाँ जा सकता है क्योंकि, सृष्टि सकल्प मात्र है। हे रामजी ! और कुछ सृष्टि बनी नहीं आत्मा का किञ्चन ही सृष्टि रूप होकर भासता है। हे राम जी ! यह सृष्टि सब ब्रह्मस्वरूप है। हमको तो सदा ऐसे ही भासती है। जब तुम जागोगे तब तुमको भी ऐसे ही भासेगी। तुम भी अब जागे हो। उस प्रकार मैं अग्नि होकर स्थित हुआ कि, जिसकी शिखा से कालख निकलती थी। प्रकाश मैं ही हुआ और अपने चिद्स्वरूप अनुभव में मुझको जगत् भासे उसमे मैं स्थित हुआ। अन्धकार और उलूकादि भी मेरे प्रकाश से प्रकाशित हैं और भावरूप पदार्थ भी मै अपने में जानता भया क्योंकि, भावरूप पदार्थ तब भासते हैं जब उनका रूप होता है सो रूपवान् पदार्थ में ही था इस

कारण सब मेरे ही में सिद्ध होते थे इस प्रकार मुझको प्रतिभा हुई। हे रामजी ! फिर मैंने पवन की धारणा का अभ्यास किया तब पवन रूप होकर विचरने लगा और कमल के फूलों और वृक्षोंको हिलाने लगा। तारो और नक्षत्रो का आधार भूत हुआ और वे मेरे आधार पर फिरने लगे। चन्द्रमा और सूर्य के चलाने वाला भी मैं ही हुआ समुद्र और नदियों के प्रवाह मेरी ही शक्ति से चलते रहे मन का बडा वेग भी मैं ही हुआ और प्राणियो के शरीरमे मेरा निवास हुआ मैं हीं प्राण, अपना, उदान, समान और व्यान पुञ्जरूप होकर स्थित हुआ और सब नाडियों मे मेरा निवास हुआ। सब नाडियों को रस अपना अपना भाग मैं ही पहुँचाता रहा और हलना, चलना, बोलना, लेना, देना सब मुझही से सिद्ध होता था निदान सर्व पदार्थों मे स्पर्श शक्ति मैं ही हुआ और सर्व शब्द मेरे ही से सिद्ध होते थे। क्रियारूपी वृन्द का मै मेरु हुआ, आकाशरूपी गृह मे मेरा निवास था और दशोंदिशा सब मेरे में ही फुरी थीं। देवताओं को गन्ध से मैंही सुख देता था और दीपक को मैं ही प्रज्वलित करता था। पक्षियों मे मेरा सदा निवास था। जैसे अग्नि में उष्णता रहती है वैसेही सबके सुखाने और हरियावल करने वाला मैं ही हूँ। हे रामजी ! इस प्रकार मैं पवन होकर स्थित हुआ इस लिये रूप, अवलोक और मनस्कार सर्व पदार्थ में ही हुआ और चन्द्रमा, सूर्य, तारे, अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वरुण, कुबेर और यम आदिक जगत् होकर मैं ही स्थित हुआ। पञ्च भूतो के भीतर और बाहर भी मैं था, प्राण–अपान के क्षोभसे दुख होता है सो मैं ही साकार निराकार रूप हूँ और रक्त पीत श्यामरङ्ग पदार्थ सब मैं ही हूँ। उस चिद्अणुसे जो पञ्चभूतो का स्फुरण हुआ है वह उसीका रूप है। जैसे स्वप्न सृष्टि अपना ही रूप होती है, दूसरी नहीं है, वैसेही यह हाड, मास और पृथ्वी होकर समस्त भूतों मे मैं ही वायु रूप, अग्निरूप, और आकाशरूप से स्थित हूँ। मैं भी चैतन्य वपु था

और वे तत्व भी चेतन्यवपु थे। जैसे स्वप्न-ससार आकाशरूप होता है वैसेही वे भी आकाशरूप ही हैं। सर्वकाल और सर्व प्रकार से सर्वात्मा ही सर्व में स्थित है। उसे अपने आप से भिन्न जानना मूर्खता है। समदर्शियो को वह भिन्न नहीं भासता किन्तु जो असम्यक्दर्शी हैं उनको भिन्न २ ही भासता है। इसी क्रमसे मैंने समस्त जगत को अपने आपमे देखा है। मैं ब्रह्मरूप था इस कारण मुझसे ही सारा जगत उत्पन्न हुआ दृष्ट आया, यदि मैं ब्रह्म न होकर कुछ और ही होता तो जगत तो क्या मुझमे एक तृण भी उत्पन्न न होता। मैं ब्रह्मरूप हूँ, इसीसे मुझमें सृष्टि उत्पन्न होती है। परन्तु जब मैं ज्ञान दृष्टिसे देखता हूँ तब मुझे आत्मा ही भासता है और जब अन्तवाहक दृष्टिसे देखता हूँ तब स्पन्द के कारण अणु-अणु मे सृष्टि ही भासती है। एक अणु मे मुझे अनन्त सृष्टियां भासित हुई हैं। इससे सृष्टि आभासरूप है और वह आभास अधिष्ठान के ही आश्रय होता है और सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है और वह ब्रह्मसत्ता देशकाल के भेद से रहित अखण्ड और अद्वैत है। उसी की सत्ता पाकर एक-एक अणु में सृष्टि विद्यमान है, कोई भी अणु से रहित नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं है। जैसे वायु और उसकी गमनता में भेद नहीं होता वैसेही ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छाछठवाँ सर्ग समाप्त । ६६ ॥



सड़सठवाँ सर्ग



शिष्ठ जी बोले–हे रामजी ! इस प्रकार जब मुझमे सृष्टियों का स्फुरण हुआ तब मैंने उनको भ्रमपूर्ण जान कर त्याग दिया और अपने सर्व सकल्पों को त्यागकर अन्तर्मुख हो अपनी आकाश कुटी की ओर आया। कुटी पर पहुँचकर मैंने देखा कि उसमें मेरा वह शरीर तो है नहीं कि जिसे मैं छोडकर गया था और उसके स्थान मे एक दूसरा ही पुरुप समाधि हो बैठा है। तब मैंने विचार किया कि यह कोई महान पुरुप है कि जो पद्मासन बाधे योग मे लीनता प्राप्त कर रहे हैं और इन्होंने ही मेरे शरीर को मृतक जानकर गिरा दिया है। परन्तु मै आया था अपनी कुटी मे बैठने, इस कारण मुझे उस पर कुछ विचार तो अवश्य हुआ किन्तु अपने उस वेग का हटाकर मैं फिर सप्तर्पि लोक को उडा और उस कुटी का सकल्प मेरे हृदय मे बसा था उसे मैने समूल हटा दिया। तब सप्तर्पि लोक को आते हुये मार्ग में मैंने यह विचार किया कि अब तो मै अपना सकल्प हटाकर चला आया सो उस महापुरुप की क्या दशा हुई–यह देखना चाहिये। मैंने उलट कर देखा तो वह कुटी सहित वहां नहीं था। क्योंकि वह कुटी ही उसकी आधारभूत थो और वह स्थित थी मेरे ही सकल्प में और जब मैंने अपना सङ्कल्प हटा लिया तो वह कुटी भी वहा से हट गई अर्थात् मेरे उस सङ्कल्प के नष्ट होतेही वह कुटी भी वहां से नष्ट हो गई। तब जब कि वह कुटी ही नष्ट हो गई तब उसमें वह सिद्ध कैसे रहता। निदान वह नीचे की ओर गिरने लगा। तब उसे गिरते देखकर उसका कौतुक देखनेकी इच्छा से मैं भी उसके पीछे चला। मैं स्वाधीन था परन्तु उसे देखा तो वह पराधीन अवस्थामें ही पडा हुआ चला जा रहा था। चलते २ वह सात द्वीपो को पार कर उस स्वर्ण भूमिपर जाकर स्थित हो गया कि जो नितान्त ही प्रकाश युक्त लगभग दश योजनकी दूरी

तक फैली हुई थी। वहां भी वह वैसे ही जाकर स्थित हो गया कि जैसे पद्मासन लगाये मेरी कुटी मे समाधिस्त स्थित रहा। तब उसे इस प्रकार पद्मासन लगाये ग्रीवा सीधी किये मस्तक उठाये हुये बैठा देखकर मैने विचार किया कि इससे कुछ पूछूँ। मै उसके निकट गया। परन्तु क्या पूछू, वह तो नितान्त ही घोर समाधि में स्थित हो रहा था। किन्तु मुझे पूछना ही था—इस कारण उसे बारबार जगाकर मै बुलाने लगा। परन्तु वह किसी प्रकार भी जागता न था। तब यह कैसे जागेगा मैं बादल बनकर उस पर घोर वर्षा करने लगा। गडगडाहट का घोर शब्द किया। बिजलियां चमकाई। पहाडों के टूटने के से शब्द किये परन्तु वह फिर भी न जागा। तब मैं उसके शिर पर बरफ का टुकडा बरसाने लगा। तब जैसे पत्थरों की वर्षा होती है उसी प्रकार वह ओलो की प्रचण्ड वर्षा पाकर जाग्रित हुआ और आंख खोलकर ऊपर की ओर वैसेही देखने लगा कि जैसे वर्षा काल में मोरगण पर्वतो के शिरपर नेत्र ऊपर उठाकर देखते हैं। परन्तु उस समय तक भी उसने अपनी पूरी समाधि न तोडी थी, इससे मैं उसके सामने गया। तब मुझे देखकर उसने अपनी समाधि खोल दी। समाधि खोल देने पर उसकी सब इन्द्रियां यथा स्थान आगईं। तब मैंने उससे पूछा—अहो! मुनीश्वर! कहो तुम कौन हैं, कहां स्थित हों, क्या करते थे और तुम्हारी कुटिया कहां है? तब वह साधु बोला—हे मुनीश्वर। आप तनिक जल्दी न करें, मैं स्वस्थ होकर सब कुछ कहता हूं। क्योंकि अभी समाधि से उतरा हूँ और अभी मेरी इन्द्रियां अपने २ स्थानों में उतना स्वस्थ न हो पायी है परन्तु मैं आप से अपना सब समाचार खुल कर कहूँगा। हे रामजी। वह साधु मुझसे ऐसा कहकर अपना पूर्व वृतात स्मरण करने लगा और कुछ क्षण स्मरण करके बोला—हे मुनीश्वर! मुझसे बडी भूल हुई है। मैंने आपकी बडी अवज्ञा की है। परन्तु आप सन्त हैं, इससे मुझे क्षमा कीजिए, मैं

आपको बारबार नमस्कार करता हूँ । हे रामजी ! ऐसा कहकर वह तपस्वी मुझसे एक क्षण पश्चात् बोला—हे वशिष्ठ जी ! यह जगत रूपी एक नदी है कि जिसका प्रवाह बड़ा ही प्रबल और कदापि भी सूखने वाला नहीं है । चित्तरूपी सागर से निकली हुई इस धारा का वेग बड़ाही कठिन है। जन्म—मरण इसके दोनों किनारे हैं और यह राग—द्वेष रूपी तरङ्गों से सर्वदा ही भरी रहती है। भोग रूपी तृष्णा ही इसके चक्र अर्थात् भँवर है। हे मुनीश्वर! उस भँवर मे पड़कर जब मैं महान दुखी हुआ तब मुझे यह विचार हुआ कि अब में अपने सुखके निमित्त देवों के स्थान में चलूं। तब मैं देवताओं के स्थान मे गया और दिव्य भोगों को भोगने लगा। तब स्पर्श आदिक जो भोग है वह सभी मैंने भोग किये परन्तु शान्ति कदापि न मिली। तब वहा से भी मेरा चित्त उचट गया और मैं शान्ति के लिये लोकालोक मे फिरने लगा और सोचने लगा कि जिसमे सार हो उसमें स्थित होऊ । तब इस प्रकार के विचारो युक्त फिरते रहने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सार वस्तु तो अपना अनुभव रूप आत्मा ही है, मैं उसीमें स्थित होऊँ। तब मैं उसमे स्थित हुआ और जितने विषय भोग हैं उन सबको विष रूप जानकर त्याग दिया। क्योंकि हे मुनीश्वर! इन विषय भोगों की तृष्णा से मनुष्य मृतक हो जाता है। स्त्री और धन आदि का मोह तो सुख के स्थानमें दुःख ही देता है। भला ऐसा कौन है कि जो इसमे आकर सावधान रह सके। क्योंकि ये भोग तो मनुष्य को सर्वथा ही नष्ट कर डालते हैं। जब इस शरीर रूपी नदी मे रहने वाली बुद्धिरूपी मछली ज्योंही शिर उठाकर बाहर देखती है कि त्योंही भोगरूपी बगुला इसे चट कर लेता है। फिर तो प्राणी आत्म-मार्ग से शून्य हो जाता है। भोगरूपी चोर इसे दिन दहाड़े ही लूट लेते हैं और जब इस प्रकार जीव आत्मज्ञान से शून्य हो जाता है तब उसके जन्मों का अन्त नहीं रहता अर्थात् तब वहसर्वथाही आवा-

गमन मे ही पडा रहता है और उससे छुटकारा कभी नहीं पाता। फिर तो वह अनेक शरीरो को धारण कर नाना प्रकार के कष्ट भोगता रहता है। परन्तु अब तो मैं अपने आप में जाग गया हूँ इससे अब वे भोगरूपी चोर मुझे नहीं लूट सक्ते। अन्यथा इन भोग रूपी नागों के डसने से शरीर मृतक हो जाताहै और उनकी इच्छा करने मात्र से प्राणी आत्मपद से सर्वथा ही शून्य हो जाता है। विषयो की इच्छा उसे बारबार तिरस्कृत करती हैं, वह क्षण-क्षण में निरादरको प्राप्त होता है। तब उसे कितना दुःख होता है कि जिस शरीर के लिये ही वह इतना तिरस्कृत होता है वही शरीर उसका साथ नहीं देता और वास्तव में वह नाशरूपहै। इससे देखा जाय तो यह शरीर ही आपका जा घर है और इसमें अह करना परम आपदाओ को प्राप्त करना है। अत. इसमें अहकी प्रीति न करना ही परम सुखका कारण है। जब एक न एक दिन इसे काल भक्षण ही कर लेगा तब इससे भोगों की इच्छा करनी ही मुर्खता है। भोगों की इच्छा दुःख के अतिरिक्त सुख कदापि नहीं देती। बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और युवावस्थाके पश्चात् वृद्धावस्था आ जाती है। तब शरीर जर्जर हो जाता है और उसे नाना प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। यह जरावस्था महान दुःख दायी है। और जैसे इसमें दु.ख प्राप्त होता है वैसेही बाल्या और युवावस्था भी कम दु.ख नहीं देती। बाल्यावस्था में जीव क्रीडित रहता हे, युवावस्था में काम की सेवा करता है और वृद्धावस्था में घोर चिन्ता में मग्न रहता है। इन तीनो के पश्चात् ही मृत्यु आ जाती हे और प्राणीको आत्मलाभ नहीं होता। इस प्रकार यह आयुर्दा बिजली की चमक के ही समान क्षणिक है। इस कारण इसमें भोगों की वाञ्छा क्या की जाये, भोग तो महान दु खको ही देनेवाले हैं। यदि इन्हे कोई सुखकर जाने तो वह भूलमें है। इनसे कोई स्वस्थ कैसे हो सकता है? भला ये भोग रूपी तरगे उसे स्थिर

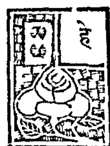
कैसे बैठने देगो। इनमे बैठने वाला अवश्य मरेगा। विषय भोग उसे शान्ति कदापि न होने देगे। भला कोई सर्प-फण की छाया में भी बैठकर शीतल हो सकता है? कदापि नही। शीतलता तो तब प्राप्त होगी कि जब आत्मज्ञान रूपी वृक्षकी छायामे बैठे। तभी उसे शान्ति मिलती है और तभी वह सुखी होगा। परन्तु जिन पुरुषो ने विषयों का सेवन किया है वे परम आपदा को ही प्राप्त होते हैं। आनन्द का देनेवाला तो आत्मपद ही है। वे प्राणी बड़े ही मूर्ख हैं कि जो विषयों की ओर दौड रहे हैं। इस मायामय ससार मे सुख और शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। यह मरुस्थल में नदी के समान ही है कि जिससे प्यास कदापि नहीं बुझती। परन्तु वे ही मूर्ख विषयो की ओर जाते हैं कि जो आत्मपद से च्युत हैं। आत्मेस्थित पुरुष विषयों की चिन्ता नहीं करते। वे उस पत्थर की शिला के समान हैं कि जो नदी की प्रबलधारमें भी टससे मस नहीं होता और अज्ञानी उस तृणके समान है कि जो नदी की अल्प धारा मे भी बहकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो भोगो की तृष्णा मे पडा है जानो वह फिर उबर नहीं सकता। जैसे तर्कस और धनुष से निकला हुआ बाण फिर कठिनता से ही लौट सकता है वैसेही भोगो मे डूबा हुआ मनुष्य कठिनता से ही आप पदकी ओर लौटता है। उसका अन्तमु ख होना कठिन ही हो जाता है। परन्तु यह बडा आश्चर्य है कि जो पदार्थ सुख दायक नही हैं उन्हींकी ओर जानेके लिये यह चित्त घोर यत्न करता रहता है और इतना काम करने पर भी उसे पूर्णरूप से पाता नही। तब भला वह कितना मूर्ख है कि जो आत्मपाद विना यत्न ही मिल जाता है उसे न प्राप्त करके श्रम से भी न पाने वाले अप्राप्तएक दुःख जनक पादार्थों में यह दौड़ रहा है। जिस शरीर को वह सुखरूप जानता है वह भी सर्व रोगो है। जो भोग हैं वे ही रोग हैं। जिसको वह सत्य सर्वथा ही असत्य है, रस विरस

है, बन्धु अबन्धु है और इस प्रकार यह सारा जगत मिथ्या और दुःखरूप हैं। जो स्त्री को वह सुख रूप जानता है वह परम दुःख रूप और विषधर सर्पिणी के समान है। उसके काटने से वह सर्वथा ही मृतक हो जाता है। स्त्री उसे आत्मलाभ नहीं करने देती। इस कारण हे वशिष्ठ जी! मैं इस शरीर को आपदारूप ही जानता हूँ। और यही सत्य भी है। क्योंकि पुत्र और धन आदिक सम्पदारूप कदापि नहीं हो सकते इनसे दुःखही दुःख मिलता है और सुख तो नाम मात्र को भी नहीं मिलता। हे वशिष्ठ जी! यह कोई सुनी हुई बात मैं नहीं कह रहा हूँ वरन अपनी आँखो से देखी और अनुभवकी हुई वार्ता कहता हूँ। हे मुनीश्वर! मैंने खूब अनुभव कर लिया है कि यह सारा जगत मायामात्र ही है। सार वस्तु देखने के लिये मैं कहाँ नहीं गया। बडे से बडे स्थान मेंने देखे परन्तु मुझे ऐसा एक भी स्थान दिखलाई न पडा कि जहाँ कुछ भी सार होवे। नन्दन आदिक वन भी काष्ठरूप ही हैं। भूतल में वे समस्त पञ्च-भूत ही भरे हैं कि जिनकी शरीरमे रक्त, मास और हड्डिया तथा मलमूत्र के सिवा और कोई तत्वकी वस्तु नहीं है, वे सर्वथाही अहकारी और एक मात्र शरीर पोषक ही हैं। ऐसे देह विलासियों को धिक्कार है। भला वे इस नश्वर शरीर का अभिमान क्यो करते है कि जब यह अगुलि के जल के समान ही क्षणभर मे वह जाता है। भला जिसकी बाल्य, युवा और वृद्धावस्था को जाते पलक भर की भी देर नहीं होती उसकी वे क्या आशा करते हैं। वे शरीरको पाकर व्यर्थकी तृष्णा क्यों करते हैं। यह शरीर तो सर्वथा ही जलकर राख हो जायगा, परन्तु तृष्णा को तो जितना ही ग्रहण करे वह उतना ही युवापन धारण करती जाती है। इस कारण तृष्णा को असत्य जानकर ही मैंने इसे त्याग दिया है। मैं इसे सुखरूप कदापि नहीं जानता। सुखरूप तो आत्म पद ही है। मै उसीमे स्थित हूँ। अब मुझे इन्द्रियों का भय कुछ भी नहीं रहा। परन्तु हाँ, मैं आपका यह बडी अवज्ञा की है

कि आपके शरीर को उठा कर नीचे डाल दिया है। यह मैंने अच्छा नहीं किया। मैंने अपना विचार त्याग दिया। यदि विचार किये होता तो सम्भवत मुझसे ऐसी भूल कदापि न होती। सो कृपाकर आप मुझे क्षमा करें।

श्रीयोगवाशि भाषा निर्वाण प्रकरण का सरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥

अरसठवाँ सर्ग



हे रामजी! जब इस प्रकार मुझसे कहकर वह तपस्वी चुप हो गया तब मैंने उससे कहा—हे साधो! तुम बड़े ही विचारवान हो। बीती बातों की चिन्ता क्या करते हो। विचारवान पुरुष गई हुई बात की चिन्ता नहीं करते। तुम तो अपनी भूल कहते हो, परन्तु मुझसे भी तो भूल हुई है, मैंने भी तो बिना विचारे ही तुम्हारी कुटी को गिरा दिया है। यदि मैं तनिक भी विचार किए होता तो वह मेरी कुटी कि जिसमें तुम बैठे हुए आनन्द लाभ कर रहे थे कदापि न गिरने पाती क्योंकि वह तो मेरे ही सङ्कल्प में स्थित थी। यदि मैं विचार किये होता तो वह कैसे गिरता। फिर भी जो होना था सो हो गया, उस की चिन्ता त्याग कर अब आत्म की सुधि लीजिए और जहाँ जाना हो अपने स्थान को जाओ मैं भी अपने लोक को जाता हूँ। हे रामजी! जब मैंने ऐसा कहा तब वह तपस्वी वहाँ से उठा और मैं भी उसके साथ ही आकाश को उडा। चलते २ हम दोनों बहुत ही दूर चले गये और मार्ग में हमने कितने ही लोकालोक के दृश्य देखे कि जिन सबका वर्णन ही असम्भव है। निदान वह अपने लोक का और मैं अपने स्थान को चला आया। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा हे मुनीश्वर! आपका पञ्च भौतिक शरीर तो पृथ्वी पर गिर पड़ा था। फिर आपने किस शरीर से सब यात्रा की। वशिष्ठजी कहने लगे हे रामजी! वह शरीर तो गिर गया था परन्तु

मेरा अन्तवाहक शरीर तो नहीं गिरा था न, उसी शरीर से मैं सब लोकों और सब देवताओं के सब स्थान देख लिये। इस पर यदि तुम यह कहो कि अन्तवाहक शरीर से मैंने उस तपस्वी का कैसे देखा तो इसका उत्तर यह सुनो कि मेरा सकल्प सच्चा था और उससे मैंने जो चाहा सो देख लिया और इसी प्रकार सकल्प की सत्यता से ही उस सिद्ध ने भी मुझे देख लिया था। इस प्रकार हम दोनो के सकल्प सत्य और एक दूसरे के अनुरूप और मिलते जुलते थे कि जिस कारण हम दोनों ने एक दूसरे को देखा। सकल्प की समानता और एकता एक दूसरे को मिला देती है। चाहे कोई कैसा भी तपस्वी क्यों न हो यदि उसका संकल्प इतना बलवान न हो कि वह दूसरे के सकल्पको न जान सके तो उसकी समस्त सिद्धता व्यर्थ है। सकल्प की दृढ़ता ही एक दूसरे को खींचती है। सकल्प से तुम जिसको चाहो उसे अपनी ओर खींच सकते हो, उससे जो चाहो सो काम करा ले सकते हो। हाँ, सकल्प में उतनी दृढ़ता, उतनी शक्ति और उतनी ही सत्यता तथा उतना अभ्यास होना चाहिये। फिर जिसको चाहो उसको भली भाँति अपनी ओर खींच लो। करके देखो, कुछ भी कठिन नहीं है। जिसका सकल्प बली होता है उसीकी जय होती है। मेरा संकल्प बलवान था, मेरे ही कुटी में वह स्थित था इस कारण मैंने उसे अपनी ओर खींच लिया। हे रामजी! अन्तवाहकता एव सकल्प शक्ति में ही सब कुछ स्थित है। जिसको यह अवस्था प्राप्त रहती है उसको ऐसे २ प्रसग तो क्या हैं बडे से बडे प्रसङ्ग भी अल्प हो जाते हैं और उसे भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालका ज्ञान बना रहता है। परन्तु जो दिन रात सासारिक व्यवहारों मे ही लगा हुआ है उसको तो नेत्रोंके सन्मुख समक्षवाले वर्तमान पदार्थ ही भासते हैं, इससे वह कुछ नहीं कर सकता परतु जो समाधिस्त है वह क्या नहीं कर सकता। मैं तो कुटी मे अपना शरीर छोडकर इधर उधर घूम रहा था कि जिससे मैं समाधि से परांमुख था और मेरी

अवस्था चञ्चल हो गई थीं और वह तपस्वी समाधि मे रहकर अपने सङ्कल्पों मे ऐसा बलवान हो रहा था कि उसने मेरे शरीरको नीचे गिरा दिया। यदि मैं पहले ही के समान अपनी समाधिमे लगा रहता तो वह मुझे कैसे गिरा पाता। मेरे सकल्प की निर्वलता ने ही मेरी कुटिया को गिराया। परन्तु मेरा पूर्व का किया हुआ सकल्प इतना बलवान और निर्मल था कि मेरे स्मरण करते ही वह आ गया और जिस रूप मैं मैंने चाहा उस तपस्वी को देख लिया। हे रामजी ! सकल्प शक्ति से क्या नहीं हो सकता। यह जो इन्द्रलोक और कुवेर आदिक देवताओं के स्थान देखे वह सब मेरी अन्तवाहकता केही गुण थे। मै सबको ही देखता था और मुझे कोई न देखता था। जैसे स्वप्न मे कोई शब्द करे और उसका शब्द किसी जाग्रत वाले को सुनाई नहीं पडता और जैसे सकल्प रहित वालो को किसी दूसरे की सृष्टि और उसके व्यवहार का शब्द नहीं जान पडता वैसेही मुझको कोई न जानता था। तब सबसे पहले मैंने पिशाच शरीर धारण करके आकाश विचरण किया और उस अवस्था में मैंने दैत्यो के स्थान देखे, परन्तु मुझे कोई न देख सका। इस पर रामजीने पूछा—हे भगवन् ! पिशाच कैसे होते हैं, पिशाच की कोई जाति होती है और यदि जाती होती है तो उनके क्या कर्म धर्म हैं ? वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी ! पिशाच का कोई आकार-प्रकार नहीं होता, फिर भी वे जैसा रूप धारण करते हैं वैसा सुनो। कोई पिशाच आकाश की नाईं शून्य होते हैं और कोई छायारूप से भय दिखलाते हैं और कोई वादल के समान होते हैं और कोई कौवे के रूप मे भय देते हैं। इसी प्रकार का भिन्न २ रूप धारण करके वे सबको देखते हैं परन्तु उनको कोई नहीं देखता। वे शीत उष्णसे सर्व दाही दुःखी रहते हैं और काम, क्रोध, लोभ मोह आदिक इच्छाओं से वे सर्वदाही तपते रहते हैं। ठंढा पानी और अच्छा भोजन वे भी चाहते हैं और वे भी

गरों, वृक्षों और वनों में ही वास करते हैं। कभी वे कुत्ते के रूप में दिखलाई पडते हैं और कभी स्थिर आदि रूप धारण कर लेते हैं। वे किसी २ के मन में प्रवेश कर जाते हैं और इसी प्रकार वे मन्त्र तन्त्र और पूजा पाठ से सन्तुष्ट हो जाता करते हैं। इनमे भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं। उत्तम जाति वाले देव स्थानों में और मध्यम मनुष्यों में तथा नीच जाति वाले नरक स्थलमे वास किया करते हैं। इनकी भी उत्पत्ति उसी अचेत्य शुद्ध चिन्मात्र से होती है। हे रामजी ! वह अपना आप शुद्ध और कल्प वृक्ष के समान ही चैतन्य और वर दाता है। उससे जैसी इच्छा एव वासना की जाये वैसा प्राप्त होता है। उसमें न तो कही पिशाच हैं, न कहीं जगत है। ब्रह्मसत्ताही स्वतः अपने आपमे स्थित है। उसी आत्म-तत्व मे जो किञ्चन हुआ है उसी 'अहं' को जीव कहते हैं। फिर उसी 'अहं' अर्थात् जीव की दृढ़ता से मन हुआ जो कि ब्रह्मारूप से स्थित हो रहा है। उसी ब्रह्मा ने मनोराज से जगत को उत्पन्न किया है और वही ब्रह्मा जगतरूप से स्थित किया है। अत॰ ब्रह्ममें ब्रह्म ही स्थित है। उस ब्रह्मा का शरीर अन्तवाहक और केवल आकश रूप है। उसी की सकल्प दृढ़ता से यह आधिभौतिक जगत दृढ़ हुआ है परन्तु यह सब कुछ मनरूप और दीर्घकाल के स्वप्नवत ही है। जाग्रत है इसी कारण इतना दृढ़ भास रहा है। हे रामजी ! इस ब्रह्मरूपी शरीर मे जो सकल्प का अहकार हुआ है इसीसे यह जगत और आधिभौतिकता भास रही है। परन्तु कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, सब सकल्परूप ही है। न मैं हूँ, न तुम हो, न जगत है—सब कुछ ब्रह्म ही है। जैसे आकाश और शून्यता मे कुछ भेद नहीं है, वायु और उसकी गमनतामें कुछ भेद नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं है। ब्रह्मा और जगत दोनोंही कुछ उपजे नहीं हैं। दोनोंही ब्रह्म तो भिन्नता भ्रान्तिसे भासित हो रहे हैं। पञ्चभूत और मन इन्हीं छहों को जगत कहा जाता है। इनमे जो चैतन्य भास रहा है उसी

का नाम परमपद है। हे रामजी! जब तुम आत्मपद मे जागृत होवोगे, तब पंचभूत ही भासित होगा और जब आत्मपदको जानोगे तब पंचभूत भी आत्मा से भिन्न ही भासित होगा। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है। आत्मप्रमाद से ही ससार भासित हो रहा है। जब तक आत्मामे प्रमाद है तब तक संसारका भ्रम कदापि नही मिटता। परन्तु यह निराकार जगत सकल्प मात्र ही है। संकल्पकी दृढता से ही आकाश में स्थूलता दृष्टि आ रही है। ज्ञान अज्ञान किसी काल में भी जगत कुछ है नहीं परन्तु अज्ञानीको दृढ़ भास रहा है। जैसे मनोराज का रचा हुआ जगत उसीके हृदय मे बसा है अन्यके नहीं वेसेही जो अज्ञानीकी निद्रामें सोया है उसीके हृदयमें यह जगत भासता हे, ज्ञानीके नही। ज्ञानी के लिये तो यह सारा जगत आकाश रूप ही है। हे रामजी! इसपर तुम कह सकते हो कि जब सकल्प बन्धन रूप ही है तब चाहे कोई अन्तवाहक रहे या तपस्वी सबके लिये ही वह दु:खकर है? परन्तु यह प्रसङ्ग ऐसे नहीं है। सबका सकल्प दु:ख-दायी नहीं होता। उन्हींका सकल्प दु:खदायक होता है कि जो स्वरूप से गिरे हुये है। परन्तु जो स्वरूप से नहीं गिरे हैं, विचारवान हैं, ज्ञानी हे उनको संकल्प दु:ख जनक नही होता। ऐसा होता तो ब्रह्मा भी बन्धन में पड जाता क्योंकि उसने सकल्पवश सृष्टिकी रचना की है। पर नहीं, ब्रह्मा अपने स्वरूप मे जागृत है, इस कारण उसे कोई बन्धन नहीं होता। अन्ततः स्वरूप ही तो अहं प्रत्यय से सकल्परूप हुआ है। अन्यथा आत्मा मे न जगत है न जगतका आदि, मध्य और अन्त ही कुछ है। सब होना न होना अपने आप आत्मसत्ता ही मे स्थित है। तब जब कि सब कुछ सर्वात्मा ही है तो रागद्वेष भी किसका होगा? सब कुछ अपना आपही तो है। उसीके संवेदन, उसीकी किंचनता से यह जगत स्फुरित हुआ है। हे रामजी! यह सारा जगत उस ब्रह्मका [illegible] ही है कि जिसमें यह सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, रुद्र, वरुण [illegible]आदिक भास रहे हैं। संकल्प

की दृढ़ता से इतनी आधिभौतिकता दृढ हुई है। परन्तु यह सब कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, भ्रान्ति से हा भाष रहा है। जैसे जलमें फेन और बुदबुदे कुछ भिन्न नहीं है सब जलरूप ही है, वैसेही यह सारा जगत आत्मरूप ही है इसमे कुछ भिन्नता नहीं है। जैसे स्वप्न सृष्टि बिना कारण ही होती है वैसा ही यह जगत भी बिना कारण ही सकल्पवश उत्पन्न हो गया है। तब ब्रह्मासे लेकर कीट पतङ्ग आदिक यह जो कुछ जगत जैसे सकल्पवश उत्पन्न हुआ है ऐसेही यह पिशाच भी उत्पन्न हो गये हैं, इसके अतिरिक्त पिशाचों की उत्पत्तिका और कोई कारण अथवा और कोई तथ्य नहीं है। आत्मामें जैसी किंचनता होती है वैसाही भासता है। परन्तु उसमे पृथ्वी आदिक तत्वोंकी कोई भी वास्तविकता नहीं है और यह ब्रह्मा आदिक जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, सब कुछ भ्रम मात्र ही है। परन्तु हे रामजी। यह जितने भी शरीरधारी हैं सब शरीर रहित हो हैं, अन्तवाहक शरीर सभी को प्राप्त है। जैसे ब्रह्माजी अन्तवाहक हैं वैसेही उनसे उत्पन्न होने वाले जितने भी मनुष्य हैं सब अन्त वाहक ही हैं परन्तु संकल्प की दृढ़ताने ही इनमें आधिभौतिकता दृढ़ कर दी है। और इस प्रकार सभी जीवों का सकल्प भिन्न-भिन्न और अपने आपही मे स्थित है। जिसका जैसा सकल्प होता है उसको वैसी सृष्टि प्राप्त होती है। इस पर यदि तुम यह कहो कि जब सबकी सृष्टि अलग अलग है तो सब जीव इकट्ठे ही क्यों दृष्टि आते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक नगरवासी किसी दूसरे के नगर में जाकर उसके पास बैठे तो वह दोनो ही एकत्र स्थान में ही कहलायेंगे वैसेही सब जीव इकट्ठा ही भासते हैं। परन्तु वे एकत्र रहकर भी अपनी २ सृष्टिको नहीं जानते क्योंकि उनकी वासना मलिन है, उनका सकल्प भ्रमपूर्ण है, निर्मल और सत्य नहीं है। वे अपनी अन्तवाहकता को भूले हुये हैं, उनको आधिभौतिक दृढ़ हो रहा है, फिर वे एक दूसरे की सृष्टिको कैसे जान सकते हैं। जिसको

जैसे अनुभव का अभ्यास होता है उसको वैसाही भासता है। इसी प्रकार पिशाच योनि जो है वह अन्धकार पूर्ण है और इसीसे वे अन्धकारों में ही प्रकट होते हैं। चाहे मध्याह्न ही क्यों न होवे। यदि सूर्य की उस प्रखरता के आगे पिशाच आकर खडा हो जावे तो वहाँ अन्धकार ही हो जाता है। पिशाच ऐसा ही तमरूप होते है। जैसे उल्लू को सूर्यके प्रकाश मे भी नहीं दिखलाई पडता वैसेही पिशाच को भी प्रकाश मे नही दिखलाई पडता। क्योंकि पिशाच सर्वथा ही तमरूप हैं उनको सर्वथा अहंकार ही दिखलाई पडता है। कारण कि उनका ओज तमरूप ही है। हे रामजी। जिसको जैसा निश्चय होता है उसको वैसाही भासता है। परन्तु हमें तो सर्वथा आत्माकाही निश्चय रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का अरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग।

भीतरी बाते



रामजी। इसी प्रकार अन्तवाहक शरीर धारण कर मै समस्त लोकालोक मे विचर कर सबको देखता रहा, परन्तु मुझे कोई न देख पाता था। मैने सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, ब्रह्मा और विष्णु तथा रुद्र आदि सबको देखा परन्तु वे लोग मुझे किसी प्रकार भी न देख सके। एक बार तो मैने जाकर इन्द्र का शरीर पकड कर जोर से हिलाया भी परन्तु वह मुझे न देख सका। तब कुछ दिनके पश्चात् मुझे इस बातका प्रबल मोह उत्पन्न हुआ कि यहाँ तो मै इतने काल तक रहा भी परन्तु कोई मुझे न जान सका अर्थात् मेरी किसी से परोक्ष परिचय नहीं हुई। तब उस हेतु से मैंने यह इच्छा की कि सब मुझे देखे। मै शिव संकल्परूप था, इससे मुझे सब देखने लगे। आकाश, पाताल और मृत्यु लोक मे भी मुझे

सब जान गये। जहाँ-जहाँ मैंने संकल्प किया वहाँ-वहाँ मैं प्रकट रूपसे सबको दिखाई पड़ने लगा। परन्तु मुझे फिर भी अपना स्वरूप ही ज्ञात हुआ। हे रामजी! मेरा यह वशिष्ठ नाम ऐसा ही है कि जैसे जेवरी मे सर्प भासित होवे-ऐसाही मे भी ब्रह्मरूपही हूँ। अन्य लोग मुझे भले ही वशिष्ठ मुनि जानें और तुम भी उन्हीं आधिभौतिक वालों की तरह मुझे वैसे ही आकारवाले वशिष्ठ समझ परन्तु मेरे लिये आधिभौतिक और अन्तवाहक दोनों शरीर चिदाकाशकी किञ्चनताही भासते हैं। मै सर्वदा ही निराकार और अद्वैतरूप ही हूँ। हमारी और तुम्हारी चेष्टा में कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु मुझे सर्वदा आत्मपदका ही निश्चय रहता है और इसी कारण से मैं जीवन्मुक्त होकर विचरता हूँ। किन्तु अज्ञानी को क्रियामे द्वैतका भान होता है और हमको अपनी क्रिया में अद्वैत ही भासता है और इस प्रकार हमे ब्रह्मा भी अद्वैत रूप भासता है और उसका जगत भी अद्वैत रूपही है। जैसे समुद्र और तरङ्ग मे कुछ भेद नहीं होता वैसेही ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं है। मैं चिदाकाशरूप हूँ और मुझमे फुरना कुछ नहीं है। फुरना होनेसे ही जगत भासता है। ब्रह्मा और उसका जगत संकल्प की दृढता से ही ऐसा आधिभौतिक भास रहा है अन्यथा न तो कोई ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है और न कोई जगत ही उत्पन्न हुआ है, सब कुछ चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही अपने आपमे स्थित है जो सर्वदा एक रस रहने वाला है। सृष्टि की आदिम अवस्था से लेकर कल्प पर्यंत जितने भी क्षोभ होते है वे सब आत्मा मे कुछ हैं नहीं। वह सर्वदा ही एक रस रहने वाला अन उपजाही अज्ञान से भासित हो रहा है। जब आत्मज्ञान होता है तब न तो जगत रहता है न जगत बुद्धि ही रहती है, तब सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म भासता है। किन्तु अज्ञानी को तो कारण सहित जगत ही भासता है। यह महारामायण शास्त्र अज्ञान को दूर करने वाला है, इसके पढ़ने

सुनने औ विचार करने से अज्ञान का सर्वथा ही नाश हो जाता है अतः यह संसार अविद्या और वासना से ही भास रहा है। इसकी ओर दौड़ना वृथा है। इसकी ओर दौड़नेवाला महा प्रमादी, मूर्ख, और बन्दर के ही समान चञ्चल है। भोगों की इच्छा करनी नीचता और पशुता है। भोगो मे जो गिरा वह अपने जीवन मे कदापि नही सभल सकता। तृष्णावान को वैराग्यावस्था नही प्राप्त होती। यद्यपि भोगको ज्ञानी भी भोगते हैं परन्तु भोग दृष्टिसे नही ज्ञान दृष्टि से। प्रवाह-पतित जो कुछ प्रारब्ध वेग से प्राप्त हो जाता है उसीको वे भोगते है। उनकी भोग इन्द्रियाँ उनमें कदापि नहीं डूबतीं। वे भोगो को इन्द्रियों से भ्रान्ति मात्र ही जानते हैं। परन्तु अज्ञानी उसीमे लिप्त हो जाते हैं, उसी की तृष्णामें जन्मते मरते हैं और इस प्रकार उनको सर्वदा भोगो का ही बन्धन पड़ा रहता है। किन्तु ज्ञानी सर्वदा आत्मा में ही तृप्त रहता है। उसमे पहुचकर सारे पदार्थ आपही आप शीतल और शान्त हो जाते हैं, उसे आत्मानन्द की प्राप्ति रहती है और दुःख कोई नहीं रहता। परन्तु जो स्त्री, पुत्र और धनमे आसक्त है, जो वारवार एक न एक नाना प्रकार की इच्छा को ही उठाता रहता है वह महान मूर्ख और महान नीच है, ऐसों को मेरा वारम्बार धिक्कार है। आत्मपादके जिज्ञासुको चाहिए कि वह शास्त्रों का विचार अभ्यास करता रहे। तभी आत्मपद प्राप्त होता है। परन्तु विना इस महारामायण शास्त्र के विचार किये और कितने भी शास्त्रों को क्यों न विचार डाले—परमपद की प्राप्ति नही हो सकती। इस शास्त्र में वेही उपदेश किये गये है कि जिनपर आचरण करके परमपद प्राप्त हो जाता है। जो इस शास्त्र को त्यागकर अन्य ओर लगते है वे मूर्ख है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

सत्तरवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त-गणना



वाल्मीकि जी कहते हैं—हे भारद्वाज ! जब इस प्रकार वशिष्ठजीने कहा तब सायकाल का समय हो गया था, इससे समस्त श्रोता एक दूसरे को दण्ड-प्रणाम करते हुये सध्यावन्दनादिक के लिये यथा स्थान जाने लगे। तब वशिष्ठ जीने भी अपना उपदेश वहीं स्थगित कर दिया और दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही जब फिर समस्त श्रोता जन आकर यथा स्थान बैठ गये तब वशिष्ठजी रामजीसे बोले—हे राम जी ! कल जो तुमको मैने भीतरी बाते बतलाई हैं उनके विचार से जगत का भ्रम अवश्य ही नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! यह जगत आत्मामे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। अधिष्ठान में जो चित्त का स्फुरण हुआ है वही जगत होकर भासित हो रहा है। किन्तु ज्ञानी को सदैव आत्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी ! मै तुम और यह जगत जो कुछ है सब आत्मसत्ता ही है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। अपना अनुभवही स्वप्न सृष्टि हो रहा है। उस अनुभूत आत्मामे ही नाना प्रकार के विकार दृष्टि आ रहे हैं, फिर भी आत्मा अखण्डरूप ही है। इससे आत्मा और जगत मे कुछ भी भेद नहीं है। जैसे सुवर्ण और भूषणमे कुछ भेद नहीं है, वैसेही ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं। ब्रह्म ही चेतनतावश जगतरूप होकर भास रहा है। जैसे स्वप्नमें अपनेही अनुभवसे बहुत कुछ वृथाही भासता है जो अनुभव से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और जैसे समुद्र और तरङ्ग मे कुछ अन्तर नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और जगत मे कुछ भेद नहीं है। असम्यक दृष्टिसे ही यह भास रहा है, सम्यक दृष्टि प्राप्त हो जावे तो कुछ भी अन्तर नहीं भासता। ब्रह्मसत्ता में पहले जो किञ्चनता हुई है, वही ब्रह्मा हुआ और वह चिदाकाश ही हुआ,

और वह सर्वदा ही आवागमनके चक्र में पड़ा रहता है। परन्तु जिसने अभिमान को त्याग दिया है, जो आत्मा को ही एक करके मानता है अथवा जो एक मात्र उपासक है वह न तो जन्म लेता है और न कभी मरता है। उसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु उड़ा नहीं सकता, जल डुबा नहीं सकता और इस प्रकार वह सर्वदा ही निर्विकार अविनाशी और चिदाकाश स्वरूप ही है। हेरामजी! देहके नाश हुये आत्माका नाश नहीं होता, शरीर के कटने और दग्ध होने से आत्मा न तो कटता है और न भस्म होता है। वह शुद्ध, नित्य, अच्युत और अनन्त रूप है। स्वरूप से वह किसी अन्य भावको नहीं प्राप्त हुआ। मैं वही अह ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझमें न कोई जन्म है, न मरण है। मुझमें सुख, हर्ष, शोक और जीने, मरने की इच्छा कुछ भी नहीं है। रस्सी में सर्प और सुवर्ण में भूषण के समान ही आत्मा में मेरा वशिष्ठ नाम कल्पित है। परन्तु मैं देश काल से परे नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वरूप आत्मा और अनन्त हूँ। पर यह मैं अपने ही लिये अथवा मेरे ही जैसे और जो भी आत्मतत्व वेत्ता होवें—उन्हीं के लिये कहता हूँ, अन्य तो सभी ससार रूपी खाई में गिरे हुये हैं। उनका जीवन व्यर्थ है। कथन मात्र के लिये वे भलेही चैतन्य बने परन्तु वे पत्थर की शिला के ही समान जड़ हैं। जैसे लुहार की धौंकनी से वायु निकलता है वैसेही उनका जीना व्यर्थ है। वे घटीयन्त्र की नाई वासना में ही भटकते रहते हैं और उन्हें आत्मानन्दका दर्शन कदापि नहीं होता, वे सर्वदा ही तपते रहते हैं। परन्तु जो आत्मपद में स्थित हैं उनको दु:खका तनिक भी लेश नहीं होता और वे कदाचित भी क्षोभ को नहीं प्राप्त होते। उनके लिये सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही होता है। जैसे तृण पर्वत को चलायमान नहीं कर सकता वैसेही उनको दु:ख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। दु:ख तो तब होवे जब आत्मा से कुछ भिन्न भासे। आत्मासे कुछ भी भिन्न नहीं है।

सारा जगत आत्मानुभवरूप ही है, सब कुछ परमात्मा का ही स्वरूप है। जैसे स्वप्नकी समस्त वस्तुये अनुभव स्वरूप ही हैं वैसेही यह नाना प्रकारका जगत आत्मामे अनुभव रूप भ्रमसेही उदय हुआ है। सर्वमें आत्मसत्ताही भासित हो रही है। उस अधिष्ठान सत्तामे जैसा २ निश्चय होता है वैसा भासता है। हे राम जी! एक चार्वाक मतावलम्बी हैं कि जो तत्त्वों से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं और बौद्ध मतवाले बोधसे ही सृष्टि का उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि बौधके अभाव होने से ही सृष्टि की अभाव हो जाता है परन्तु जो ज्ञानवान ब्रह्म समुदाय हैं वह सर्व मे एक ब्रह्मसत्ता को ही स्थित देखते हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह सत्ता एक ही है, उसमें जैसा जो निश्चय करता है उसे वैसाही भासित होता है। चिंतामणि और कल्पवृक्ष में जो भावना की जाती है वह वैसी ही सफलता देता है। इसी प्रकार आत्मसत्ता मे जैसी भावना की जाती है वैसाही रूप भासित होता है।। किन्तु पण्डितों का यही कथन है कि आत्मसत्ता ही सर्व का सारभूत और साक्षी है। उसमें जब लगकर दृढ़ अभ्यास किया जाता है तब वह आत्मसत्ता ही भासने लगती है, परन्तु करना यह चाहिये कि जब वह भासने लगे तब निश्चयसे कदापि भी विचलित न होवे।

वशिष्ठजी के इतना कह चुकने पर राम जी ने पूछा—हे मुनीश्वर! कृपाकर यह बतलाइये कि इस भूतल और आकाश, पाताल में भी ऐसा कौनसा विचारवान है कि जिसे पूर्वापरका ज्ञान रहता है और यदि किसी को ऐसा ज्ञान है तो उसने आत्मस्वरूप का निश्चय कैसे किया है? वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी! यह सारा जगत इन्द्रियजन्य विषयों की तृष्णामे ही जल रहा है। कभी इष्टकी प्राप्ति में हर्ष करता है तो कभी अनिष्ट को पाकर शोकान्वित होता है। ऐसा कोई कदाचित ही है कि जो इस जगत मे सूर्य के समान प्रकाश करता है अन्यथा सब तृण के समान ही भोगरूपी वायु मे भटक

रहे हैं। किसको श्रेष्ठ कहे। जो श्रेष्ठ हैं वे भी तो विषयरूपी अग्नि में जल रहे हैं। यह मृत्युलोक तो दु:खका ही स्थान है, देवलोक के देवता भी तो सर्वदा ही भोगरूपी अपवित्र स्थानोंमें अपने आप को प्रसन्न मानते हैं, इससे मै तो उनको भी यव का कीट ही समझता हूँ। फिर वेचारे गन्धर्व भी मूढ़ हैं। उन तक तो आत्मपद की गन्ध भी नहीं पहुचती और वेचारे दिन रात रागमे ही उन्मत्त वने रहते हैं। इसी प्रकार विद्याधर भी मूर्ख ही हैं कि जो वेदों के अर्थ रूपी चातुर्य को भी अग्नि मे ही जला देते हैं और इस प्रकार उन्हे वेदोंके सारभूत अमृत का भी नही ध्यान रहता, इससे वे भी आत्मपदसे वचित ही रहते है। सिद्धोंका भी क्या कहना है। मेरे विचार से तो वे पत्ती ही हैं कि जो इधर उधर उडते फिरते हैं और अपने वास्तवरूप मे स्थित नहीं रहते। यत्तों को धन का ही अभिमान रहता है। इससे वे भी आत्मपदको नहीं पाते और दिन रात उसी धनकी ही चिन्ता में पडे रहते हैं और आत्नपदकी नहीं पाते। योगिनियाँ मदसे उन्मत्त रहती हैं। दैत्योंको सर्वदा ही देवताओं से युद्ध करने का ही ध्यान रहता है और इस प्रकार उन्हें भी आत्मलाभ नहीं होता। पाताल में नागो का वास है, वे जलमे भी रहते हैं। उनके पास एक से एक सुन्दर नागिनियाँ पडी रहती हैं कि जिनके काम पाशमें बँधे रहकर वे आत्मानन्द से सर्वथा हीं वचित रहते हैं। इस प्रकार जितने भी भूत-प्राणी हैं सब विषयों के ही सुखमें लगे हुये हैं और किसीको भी आत्मपद नहीं प्राप्त होता। परन्तु हाँ, इन सब जातियोंमें कोई कोई ज्ञानी और जीवन्मुक्त पदमें भी स्थित रहता है, ऐसा नही है कि बीज का ही नाश होवे। नहीं, देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सर्वदा आत्मानन्द में ही स्थित रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुवेर, शुक्र, बृहस्पति, नारद और कच आदि जीवन्मुक्त हैं। फिर सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और दत्त तथा सप्तर्षि आदि ये भी जीवन्मुक्त हैं।

फिर सिद्धोंमें कपिलमुनि और यक्षोंमे विद्याधर, दैत्योमें हिरण्यकशिपु प्रह्लाद, वलि, विभीषण, इन्द्रजीत, चित्रासुर, स्वरमेय और नमुचि आदि भी जीवन्मुक्त हैं। इसी प्रकार मनुष्योंमे राजर्षि जनक और ब्रह्मर्षि मे तथा नागों में शेष नाग और वासुकि जीवन्मुक्त है। बस यही सब जातियों मे इने गिने नाम जीवन्मुक्त और आत्मपद मे स्थिति को प्राप्त किये हैं, शेष सारा जगत और अन्य स्थानो मे भी जहाँ जहाँ मैंने देखा है कोई विरला ही ज्ञानी दिखलाई पडता है। सर्वत्र अज्ञानी ही भरे पड़े हैं। हे रामजी! उपरोक्त नामोंको छोडकर मैंने और कोई ऐसा नहीं देखा कि जो कोई शूरमा हो। शूरमा तो वह है कि जो आत्मपद में स्थित हुआ हो। वही ससार को सुगमता से पार कर सकता है, दूसरा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का सत्तरवा सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग



हे रामजी! जो पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो गये हैं उनको राग-द्वेष और काम, क्रोध तथा मोह, मद और अभिमान आदिक दोष बाधक नहीं होते। उनका हृदय सर्वदा शुभ गुणोंसे ओत प्रोत रहता है, बोधके उदय होनेसे [illegible] हृदयसे अज्ञानान्धकार वैसेही दूर हुआ रहता है कि जैसे [illegible] होने से अन्धकार दूर हो जाता है। विवेक के उदय [illegible] विकार आपही आप नष्ट हो जाते हैं। विवेकी पुरुष [illegible] क्रोध नही करते। उनका हृदय सर्वदा ही शीतल [illegible] शुभ गुणो से भरा रहता है। उनके निकट जो [illegible] शान्तिमान होता है। उनसे कोई भी [illegible] उद्वेगित [illegible] जो कोई जाता है, तो वे [illegible] अवश्यही [illegible] चेष्टायें शास्त्रानुकूल होती [illegible] वैसाही आचरण करते [illegible]

नहीं होती और वे जो कुछ प्रारब्धवेग से पा जाते हैं उसीमे सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी दान-स्नान आदिक समस्त शुभ-क्रियायें स्वाभाविक ही होती है। और इसी प्रकार उनमें उदारता, वैराग्य, धैर्य और शम, दम आदिक गुण स्वभावतः ही विद्यमान हो जाते हैं जो उन्हें इसलोक में भी सुख देते हैं और परलोक में सुखी बनाते हैं। ऐसे सन्त सहजही में ससार सागर को पार कर जाते हैं। जो ऐसे सन्तो की शरण जाता है वह तर जाता है। इस जगत-सागर से पार करने वाले सन्तजनही केवट हैं। इस जगत की प्रचण्ड लहरों से बचाने के लिये सन्तजन ही पर्वत हैं। वे अपनी रक्षा करते हुये दूसरो को भी ससार रूपी गढ़े मे गिरने से बचा लेते हैं। चाहे उनका शरीर ही क्यो न जलने लगे अथवा उनका नगर भी क्यों न जलकर भस्म हो जावे परन्तु वे स्वरूप से कदापि विचलित नहीं होते वैसेही वे भी चलायमान नहीं होते। हे रामजी। यह जो स्नान, दान, मैंने तुमसे कहा है इसके करने से जीव सुखी होता है और दुःख नष्ट हो जाते है। जब मनुष्य स्नान दानकी ओर आता है तब उसे सन्तोंका साथ प्राप्त होताहै और तभी सत्सङ्गतिमें उसका चित्त भी लगता है। तब क्रम पूर्वक उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। फिर सन्तजन जैसा उपदेश करें उसीके अनुसार आचरण करने से, वैसा अभ्यास करने से मनुष्यको पाने योग्य वस्तु प्राप्त होजाती है। तब उस प्रकार से सत्सङ्गति करते हुये वह भी सन्त हो जाता है। हेरामजी सन्तोका साथ करना व्यर्थ नहीं जाता। जैसे अग्निसे मिला हुआ पदार्थ अग्निरूप हो जाताहै वैसेही सन्तोंके सङ्गसे असन्त भी सन्त हो जातेहैं। परन्तु मूर्खोंकी सङ्गतिसे सत पुरुप भी मूर्ख हो जाता है। जैसे उज्वल वस्त्र मैले वस्त्र के साथ से मैला हो जाता है वैसेही मूर्ख का साथ करने से साधु पुरुष भी मूर्ख हो जाता है। इससे चाहे जिस प्रकार हो सके मूर्खों का साथ शीघ्र ही त्याग देवे, तभी कल्याण होता है। साधु पुरुषों में छिद्रान्वेषण कदापि न करना

चाहिये। उनमे गुणों को ही देखना चाहिये। जैसे भँवरा केतकी के काँटों की ओर न देखकर उसकी सुगन्ध की ही ओर जाता है वैसे ही जिज्ञासु को सन्तों के शुभ गुणों की ही ओर जाना चाहिये और उनके अवगुणों का ओर ध्यान भी न देवे। सन्तजन ही संसार सागर से पार करते हैं। उन्हीं की सङ्गति से संसार भ्रम नष्ट होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का, इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

परमार्थ-स्वरूप-वर्णन



वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर रामजीने पूछा हे भगवन्! हम मनुष्यों के दु:ख तो स्नान, दान, और सतसंग से दूर हो जाते हे परन्तु उन जीवों का दु:ख कैसे दूर होता है कि, जो कीट, पतङ्ग, और पशु, पक्षी, आदिक योनियोंमें पडे हुये हैं। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वास्तविक सत्ता का ही नाम ब्रह्म है। वह ब्रह्म अखड और अद्वैत है। उसमें कुछ द्वैत का विभाग नहीं है। वह किंचनता के फुरने से ही नानात्व भासित हो रहा है परन्तु उसमें कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न कालकी सृष्टि मे कुछ सत्यता नहीं होती और वह निद्रादोष से ही भासित होती है, वैसेही जाग्रत सृष्टि मे भी कुछ सत्यता नहीं होती और वह जीवोकी अज्ञानतावश ही उन्हे सत्य भासित हो रही है। परन्तु सब कुछ ब्रह्मरूप ही है स्वरूपके प्रमाद से ही उसने जीवत्व भावका अगीकार कर लिया है वैसा अगीकार करके उसने जैसा निश्चय किया है वैसीही गति को पाया है। उस अनुभव सत्तामे जिसने जैसे–जैसे देश, क्रिया और द्रव्यका सकल्प किया है उसे वैसाही भासता है। चार अवस्थायें होती हैं—एक सघन सुषुप्ति, दूसरी क्षीण स्वप्न अवस्था और

जाग्रत। पर्वत और पाषाण घन सुपुप्ति मे हैं। जैसे सुपुप्ति अवस्था में कुछ नहीं फुरता, जडी भूत हो जाता है, वैसेही इसको कुछ फुरना नही फुरता-घन सुपुप्ति में स्थित है। वृक्ष क्षीण सुपुप्ति में स्थित हैं। जैसे क्षीण सुपुप्ति में कुछ फुरना फुरता है वसेही वृक्षों में भी फुरना होता है इससे वृक्ष क्षीण सुपुप्ति में है। तिर्यक जो पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जीव हैं वे स्वप्न अवस्था में स्थित हैं। जैसे स्वप्न अवस्था मे पदार्थ भासता है परन्तु दृढ़ समष्ठि नही भासता वेसेही इनको थोडा सूक्ष्म ज्ञान है इससे वे स्वप्न अवस्थामें स्थित हैं। मनुष्य और देवता जाग्रत रूप जगत् का अनुभव करते हैं। हे रामजी! यह चारों अवस्था आत्मामें स्थित और आत्मसत्ता ही में स्थित हैं। उसका अह प्रत्ययरूप आत्मा है—बड़े का क्या और छोटे का क्या। उसमें जैसा सल्प दृढ़ होता है वैसा ही हो भासता है। हे रामजी! हमको एक दिन व्यतीत होता है और चींटी को उसीमे युगका अनुभव होता है, हमको जो सूक्ष्म अणु होता है उनको वही पर्वत के समान भासता है। हे रामजी! स्वरूप सबका एक आत्मसत्ता है परन्तु भावना से भिन्न २ भासता है। एक कीट जो वहुत सूक्ष्म है, जब वह चलता है तब जानता है कि, मेरा गरुड कासा वेष है और उसको वही सत हो रहा है। बाल खिल्य का अगुष्ठ प्रमाण शरीर है, उनको वही बडा भासता है और विराट् को वही अपना बडा शरीर भासता है। निदान जैसी जिसको भावना होती है वेसाही उसको भासता है। मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, सबको अपना अपना भिन्न २ सकल्प है, जैसा सकल्प किसी को दृढ़ हो रहा है उसको वेसाही स्वरूप भासता है। जेसे मनुष्य रागद्वेष, भय, क्रोध, लोभ, स्नेह अहकार, क्षुद्ध तृष्णा हर्ष, शोक आदि विकारो मे आसक्त होता है वैसेही कीट, पतग, पक्षी आदि को भी होता है परन्तु उनमे इतना भेद है कि जैसे हमको यह जगत स्पष्ट रूप भासता है, वैसेही उनको नहीं भासता। ससारी सब है परन्तु बासना के अनुसार ही न्यूनाधिक्य भासता है और

दुःखका अनुभव स्थावर जगम को भी होता है। जब किसी स्थानमें अग्नि लगती है और उसमें वृक्ष और पाषाण जलते हैं तब उनको भी दुःख होता है परन्तु सूक्ष्म, स्थूल का भेद है। जैसे और जीवको शस्त्र-प्रहार करने से शरीर नष्ट होने का दुख होता है वैसेही वृक्षादिक को भी होता है परन्तु घन सुषुप्ति, क्षीण सुषुप्ति और स्वप्न, जाग्रत का भेद है। पर्वत पाषाण को सूक्ष्म दुःख होता है। वृक्षको पाषाण से अधिक होता है परन्तु स्पष्टमात्र और अपमान का दुःख नहीं होता। स्वप्नकी समान होता है। मनुष्य और देवताओं को स्पष्ट रागद्वेष, जाग्रत की नाईं होता है क्योंकि, वे जाग्रत अवस्था मे स्थित हैं और वृक्ष, पाषाण आदिक को स्पष्ट दुःखका विकल्प नहीं उठता क्योंकि वे जड़ता स्वभावमें स्थित रहते हैं परन्तु दुःख तो सबको होता है और आश्चर्य देखो कि, कीट महादुःखी रहते हैं, जब वे मृतक होते हैं तब सुखी होते हैं। अज्ञान से जो इस शरीर में आस्था हुई है उसको भी मरना बुरा भासता है तो और जीवको भला कैसे न लगे। हे रामजी! अपने स्वरूपके प्रमाद से भय, क्रोध, लोभ, मोह, राज, मृत्यु, क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छादिक विकारोंकी अग्निसे जीव जलते हैं। आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते और घटीयन्त्र की नाईं वासनावश भटकते हैं। जब पापकी वासना दृढ़ होती है तब जीव पाषाण और वृक्षयोनि पाते हैं और जब क्षीण वासना तामसी होती है तब तिर्यक पक्षी, सूर्य और कीट योनि पाते हैं। हे राम जी! राजसी वासना से जीव मनुष्य होते हैं और सात्विकी वासना से देवता होते हैं। पर जब मनुष्य शरीर धारणकर निर्वासनिक होते हैं तब मुक्ति पाते हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब जीवों के दुःख नष्ट हो जाते हैं। दुःखके नाश करने का और कोई उपाय नहीं है। यह जगत के दुःख तब तक भासते हो रहते हैं कि जब तक आत्मज्ञान नहीं उपजता, जब आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब जगत का सारा भ्रम मिट जाता

है। मुझसे पूछो तो वास्तवमे न कोई देवता है, न मनुष्य है, न पशु है, न पक्षी है, न पाषाण है, न वृक्ष और न कीट है, सब चिदाकाशरूपही है। अन्य कुछ नहीं बना। भ्रान्तिसे ही नाना स्वरूप होकर भास रहे हैं और सदा सर्वदा काल और सर्व प्रकार आत्मसत्ता ही स्थित है। हे रामजी! न कुछ जगत का होना है, न ऊन होना है, न आत्मा है, न परमात्मा है, न मौन है, न अमौन है, न शून्य है, न अशून्य है, केवल अचेत चिन्मात्र अपने आपमें ही स्थित है। और उसमे न तम है न प्रकाश और जन्मान्तर भ्रमसे भासते हैं। जैसे स्वप्नसे स्वप्नान्तर भ्रमसे भासता है और जैसे स्वप्नमे एक अपना आप होता है और निद्रा दोषसे ही द्वैत भासता है वैसेही अब भी आत्मा अद्वैत रूप है। पर अविचार से नानात्व भास रहा है। दुःख भी अज्ञान से भासता है, विचार किये से दुःख कुछ नहीं। जो मृतक होकर उत्पन्न होता है तो शान्ति हुई, दुःख कोई नहीं और यदि मृतक होकर जो शान्त हो जाता है वह उपजता नहीं तब भी दुःख कुछ नहीं वह मुक्त हो गया और जब मरे नहीं तब भी दुःख कुछ नहीं और जो सर्व चिदाकाश है तब भी दुःख कुछ नहीं हुआ। हे रामजी! अज्ञानी के निश्चयमें ही दुःख विद्यमान है पर विचार करनेसे दुःख कुछ भी नहीं है। यह जगत आत्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित है परन्तु यह जगत रूपी कैसा प्रतिबिम्ब है कि जो अकारणरूप ही है। इसका कारण रूप बिम्ब कोई नहीं, कारण से रहित है। जैसे नदी में नीलता का प्रतिबिम्ब पडता है वह अकारण रूप है, वैसे ही यह जगत अकारणरूप है। अज्ञानी के प्रमाद दोष से ही उसमें सत्यता भासती है और ज्ञानी को नहीं। हे रामजी! हमको तो सर्वदा चिदाकाश ही भासता है। हम जागे हुये हैं इससे हमको द्वैत कुछ नहीं भासता। जैसे सूर्य को अहकार नहीं भासता वैसे ही हमको द्वैत नहीं भासता है परन्तु जो ज्ञानी है उसको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता, उसे सब कुछ ब्रह्म ही भासता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त॥ ७२॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

इच्छा चिकित्सा



हे रामजी ! मनुष्यको नष्ट करनेवाली इच्छा बडी ही दुष्ट है। इसके हाथो पड़कर जीव की वह दुर्गति हो जाती है कि जो मुझसे कही नही जाती। इस कारण अब मै तुम्हें फिर वही कथा सुनाना चाहता हूँ कि जिसके सुनने से तुम्हारी इच्छाये सर्वथा ही ध्वस हो जायें। देखो, यह ससार इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है, इससे यह त्यागने ही योग्य है। यदि इसमे आत्माको पृथक कर दिया जाय तो न तो कहीं इच्छा रहती और न कहीं ससार ही रहता है। तब भला उस आत्मा मे क्या इच्छा की जाये। उसमे तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ मिथ्या हैं। अविचार से ही ग्राह्य और ग्राहक इन्द्रियो का भान हुआ है। आत्माम सुख दुःख कोई नहीं है। उसमे द्रष्टा, दर्शन, दृश्य कल्पना मात्र ही है। हे रामजी ! आज मैं कितनेही दिनो से इस खोजमें पडा हूँ कि उस आत्मा में कुछ द्वैत वस्तु दिखलाई पडे किन्तु मुझे कुछ द्वैत न दीख पड़ा। ब्रह्म सत्ताही ज्यो की त्यो भासित हो रही है। जैसे जल में तरङ्ग और आकाश मे सूक्ष्मता शून्यता, वायु में गमनता, और अग्निमें उष्णता सब अनन्यरूपही हैं वैसेही आत्मा में जगत अनन्यरूपही है। विश्वका सारा प्रपञ्च उस आत्मा से ही भासित हो रहा है, दूसरा कुछ हुआ नहीं। हेरामजी ! इच्छाही समस्त बन्धनो का मूल मत्र है। जिस पुरुष की इच्छा बढ़ती जाती है वह जगत् रूपी वन का मृगहै, उस मृग और पशुका सग कदाचित् न करना। मूर्खका संग बुद्धि को विपर्यय कर डालता है, इससे विपर्यय बुद्धिको त्यागकर आत्मपद मे स्थित होरहो। विश्व भी सब तुम्हारा अनुभवरूप ही है और इसका सुख दु:ख विद्यमान भी दिखाता है परन्तु आत्मा में भ्रममात्र भासता है–कुछ है नहीं। विश्वभी आन-

न्दरूप शिवही है, तुम विचार करके देखो तो दूसरा कुछ नहीं है जैसे मृत्तिकामे नाना प्रकार की सेना, हाथी, घोड़ा आदिक होतीहैं परन्तु मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं वैसेही सब विश्व आत्मरूप है, भिन्न नहीं और उसमें कारण कार्य भाव देखना भी मूर्खता है। क्योंकि जो दूसरी वस्तु ही नहीं तो कारण कार्य किसका हो और इच्छा किसकी करते हो ? जिस ससार की इच्छा करते हो वह है ही नही। जैसे सूर्यकी किरणों में जलाभास होना है और सीपी मे रूपा भासता है सो दूसरी वस्तु कुछ नहीं अधिष्ठान किरण और सीपी है, वसेही अधिष्ठानरूप परमार्थ-सत्ताही है। न सुखहै, न दु:ख है, यह जगत् केवल शिवरूप है। उस शिव चिन्मात्र से मृत्तिका की सेनावत् उपज कुछ नहीं तो इच्छा कैसे उदय हो ? रामजीने पूछा, हे मुनीश्वर। जो सर्व ब्रह्मही है तो इच्छा अनिच्छा भी भिन्न नहीं ? इच्छा उदय हो चाहे न हो ? फिर आप कैसे कहते हैं कि, इच्छा का त्याग करो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस पुरुष की ज्ञप्ति जागी है अर्थात् जो ज्ञानरूप आत्मामें जागा है उसको सब ब्रह्म ही है और इच्छा अनिच्छा दोनों तुल्य हैं। इच्छा भी ब्रह्म है और अनिच्छा भी ब्रह्म है। हे रामजी ! ज्यों ज्यों ज्ञान संवित् होती है त्यों त्यो वासना क्षय होती है। जैसे सूर्य के उदय हुये रात्रि नष्ट हो जाती है वैसेही ज्ञान के उपजेसे वासना नहीं रहती। हे रामजी ! ज्ञानवान को ग्रहण और त्यागका कर्तव्य नहीं और उसे इच्छा अनिच्छा कुछ नहीं है। यद्यपि ऐसेही है परन्तु स्वाभाविक ही उसे वासना नहीं रहती। जैसे सूर्य के उदय हुये अन्धकार नहीं रहता वैसेही आत्माके साक्षात्कार हुये द्वैत वासना नहीं रहती। ज्यो-ज्यो ज्ञानकाल जागता है त्यों-त्यो द्वैत नाश होता जाता है और द्वैत के निवृत्त होने से वासना भी निवृत्त हो जाती है। हे रामजी ! ज्यों ज्यों स्वरूपानन्द उसको प्राप्त होता है त्यों त्यों ससार विरस होता जाता है और जब संसार विरस होगया

तब वह वासना किसकी करे ? हे रामजी ! अमृत मे इसको विपकी भावना हुई थी इससे अमृत विप भासता था पर जब विपकी भावना का त्याग हुआ तब अमृत जो आगे ही था सोई हो जाता है, वैसेही जो कुछ तुमको भासता है सो सब ब्रह्मरूपी अमृत ही है। जब उस ब्रह्मरूपी अमृत में अज्ञान से जगत्‌रूपी विप की भावना होती है तब दु:ख पाता है और जब ससार की भावना त्यागी तब आनन्दरूप ही है और उसको कुछ करना, न करना दोनों तुल्य है। यद्यपि ज्ञानवान् मे इच्छा दृष्टि आती है तो भी उसके निश्चय में नहीं। उसकी इच्छा भी अनिच्छा ही है क्योंकि, जब उसके हृदयमें ससारकी भावना ही नहीं है तो इच्छा भी किसकी रहे ? हे रामजी ! यह ससार है नहीं और हमको तो आकाशरूप ही भासता है। जैसे औरके मनोराजके सकल्पमे आने जानेका खेद नही होता वैसेही यह जगत हमको औरकी चिन्तनावत् है। जैसे किसी पुरुपने मनोराज्य मार्गमें कोई स्थान रचकर उसमें किवाड लगाये हो और नाना प्रकार का प्रपंच रचा हो तो दूसरे पुरुपको उसमे जानेके लिये कोई नहीं रोकता और न कोई किवाड है, न कोई पदार्थ है, उसको [illegible] का निश्चय होता है, वैसेही हमको तो सब प्रपंच शून्य ही [illegible] अज्ञानी के हृदय में हमारी चेष्टा है पर हमको ब्रह्मसे [illegible] भासता। हे रामजी ! जिसको जगत् ही न भासे उसको [illegible] हो ? जिसके हृदयमे ससारकी सत्यता है उसको [illegible] और रागद्वेप भी उठता है। जिसका रागद्वेप [illegible] कि, ससार सत्ता उसके हृदय में स्थित है और [illegible] सहित ससार सत्य भासता है सो मूर्ख है और [illegible] सोया हुआ है। जैसे निद्रा दोपसे कोई स्वप्ने [illegible] है वैसेही जिसको यह जगत् स[illegible] भासता है [illegible] हे रामजी ! मने बहुत [illegible] भी नाना प्रकार के हे [illegible]

दृष्टि आई। वह जप, तप, पाठ, यज्ञ, दान, और तीर्थसे निवृत्त नहीं होती और जितने समारके पदार्थ हैं उनसे भी इच्छारूपी रोग नष्ट नहीं होता, जब आत्मरूपी औषध की जावे तब ही नाश होता है अन्यथा किसी प्रकार यह रोग नहीं जाता। हे रामजी! जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है उसकी इच्छा स्वाभाविक ही निवृत्त हो जाती है और आत्मज्ञान बिना अनेक यत्नसे भी न जावेगी। जैसे स्वप्ने की वासना जागे बिना नहीं जाती और अनेक उपाय करिये तो भी दूर नहीं होती। हे रामजी! ज्यों-ज्यों वासना क्षीण होती है त्यों त्यों सुखकी प्राप्ति होती है और ज्यों ज्यों वासना की अधिकता है त्यों त्यों दु:ख अधिक हैं। यह आश्चर्य है कि, मिथ्या ससार सत्य ही भासता है। जैसे बालकको वृक्षमें वैताल हो भासता है और उससे वह भय पाता है पर वह है नहीं, वैसेही मूर्खता से आत्मा में ससार कल्पना है उससे जीव दुःखी होता है। हे रामजी! स्थावर जगम जो कुछ जगत् भासता है सो सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं पर भ्रम से भिन्न भिन्न हो भासता है। जैसे आकाश में शून्यता जलमे द्रवता और सत्यता में सत्यता ही है, वैसेही आत्मा मे जगत है सो न सत्य है और न असत्य है—आत्मा अनिर्वाच्य है। हे रामजी! दूसरा कुछ बना नहीं तो क्या कहिये? केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है सो सबका अपना आप वास्तवरूप है। जब उसका साक्षात्कार होता है तब अहं रूप भ्रम मिट जाता है। जैसे सूर्यके उदय हुये अधकार का अभाव हो जाता है वैसेही आत्मा के साक्षात्कार हुये अनात्म अभिमान रूपी अन्धकार का अभाव हो जाता है और परम निर्वाण भासता है। उसको एक और दो भी नहीं कह सकते, वह केवल शात रूप परम शिव है। जैसे आकाशमें नीलता भासती है वैसेही आत्मा मे जगत भासता है। हे रामजी! जिन्होंने ऐसे निश्चय किया है उनको इच्छा अनिच्छा दोनो तुल्य हैं तोभी मेरे निश्चय मे यह है कि, इच्छा के त्याग में सुख है। जिसकी इच्छा दिन दिन घटती

जावे और आत्माकी ओर आवे तो उसको ज्ञानवान् मोक्ष भागी कहते हैं क्योंकि, ससार भ्रमसे सिद्ध है और अपनी ही कल्पना जगतरूप होकर भासती है, विचार किये से कुछ नही निकलता। ससार के उदय होने से आत्मा को कुछ आनन्द नही और नाश होने से खेद नही होता क्योंकि, कुछ भिन्न नही। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और विनशते हैं तो जल को हर्ष और शोक कुछ नहीं होता क्योकि, वे जल से भिन्न नही हैं, वेसेही सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है तो इच्छा क्या और अनिच्छा क्या? हे रामजी! आदि जो परमात्मा से चितशक्ति फुरी है उसमे जब अहं हुआ तब स्वरूप का प्रमाद हुआ और यही चितशक्ति मनरूप हुई, फिर आगे देह इन्द्रियाँ हुई और अज्ञान से मिथ्या भ्रम उदय हुआ इसी प्रकार अपने साथ मिथ्या शरीर देखता है। जैसे जल दृढ जड़ता से बरफ रूप हो जाता है वेसेही चित् सवित् प्रमाद की दृढता, से मन, इन्द्रियाँ, देहरूप होता है। जैसे कोई स्वप्न मे अपना मरना देखता है वेसेही अपने साथ जीव शरीर को देखता है। जब चित्तशक्ति नष्ट होती है तब शरीर कहाँ—और मन कहाँ, यह कोई नहीं भासता? जैसे स्वप्न मे भ्रमसे शरीरादिक भासते हैं वैसेही इस जगत् को भी जानो कि, मिथ्या भ्रम से उदय हुये हैं। जब अपने स्वरूपकी ओर आवे तब सबके भ्रम मिट जाते हैं। हे रामजी! जैसे भ्रमसे आकाश मे नीलता भासती है वैसेही विश्व भी अनहोता ही भ्रमसे भासता है, आत्मा मे कुछ आरम्भ और परिणाम करके नहीं बना, वही स्वरूप है। जैसे आकाश और शून्यता और पवन और स्पन्द मे भेद नही, वेसेही आत्मा और जगत् मे भेद नहीं है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप है—कुछ [illegible] न नहीं, वैसेही जगत् और आत्मा अनुभव से कुछ भिन्न नही [illegible] मजी! चेतन आकाश [illegible] रूप है, उसमे देह और [illegible] भासती हैं और क्रिया पदार्थ सब भ्रममात्र [illegible] में जागकर

द्वैत भ्रम निवृत्त हो जावेगा और कैवल्य, अद्वैत आत्मा ही भासेगा—दृश्यका अभाव हो जावेगा। यह पृथ्वी आदिक तत्त्व जो भासते हैं सो अविद्यमान हैं और इनकी प्रतिभा मिथ्या उदय हुई है। जैसे स्वप्ने में अनहोते पृथ्वी आदिक तत्त्व भासते हैं परन्तु हैं नहीं वैसे ही आत्मा में यह जगत् भासता है। हे रामजी! दीवार, कीट, पर्वत आदि प्रपञ्च आकाशरूप हैं तो ग्रहण त्याग किसका हो? आकाशरूपी दीवार पर संकल्प ने चित्र रचे हैं और रङ्ग आत्म चेतन्यता है इससे विश्व संकल्प मात्र है और जैसा २ निश्चय होता है वैसीही वैसी सृष्टि भासती है। यदि कुछ बना होता तो और का और न भासता, इससे कुछ बना नहीं, जैसे संकल्प होता है वैसाही आगे रूप हो भासता है। हे रामजी! सिद्धों के पास एक चूर्ण होता है उससे वे जो चाहते हैं सो करते हैं। पर्वत को आकाश और आकाश को पर्वत करते हैं—वह चूर्ण मैं तुमसे कहता हूँ। जब चित्त रूपी सिद्ध संकल्परूपी चूर्ण से फुरता है तब आत्मरूपी आकाश मे पर्वत हो भासते हैं और जब चित्तरूपी सिद्ध का सकल्प उलटता है तब पर्वत भी आकाशरूप हो भासता है। जैसे स्वप्न मे सकल्प फुरता है तब अनुभव में पर्वत आदिक पदार्थ भासि आते हैं और जब सकल्प से जागता है तब स्वप्न के पर्वत आकाशरूप हो जाते हैं तो आकाशही पर्वतरूप हुआ और पर्वतही आकाशरूप होता है, वैसेही, हे रामजी! यह सृष्टि कुछ बनी नहीं सकल्पमात्र है, जैसा सकल्प होता है तैसा भासता है। जब विश्वके अत्यन्त अभाव का सकल्प किया तब वैसेही भासता है। जैसे विश्वका अभ्यास किया है और विश्व भासा है तैसेही आत्माका अभ्यास कीजिये तो क्यों न भासे? वह तो अपना आप है, जब आत्माका अभ्यास कीजियेगा तब आत्माही भासेगा और विश्व का अभाव हो जावेगा। अनेक सृष्टि अपने २ सकल्प से आकाश में भासती है, जैसा किसी का सकल्प होता है वैसीही सृष्टि उसको

भासती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष मे दृढ़ संकल्प होता है तो यथा इच्छित पदार्थ निकल आते हैं पर वे कुछ बने नहीं और चिन्तामणि भी परिणाम को प्राप्त हुई ज्यो की त्यों पडी है केवल सकल्प की दृढ़ता से भासि आते हैं, वैसेही यह प्रपञ्च भी आकाशरूप है। जैसे आकाश मे शून्यता है वैसेही आत्मा मे जगत् है। हे रामजी। सिद्ध के जो वचन फुरते हैं सोही सकल्प की तीव्रता होती है, जो चित्त शुद्ध होता है तो दूसरी सृष्टि को भी जानता है। जो पुरुष वचन सिद्धि होने के निमित्त वासना को सूक्ष्म करता है अर्थात् रोकता है तो उससे वचन सिद्धि पाता है और जैसा सकल्प करता है वैसेही सिद्ध होता है। हे रामजी। जितना यह दृश्य की ओर से उपराम होकर अन्तर्मुख होता है उतनी ही वचन सिद्धि होती जाती है—चाहे वर दे, चाहे शाप दे, वह सिद्ध होता है। हे रामजी। एक प्रमाण ज्ञान है कि, यह पदार्थ इस प्रकार है। उसका जो नामरूप है वह सब आकाशरूप भ्रम मात्र है—आत्मा मे और कुछ नही। आत्मरूपी समुद्र में जगत रूपी तरङ्ग उठते हैं सो आत्म रूपही है, जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है उनको इच्छा और अनिच्छा का ज्ञान नहीं रहता और सब आकाशरूप भासता है। हे रामजी! आत्मरूपी फूलमें जगत्‌रूपी गन्ध है। जैसे पवन और स्पन्द मे भेद नहीं वैसे हीं आत्मा और जगत् में भेद नहीं। पत्थर पर लकीर खैंचिये तो वह पत्थर से भिन्न नहीं होती वैसेही ब्रह्म से जगत् भिन्न नही। हे रामजी। देश, काल, पृथ्वी आदिक तत्व और मै, मेरा सब आत्मरूप है और अविनाशी है। जिन को ऐसे निश्चय हुआ है उनको रागद्वेष नहीं रहता उन्हें सब आत्मरूप ही भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाणप्रकरण उ ... सर्ग समाप्त ॥७३॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

अनीश्वरवादी का निर्णय



वशिष्ठ जी बोले–हे राम जी ! अब तुम्हे उन अनीश्वरवादियों के सम्बन्ध मे कहता हूँ कि जो "खाओ, पियो मौज करो–"कोही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं। उनकी समझ मे यही सिद्धात बैठा हुआ है कि मर जाने पर यह शरीर भस्म हो जाता है और फिर आवागमन कुछ नहीं रहता । सो देखो, उनका सिद्धान्त सर्वथाही भ्रमपूर्ण है और उन्हे शान्ति नहीं मिलती वे जड हैं। उनको जड शून्यता का ही अभ्यास है और इसीसे वे सम्पत्ति सुख को ही अक्षय सुख मानते हैं। पर यथार्थ मे ऐसा है नहीं । आत्मा अखण्ड और सर्वत्र पूर्ण भावसे स्थित है। अनीश्वरवादियों को इसका भान नहीं होता, इसीसे उनके मनकी तप्तता नहीं मिटती । यदि उनको आत्मा का साक्षात्कार होवे तो वे ऐसा कदापि न करें और फिर तो वे सर्वथा ही शान्तिमान होकर अमरपद को प्राप्त कर लेवें । जिसको ऐसे अखण्ड का निश्चय हो गया है वास्तवमें वही सुखी और वही ब्रह्मदर्शी है। परन्तु जिसे ब्रह्मसत्ताका दर्शन नही हुआ है वह मनके तापसे सर्वदा ही तप्त रहता है। हे रामजी ! उस महाप्रलयरूप आत्मा मे तो सर्व शब्दो का सर्वथा ही अभाव है। जिसे आत्मा का दर्शन हो गया है वह महाज्ञानी है, उसको आत्मसत्ता का ही भान होता है। उसे मेरे उपदेश की आवश्यता नही है। आत्मा मे जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । वह परमार्थ सत्ता अपने आपमे ही स्थित है उसमें सृष्टि स्वप्नवत ही भास रही है, ज्ञानी पुरुष ऐसा ही जानते हैं। उन्हे यह पूर्ण निश्चय रहता है कि आत्मा सर्व शास्त्रोंका सिद्धान्त तत्व है। उसको जान लेनेपर फिर कुछ करना नहीं रहता। परन्तु जिसे यह अवस्था नहीं प्राप्त हुई है वह निश्चयही मेरे उप-

देशके ही योग्य है। हे राम जी। यह सारा जगत आत्मका किञ्चन मात्र है। इसे अज्ञानी ही सत्य जानते हैं और ज्ञानियो को तो यह सर्वथा ही असत्यरूप जान पडता है। आत्मा सर्वत्र और सर्वव्यापी है। उसमे जैसा स्फुरणा होता है वैसाही अह प्रत्यय की भावना से दृढ होकर भासने लगता है। परन्तु वह ज्ञान मात्र ही है। वही सबका अद्वैत सवित है और वही सबका ज्ञान-स्वरूप है। जिसको उस स्व-रूप का ज्ञान हो गया है वह शास्त्रों के दण्ड से रहित होता है। उसके लिये वेद शास्त्र में वर्णित भले, बुरे, सत्य, असत्य, सिद्धान्त, कुछ नही हैं। उसके निश्चय मे तो आत्मा ही सर्व शब्दो का अर्थ-समूह सर्वदाही विद्यमान स्थित है। उसके लिये आत्म अनात्म की विभाग कल्पना भी कुछ नहीं है। उसकी तो देह रहे या न रहे सब एक समान ही है। परन्तु जिसकी बुद्धि जगत के शब्द अर्थों मे लगी हुई है वह तो पदार्थों के ही रागद्वेष को उठावेगा। उसे आत्म-सत्ता की खोज कैसे हो सकती है। नास्तिक एव अनीश्वरवादियों को भी तुम ऐसा ही जानो। वे जड स्वरूप को ही देखते हैं। उनकी बुद्धि मलिन वासनाओं में ही लगी रहती है इससे वे जडरूप ही हैं। वे उस जडता को भोगकर अपनी वासनाओं के अनुसार फिर उसी धन सुख को भोग करेंगे कि जिसके लिये उन्होने मरते-मरते भी यत्न किया है। परन्तु भोगना तो अवश्य ही पडेगा। यह कदापि नहीं हो सकता कि एक बार भस्म होकर ही वे ससार से छूट जावे। नहीं, वे अपनी वासनाओं के कारण बारंबार जन्म धारण करेंगे और तब जैसी कुछ भावना रहेगी वैसेही सुख दुःखको निश्चय ही प्राप्त करेंगे। हॉ, यह हो सकता है कि वे एकबार भावना करके जगत को शून्य जानलें परन्तु कुछ काल पीछे उन्हे फिर उन्हीं कर्मों को भोगना ही पडेगा कि जिसमे उनकी दृढ़ अवस्था होगई है। क्योकि यह जीव फुरना रूप है। जैसा फुरता एवं जैसा निश्चय करता है वैसा ही भास जाता है। जो आत्मा का निश्चय करता है वह आवागमन

से छूट जाता है और जो इस नाना रूपी जगत का निश्चय करता है वह जन्म-मरणके चक्कर में पडा ही रहता है । भला यह कैसे हो सकता है कि जो दिन रात अपनी बुद्धि पर जगत की रंगरेलियों का ही रग चढ़ा रहा हो वह भी राग द्वेषरूपी नरक से छुटकारा पावे। नहीं, वह तो कभी भी मुक्त नहीं हो सकता । परन्तु जिसको एक आत्मदेव का ही भान होता है, जो आत्माभ्यासी होता है उसे सारा जगत आत्मतत्त्वसे ही पूर्ण भासता है। उसे राग द्वेष कदापि स्पर्श नहीं कर पाते। वह सारे जगत को अपनाही रूप जानता है। उसके निकट सर्वदाही आत्मा की ही ज्योति जगती रहती है। परन्तु जो अनीश्वरवादी है, जिसे ससार की रङ्गरेलियाँ ही पसन्द हैं वह तो निश्चय ही गढ़ेका कीडा होवेगा और इस प्रकार पाषाण, वृक्ष, पर्वत आदिक स्थावर योनियों को अवश्य ही प्राप्त होंगे और वे उनमें तब तक पडे ही रहेगे कि जब तक उनका द्वैत भ्रम न मिटेगा। हाँ, जब द्वैत का सयोग मिट जावेगा तब जगत भ्रम नष्ट हो जायगा और तब उस प्रकार के सम्यक ज्ञान से उनके सारे भ्रमों का सर्वथा ही अन्त हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग ।

परम उपदेश वर्णन



तनी कथा सुनकर रामजीने पूछा—हे भगवन ! आपने अनीश्वरवादियों के सम्बन्ध में यह जो कहा है वह तो मैं समझ गया किन्तु अब आप यह बतलाइये कि जो सर्वथा ही मूढ़ है और जिसके हृदय मे जगत ही दृढ़ हो रहा है, उसको मोक्ष कैसे प्राप्त होगा। मेरे बोधके लिये कृपाकर यह भी समझाइये।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह तो मैं तुम्हे पहले ही बतला

चुका हूँ। परन्तु फिर पूछते हो तो फिर बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! यह जगत न तो नेत्रों में स्थित है, न श्रवण में और न नासिका आदि किसी इन्द्रियों मे ही स्थित है वरन् यहसब कुछ चैतन्य सवित में ही स्थित है। वह चैतन्य सवित ही पुरुपरूप है। जिसको उसका ज्ञान है वही सच्चा ज्ञानी कहलाता है। वह जगतको प्रत्यक्ष और ठीक ठीक रूपमे देखता भी है तो भी उसके निश्चय मे जगतका कुछ भी अस्तित्व भासित नहीं होता। जिस प्रकार आकाश में उडती हुई धूलि देखने मे तो आती है कुछ स्पर्श नही करती वैसे ही ज्ञानीको द्वैत कलना का स्पर्श नहीं होता। चेतना संवित के फुरने से ही जगत आकारवत भासता है और जिसके हृदय में देश, काल, क्रिया और द्रव्य युक्त यह जगत भासता है वह जानो सर्वथा ही कलक युक्त है। उसका भ्रम कभी नही मिटता और वह शान्ति कभी नहीं पाता। वह सर्वथा ही अज्ञानी है और उसे आत्म-सत्ता का भान नहीं होता। आत्माको जाने बिना ससार निवृत्त नहीं होता। आत्म साक्षात्कार होवे तो भ्रम भी मिटे। कोई भी पुरुप न जीव है, न कलना। शरीरके नाश होने से इसका नाश नहीं होता। यह केवल चिन्मात्र स्वरूप ही है। वासनये ही इसे इतना भ्रम दिखला रही है और इसीसे यह शून्यवादी वृक्ष, पर्वत और जड़ आदिक योनियों को प्राप्त होता रहता है। क्योंकि उसने अपने अनुभवरूप को त्यागकर इष्ट विषयोको अपना लिया है, इससे यह बड़ा मूर्ख है। उसे आत्म सुख नहीं प्राप्त हाता। वह अपने भीतर बाहर चारो ओरसे अहत्वमे ही भरा रहता है। जब अह-त्व को छोड़े तब आत्म-देवका दर्शन हो परन्तु बिना इस विकार के त्यागे वह पद अलभ्य है। आत्मज्ञान हो जावे तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो अह त्व आदिक समस्त शब्द एक उसमे ही लय हो जाते है और तब वह आत्मरूप ही हो जाता है। हे रामजी ! जो आत्मा अनात्मा को निर्णय करके नहीं देखता उसे मै बड़ाही नीच समझता हूँ।

परन्तु जो अनात्मा में आत्मा को देखता है वह एक महानपुरुष है, मैं उसको नमस्कार करता हूँ। किन्तु जो अनात्मा में भी अहकार किये हुये आत्माको त्याग रहा है वह निरा बालक ही है। जिस प्रकार आकाशमे बादलोंके बडे बड़े चकत्ते, हाथी घोड़े के आकारवत ही भासित होते हैं और समुद्र में तरङ्ग भासते हैं उसी प्रकार आत्मा मे जगत भासित हो रहा है। परन्तु वह सब कुछ आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। जिसने आत्मा साक्षात्कार कर लिया है उसके निकट जगत का कुछ भी रागद्वेष नहीं रहता और वह पुण्य पापके फलको कुछ भी स्पर्श नहीं करता। उसका वह ज्ञान अजर अमर हो जाता है। इससे यह सारा जगत अनुभव रूप ही है। इसका न तो कोई निमित्त कारण है और न कोई समवाय कारण ही है। यह सर्वथा अद्वैत सत्ता ही स्थित है। इस पर यदि यह कहो कि यह घर आदिक जो प्रत्यक्ष दिखलाई पडते हैं सो समवाय और निमित्त कारण से ही दीखते है तो जिस प्रकार स्वप्न के कार्य कारण अन- होते ही प्रतीत होते हैं उसी प्रकार इसे भी जानो। यह जगत केवल भ्रममात्र ही है। जैसे स्वप्न से जागे पर स्वप्न सृष्टिका अभाव हो जाता है वैसे ही ज्ञान के होने पर इसका अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह जगत दीर्घ कालका एक स्वप्न मात्र ही है। दीर्घ है इसी से जाग्रत हो रहा है। परन्तु जिस प्रकार स्वप्न-सृष्टि अपने आपही निद्रदोष से भासित होती है वसेही यह जगत भी अपना आपही अज्ञान से भासित हो रहा है। ज्ञान में जाग जावे तो सब कुछ अपना आपही आप भासित होता हैं और तब राग द्वेप कुछ भी नहीं रहता। जिस प्रकार चन्द्रमा और उसके प्रकाश में कुछ अन्तर नही होता उसी प्रकार आत्मा और जगतमे कुछ भी अन्तर नहीं है। आत्मा ही जगत रूप होकर भासित हो रहा है। यदि तुम अपने मे स्थित होकर अनुभव करो तो तुम्हे सब कुछ ब्रह्म ही भासेगा और ऐसा अनुभव करना कुछ भी कठिन नहीं है। साध्य हैं अभ्यास से सिद्ध

हो जाता है। और इस प्रकार जब उसमे स्थित हो जावे मान और मोह सभी नष्ट हो जाते हैं तथा कोई भी तृष्णा नहीं रहती। तब वह परमशान्त रूप हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७५॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

शान्ति योगोपदेश वर्णन



रामजी! जिसने ज्ञान से अज्ञान को नष्ट नहीं कर दिया जानो उसने कुछ नहीं किया। अज्ञान ही समस्त अनर्थों का मूल मंत्र है। अज्ञान से ही अहंकार उत्पन्न होता है और तब जगत भासने लगता है कि जिससे वह लोक परलोक की भावना करता हुआ आवागमन के चक्कर मे पडा रहता है। हे रामजी। हृदयमे जब तक जगत का शब्दार्थ विद्यमान है तब तक जगत का भान होवेगा ही, अत. इसको नष्ट कर जगतके सर्व शब्दार्थों मे केवल एक ब्रह्मकी ही भावना करो तभी आत्मपद प्राप्त होगा। हे रामजी! इस ससार में दो पदार्थ मुख्य हैं। एक लोक, दूसरा परलोक। अज्ञानी लोक की चिन्ता करते हैं, परलोक की नहीं, इसीसे इतना दुःख पाते हैं और तृष्णा नहीं जाती। किन्तु विचारवान पुरुष परलोक का चिन्तन करते हुये इस लोकमे भी शोभित होते हैं और परलोक मे तो सुख पाते ही हैं। किन्तु जो केवल इहलोक का ही चिन्तन करते हैं उन्हे दोनो लोकों मे कष्ट ही कष्ट भोगना पडता है। परन्तु जो यहाँ आत्म चिन्तन कर लेता है, वह सर्वथा ही सुखी होता है। अतः अहकार रहित होकर आत्मपदको पानेका ही यत्न करो। जब तक अहकार नष्ट नही होगा तब तक दुखी ही बने रहोगे और इसीका नाम जीव है। स्फुरण से ही विश्व ससार की उत्पत्ति होती है। अहता फुरता है तब दृश्य भासता है और जब अहता का अभाव

होता है तब दृश्यका भी अभाव हो जाता है। और अहंता अज्ञान से उत्पन्न होती है। ज्ञान हो जावे तो अहकार नष्ट हो जाता है। सत्सङ्ग और पुरुष प्रयत्न से संसार समुद्र बडी सुगमता से पार किया जाता है, अन्यथा कोई दूसरी युक्ति नहीं है। युक्तिसे विषभी अमृत हो जाता है। पुरुषार्थ से ही सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इहलोक और परलोक यही दो मुख्य रोग हैं। इन्हीं दोनों से जीव दु.खी हो रहे हैं। जिन्होंने संतोके उपदेशसे औषधि किया है उनके यह रोग शान्त हो गये हैं। परन्तु जिन्होंने यह औषधि नहीं की है वे चाहे कैसे भी पण्डित क्यों न हों दु.खही पाते हैं। सो वह औषध क्या है, यही शम, दम और सत्सङ्ग। इन्हीं साधनों के यत्न से आत्म-पद प्राप्त होता है। यही इसका साधनहै और यही इसकी औषधि है। जिसने किया उसने पाया, जिसने न किया वह भोगों में पडकर सर्वदा लम्पट ही बना रहता है। अच्छा है, वह ऐसा करता है तभी तो घोरतर नर्करूपी दु.खोंको भोगेगा। हे रामजी। तुम भोगों का त्याग करो। आत्म दर्शन के लिये यही औषधि है। जिसने मन पर विजय लाभ न किया वह मूर्ख है। निसन्देह वह भोगरूपी कीचड में गिरेगा और यह महान आपदाओं का पात्र है। हे रामजी। जैसे समुद्र में नदियाँ जाकर मिलती हैं वैसेही उसको सारी आपदायें जा लगती हैं। परन्तु जिसकी तृष्णा भोगो से निवृत्त हा गई है और वैराग्य होगया है वह मुक्त हो जाता जैसे बाल्यकाल से जीवन की प्रथम अवस्था है वैसेही वैराग्य निर्वाण पदकी प्रथम अवस्था है। हे रामजी। यह जगत सर्वथाही भ्रम पूर्ण है। जैसे आकाशमें दूसरा चन्द्रमा, सकल्पपुर और मृगतृष्णा का जल भ्रमसे ही भासता है वैसेही यह जगत भ्रमसे ही भास रहा है। इस प्रकार ससारका बीज अहकार ही है। हे रामजी। जब यह अहकार उत्पन्न होता है तब रूप और दृश्य भासने लगते हैं। अत. तुम यही चिन्ता करो कि 'मै कुछ नहीं हूँ'। इस निश्चय के पश्चात्

जो शेष रहता है तुम वही हो। हे रामजी! तुम सर्वथा ही शान्तरूप हो। तुममे अह का उत्थान कुछ नहीं है, तुम आकाश के समान ही शून्य और जड-अजड से परे, केवल आत्मतत्व मात्र ही हो। तुममें विश्व ऐसेही है कि जैसे जलमें तरङ्ग, वायु में स्पन्द और आकाश मे शून्यता होनी है। हे रामजी! तुम आत्मा हो। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। यदि कुछ भिन्न होता तो प्रलय मे उसका भी नाश हो जाता परन्तु आत्मा ता प्रलयकालमें भी रहता है। जैसे सर्प की किरणों मे जलाभास रहता है वैसेही आत्मामें विश्वका चमत्कार विद्यमान है। हे रामजी! आत्मा भीतर बाहर से रहित, अद्वैत, अजर, अमर चैत्य और चेतना से रहित समस्त शब्दोंका अधिष्ठान रूप है, फुरने से ही भासता है और फुरना अफुरना सब कुछ वही है। जैसे स्पन्द निस्पन्द दोनो ही वायुके रूप हैं और जब चलता है तब उसकी गमनता प्रतीत होती है और जब नही चलता तब उसका ठहरना भी प्रतीत होता है वैसेही जब चित्त शक्ति फुरती है तब विश्व सब प्रकट होता है और नही तो नहीं प्रकट होता और तब केवल मात्र पद शेष रहता है। तब वही भासरहित, अविनाशी, निर्विकल्प और सबका अपना आप स्वरूप है। उसी अधिष्ठान सत्तामे यह सब जड चैतन्य आदिक फुर रहे हैं। तुम अपने उसी स्वरूपमें स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छिहत्तरवा सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

परमोत्तम ज्ञान वर्णन



तना सुनकर रामजीने पूछा—हे मुनीश्वर! जिन पुरुषों को आत्म साक्षात्कार हो जाता है उनके लक्षण क्या हैं और वे कैसा आचरण करते हैं कृपाकर मुझे यह समझाकर कहिये?

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी! तुम्हारा यह प्रश्न

बडा ही सुन्दर है। मैं तुम्हे ऐसे महात्माओं के आचार-विचारको खूब समझाकर कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। देखो, उनका निश्चय बडाही पवित्र होता है। वे प्रत्येक से मित्र भाव रखते हैं यहाँ तक कि पत्थर से भी मित्रता कर लेते हैं। वे अपनी स्त्री, पुत्र और बन्धु बान्धवों के प्रति ऐसाही निश्चय करके उनसे उसी प्रकार का व्यवहार करके विचरते हैं कि जैसे बन के मृग अपनी सन्तानों के साथ प्रसन्नता से उनमे विचरते हैं और उनमें कोई कठिन मोह नहीं स्थापित रखते। वे सब प्राणियो पर ऐसी ही दया दृष्टि रखते हैं कि जैसे माताको अपने पुत्र पर दया-दृष्टि होती है। वे निश्चयमें सर्व से उदासीन रहते हैं, किसीसे स्पर्शित नहीं होते और सर्वदा आकाश के ही समान अपनी वृत्तियो को निर्मल और निरवय वपु बनाये रहते हैं। आपदाओ मे भी वे सुख मानते हैं और सुखमें कुछ मोह नहीं रखते। जगत के सारे रसोंसे विरस रहते हैं और न किसी से राग करते है न किसी द्वेष। उनमें तृष्णा रहती भी है तो भी वे पत्थर के ही समान जड बने रहते हैं। उनका निश्चय कुछ भी रूप नहीं धारण करता और वे सर्वदा ही समाधिस्त बने रहते हैं। देखने में तो वे सारी क्रियायें करते हुये दृष्ट आते हैं परन्तु फिर भी वे ऐसाही बने रहते हैं कि वे सर्व प्राणियों के वन्दनीय ही कहे जाते हैं। उनकी समस्त क्रियायें यत्न और आरम्भ से रहित रहती हैं। वे किसी भी कर्म में अपने को कर्ता नहीं मानते और प्रारब्ध वेगसे उन्हें जो कुछ भी मिल जाता है, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं और इस प्रकार देश, काल और त्वचा आदिक सबको ही अङ्गीकार करते हैं किसी से घृणा नहीं करते। उनके लिये जैसा ही सुख है वैसाही दु:ख भी है। यदि सयोग वश उन्हें पर स्त्री आदिक अनिष्ट आकर प्राप्त होते हैं तो वे उसे अनिष्ट आकर प्राप्त होते हैं तो वे उसे अनिष्ट जानकर दूरही से त्याग देते हैं और अपने निश्चय में सर्वदा ही अकर्ता बने रहते हैं। उनके समस्त कर्म शास्त्रानुसार और सारी चेष्टायें स्वाभाविकता से भरी

रहती हैं। वे एक क्षणके लिये भी अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होते और सवदा ही निज स्वभाव सत्ता मे ही स्थित रहते हैं। वे सुख दुःखको भोगते भी हैं तो भी उनके निश्चय मे कुछ द्वैत का स्फुरण नहीं होता। उनकी समस्त चेष्टायें अज्ञानी के ही समान होती हैं परन्तु वे अपने निश्चय में सर्वदा ही समाधिस्थ बने रहते हैं। और अज्ञानियों के समान उन्हे राग, द्वेष, हर्ष, क्लेश कुछ भी स्पर्श नहीं करता। उनकी सारी चेष्टायें स्वाभाविक ही होती हैं। वे सर्व से मयत्री भाव रखते हुये कभी भी खेदवान नहीं होते और उनके निश्चयमें हर्ष भी कुछ नहीं होता। उनकी सारी चेष्टायें उस नटवा के समान ही होती हैं कि जैसे नट समस्त स्वांगों को धारण करता हुआ भी अपनेही निश्चय में दृढ़ बना रहता है। ऐसेही ज्ञानीजन चाहे ऊपर से कैसी भी चेष्टा करते हुये क्यों न दृष्टि आवे परन्तु उनका निश्चय, उनका लक्ष्य सर्वदा आत्म तत्व की ही ओर लगा रहता है। वे पुत्र, धन और बन्धु-बान्धवों को जल में तरग और जलके बुदबुदे के ही समान क्षणिक जानते हुये किसी मे भी मोह स्थापित नहीं करते। जैसे तरग और बुदबुदों मे जल कुछ भी राग द्वेष नहीं रखता वैसे ही वे सर्व पर दया भाव रखते हुये पतित-प्रवाहमे जैसा भी सुख दुःख आ जाता है उसको प्रसन्नता पूर्वक भोगते हैं और उनमे वे ऐसा ही राग हीन बने रहते हैं कि जैसे वायु अपने साथ सुगन्धि और दुर्गन्धि को भी ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार वे ज्ञानी जन दुःख-सुख को सम दृष्टि से देखते हुये कुछ भी राग-द्वेष नहीं करते और अज्ञान बने हुये सर्व व्यवहारों का करते ही रहते हैं। परन्तु अपने निश्चयमे ऐसा ही धारण किये रहते हैं कि—यह जो कुछ है सब भ्रान्ति मात्र और ब्रह्म मय ही है। उनके लिये सारा जगत सुषुप्ति की नाईं ही स्थित जान पडता है। वे भूत, भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं करते और वर्तमान परिस्थित में ही उन्हे जैसा कुछ आन प्राप्त होता है

उसी में शीतल चित्त से विचरण करते हुये सर्व इष्टानिष्ट से रहित हृदय में अद्वैतरूप का ही निश्चय धारण किये रहते हैं। उनके सारे कर्म ज्ञानियोंके ही समान होते हैं एवं ऐसे ज्ञानी पुरुष कर्म में भी अकर्म का ही दिग्दर्शन करते हैं और जीते ही मृतक के समान बने रहते हैं। उनको जगतकी कलना नहीं रहती और वे यह भली भाँति जानते हैं कि आत्मपदमें ही अहं प्रत्यय होने से ज्ञान आदि भासित हो रहा है, इससे उनको जब कुछ देखना होता है तब वे उसे आत्मसत्ता ही करके देखते हैं और इस प्रकार सर्वदा ही वे शान्त बने रहते हैं। अपने ऐसे लक्षणों को वेही समझ पाते हैं, दूसरे नहीं। क्योंकि दूसरे कैसे समझ पावेंगे जब कि बाहर से तो वे भी अज्ञानीके ही समान बने रहते हैं। परन्तु वे हृदय से सर्वथा ही शान्त रूप हैं। वे ब्रह्मचर्य आदिक तपस्याओं से सर्वथा ही पूर्ण रहते हैं और उन्हे राग-द्वेष कभी नहीं फुरता। परन्तु एक ऐसे भी तपस्वी होते हैं कि जो धूनी आदि लगाकर तपस्वी बन बैठते हैं परन्तु उनको सत्य असत्य का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वे आत्मा दर्शनसे सर्वथा ही वञ्चित होते हैं और उन्हे कुछ भी आत्म विचार नहीं होता। आत्म साक्षात्कार का निश्चय तो अपने आप से ही जाना जाता है न कि अग्नि आदिक की धूनी लगाने से अस्तु ज्ञानी ही ज्ञानी के निश्चय को समझ सकता है, भला अज्ञानी उसे क्या समझेगा। जैसे सर्प की बिल को सर्प ही जानता है, दूसरा नहीं वैसेही ज्ञानियों के लक्षण को ज्ञानी ही जानते हैं, दूसरा नहीं। हे रामजी! यह जो गुण मैंने बतलाये हैं यह ज्ञानियों मे ही होते हैं और उनमें स्वभावतः ही विद्यमान रहते हैं, अन्यको तो यत्न करने से ही प्राप्त होते हैं। हे रामजी! ज्ञानीके लिये तो यह सारा जगत भ्रम मात्र ही है और उसकी दृष्टि में यह सब कुछ अनुभव से ही उत्पन्न हुआ जान पड़ता है और इसीसे उसके निश्चय मे कुछ भी रागद्वेष नहीं फुरता। वे अपने निश्चयको किसी पर प्रकट

नही करते, जो अधिकारी हैं उसीको जनाते हैं परन्तु जो अज्ञानी हैं उनको नहीं बतलाते। जैसे चन्दन की सुगन्धि उसके निकट रहनेवाले वृक्षों को ही प्राप्त होता है, दूरके वृक्षों को नहीं, वैसेही ज्ञानियों की वृत्तिको ज्ञानियों की सिद्धता को उनके निकट रहने वाले। सत्पात्र जिज्ञासु ही जान पाते हैं, दूसरे अज्ञानी मूर्ख नहीं जान सकते। दिव्य दृष्टियाँ ही उन्हे देख सकती है। अर्थात् अधिकारी ही उनके गुणोंको प्राप्त करता है। अनधिकारी उनके महत्व को क्या जानेगा? जैसे अमूल्य चिन्तामणि के महत्व को नीच नहीं समझ सकता वैसेही मूर्ख महात्माओं के गुणोंको नही समझ सकता। महात्मा मिलते भी हे तो वह उनका निरादर कर देता है और उनके माहात्म्य को वह कदापि नहीं समझ सकता। इसी कारण महात्मा पुरुष अपात्र को अपना गुण नहीं देते और उससे दूर हीं दूर रहते हैं। हे रामजी! ज्ञानी जनोंका ऐसा आचरण है कि वे किसी से अपना स्वार्थ नही चाहते, चेले नहीं बनाते, पूजा पाठ नहीं लेते मान-सम्मान नहीं चाहते। वे मान सम्मान को गन्धर्व नगरके समान ही भ्रमवत समझते हैं, तब वे भला किसी की अन्य वस्तु की इच्छा ही क्या करेंगे? उन्हे इच्छा कुछ नहीं रहती इसी कारण वे अयोग्य पात्र को अपना निश्चय नही बतलाते और यदि ऐसा कोई उनके निकट जाकर बैठता भी है तो भी वे अपने निश्चयरूपी अङ्गों को ऐसा सिकोड लेते हैं कि उस पर अपनी छाया भी नही पडने पाती और जिसको अधिकारी समझते हैं उसे अपना निश्चय बतला कर अपने हीं समान बना देते हैं। क्योंकि पात्रमे ही रखा पदार्थ शोभा देता है। अपात्र मे रखा पदार्थ अनिष्ट कारक हो जाता है। जैसे गौ को घास दी जाती है तो य[illegible] [illegible]ध के रूप मे होकर निकलता है और वही दूध यदि सर्प को [illegible] । है तो वह विष बन जाता है ऐसे ही अधिकारी को [illegible] उपदेश अमृत का गुण हे, शुभ प्रकट करता हैं [illegible] । दिया हुआ

अनिष्ट करता है। मेरा यह कथन ज्ञान के सम्बन्ध में है, अणिमा आदिक सिद्धियों के लिये नहीं। सिद्धियां तो अभ्यास से सभी को प्राप्त होती हैं ज्ञानी को भी अज्ञानी को भी। परन्तु ज्ञान काण्ड प्रत्येक को नहीं मिलता। इसे अधिकारी ही पाते हैं। जप आदि के अभ्यास से प्रत्येक पुरुष सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु यह ज्ञान का फल नहीं है, मन्त्र के जाप का फल है। जिस वस्तु को दृढ़ अभ्यास बार बार जपा जायगा वह अवश्य ही आवेगा, अवश्य ही सिद्ध होगा यहाँ तक कि आकाश मार्गसे आने और जाने की शक्ति भी अभ्याससे सिद्ध हो जाती है और पुरुष आने जाने लगता है परन्तु ऐसी सारी सिद्धता आत्मपदसे शून्य हैं। इसे परम सिद्धता नहीं कही जाती। परम सिद्धता तो आत्मपद का पाना ही है। जो आत्मपदको प्राप्त कर लेता है उसे अणिमा आदिक सिद्धियों की इच्छा नहीं रहती। यह सिद्धियाँ तो क्या वस्तु हैं ज्ञानी के आगे समस्त भूमण्डल ऐश्वर्य देवताओं के एव समस्त स्थानों के भी ऐश्वर्य तुच्छ ही प्रतीत होते हैं, ज्ञानी का चित्त किसी में भी मोहित नहीं होता, वह समस्त पदार्थों को मृग तृष्णा के जलवत ही जानते हैं। हे रामजी! मैं तो ऐसाही कहूँगा कि विषयों से सर्वदा ही उपराम बने रहो। तुम्हारा इष्ट आत्मा ही है। ज्ञान भी वही है और वही तुम्हारे. सब इष्टों को को सिद्ध करने वाला है। परन्तु उसके निकट करना न करना भी कुछ नहीं है। वह प्रत्येक अवस्थाओं में समान ही रहता है। उसे प्रारब्ध वेग से जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी को करता है परन्तु उसमें वह अपना अर्थ कुछ भी नहीं रखता और न वह किसी के आश्रय भी नहीं रहता। वह सर्वदा ही अपने आप स्वभाव सत्ता में स्थित होता है और इस प्रकार सर्व निश्चयों को पाकर वह आश्चर्य वान होता है और कहता है कि बड़ा आश्चर्य है कि यह सर्वदा अपना आप स्वरूप ही है, उसको विस्मरण करके मैं व्यर्थ ही में इतने कालतक भ्रमता रहा और अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई है। वह

जगत को देखकर हँसता है और कहता है कि यह व्यर्थ ही मे अनाया सही उत्पन्न हो गया है नहीं तो यह अपने आपही मे स्थित है। वह अज्ञानी को देखकर हसता है और अपने मे कहता है कि यह भी तो मेरा ही स्वरूप है। वह समस्त व्यवहारो को करता भी है और सबसे पृथक भी रहता है। वह इस सारे जगत को प्रतिक्षण जलता हुआ देखकर वैसे ही हँसता है कि जैसे कोई नगर को जलता हुआ देखकर पहाड पर चला जावे और हँसे वैसे ही वह ज्ञानी पुरुप इस जलते हुये संसार में अज्ञानियो को रागद्वेप में भस्म होते देखकर हँसते हैं और इस प्रकार स्वयं तो चिन्ता रहित रहकर मूर्खों को चिन्ता मग्न देखते हैं। हे रामजी ! इस प्रकार ज्ञानियों को सब कुछ अद्वैत सत्ता ही भासती है और वे अपने आपको सर्वत्र शान्त-रूप देखते हैं। उनके निकट अणिमा आदिक सिद्धियाँ तुच्छ हैं और वे उन्हे रचमात्र भी नही जानते । क्योंकि सिद्धियो का फल नश्वर है और ज्ञान का फल अजर-अमर और अविनाशी है। सिद्धियाँ ससारका कारण हैं और ज्ञान मोक्ष का कारण है । सिद्धियाँ दोप रूप है, ज्ञान निदोप है। जो इच्छा हो ग्रहण कर लो। जैसे समुद्र मे छोटे बडे सभी तरग उठते है परन्तु सब समुद्र ही मे हैं, जिसका आश्रय करे वह प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञान और सिद्धियाँ सब कुछ आत्मा ही में है जिसका आश्रय करोगे वह प्राप्त होगा। परन्तु अन्तर्मुखी ज्ञानी होना ससार सागर को पार करना है । अन्यथा ऐसे तो जो अभ्यास करोगे वही प्राप्त होगा पापाणका अभ्यास करोगे तो पापाण ही प्राप्त होगा और आत्माका अभ्यास करोगे तो आत्मपद ही प्राप्त होगा। नित्यके अभ्यासमे पत्थर भी घिस जाता है। लोष्ठ भी चूर्ण हो जाता है। ऐसे ही जब जिस वस्तु का अभ्यास किया जाता है तब वही श्रेष्ठ बन जाती है इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास से प्राणी दया की खानि बन जाता है और तब वह जगत आदि सब से श्रेष्ठ हो जाता है। जैसे मेघ समुद्र से ही जल लेकर वर्षा करते हैं सो जल

अनिष्ट करता है। मेरा यह कथन ज्ञान के सम्बन्ध मे है, अणिमा आदिक सिद्धियों के लिये नहीं। सिद्धियां तो अभ्यास से सभी को प्राप्त होती हैं ज्ञानी को भी अज्ञानी को भी। परन्तु ज्ञान काण्ड प्रत्येक को नही मिलता। इसे अधिकारी ही पाते हैं। जप आदि के अभ्यास से प्रत्येक पुरुष सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु यह ज्ञान का फल नहीं है, मन्त्र के जाप का फल है। जिस वस्तु को दृढ़ अभ्यास बार बार जपा जायगा वह अवश्य ही आवेगा, अवश्य ही सिद्ध होगा यहाँ तक कि आकाश मार्गसे आने और जाने की शक्ति भी अभ्याससे सिद्ध हो जाती है और पुरुष आने जाने लगता है परन्तु ऐसी सारी सिद्धता आत्मपदसे शून्य हैं। इसे परम सिद्धता नहीं कही जाती। परम सिद्धता तो आत्मपद का पाना ही है। जो आत्मपदको प्राप्त कर लेता है उसे अणिमा आदिक सिद्धियों की इच्छा नहीं रहती। यह सिद्धियाँ तो क्या वतु है ज्ञानी के आगे समस्त भूमण्डल ऐश्वर्य देवताओं के एव समस्त स्थानों के भी ऐश्वर्य तुच्छ ही प्रतीत होते है, ज्ञानी का चित्त किसी में भी मोहित नहीं होता, वह समस्त पदार्थों को मृग तृष्णा के जलवत ही जानते हैं। हे रामजी! मै तो ऐसाही कहूँगा कि विषयों से सर्वदा ही उपराम बने रहो। तुम्हारा इष्ट आत्मा ही है। ज्ञान भी वही है और वही तुम्हारे सब इष्टों को को सिद्ध करने वाला है। परन्तु उसके निकट करना न करना भी कुछ नहीं है। वह प्रत्येक अवस्थाओं में समान ही रहता है। उसे प्रारब्ध वेग से जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी को करता है परन्तु उसमें वह अपना अर्थ कुछ भी नहीं रखता और न वह किसी के आश्रय भी नहीं रहता। वह सर्वदा ही अपने आप स्वभावसत्ता मे स्थित होता है और इस प्रकार सर्व निश्चयों को पाकर वह आश्चर्य वान होता है और कहता है कि बडा आश्चर्य है कि यह सर्वदा अपना आप स्वरूप ही है, उसको विस्मरण करके में व्यर्थ ही में इतने कालतक भ्रमता रहा और अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई है। वह

जगत को देखकर हँसता है और कहता है कि यह व्यर्थ ही मे अनायासही उत्पन्न हो गया है नही तो यह अपने आपही मे स्थित है। वह अज्ञानी को देखकर हसता है और अपने मे कहता है कि यह भी तो मेरा ही स्वरूप है। वह समस्त व्यवहारों को करता भी है और सबसे पृथक भी रहता है। वह इस सारे जगत को प्रतिक्षण जलता हुआ देखकर वैसे ही हँसता है कि जैसे कोई नगर को जलता हुआ देखकर पहाड़ पर चला जावे और हँसे वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष इस जलते हुये संसार में अज्ञानियो को रागद्वेष में भस्म होते देखकर हँसते हैं और इस प्रकार स्वयं तो चिन्ता रहित रहकर मूर्खो को चिन्ता मग्न देखते हैं। हे रामजो ! इस प्रकार ज्ञानियो को सब कुछ अद्वैत सत्ता ही भासती है और वे अपने आपको सर्वत्र शान्त-रूप देखते हैं। उनके निकट अणिमा आदिक सिद्धियाँ तुच्छ हैं और वे उन्हे रञ्चमात्र भी नही जानते। क्योंकि सिद्धियो का फल नश्वर है और ज्ञान का फल अजर-अमर और अविनाशी है। सिद्धियाँ ससारका कारण हैं और ज्ञान मोक्ष का कारण है। सिद्धियाँ दोष रूप है, ज्ञान निर्दोष है। जो इच्छा हो ग्रहण कर लो। जैसे समुद्र मे छोटे बड़े सभी तरग उठते हैं परन्तु सब समुद्र ही में हैं, जिसका आश्रय करे वह प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञान और सिद्धियाँ सब कुछ आत्मा ही में है जिसका आश्रय करोगे वह प्राप्त होगा। परन्तु अन्तर्मुखी ज्ञानी होना ससार सागर को पार करना है। अन्यथा ऐसे तो जो अभ्यास करोगे वही प्राप्त होगा पाषाणका अभ्यास करोगे तो पाषाण ही प्राप्त होगा और आत्माका अभ्यास करोगे तो आत्मपद ही प्राप्त होगा। नित्यके अभ्यास से पत्थर भी घिस जाता है। लोष्ठ भी चूर्ण हो जाता है। ऐसे ही जब जिस वस्तु का अभ्यास किया जाता है तब वही श्रेष्ठ बन जाती है इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास से प्राणी दया की खानि बन जाता है और तब वह जगत आदि सब से श्रेष्ठ हो जाता है। जैसे मेघ ही लेकर वर्षा करते हैं सो जल

का स्थान समुद्र ही है वैसे ही जितने कुछ दया करते हुए दृष्टि आते हैं सो ज्ञान के प्रसाद से ही दया करते हैं इसलिए ज्ञान ही सर्व प्रकार से दया का स्थान है और वह ज्ञानी ही सब का हृदय है। उसके निकट जो कुछ भी प्रवाहपतित कार्य आन प्राप्त होता है उसको वह करता है और जो कुछ भी शरीर को दुःख आन प्राप्त होता है उसको वह ऐसे देखता है कि जैसे अन्य शरीर को होता है परन्तु अपने मे वह सुख दुःख दोनों का ही अभाव देखता है। किन्तु जिसे यह अभ्यास नहीं होता वह शरीर के राग द्वेष से जलता है और ज्ञानीको शान्तिमान देखकर औरोंको भी प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शीतलता उत्पन्न करता है वैसे ही ज्ञानवान की संगति से शीतलता उत्पन्न होती है। ज्ञानी आत्मपदको पाकर ऐसा आनन्दित होता है कि उसका आनन्द फिर कभी दूर नहीं होता। वह अपने उस आनन्द को आगे अष्टसिद्धियों को तृण के ही समान जानता है। हे रामजी! ऐसे पुरुष सर्व प्रथम तो एकान्त सेवी होते हैं और कोई कोई शुभ स्थानों मे ही वास करते हैं। कुछ गृहस्थी मे ही रहते है और कोई अवधूत होकर सबको दुर्वचन कहते हैं, कोई तपस्या करते हैं, कोई ध्यान लगाते हैं, कोई नग्न रहते हैं, कोई बैठे हुए राज्य करते हैं कोई पण्डित होकर सब को उपदेश करते हैं, कोई मौन धारण किये रहते हैं, कोई पर्वत की गुफाओं मे बैठते हैं, कोई ब्राह्मण है, कोई सन्यासी है, कोई अज्ञानीके समान बने रहते हैं, कोई नीच और पामर रहते हैं, कोई आकाशमे उडते है और कोई-कोई अनेक प्रकार की चेष्टायें ही करते हैं, परन्तु वे सभी अपने आपमें ही सर्वथा स्थित रहते हैं। वे अपनेको ही अछेद्य अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष, नित्य, सर्वगत, स्थिर और अचल ही मानते है। वे अपनेको किसी मे बन्ध्यायमान नहीं मानते और उनका नाश नहीं होता। ऐसे महात्माओं को, कोई भी आरम्भ और कोई भी स्थान बन्धन का कारण नहीं होता वे चाहे आकाशमें उडें, चाहे

पातालमें चले जाने अथवा चाहे देश-देशान्तरोंमें ही क्यो न भ्रमण करते रहे उनको अधिकता और ऊनता कुछ भी नहीं भासती। उनके ऊपर हाड ही टूट कर क्यों न गिर पड़े और उस प्रकार वे चाहे कितना भी चूर्ण विचूर्ण क्यों न हो जाणें परन्तु वे अपने को चूर्णित नहीं समझते। वे सर्वथा ही चैतन्यरूप रहते हैं, तब शरीर के नाश होने मे वे अपना नाश भी क्यों कर माने ? हे रामजी ! तुम भी ऐसा ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाणप्रकरण उत्तरार्थ का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७७॥

अठहत्तरवा सर्ग

जगत और स्वप्न की एकता



राम जी ! अब मै तुम्हे यह बतलाऊँगा कि यह जगत कैसे सुशील हो। रहा है सुनो ! जब उस आदि शुद्ध चिन्मात्र मे चैतन्यता का स्फुरण हुआ तब उस वेदना के कारण उसमे शब्द की तन्मात्रा हुई कि जिससे आकाश उत्पन्न हुआ और जब स्पर्श की इच्छा हुई तब वायु उत्पन्न हुई। इस प्रकार वायु और आकाश के सघर्ष से अग्नि उत्पन्न हुई और जब अग्निका उष्णभाव हुआ तब जल उत्पन्न हुआ। जब जलकी अधिकता हुई तब उसमें पृथ्वी उत्पन्न हो। गई इस जब आकाश, वायु, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हो गई तब इन्हीं तत्वो से शरीर उत्पन्न हुये और फिर स्थावर जगम नाना प्रकार का पंच-भौतिक जगत भासने लगा पर वास्तव मे न कोई पञ्चभूत है, न कोई उत्पन्न हुआ है, न कोई नष्ट होता है, केवल आत्मासत्ता ही अपने आपमें स्थित है। अत· आत्मसत्ता ही जगतके सब आरम्भो और परिमाणो से भासित हो रहा है और वही चित्त के फुरने से जगतरूप होकर भासित होती है। भली भाँति विचार करके देखिए तो ज [illegible] भी पता नही चलता [illegible] ही

शेष रहता है । जैसे निद्रा दोष से ही स्वप्नमें नाना प्रकार से जगत भासता है और निद्रा गाढी हो तो स्वप्न ही भासता है वैसे ही चित्त के स्फुरण से ही जगत भासता है चित्त न रहे और आत्मसत्ता को ही लखता रहे तो जगत कुछ भी नहीं भासना। सारा जगत अपना अनुभवरूप ही है, भ्रमसे आकार युक्त भास रहा है। भ्रम से निवृत्त हो जावे तो एक अपना आप हो भासता है । तब अद्वैत ही अद्वैत प्रतीत होता है, द्वैत कुछ नहीं जान पड़ता । तब जब उस ज्ञानावस्था मे द्वैत कुछ नहीं ज्ञात होता अज्ञानावस्था में भी यही समझना चाहिए कि द्वैत कुछ नहीं हुआ । हाँ, यदि ज्ञानावस्था में यह जगत सत्य भासे तो भले ही यह समझो कि सर्वदा ही यही सत्ता विद्यमान है । जगत की नश्वरताके लिए यही निश्चय धारण करना चाहिए कि जगत कुछ है नहीं । आकाश में नीलता और जेवरी में सर्प के समान हो यह मिथ्या है । कल्पना ही जगतरूप होकर भासित हो रही है । राग-द्वेषही सब कुछकी प्रतीति करा रहा है । आत्मा मे जागृत हो जावे तो सारे क्षोभ स्वयं ही मिट जाते हैं। ज्ञान के आगे सभी ध्वस हो जाते हैं । तब इस भ्रमपूर्ण जगत का बिल्कुल हो पता नहीं चलता और तब ज्ञानी के निश्चय मे सब कुछ चिदाकाश ही भासता है और अज्ञानीके निश्चयमे तो जगत ही भासता है । परन्तु यही जगत ज्ञानवानके लिए सर्वदा ही नश्वर जान पडता है । उसे जगत की सत्तातनिक भी विचलित नहीं कर सकती और उसके निश्चय में द्वैत का कुछ भी स्फुरण नही होता, और वह सर्वदा ही एक रस बना रहता है । जगत की साधारण विकृता तो उसका कुछ कर ही नही सक्ती अपितु यदि उसके मस्तक पर प्रलयकालके मेघ भी गर्जें, समुद्र भी उछलें, पर्वत भो टूट पड़ें । कैसा भी भयानक शब्द क्यों न होवे किन्तु वह तनिक भी टस से मस तक नहीं होता, विचलित और अस्थिर तनिक भी नही होता । परन्तु यही अनहोता जगत अज्ञानी की दृष्टि में प्रत्यक्ष दृष्टि आता है और उसे द्वैत ही

दैत भासता है। जैसे कोई वन्ध्या स्त्री स्वप्न मे अपने पुत्र को देखती है और पुत्र कहीं है नहीं अनहोते को ही सत्य जान रही है, वैसे ही अज्ञानी इस अनहोते जगत को सत्य जानता रहता है। जैसे कोई दिन में सोया हुआ रहे और यह स्वप्न देखे कि रात्रि हुई और कोई रात्रिमें सोया हुआ दिन हुआ स्वप्न देखे, शून्य स्थान में भी नाना प्रकार के भ्रम होते देखे, अन्धकारमे प्रकाश देखे और प्रकाश में भी अन्धकार देखे सो भ्रमसे ही देखता है वैसे ही आत्म जागृत के अभाव में अज्ञानता के भ्रम वश उलटे ढग से जगत को स्थिर रूप में देखता है । जाग्रत और स्वप्न में कुछ अन्तर नहीं है। क्योंकि जैसा स्वप्न में बोलते और चलते हुये रहते हो वैसे ही जाग्रतमें भी तो रहते हो, फिर भेद और अन्तर कहाँ रहा ? तब इसी प्रकार इसे भी समझो। देखो जब तुम्हे स्वप्न में नाना प्रकार का जगत भासता है तब तुम निद्रासे उठकर कहते हो कि मैने यह जगत देखा है, परन्तु वास्तव में कहाँ रहता है, वह मिथ्या ही तो होता है ? सब भ्रम मात्र ही तो रहा ? इसी प्रकार यह जाग्रत जगत हमको भ्रम मात्र और स्वप्नवत ही जान पड़ता है। ऐसे ही जाग्रत और स्वप्न मे कुछ भेद नहीं।

इस पर रामजीने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर ! स्वप्न—जगत तो भ्रम मात्र हो सकता हैं क्योंकि वह जाग्रत होते ही ध्वस हो जाताहै और कुछ क्षण भी नहीं रहता परन्तु यह जगत तो कितने काल से ऐसाही प्रत्यक्ष भासित हो रहा है, फिर आप इस प्रत्यक्ष जगत को उस स्वप्न जगत के समान कैसे कहते हैं ? भला जिसकी प्रतिमा प्रत्यक्ष ही अनुभव हो रही है वह अप्रत्यक्षके समान कैसे हो सकताहै ?

वशिष्ठ जीने उत्तर दिया—हे रामजी ! तुम्हारा यह कहना तो सत्यही है कि जिसकी प्रतिमा प्रत्यक्ष भासित हो वह जाग्रत है। परन्तु जब ऐसा होवे तब न ? यदि उसमे सो जावे तब ? तब तो वह स्वप्ना ही कहलायेगा न ? देखो, यहाँ स्वप्न दो प्रकार का

हुआ। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ वह तो जाग्रत हुआ और जब सो गया तब स्वप्न हुआ और उसी स्वप्न में स्मृति वश जगत का भान हुआ तब वही उसका जाग्रत हुआ और वही सबसे चेष्टा करने लगा और जब वहाँ से मृतक हो गया तब फिर वहाँ आया कि जहाँ पिछले को स्वप्न जानने लगा था। इसी प्रकार चित्त के भ्रम से उसने स्वप्न को जाग्रत और जाग्रत को स्वप्न देखा। सो यह क्या है ? आखिर यही हुआ न कि जैसे किसी को स्वप्न आया और उसमे उसने अपनी चेष्टा और व्यवहार किये और फिर उसे स्वप्न हुआ तब उसके पश्चात् जब जागृत हुआ तब एक प्रकार का वह स्वप्न कहा गया। ऐसेही यहाँ जाग्रत और स्वप्नका स्वरूप है। फिर एक और प्रकार का भी स्वप्न होता है। जैसे जाग्रत मे मर जाये। शरीर छूट जाये तो परलोक को देखे और वही परलोक उसके लिये जाग्रत होगया और इस जगत को फिर वही प्राणी स्वप्न जानने लगा और तब यह जगत उसके लिये भ्रम प्रमाणित हुआ। फिर उसे परलोक मे स्वप्न आया तो वह परलोक में भी जाग्रत को स्वप्न देखा और जिस सृष्टि को उसने स्वप्नमे जाग्रत देखी वही उसको स्वप्नवत हो गई और जो स्वप्न मे भासी थी वह जाग्रत हो गई। फिर वहाँ से मृतक होकर आगे बढ़ा तो उसके लिये वहाँकी सृष्टि जाग्रत रूपमे भासित हुई और तब परलोकही स्वप्न हो गया। इस प्रकार हे रामजी ! स्वप्न और जाग्रत दोनो ही असत्य हैं। जब मूर्ख स्वप्न से जाग्रत होवे तब उसे जागत जाना जाय। और जब तक वह निज स्वरूप मे जाग्रत नहीं हुआ तब तक उसे स्वप्नो मे ही पडा हुआ कहते हैं। फिर इसको ऐसे भी समझो कि इस जगत मे जो तीव्र सवेग हो रहा है इसीसे इसको जाग्रत जगत कह रहे हो पर यदि इसे स्वप्नही जानलो तो जाग्रत और स्वप्न दोनों ही समान हैं, भेद कुछ भी नहीं है। आत्मदृश्य मे दोनों ही मिथ्यारूप हैं और वह आत्मा जन्म-मरण से सर्वथा ही परे है। तब

जब कि उसमें उत्पत्ति-प्रलय कुछ है ही नहीं तब उसमे यह जगत कहाँ से उत्पन्न हो गया। यह तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो काल में भी नहीं है। हाँ, भ्रमकाल में अवश्य ही जान पड़ता है। परन्तु आत्मा ज्यों का त्यो सर्वदा ही प्रत्यक्ष रहने वाला है और उसमें जन्म मरण कुछ भी नहीं है। हे रामजी ! यह जगत उसी का आभास मात्र है और यह उस आत्मा चैतन्यका चमत्कार मात्र ही है। जैसे घट मृत्तिका रूपही है कुछ अन्य नहीं है, वैसेही चेतन भी चैतन्यरूप ही है, कुछ भिन्न नहीं है। अतः चैतन्य से जगत कुछ भिन्न नही। और यह सारा स्थावर जङ्गम जगत चिन्मात्र ही है। अतः यह जितने भी पदार्थ तुमको भासते है सबको त्यागकर तुम अपने आत्माकी ओर देखो। सारा विश्व आत्मरूप ही है, तुम उसी दुःख रहित, आकाशवत निर्मल, चिदाकाश रूपमे स्थित हो जाओ। जब तुमको अपनी सत्ताका अनुभव हो जायगा तब तुम्हारी समस्त द्वैत कलनायें नष्ट हो जायँगी और केवल आत्म तत्व मात्र ही शेष रहेगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का, अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७८ ॥

उन्यासीवाँ सर्ग

चिदाकाश स्वरूप वर्णन



तनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा-हे भगवन् ! आप बारम्बार चिदाकाश शब्द का प्रयोग करते हैं सो उस चिदाकाश का क्या रूप है और उसे जो अन्य परब्रह्म कहते हैं सो क्या है-कृपाकर मेरी तृप्ति के लिये इसका कथन कीजिये।

वशिष्ठ जी बोले-हे रामजी ! चिदाकाश और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है। केवल जगत के व्यवहार हेतु उसे दो नाम दिये गये हैं। परन्तु उसमें भेद कुछ भी नही है। जैसे एक माता के गर्भ से दो पुत्र साथ ही उत्पन्न होवें तो उनका आकार-प्रकार एक

सा ही होता है किन्तु जगत व्यवहार मे उनका दो नाम बोला जाता है, वैसेही जगत और ब्रह्म एक ही है। जैसे दो पात्रों में जल रखा जाय तो जल एकही है, केवल पात्रों के ही नाम भिन्न २ होते है, ऐसे ही स्वप्न और जागृत भी दो नाम हैं परन्तु वास्तव में दोनों ही एक हैं और दोनों आत्मा ही मे कल्पित हैं इससे वे चिदाकाश ही हैं कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी। यह जो तुम्हारी वृत्तियाँ बाह्य दृश्यों में फिरती हैं और जिससे तुम बैठे-बैठाये देश देशान्तर को चले जाते हो तो उस वृत्ति-स्फुरण में जो शक्ति है अथवा जो उसका संवित ज्ञान है कि जिसके आश्रय होकर वृत्ति फुरती है वही चिदाकाश है। उसी शक्ति को पाकर वृक्ष भी पृथ्वीसे रस खींचकर ऊपर को जाते हैं। हे रामजी। वही सत्ता चिदाकाश रूप है। जैसे वृक्ष, फूल, फल और तेज आदिक सब केवल रसके ही आश्रय फुरते हैं वैसेही यह सारा जगत चिदाकाश के ही आश्रव फुरता है। जिसकी सारी इच्छायें नष्ट होगई हैं और जिसका राग-द्वेष रूपी मल शरत्काल के आकाश के समान ही निवृत्त एवं मल रहित हो गया है उसको चिदाकाश जानो। हे रामजी। जगत का जब अन्त हो जाये और जड़ता न आवे तब उसके मध्यमें जो अद्वैत सत्ता होवे वह चिदाकाश है और बेलि, लतायें जो फूलती और फलती हैं तथा जिसका आश्रय पाकर ही उनमे गुच्छे लटकते हैं और जो वृक्ष बढ़ते हैं वही चिदाकाश है। फिर चिदाकाश उसको कहा जाता है कि जिस शुद्ध संवितमे रूप, अवलोक और मनस्कार सर्वथा ही नहीं रहते। हे रामजी चिदाकाश ही सबका अधिष्ठान है और उसी से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब कुछ उत्पन्न हुये हैं। वही सर्वात्मा है और वही चिदाकाश है। फिर चिदाकाशकी एक परिभाषा यह भी जानोकि जब अर्द्धरात्रिके समय तुम उठते हो तब इन्द्रियां बिल्कुल ही शान्त रहती हैं और उन्हे विषयो का सर्वथाही अभाव रहता है तब उस काल में जो अफुर सत्ता होती है वह चिदाकाश

रूप ही हैं। जैसी भावना होती है वैसा ही भासता है। चिदाकाश की भावना हो जाये तो यह सारा प्रपञ्च नष्ट हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्यासिवाँ सर्ग समाप्त ॥७९॥

अस्सीवाँ सर्ग

सृष्टि की अकारणता

हे रामजी ! यह सारा जगत मन के फुरने में ही स्थित है। मन फुरा नही कि जगत उठ खड़ा होता है। इस प्रकार जब मन फुरने से रहित होता है तब जगतकी भावना नष्ट हो जाती है और वही ज्ञानी है कि जो अपने मन से जगत की भावनाको उठा देवे। जिसके मन मे जगत की भावना नहीं उठती वह मन निर्वासनिक कहा जाता है और उसका देखना सुनना, इन्द्रियों से ग्रहण करना आदि सब कुछ घन सुषुप्त हो जाता है। ऐसा जो वासना रहित और शान्त मनवाला है वह बोलता चालता, खाता, पीता सब कुछ पाषाणवत मौन होकर ही करता है और उसके निकट जगत की कुछ भी आस्था नहीं रहती। वह जगत को मृगतृष्णा के जलवत ही मिथ्या जानता है। और हे रामजी ! यह जगत ऐसाही है कि जैसे आकाश में भ्रमवश दूसरा चन्द्रमा भासे, वैसेही भ्रमवश और विनाकारण ही यह जगत भासित हो रहा है। इसमे कुछ उपजा नहीं। सब कुछ अधिष्ठान ही है। जैसे स्वप्नमें इन्द्रियादिक पदार्थ भासते है और उसमे दृश्य, दर्शन सब कुछ मिथ्या है, कुछ हुआ नहीं वैसेही यह जाग्रत जगत मिथ्याही है, इसमें कुछ न तो उत्पन्न हुआ और न कुछ स्थित हुआ, न आगे होगा और न इसका नाश होता है क्योंकि जब यह उत्पन्न ही नहीं हुआ तब नाश क्या होगा ? उपजा होता तो नाश भी होता। यह सारा दृश्य रूप ही है। कारण ही दृश्य होकर भास रहा है। हे रामजी। यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सहित जो कुछ भी जगत भासित होरहा

है सब आदि स्वरूप और चिदाकाश ही है—इसमे कार्य—कारण कुछ भी नहीं है। जब आत्मामे चित्तका स्फुरण होता है तब वही सत्ता जगत रूप होकर भासने लगती है। जैसे आकाश मे शून्यता ही उसकारूप है, वैसेही आत्मामें जगत आत्मरूपही है।

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! जब फुरने के अनुमार ही वैसा हो जाता है तब इसमे यह जो कारण कार्य का भेद लगा हुआ है, सो कैसे?

वशिष्ठ जीने उत्तर दिया—हे रामजी! न कहीं कारण है, न कहीं कार्य है। सब जैसा का तैसा चिदाकाश स्वरूप ही स्थित है। उसमे जैसा फुरना हुआ वैसा हो गया। परन्तु यह सब कुछ विना कारण ही है। इस समग सृष्टिका न कोई कर्त्ता है, न कोई भोक्ता, केवल भ्रम वश कर्त्ता—भोक्ता जान पडता है। जैसे स्वप्न सृष्टि का कोई कारण नहीं होता और वह विना-कारण ही केवल विकल्पवश उत्पन्न हो जाती है वैसेही चिदाकाश से यह सृष्टि भी विकल्प वश विस्तृत हो रही है। परन्तु वास्तव मे यह ब्रह्मसत्ताही है। जैसे स्वप्नपुर होताहै, वैसे ही यह सृष्टि भी हो गई है। किन्तु यह सब कुछ चिदाकाश और अनुभव सत्ताही है। केवल फुरने से ही उत्पन्न हुई है। जैसे मूर्ख बालक को अपनी परछाई मे ही वैताल की कल्पना होती है वैसेही मनुष्य की अज्ञा-नताही उसे (जगतको) कार्य—करणके रूपमें दृष्टि आ रही है। किन्तु यह सब कुछ ब्रह्मही है और उसे ही चाहो तो तुम कारण मानलो अन्यथा कारण किसका? ब्रह्मसत्ताही तो इन्द्र, रुद्र, पर्वत और नदियों युक्त सारा जगत प्रकट रूपसे जान पड़ता है। अतः उस चिदाकाश सत्तामे जैसा फुरना हुआ वैसा रूप हो गया। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का अस्सीवा सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

इक्यासीवाँ सर्ग



शिष्ठ जी बोले-हे रामजी ! इस प्रकार जो चिदाकाश एव अचैत्य चिन्मात्र आकाशरूप आत्मसत्ता है वही जगत रूप होकर भासित हो रही है। उसी शुद्ध चिन्मात्र सत्ता मे यह सारा जगत जगत रूपसे भासित हो रहा है। जब उस शुद्ध चिन्मात्र में अहका स्फुरण होता है। किन्तु वह केवल अहरूपही है। मैं, तुम और यह सारा जगत जो एक दूसरे से बोलता चलता और व्यवहार करता हुआ देखनेमें आरहा है वह काष्ठके समान मौनही है। परन्तु यह सब कुछ उसी आत्मरूपी रत्नका चमत्कार मात्र है कि जो आत्मासे भिन्न नहीं है। यह आकाश के तारे मरुस्थलका जल, धुयेंका पहाड जैसा बादल जो कुछ भी दिखलाई पड रहा है, सब भ्रममात्र ही है। भला इस जगत को तुम वस्तु रूप कैसे मानते हो यह तो सवथा ही अवस्तु रूप और और अनउपजाही है। चित्तरूपी बालकनेही जगज्जालकी यह सेनायें रच डाली हैं कि जो सर्वथाही असत्य और भ्रमपूर्ण ही हैं। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदिक भूत सब भ्रमपूर्ण है। इसमें सत्यका विश्वास करना मूर्खता है, ये सर्वथा ही असत्य हैं। मुर्ख बालक ही इसे सत्य कहेंगे। इसे सत्य कहने वाले वे मूर्ख ही होंगे कि जो इसके आश्रय होकर सुखकी इच्छा करते हैं। करे, वे निश्चय ही आकाश धोनेका साप्रयत्न करते हैं। उनका सारा यत्न व्यर्थ है। क्योंकि जगत कुछ है नहीं, भ्रममात्र है। तब भला इस भ्रममात्र जगत को जान कर जो इसके पदार्थो के पानेकी इच्छा करेगा, वह कैसे पावेगा ? भला, कहीं यत्न करने से पुत्र मिलता हे। अत. जगत के लिये यत्न करना मुर्खता है। इस जगत मे सुख कदापि नहीं मिलता। सुखके पानेकी अभिलाषा व्यर्थ है। क्योकि यह जो पृथ्वी आदिक समस्त भूत दिखलाई पड़ रहे हैं सब भ्रममात्र ही हैं, तब जो स्वय ही भ्रमपूर्ण

हैं, जो स्वय कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ वह प्राप्त कैसे होगा ? तब जगत को मानने वाले मूर्ख नहीं तो क्या हैं ? ज्ञानीजन इसे सर्वथा सत्यही जानते हैं। अच्छा है, जाने, हमारा उनसे प्रयोजन ही क्या है ? हम ता ऐसाही जानते है कि जगत निराकार ही है और जो कुछ है सब आत्मसत्ता ही है, जगत कुछ है नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८१॥

बयासीवाँ सर्ग

राजा विपश्चित की कथा



शिष्ठ जी ने ऐसा कहा हा था कि रामजी पूछ बैठे— हे भगवन ! आप यह कहते हैं कि यह जगत अज्ञान का एक स्वप्ना मात्र है जो सत्य भासता है। सो यह हमारी समझ में नहीं आता कि यह अज्ञान क्या है और स्वप्ना क्या है? भला कहिए तो सही कि किसको कितने काल का स्वप्ना है और किसको कहाँ अज्ञान बैठा हुआ है ? अविद्या भी कहाँ है और किसको है ? यदि किसी को है तो आप उसका प्रमाण दीजिए। वशिष्ठ जी कहने लगे अच्छा प्रमाण लो। देखो मैं हर प्रकार से तुम्हे प्रत्यक्ष करा देना चाहता हूँ कि यह जगत अविद्यारूप ही है। इसका न आदि है, न अन्त है और अज्ञानी ही इसे सत्य जानता है। सुनो, इसपर अब अब मैं तुम्हें एक प्रमाण देता हूँ। देखो, चिदाकाश कोई साधारण सत्ता नहीं है। इसमे कितने ही ब्रह्माण्ड स्थित हैं। इसीके एक जगत में तुरमत नाम का राजा राज्य करता था। एक समय वह अपनी सभामे ऐसे समय से बैठा हुआ था जब कि उसके चारों ओर उसकी परम तेजस्वी सेना भी बैठी हुई थी। तब उसके पास पूर्व दिशा से एक दूत दौडता हुआ आया और बोला कि हे राजन् ! जो आप का पूर्व दिशा का मण्डलेश्वर ...ग मृत्यु से मृतक ... के लोक को

चला गया सो अब आप अपने पूर्व खण्ड का प्रबन्ध करें अन्यथा उस पर दूसरे मण्डलेश्वर आते ही जाते रहते हैं। हे राम जी! ऐसा वह दूत कह ही रहा था कि दूमरा दूत पश्चिम दिशा से आया और उस राजासे बोला—हे राजन्! आपने जो अपने पश्चिम दिशा पर मण्डलेश्वर नियुक्त किया था वह तप करते-करते मर गया, अब आप पश्चिम दिशा की रक्षा करें, अन्यथा दूसरे मण्डलेश्वर आते रहते हैं। यह कह कर वे दोनों दूत ज्योंही चले गये कि त्योंही दक्षिण दिशा से एक दूत दौड़ता हुआ आया और जोर से राजा से बोला—हे राजन्! आपने दक्षिण दिशामें जो मण्डलेश्वर भेजा था वह मृतक हो गया, सो अब आप अपने दक्षिण दिशा का प्रबन्ध करे अन्यथा मण्डलेश्वर के अभाव में वहाँ दूसरे ही दूसरे मण्डलेश्वर दौड लगा रहे हैं। सो आप ध्यान दीजिए। ऐसा कह कर वह भी दूत जला गया। तब वह राजा कि जिसके पास ही सेना बैठी हुई थी उसने अपने असमस्त सैनिकों से कहा—अहो! तुम लोग बैठे क्या हो, मेरा पूर्व और पश्चिम दोनो ही शून्य हो गया, दौडो वहाँ की रक्षा करो, विलम्ब न करो। परन्तु देखो जो जिधर की ओर जाओ मेरे ही ओर से होकर जाना। हे राम जी! वह राजा ऐसा कह ही रहा था कि उसी क्षण उत्तर दिशा से भी एकहरकारा आया और उसने वही कहा जो और कह गये थे। तब राजा विपश्चित बडे आश्चर्य मे पडा और महान दुखित होकर मन्त्रियों को बुलाकर परामर्श किया कि अब क्या किया जाये। तब मन्त्रियों ने कहा—महाराज! अब तीन उपाय छोड दीजिए। जैसे १—नम्रता २ धन देना, ३—भेद बुद्धि। क्योकि अब ये तीनों ही नहीं चाहिये। यद्यपि ये तीनों गुण एक धर्मात्मा राजा के प्रधान अग हैं परन्तु राजा का एक यह भी महान अग है कि वह आततायी वध करे, हमारे मण्डलेश्वरों को मृतक करने वाले आततायी है अत॰ आततायी का वध करना ही राजा का धर्म है। सो अब आप युद्धका उपाय

करें। बिना युद्ध के काम न चलेगा। विलम्ब भी न कीजिए और देखिए, चाहे जिस प्रकार हो प्राणों का ममता त्याग कर उत्साह युक्त कर्म कीजिये। हे रामजी! मन्त्रियों के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—ठीक है, ऐसा ही हो। फिर तो बात का बात मे हाथी, घोडे और निशान नगारे युक्त वह वृहद सेना युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गयी। बडा कोलाहल शब्द उत्पन्न हुआ। तब राजा विपश्चित ने मन्त्रियो से कहा—अहो मन्त्रिगण! तुम लोग तो सेना के साथ चल कर शत्रु से युद्ध आरम्भ कर दो और मै स्नान, ध्यान करके अभी ही आता हूँ। मन्त्रियों ने कहा—ठीक है, हम चलते हैं। हे रामजी! ऐसा कहकर सैनिक गण चले और आकर अपने शत्रुओ से युद्ध करने लगे। घोर युद्ध मच गया दोनों ओर सैनिक कट कट कर गिरने लगे। इधर राजा विपश्चित ने क्या किया कि—गंगा-जल से खूब स्नान कर स्वच्छ हो चन्दनादि से विभूषित हुआ और फिर यज्ञशाला मे जाकर अपने अग्निकुण्ड में यज्ञ करने लगा। जब यज्ञ धूम्र से यज्ञशाला भर गया तब राजा ने युद्ध कण्ठ से खड़े होकर अग्निदेव से प्रार्थना करने लगा कि हे ब्रह्मन्! तुम साक्षात् ब्रह्म हो, मैंने बहुत दिनों से तुम्हारी सेवा की है और तुमने भी मुझे सब प्रकार से सन्तुष्ट ही किया है सो हे भगवन्! अब मुझपर ऐसा संकट आया कि इसे दूर न करोगे तो मेरी लज्जा ही होवेगी। तुम सर्व शक्तिमान हो इससे मैं अब तुम्हारी ही शरण आया हूँ। यदि मुझे कुछ भी अपना भक्त समझो तो देखो—या तो मुझे सर्वदा के लिये अपने पास ही बिठा लो ताकि मैं तुम्हे फिर कुछ कष्ट न दे सकूँ और या तो मेरी हितकामना की दृष्टि से मुझमे ऐसा अभूत पूर्व बल दे दो कि मैं अपने चारो ही दिशाओं की रक्षा कर सकूँ! हे रामजी! ऐसा कह कर राजा विपश्चित ने उसी प्रज्वलित अग्नि में अपना शिर काटकर अग्निदेव को चढ़ा दिया। धड बाहर था सो वह भी छटक कर अग्निकुण्ड में जा

गिरा। अग्निदेवने शिरके साथ ही धड को भी चर्वण कर लिया। इस प्रकार जब अग्नि ने शिर और धड़ दोनों का खाकर पचा लिया तो एक ऐसा हुङ्कार किया कि उससे वैसे ही वैसे चार विपश्चित राजा अतुलित बलशाली उत्पन्न होकर अपने चारों दिशाओं की रक्षा करने के लिये उड़ चले। इधर युद्ध तो हो ही रहा था कि ये चारों राजा भी अपने २ दलमे जाकर युद्ध कौशल देखने लगे। फिर तो युद्ध ने यह भीषणरूप धारण किया कि समस्त वीर अपने प्राणों का मोह त्याग कर एक दूसरे अपने विपक्षो को काटने मारने लगे। कायरों का दिल दहल उठा, भाग चले। किन्तु वीर पुरुष क्यों भागते, वे तो सन्मुख होकर महादारुण संग्राम करने ही लगे। रक्तकी प्रचड धारा वह चली। उसमें मास मज्जा और कटे हुये वीर तथा बड़े बड़े वृक्ष और कितने ही विशाल नगर भी कट कर वह चले। मास खाने वाले पक्षी मास का टुकड़ा लेकर आकाश को उड़ने लगे। योगिनियाँ मास खा रक्त पी कर उन्मत्त हो नृत्य करने लगीं। कितने ही वीरों को अप्सरायें स्वर्ग ले जा रही थी और कितनी विद्याधरियाँ अपने २ विमानों में बैठकर आकाश मण्डलसे वह युद्ध देख रही थी। उस समय तक राजा विपश्चित को बहुत सेना मारी जा चुकी थी और जो बची थी वह भी मर्माहत हो चली थी। तब सेनाकी ऐसी दुर्दशा देख कर राजा विपश्चित से न रहा गया। और वह महान् उत्तेजित होकर घोर युद्ध करने पर सन्नद्ध हो गया। फिर तो कहना ही क्या था, भीषण सग्राम छिड गया। किन्तु राजा जितना ही बल लगाता कि युद्ध भी उतना ही जोर पकडता जाता था। तब राजाने जब वह दृश्य देखा तो उसने कहा— अहो, सत्य ही है अब मेरे इस प्रकार के उपाय से भी शत्रुओं का मान मर्दन न होगा इस लिए अब मुझे वायव्यास्त्र का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा निश्चय कर उसे वायु अस्त्र को हाथ मे लिया। फिर तो वह प्रचण्ड आँधी चली कि दिन का रात हो गया चारों

और अंधकार ही अंधकार छा गया। तब
ने मेघ अस्त्र को चलाकर अंधकार दूर कर
वर्षा से समस्त वायु जहाँ का तहाँ शान्त हो
से उत्पन्न हुआ अगाध जल अपार हो गया
चलाया तो उससे नदियाँ प्रकट होकर बहने
प्रवाह बह चला। चक्रों की नदी, वज्र
बिजली की नदी और क्या कहें इस प्रकार
कितनी ही नदिया बह चलीं। फिर तो
जाती वह मृतक हो जाती थी। परन्तु
शिवत्त के ही सैनिक कटे हो वरन् शत्रु
हो चला था। निदान लड़ते लड़ते
कितने ही वीर युद्ध के भयसे कम्पित
जा छिपे और कितने ही उस प्रचण्ड
हे रामजी! जब इस प्रकार से दोनों
शेष हो गये तब आकाश निर्मल
जैसे ज्ञानी का मन निर्मल होता है
रहित हो गया। तब वे चारों
समुद्रके तट पर जा पहुँचे।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण

तिरस्कार

आकाश

रामजी! जब
किनारे पहुँचे

हे

होते हैं।

तू इन
तू इतना
आ गया
ता है तो
कर तुझे
झमें तीर्थ
सबको
है? हे
ी तू ही
ई दूसरा
अद्वैत
ा अर्थ
जाते हैं
पदार्थ
त्यों बना
ार अग्नि
ागत उपजते
ता है। तुझे
आकाश कौन
जस चेतन आकाश
और लीन होते ही
र्व नहीं तो क्या है?
बको धारण कर रहा है
, मैं ऐसे चिदाकाश को
है एक

॥८३॥

का पाकर पापी उससे पाप करते हैं और शरीरकी आरोग्यता से विषयों का सेवन करते है और जब तक युवावस्था रहती है तब तक कोई पुण्य एवं सुकृत कर्म नहीं करता। ऐसेही कोई विचारवान और पुण्यवान होता है जो इनको पाकर शुभाचरण करे। ऐसे हो यह समुद्र भी है कि इसमें रत्न भी हैं और जीव हिंसक जलचर भी हैं। इससे यह जीवन्मुक्त ही हैं। क्योंकि यह सब कुछ को धारण किये हुये भी जीवन्मुक्त ही है। यह अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोड़ता और इसे कुछ भी राग द्वेष नहीं होता। ऐसेही वे ज्ञानी पुरुष हैं कि जो किसी मे रागद्वेष नहीं करते परन्तु ऐसे ज्ञानवान भी कोई विरले ही होते हैं। जैसे सीपमें मोती कहीं ही कहीं निकलता है वैसेही तत्वदर्शी और ज्ञानी कोई विरला ही होता है। हे राजन ! आप यहाँ की समस्त रचना देखिए कि यहाँ कैसे २ पर्वत, कैसे पक्षी और कैसे कैसे विद्याधर किस किस स्थानमे बस रहे हैं। यह देखिए कहीं देवियाँ विलास कर रही हैं, कहीं योगी वास करते है, कहीं ऋषि, मुनि, ब्रह्मचारी और कही वैरागी ही बास करते हैं। फिर तनिक इस द्वीपको तो देखिए कि जिसमे यह सात समुद्र विद्यमान हैं और जिन समुद्रों मे बडी २ तरङ्गें उछल रही हैं। कहीं पर्वत का कौतुक दिखलाई पड रहा है, कही आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, तारे और कहीं ऋषि, मुनि ही दिखलाई पड रहे हैं, परन्तु यह सब भी क्या है—सबको एक आकाश ही दिखलाई पड रहा है और वास्तव में ये सभी वैसेही एक दूसरेसे असङ्ग हैं कि जैसे महान पुरुष असङ्ग रहते हैं। इनके लिये शुभ अशुभ दोनों हो एक समान है। जैसे ज्ञानी का मन सर्व स्थानो से निर्लेप होता है वैसे ही यह आकाश सर्व पदार्थों से निर्लेप और सङ्ग रहित है। सो हे आकाश! तू कैसा है कि तुझमे समस्त प्रकाश अन्धकार ही हो जाते हैं। क्या तू सबका आधारभूत है ? तब तुझे लोग शून्य क्यों कहते हैं ? जो तुझे शून्य कहें वे मूर्ख हैं। यद्यपि तुझमे सात्विकी,

राजसी और तामसी ये तीनों ही गुण विद्यमान हैं तथापि तू इन सबसे परेही दिखलाई है। हे आकाश! देखने मे तो तू इतना निर्मल जान पडता है, परन्तु तुझमें यह अंधकार कहाँ से आ गया है। तुझे जब मै देखता हूँ तब तू ऐसा ही दिखलाई पड़ता है तो क्या तू अनित्यरूप है? परन्तु यह जो चन्द्रमा तुझमे रहकर तुझे शीतल करता है और जो सूर्य तझे तपाता है और जो तुझमे तीर्थ आदिक पवित्र और पापी आदिक अपवित्र स्थान हैं इन सबको धारण किये हुये तू सर्वदा एक समान कैसे बना रहता है? हे आकाश वृक्षों को बढाने और उन्हें ऊँचाई देनेवाला भी तू ही है सो अपनी इस माया को तू ही जान सकताहै और कोई दूसरा तेरी माया को क्या जानेगा। तू सर्वथाही निष्किंचन और अद्वैत है। तूही सबको धारण कर रहा है और तुझीसे सबका अर्थ सिद्ध होता है। यह तृण और जलते सर्वदा नीचे को ही जाते हैं परन्तु तू तो सर्वदाही ऊंचा और विभु है। तेरे हीमे अनेक पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं और तू सर्वदाही ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसे अग्नि से चिनगारिया निकलती हैं और अग्नि ज्यों का त्योंही बना रहता है वैसे ही तेरे में अनन्त जगत उपजते और लीन होते हैं और तू जैसा का तैसाही बना रहता है। तुझे जो शून्य कहते हैं वे मूर्ख हैं। सो हे राजन्! ऐसा आकाश कौन है? ऐसा आकाश वह तुम्हारी आत्मा ही है कि जिस चेतन आकाश मे एक नहीं अनेक और अनन्त जगत उत्पन्न और लीन होते ही रहते हैं। तब भला उसे शून्य कहने वाला मूर्ख नहीं तो क्या है? क्योंकि वही तो सबका अधिष्ठान है, वही सबको धारण कर रहा है और वही सबसे निःसङ्ग और निर्विकार है, मैं ऐसे चिदाकाश को नमस्कार करता हूँ। पर यह बडा आश्चर्य है कि वह सर्वदाही एक रस रहने वाला और बडा ही मायावी है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध का तिरासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८३ ॥

चौरासीवाँ सर्ग

राजा विपश्चितकी कथा



न्त्रियों ने कहा—हे राजन्! यह आकाश आत्म-तुलना जो मैने कही है वह जीवन्मुक्त का प्रसङ्ग है। अब इसे स्पष्ट समझने के लिये मैं एक विद्याधर और विद्याधरी का आख्यान कहता हूँ, सुनो! हे राजन! विद्याधर और विद्याधरी अपने मन्दिर में बैठे थे कि वहाँ एक ऋषि आ पहुँचा। परन्तु वे दोनो कुछ ऐसे भाव में बैठे थे कि विद्याधरने ऋषी का आदर न किया कि जिससे ऋषिने क्रोधित होकर उसे ऐसा शाप दे दिया कि वह विद्याधर बारह वर्षके लिये वृक्ष हो गया। सो हे राजन्! वह कहीं दूरकी बात नहीं है—यह देखो, वह यही विद्याधर है कि जो पहले वृक्ष हो गया था और अब हम लोगों के आते ही फिर शापसे मुक्त हो गया। परमात्माकी नीति भी कैसी विलक्षण है कि कभी कुछ का कुछ हो जाता है। कहीं वरके शाप हो जाते हैं और कही शाप ही वर हो जाता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुये भी विचारवानकी सङ्गति लाभप्रद होतीहै और अज्ञानी का सङ्ग महान दुःखकर होता है। यद्यपि अज्ञानी की चेष्टा देखने में तो सुन्दर होती है पर वे हृदय से मूर्ख हैं, इससे उनकी सगति भी अनिष्टकारक ही होती है। किन्तु ज्ञानी की चेष्टा देखने मे भले ही सुन्दर न जान पडे तब भी वह कल्याणही करती है। हे राजन्! अज्ञानी पुरुष उस नीच कुकुर (श्वान) के समान है कि कितने ही मलिन स्थानों मे भी भटकता है और घर घरमें जाता है तथा उसके निकट जो कोई जाता है उसे काट दौड़ता है वैसेहीं वह अज्ञानी है कि जो श्रेष्ठ पुरुषों की निन्दा करता हुआ मनमें तृष्णा रखता है और विषयरूपी खाई मे गिर पडता है। मानों वह मुर्ख मनुष्य श्वान ही है और श्वान से भी निकृष्ट है। ब्रह्माकी समस्त

सृष्टि में श्वान सबसे निकृष्ट है। देखो, वह क्या समझता है। जैसे किसी ने कुत्ते से प्रश्न किया—हे कुकुर! भला तुझसे भी कोई नीच है या नहीं? कुकुर ने कहा—क्यों नहीं, मुझसे नीच मूर्ख हैं। मैं मूर्ख से भी श्रेष्ठ हूँ। क्योंकि मैं तो फिर भी वीर हूँ कि जो मुझे पालता है, मैं जिसका अन्न खाता हूँ उसकी रक्षा करता हूँ, उसके द्वारपर बैठा रहता हूँ परन्तु मूर्ख से तो यह कार्य भी नहीं होता, इससे मैं उससे श्रेष्ठ ही हूँ। मूर्ख देहाभिमानी भी होता है परन्तु मुझे तो शरीर का कुछ भी अभिमान नहीं है। इससे मूर्ख मनुष्य कुत्ते से भी निकृष्ट है क्योंकि वह अभिमान करता है। तब भला जिसको देहाभिमान है वह आपदा को क्यों न प्राप्त होगा? मैं तो उस मूर्ख मनुष्य को वह कौवा ही कहूँगा कि जो बैठ जाते हैं सबसे ऊँची डालपर और व्यर्थही काँव-काँव करता है। जैसे एक कौवा उड़ता हुआ किसी सरोवर के तटपर ऐसे स्थान में जा बैठा कि जहाँ खिले हुये कमलों पर भौंरे बैठे हुये कमल-रसका मान कर रहे थे। तब भौंरों को देखकर कौवा उन्हे हँसने लगा और अपनी भाषामें का-कां करने लगा तो भँवरे भी उसे देखकर हसे कि अहो, इस मूर्ख कौवे को तो देखो कि हमपर हस रहा है, भला इसको कमल रस का स्वाद क्या जान पड़े। हे राजन्! ऐसेही अज्ञानी मनुष्य कौवे के समान हैं कि जो ज्ञानरूपी कमलको सुगन्धिको नहीं जानते। परन्तु जिज्ञासा भँवरे के समान हैं कि जो परमार्थ रूपी सुगन्धि की खोज मे ही घूमा करते हैं। इससे जिज्ञासी मूर्ख को देखकर उसी प्रकार हँसते हैं कि जैसे भँवरे उस कौवेको देखकर हँसते थे। इतनी कथा सुनकर रामजीने वशिष्ठजीसे पूछा—हे भगवन्! यह सब तो मैं जान चुका कि आप क्या कह रहे हैं। परन्तु यह तो बतलाइये कि ऐसा-ऐसा देखकर और मन्त्रियोंसे ऐसा सुनकर उस राजा विपश्चित ने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! वे चार विप-श्चित थे न? तब उनमे जो पश्चिम दिशाका विपश्चित था

वह वनो मे विचरण करता हुआ एक मत्तहस्ती के वशमें पड गया और उसने विपश्चित को पर्वत की एक कन्दरा में ले जाकर मार डाला और दूसरे विपश्चित को एक राक्षस ने वडवाग्नि में ले जाकर झोंक दिया और अग्नि उसका भक्षण कर गया। तीसरे विपश्चित को एक विद्याधर उठाकर इन्द्र के पास ले गया तो उसने इन्द्रका तिरस्कार किया जिससे इन्द्रने उसे शाप देकर भस्म कर दिया और चौथे विपश्चित को एक मच्छ ने आठ टुकड़े कर डाला। इस प्रकार चारो विपश्चित नष्ट हो गये। परन्तु उनकी सवित तो नष्ट नहीं हुई थी—इससे वह पहले तो आकाशरूप हो गई फिर उसमे ससार का भाव था उससे वह फिर स्फुरित हुई और स्थावर जगमरूपी जगत को देखने एव अन्तवाहक चेष्टा करने लगे तब उनमे जो एक पश्चिम दिशा का विपश्चित था वह विष्णु भगवान के स्थान में मर कर निर्वाण हो गया जिससे कि उसकी सर्व शक्तियाँ अर्थ–शून्य हो गई और वह सर्वथा ही मुक्त हो गया। दूसरा एक मच्छ के पेट में हजार वर्ष तक रहा, पश्चात् एक देशका राजा हुआ और राज्य करने लगा। तीसरा चन्द्रमा के निकट जाकर मरा तो वह चन्द्रलोक को प्राप्त हुआ और चौथा विपश्चित बहता हुआ समुद्र के पार जाकर ६२ हजार योजन की दूरी को पारकर गया। ऐसे ही चारो फिर जीवित हुये और फिर कितने ही समुद्र, वन और पर्वतो को लांघ गये। तब सबके ही आगे दश हजार सुवर्ण की पृथ्वी आई कि जहाँ देवताओं के विचरने के स्थान हैं, और वे उन्हें भी लाघ गये। तब उन्हे आगे लोका लोक पर्वत मिले कि जिसने सब पृथ्वी को घेर लिया था और जो साठ हजार योयन ऊँचा था उसको लाघ कर वे सिद्धो के उस मण्डल को भी पारकर गये कि जहाँ तारों का चक्र चलता था। उसके आगे एक शून्य नक्षत्र था कि जहाँ पृथ्वी और जल आदिक कोई भी तत्व न थे और केवल एक आकाश ही शून्य अवस्था मे दृष्टिगत होता था और

जहाँ स्थावर जगम कोई भी पदार्थ न थे, न उपजते थे, न मिटते थे, उन्होने उसे भी देखा । इस प्रकार उन्होंने समस्त भूगोल को देख लिया । हे रामजी । भूगोल का अर्थ यह है कि जैसे गेंद का गोला होता है वैसे ही भूगोल होता है कि जिसके चारों ही ओर आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र फिरते ही रहते हैं और जो सकल्प से ही ऐसा मान लिया गया है । वही पृथ्वी का नक्शा है कि जिसके आगे दश गुना जल, उससे आगे दश गुना अग्नि, उसके आगे दशगुना वायु और उसके आगे वह ब्रह्माण्ड खप्पर है कि जो एक नीचे और एक ऊपर को गया है तब उसके मध्यमे जो एक पोल है वहा आकाश कहलाता है कि जो वज्रके ही समान अनन्त कोटि योजनके विस्तार वाला है । उस ब्रह्माण्ड के भूगोल के उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत, पश्चिम मे लोकालोक पर्वत और उसके ऊपर चक्र फिरता है । वह चक्र जहाँ जाता है वहाँ प्रकाश होता है और जहाँ वह नहीं जाता वहाँ अन्धकार ही रहता है । परन्तु यह सब कुछ संकल्प की ही रचना मात्र है । जैसे बालक सकल्प से मिट्टी का वट्टा रचे वैसे ही चैतन्य रूपी बालक ने यह संकल्प रूपी गोला (भूगोल) रच लिया है । उस चैतन्य में जब-जब जैसा निश्चय हुआ है तब-तब तैसा ही होकर स्थित हो गया है । जहाँ पृथ्वी को स्थित किया वहाँ पृथ्वी ही स्थित है और जहाँ वृक्ष को स्थित किया वहाँ वृक्ष ही स्थित है, परन्तु यह सब कुछ सकल्प मात्र ही है । जैसे स्वप्न में कोई अविद्यमान रचना हो जाती है वैसे ही यह भूगोल आदिक सब कुछ सकल्प मात्र ही है । हे राम जी । जो यह जानते हैं कि सुमेरु आदिक पर्वतों में देवगण वास करते हैं और पूर्व दिशा मे मनुष्य गण रहते हैं सो पण्डित होते हुये भी मुर्ख ही हैं क्योंकि यह सब कुछ भ्रम मात्र ही है, वास्तव मे कुछ बना नही है । ज्ञानियो को सब कुछ आत्मसत्ता का ही मान होता है । मन सहित षटेन्द्रियों को तो अज्ञानी ही देखते हैं और सर्व प्रकार से उनको जगत काही भान

होता है। किन्तु ज्ञानियो को तो परब्रह्म ही सूक्ष्म रूप में जान पडता है और वे जगतको सर्वथा ही असत्य मानते हैं। जैसे आकाश मे नीलता कुछ है नहीं और नीलता भासती है वैसे ही यह अन-उपजा जगत अज्ञानीको उपजा हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है और ऐसेही अज्ञान वश मूर्खको आत्मामें जगत दिखलाई पडता है किन्तु वह सब कुछ भ्रम मात्र ही है, केवल अज्ञान से ही जगत का भान हो रहा है। अन्यथा यह जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, मनके सकल्प से ही भासित होता है। सारा भूमण्डल एक सकल्प में ही स्थित है। सब कुछ शुद्ध ब्रह्म का ही चमत्कार है और वह सर्वथा ही आकाशवत निर्मल है और उसमे कुछ भी क्षोभ नहीं है। वह परम शान्त, अनन्त और सबका अपने आप ही है। हे रामजी ! इस प्रकार जब वह निश्चित लोकालोक पर्वत पर जा स्थित हुए तब उन्हे शून्य खाई दृष्टि आयी। वे पर्वत से उतर कर उस खाई मे जा पड़े कि जो पर्वत पर ही विद्यमान थी। तब क्या देखते हैं कि उसमें पर्वत के समान हो बड़े २ पक्षी बस रहे हैं। इनका वहाँ पहुचना था कि उन विशाल पक्षियों ने अपने चोंचों से इनके शरीर को चूर्ण विचूर्ण कर दिये। तब उस स्थूल शरीर के कष्ट होने पर उन्होने वह अन्तवाहक शरीर धारण किया कि जिसमे वे दूर से भी दूर उड कर जा सके। परन्तु जो पाञ्चभौतिक शरीर प्रत्यक्ष भासता है सो अधिभौतिक है। जब मार्ग से कहीं जाने को चित्त में सकल्प उठता है तब स्थूलशरीर गये बिना नहीं पहुँच सकता और जब मार्ग में चले तब पहुँचता है तो वही आधिभौतिक है और यह प्रमाद से ही ऐसा होता है। जैसे जेवरी मे सर्प भासित होता है वैसे ही आत्म अज्ञान से आधिभौतिक शरीर भासता है। जैसे कोई स्वप्न नगर मे वा मनोराज नगर में अपने शरीर को रच लेता है, उससे चेष्टा करता है और जब तक पूर्वका शरीर विस्मरण नहीं हुआ तब तक वह संकल्प शरीर से ही चेष्टा करता है सो वह अन्त

वाहक ही है। उसे संकल्प शरीर भी कहते हैं और वह विशेष बुद्धि भी कहाती है। बिना आत्मज्ञान हुए सकल्प शरीर मे दृढ़ भावना जो होती है तो उसी का नाम आधिभौतिक कहाता है। अतः जब तक देह का स्मरण है तब तक अधिभौतिकता नहीं भासती और जब देह का विस्मरण हो जाता है तब अधिभौतिकता दृढ़ हो जाती है। इसी प्रकार विपश्चित भी जो कि अधिभौतिक थे सो आत्मबोध से रहित थे इससे वे जहाँ चाहते थे वहाँ को चले जाते थे किन्तु अन्त वाहक भी शरीर से कुछ भिन्न नही है और जो कुछ भिन्न भासता है वह प्रमाद से ही वैसा भासता है। परन्तु वास्तव मे वह सब कुछ चिदाकाश ही है, दूसरा कुछ नहीं। उसीके प्रभाव से विपश्चित ने उस अविद्यमान जगत को देखा। सो हे रामजी! उस अविद्या को भी क्या कहे, अविद्या भी तो ब्रह्म में ही है। तब भला उस ब्रह्म का अन्त कहाँ? इन सबके पश्चात् विपश्चित वहाँ से चला तो चलते-चलते वह समग्र पृथ्वी को लांघ गया और यही नहीं वरन् वह अग्नि के उस प्रकाशित आवरण को भी लाँघ कर मेघ और वायु के भी आवरण को पार कर गया। फिर तो इस प्रकार उसने ब्रह्माकाश और ब्रह्माण्ड कपाट को भी लाँघ कर स्वरूप के प्रमाद से दृश्य के अन्त होने को भटकता रहा, किंतु अविद्यारूप ससार का अन्त होता भी तो कैसा? इसका तो अन्त लेने को तो जितनी ही चेष्टा करे यह उसे अनादर अधिक से भी अधिक भटका ही फिरता है और जब अविद्या रूपी ससार का अन्त होता है तभी भ्रम मिटता है। परन्तु यह जगत कुछ बना नहीं, वह ब्रह्माकार ज्यो का त्यों ही स्थित है और उसका न जानना ही संसार है। जब तक उसका प्रमाद है तब तक जगत का अन्त कदापि न होवेगा और जब स्वरूप ज्ञान होगा तब निश्चय ही अन्त हो जावेगा। सो, वह जानना भी क्या है। चित्त को निर्वाण कर नाहीं तो उसका ध्येय है। जब चित्त निर्वाण होजाता है तब जगत नहीं भासता। परन्तु

जब तक चित्त भटकता रहता है तब तक संसार का भी अन्त नहीं होता। अतः चित्तही जगत है और अचित्त ही आत्मा है। आत्मा मे जागृत हो जाने पर जगत नही रहता।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

पचासीवाँ सर्ग

विपश्चित मृग शरीर प्राप्ति



महात्मा वशिष्ठ मुनिके ऐसा कहने पर रामजी ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर! अब कृपा करके आप यह बतलाइये कि जो दो विपश्चित शेष बचे थे उनकी क्या दशा हुई?

वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! एक विपश्चित तो निर्वाण हो गया और दूसरा सब ब्रह्माण्डों जो लाँघता हुआ जब एक ब्रह्माण्ड मे पहुचा तब वहाँ उसे सन्तों का सत्सङ्ग मिला जिससे उसको ज्ञान की प्राप्ति हुई और वह इस प्रकार से ज्ञान प्राप्तकर निर्वाण हो गया। तब एक विपश्चित रहा। सो अब वह पर्वत की कन्दरा में मृग होकर घूम रहा है! हे रामजी! क्या २ पूछोगे एक आत्मा में ही अनेकों आभास स्थित हैं।

इसपर रामजी ने प्रश्न किया-हे भगवन्! यहाँ मुझे यह शका हो गई है कि विपश्चित चाहे दो रहे अथवा चारही रहे किन्तु सवित शक्ति तो सबकी एक समान ही थी। फिर जब सवित सबकी एक ही होती है तब उनमें भिन्न २ स्थानों में जन्म मरण और इस प्रकार से भिन्न २ स्थानों मे विचरण करना कैसे हो जाता है।

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! सुनो इसमें वासना की प्रबलता है और वही देश, काल और पदार्थों को दिखलाती है। देश, काल और द्रव्य में जिसकी जितनी दृढ़ भावना होती है उसकी उतनी ही अधिक विजय होती है। जैसे किसी एक पुरुष ने अपने

मनोबल द्वारा चार मूर्तियों की कल्पना की और उसमें भिन्नभिन्न-वासनायें स्थापित करदी परन्तु सवित तो सब मे एकही रही। यदि भूल से उनमें पूर्णका शरीर दृढ़ हो गया तो उनके शरीर में जैसी २ भावना दृढ़ रही वैसाही प्राप्त हुआ। इसी प्रकार से सवित शक्ति में नाना प्रकार की वासनायें फुरती हैं। कैसे ? देखो, जैसे सवित तो एकही है किन्तु स्वप्न मे अनेकों रूप धारण करती है और भिन्न २ वासना फुर जाती है वैसेही वह आकाशरूपी सवित शक्ति भिन्न २ वासनाओं का केन्द्र है। ऐसेही उन चारों विपश्चित की सवित एक ही थी किन्तु देशकाल और क्रियासे उनकी वासनाये भिन्न २ हो गई थीं और उन्हे पूर्वकी सवित स्मृति जाती रही इसी कारण वे एक दूसरे से न्यूनाधिक्य फलको प्राप्त हुये। हे रामजी ! अब यह देखो कि सवित का क्या रूप है। देखो, देशसे देशान्तर को जो कल्पना शक्ति जाती है उसके मध्यमे जो सूक्ष्म शक्ति संवित विद्यमान है और जिसकी शक्तिसे वहाँ पहुँचती है वह ब्रह्मसत्ता है और वह है किञ्चनरूप। किञ्चनता ही जगत रूप होकर भासित हो रही है परन्तु वह भी उस ब्रह्मसत्ता से कुछ भिन्न नहीं है। वह एक ही है, उसमे द्वैत कुछ नहीं कहा जा सकता। वह एक भी तो नहीं है, तब जब कि उसे एक भी नहीं कहा जा सकता तब उसमे दो कैसे होगा और इस जगतको भी उसमे उत्पन्न हुआ कैसे कहे ? यही तो अविद्या है कि जो न होते हुये भी प्रत्यक्ष भासित है। जिस स्वप्नमे जैसी वासना फुरती है वैसा ही उसकी विजय होती है।

रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! अब यह जो चौथा विपश्चित मृग होकर पहाड की कन्दरा में विचर रहा है वह कहाँ-कहाँ से फिरता हुआ वहाँ आकर स्थित हुआ है, वह वृत्तान्त मुझे बतलाइये और कृपाकर यह भी बतलाइये कि आप उन चारों विपश्चित के पूर्व जन्मो को कैसे जान सके, जब कि आप यहाँ स्थूल शरीर लेकर बैठे ही रहते हैं ?

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! मैं सब कुछ जानता हूँ। मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त है कि जिससे मेरे निकट सब प्रत्यक्ष सा हो जाता है। मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ और सारे ब्रह्माण्ड मेरे ही अंग हैं। मैंने अपनी बुद्धिसे सब कुछ जाना है। उसी बुद्धिरूपी नेत्रसे उनकी सर्व चेष्टाओं को देखा है। परन्तु तुम इसे नहीं जान सकते। जैसे समुद्रमें लहरें उठती हैं और समुद्र उन सबको जानता है, वैसे ही मैं समुद्ररूप हूँ और मुझमें ही समस्त ब्रह्माण्डरूपी लहरें उठ रही हैं, इसी कारण ही मैं सबको जानता हूँ। हे रामजी! यह जो चौथा विपश्चित मृगके रूपमें विद्यमान है वह साधारण मृग नहीं है वरन वह जैसा है वैसा सुनो। हे रामजी! वह कितने ही ब्रह्माण्डों को लाँघता हुआ वहाँ आकर स्थित हुआ है। फिर तुम उसे स्पष्ट पूछना चाहते हो तो सुनो—तुम्हारी जो लीला भूमि है अथवा जहाँ तुम क्रीडा करते हो उसी स्थानमें वह मृग बंधा हुआ है। इसे तुम्हें त्रिगर्त देशके राजाने दिया था कि जो बड़ा ही सुन्दर है और इससे तुमने उसे अपने पास रख भी लिया है। इच्छा हो तो उसे यहाँ मंगा कर अब देखो।

वाल्मीकि जी कहते हैं कि जब मुनि शार्दूल वशिष्ठ जी ने रामजी से ऐसे कहा तब सारी सभा चकित होकर उनकी ओर देखने लगी और राजा दशरथ आदि समस्त रघुवंशी भी आश्चर्यमें पड़ गये। उसी क्षण रामजीने एक भृत्य को बुलाकर कहा—जाओ, उस मृगको सभामें ले आवो। रामजी के ऐसा कहते ही भृत्य दौड़ गया और शीघ्र ही मृगको सभामें लाकर उपस्थित कर दिया। वह मृग बड़ाही सुन्दर था और उसकी ग्रीवा भी बड़ी थी। उसके कमलके समान नेत्र थे। सभामें आकर वह कभी घास खाने लगा और कभी सभा स्थलमें खेल कूद मचाने लगा, कभी स्थिर भी हो जाता था। तब उसी क्षण रामजीने कहा—हे मुनीश्वर! अब आप इसे अपने उपदेशों से जागृत करके मनुष्य बनाइये और मुझसे और

इससे प्रश्न कराइये, देखूँ कि यह मुझसे प्रश्नोत्तर करता है कि नहीं। तब वशिष्ठ जी ! ने कहा—हे रामजी ! इस प्रकार से इस पर मेरा कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा वरन इसका कुछ इष्ट है। जब इसके इष्टको बुलाऊँगा तभी वह इसका कार्य सिद्ध करेगा। सो, अब देखो मैं इसके इष्टको अपने ध्यान द्वारा आकृष्ट करके यहाँ प्रत्यक्ष रूपसे बुला लेता हूँ। रामजी से ऐसा कहकर वशिष्ठ जीने तुरत ही नेत्र बन्द कर ध्यान लगा लिया। उनके इस प्रकार ध्यानावस्थित होते ही, अग्निदेव का उनकर्षण हो गया। तब वशिष्ठ जीने अपने उसी स्थानावस्था मे अग्नि से विनय किया-हे वह्नि ! यह मृग तुम्हारा भक्ति है, तुम इसकी सहायता करो। इस पर दया करो तुम सन्त हो और सन्तो का यह स्वभाव होता है कि वे प्राणी मात्र पर दया दृष्टि रखते हैं। जब वशिष्ठजी ने अग्नि से ऐसा कहा तब उसी क्षण बिना वशिष्ठ और बिना अग्नि की कोई चिनगारी रहे ही सभा स्थलके मध्यमे अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला उत्पन्न होगी और उससे सारी सभामें प्रकाश हो गया। अग्निके प्रकाश होते ही मृग बडा ही प्रसन्न हुआ और उसका चित्त अग्निदेवकी भक्ति भाव मे डूब गया। फिर तो वशिष्ठजीने आँखें खोल दी और अपनी उन्ही अनुग्रह पूर्ण आँखो से मृगकी ओर देखा। वशिष्ठ जी के देखते ही मृगके समस्त पाप दग्ध हो गये। तब वशिष्ठजीने अग्निदेव से कहा—भगवन् ! यह मृग तुम्हारा भक्त है अतः तुम अपनी प्राचीन भक्तिको स्मरण कर इस पर कृपा करो। भला ऐसी क्या वस्तु है कि जो तुम्हारे कृपा करते ही प्रकट न हो जावे। तब भला तुम्हारा यह भक्त मृग शरीर कब तक धारण किये रहेगा, सो अब तुम इसके इस शरीर को दूर करो जिससे कि यह फिर अपने उसी विपश्चित शरीर को पा सके। यह शरीर तो इसने अविद्या भ्रमसे पाया है, सो हे भगवन् ! इसके इस शरीर को नष्ट कर इसे पूर्व शरीर प्रदान करो।

अग्निदेव से ऐसा कहकर वशिष्ठ जीने रामजी से कहा—हे

रामजी ! अब देखो, यही मृग इस अग्नि ज्वालामें प्रवेश करेगा और अपना पूर्व विपश्चित शरीर धारण कर लेगा, सावधान होकर देखो। वशिष्ठ जीने यह कहा ही था कि मृग एक पग पीछे हट कर धांयसे अग्निमें कूद पडा और उसके सारे पाप दग्ध हो गये। जैसे कपडे को ओढ़ कर बहुरुपिया कोई दूसरा ही स्वांग बना लेता है वैसे ही अग्नि में कूदते ही मृगने अपना दूसरा रूप धारण कर लिया और इस प्रकार कण्ठ में माला मस्तक पर तिलक, शीशपर मुकुट और यज्ञोपवीत आदि वस्त्राभूषणों से समलङ्कृत होकर अग्नि से प्रकट हो गया। फिर तो अग्नि शान्त हो गई और वह महातेजस्वी विपश्चित प्रकट हो गया। सभास्थल में जितने लोग बैठे थे विपश्चित उन सबसे ही महातेजस्वी था, मानों अग्निको भी लज्जित कर रहा था। जैसे सूर्यके उदय होने से चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो जाता है वैसे ही उस विपश्चित के आगे सभा-स्थल का तेज सर्वथा ही क्षीण हो गया और अग्निदेव भी ऐसे ही लीन हो गये। जैसे समुद्र से उठी हुई लहरें फिर समुद्रमें ही लीन हो जाती हैं। इस दृश्य को देखकर सभा के लोग आश्चर्य चकित हो गये।

उधर अग्निसे निकलते ही विपश्चित ने भी ध्यान लगा लिया और सारी सभा उसकी ओर एक टकसे देखने लगा तब कुछ ही क्षण बीता था कि विपश्चित ने नेत्र खोलकर देखा तो सामने ही वशिष्ठ जी बैठे थे। विपश्चित ने उठकर वशिष्ठजी को दण्डवत किया और इस प्रकार उसमें समस्त सभा मण्डली को झुक-झुककर दण्ड-प्रणाम करके कहा—अहो, आप सबको ही मेरा नमस्कार है। तब वशिष्ठजी बोले—कहो राजा विपश्चित ! अब तुम सावधान हो जावो मैं तुम्हारी अविद्या को दूर करूँगा। कहो, अब तक कहाँ-कहाँ विचरते रहे। आवो ! मेरे निकट आवो। विपश्चित वशिष्ठजी के समीप ही में जा बैठा। वशिष्ठजी ने उसके शिर पर हाथ रख कर कहा—अहो भास (विपश्चित) तुम अब तक कहाँ कहाँ भासते रहे अपना वह सब वृतान्त यहाँ सभास्थल में कह सुनाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का पचासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८५॥

छीयासीवाँ सर्ग

परधान-उपाख्यान



शिष्ठजी ने विपश्चित (भास) से ऐसा कहा ही था कि राजा दशरथ जो कि वशिष्ठजी के समीप ही में बैठे हुए थे बोले—अहो राजन्! भास! अच्छा हो कि आप मेरे ही निकट में चले आवो। भास राजा दशरथ के पास जा बैठा तब राजा दशरथ ने उससे कहा—क्यों राजन्! अब तक तुम कहाँ कहाँ भटकते रहे, कहो बहुत थक गये हो न? सो अब विश्राम करो और देखो अब तक तुम जो कुछ देशकाल क्रिया देखे हो उन सबका वर्णन मुझे सुना जाओ। परन्तु यह महान आश्चर्य है कि अब तक भी तुम अपने मन्दिरमें शयन ही करते रहे और निद्रा दोष के गढे मे गिरे ही रहे, पर यह तो कहो कि इस प्रकार से देश देशान्तरों मे गिरे रहनेसे तुम्हें क्या लाभ मिला। देखो, यही तुम्हारी अविद्या है और इसीने तुमको समस्त जगज्जाल दिखलाया है कि जिस कारण से ही उन जगतों को देखने के लिए भटकते हो रहे। किन्तु हे राजन्! जगत कुछ वस्तु है नहीं और भासता है। इससे यह माया मात्रही अविद्यासे जगतरूप होकर सत्य प्रतीत हो रहा है। किन्तु यह जो कुछ तुम देख रहे हो सब आकाशरूप ही है और इस मे वह शरीर ही स्थित है। उसी आकाशमें आत्मारूपी चिन्तामणि के चमत्कार से तुम जो कुछ देखे हो। मुझे कह सुनाओ। हे भास! यह महान आश्चर्य है कि तुम विपश्चित नाम रखते हुए भी अविपश्चित के समय चेष्टा करते रहे। अहो, तुम्हारी बुद्धि कैसी हो गई थी। संसार की यह समस्त प्रतिभा मिथ्या ही उठ खडी हुई है। भला तुमने ऐसी अवस्थाको क्यो कर देखी।

राजा दशरथ भास से ऐसा कह ही रहे थे कि समय पाकर विश्वामित्र जी राजा दशरथ से बोल उठे—हे राजन्! अवश्य ही इसकी

चेष्टायें अज्ञानियो के ही समान हुई हैं। केवल मूर्ख ही ऐमा करते हैं। मूर्खोंको आत्मा का अनुभव नहीं होता। किन्तु विज्ञानी एव विचारवान को तो सब कुछ आत्मा ही भासता है। हे राजन्! क्या कहा जाय। यह अविद्या वडी प्रवल है। इसके हाथ पडा हुआ जीव कदापि भी शान्तिमान नहीं होता। वटधाना भी तो इसी प्रकार आज कितने ही दिनों से भटका रहे हैं। जहाँ तक मै समझता हूँ कि उन्हे इस प्रकार से भटकते हुये आज ६०·७० लाख वर्ष व्यतीत हो गये हैं किन्तु एक ही ब्रह्माण्ड में उन्होने इतना समय लगा दिया और कदापि भी मुक्त नहीं हुये। उन्होने भी यही देखना चाहा था कि देखें जगत का विस्तार कितना लम्बा है। परन्तु वे आज तक देख ही रहे हैं और सब कुछ देख न पाये। अभी तक उन्होने एक ब्रह्माण्ड भी पूरा न देखा। वासनाओं की प्रबलतासे कुछ और का और ही देखते रहते हैं। देखना चाहते है कुछ और भास जाता है कुछ। सकल्प–विकल्प उन्हें उनका अभीष्ट पूर्ण नहीं होने देते। हे राजन! यह एक प्रकार से भूगोल का ही दिग्दर्शन करना है। सो यह भूगोल भी किसी कालमें कोई वट· धाना जीवही उत्पन्न हुआ है। उसके तीन पुत्र थे। उन तीनो को यह सकल्प उदय हुआ कि हम जगत का अन्त देखें तब इसी सकल्प से वे भूगोल के चारो ओर देखने लगे तो क्या देखते हैं कि जैसे कोई गेंद हो, वैसेही एक आकाश मे ही सारा भूमण्डल सन्निहित है और जिसका उर्द्ध और अर्द्ध कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसा भी जो उन्होंने देखे वह केवल स्वरूप के प्रभाव से ही देखते रहे। हे राजन्! स्वरूप की अज्ञानता से ही जगत का अभाव नहीं होता। किन्तु जब आत्मदेव का दर्शन हो जाता है तब सारा जगत ब्रह्मरूप ही भासित होता है। इस प्रकार यह जगत कुछ बना नहीं, सब कुछ उसके फुरने से ही भासित होता हैं। जैसे स्वप्नकी अज्ञानतामे अनेको प्रकार के जगत दृश्य दिखलाई पडते है कि यह द्रुम यह

हो रहा है आदि–आदि वैसेही परब्रह्म मे अविद्यासे ही ऐसा फुरना हुआ है। सो वह फुरना भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नही। आत्म सत्ता ही अपने आप मे स्थित है। जैसे पत्थर की शिला घन रूप होती है वैसे ही आत्मसत्ता चेतनघन है। जैसे आकाश और शून्यतामे कुछ अन्तर नही है वैसेही ब्रह्म और जगत मे कुछ अन्तर नहीं है। कल्पना ब्रह्मरूप ही है और ब्रह्म भी कल्पना रूप ही है। जड़–चैतन्य का कुछ भेद नहीं होता। अस्तु जगत शब्द ब्रह्म सत्ताही है। ब्रह्मसत्तासे भिमान कुछ उत्पन्न हुआ है, न प्रलय होता है, सब कुछ ब्रह्म ही है। जैसे पहाड और पत्थर मे कुछ भेद नहीं होता वैसेही जगत और ब्रह्म सत्ता मे कुछ भेद नहीं है जैसे पत्थर की पुतली पाषाण रूप ही है वैसेही यह सारा जगत ब्रह्मरूप ही है। केवल सूक्ष्म अणु ही अपने अनुभव से अनेक अणु होकर भासित हो रहा है। ऐसा जानकर ही ज्ञानी जनो को सारा जगत ब्रह्मरूप ही भासता है। किन्तु अज्ञानियो को तो यह नाना प्रकार का जगत ही भासित होता है। हे राजन! जगत की कुछ भी सत्यता नही है, सकल्प ही जगत होकर भासित होता है। जैसे रत्नों मे चमत्कार होता है वैसे ही एक आत्मा मे ही सारे जगत का चमत्कार स्थित है। और उस चेतन ब्रह्म एवं आत्माके आश्रित ही यह अनन्त सृष्टिया फुर रही हैं। अस्तु, यह समस्त सृष्टि आत्मरूप ही है, आत्मा से भिन्न कुछ नही है। फिर भी अज्ञानियों को यह सब कुछ नाना प्रकार से जगत ही भासित होता है। कोई जगत कहते है, कोई शून्य कहते हैं और कोई इसे ब्रह्म भी कहते हैं–इस प्रकार से जिसको जैसा अनुभव है वह वैसा कहता है और वही रूप उन्हे भासित होता है। अतएव, उस आत्मघन में जैसा २ सकल्प फुरा वैसा ही वैसा भासने लगा। इस प्रकार ब्रह्म सत्ता ही सबका अधिष्ठान है और उसमे जैसा निश्चय होता है वैसाही होकर भासता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भी ब्रह्म ही है। त्रिपुटी को ब्रह्मसे

भिन्न कहना मूर्खता है । जब तक वासनाओं का ऊना नहीं होता तब तक दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता । हाँ, वासनाओं का अन्त हो जावे तो सारा जगत ब्रह्म रूप ही भासता है और तब सारे रूप अपने आप में ही प्रतीत होने हैं । राग-द्वेष नहीं रहता है और सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही जान पडता है ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्द्ध का छियासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८६॥

सत्तासीवाँ सर्ग

विपश्चित की आख्यान वर्णन



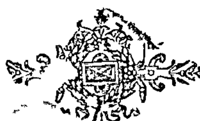
मुनि शार्दूल विश्वामित्र के ऐसा कहने पर भास ने राजा दशरथ से कहा—हे राजन् ! निश्चय ही मैंने कितने ही जगतों को देखा और ऐसा देखा कि उन्हे देखते-देखते थक गया परन्तु उन्हे जो जो देखने की मुझे इच्छा थी इस कारण उसका मुझे कुछ दुःख नहीं हुआ । उस अवस्था मे मैंने कितने ही जन्म धारण किये और कितने ही बार मृग हुआ, कितने ही बार मुझे शाप भोगना पड़ा में ऊँच नीच जन्म को प्राप्त हुआ, मृतक हुआ, फिर उत्पन्न होकर कितने ही ब्रह्माण्डों को देखा परन्तु यह सब मैं अग्नि देवता के ही वरदान से प्राप्त किया था । एक बार मै वृक्ष हुआ तो हजार वर्ष तक वैसेही फूलता फलता रहा और जब कोई मुझे काटता तो मै महान दुखी हो जाता था । हजार वर्ष के पश्चात जब मेरा वह शरीर छूटा तो मै सुमेरु पर्वत मे एक स्वर्णकमल हुआ और उस अवस्था मे केवल जल पीकर रहता था । फिर एक देश मे पक्षी हुआ और सौ वर्ष तक उसी अवस्थामें पडा रहा । फिर सियार हुआ और मुझे एक हाथी ने मार डाला । तब मै एक सुन्दर मृग हुआ और मुझे देवता तथा विद्याधर प्रीति से देखने लगे । फिर मैं देवताओं के वन में लता—बेलि हुआ और वहाँ देवियाँ तथा विद्याधरियाँ मुझे

स्पर्श करने लगीं । फिर देवताओं का स्त्री हुआ, फिर सिद्ध हुआ तब मेरा वचन फुरने लगा और उस प्रकार शरीर धारण कर मैं एक ब्रह्माण्ड को लाघ गया। ऐसे ही मैंने कई ब्रह्माण्ड लांघे। तब एक ब्रह्माण्ड में मैंने जो कुछ भी आश्चर्य देखा वह सुनिये । मैंने एक ऐसी स्त्री देखी कि जिसके शरीर मे कितने ही ब्रह्मांड स्थित थे और उससे देश, काल क्रिया आदिक समग्र त्रिलोकी भासित होती थी। तब उससे मैंने पूछा -हे देवि ! तुम कौन हो और यह तुम्हारे शरीर में क्या दिखलाई पडता है। तब वह बोली कि हे साधो! मै शुद्ध चिद्शक्ति हूँ और यह सारे अङ्ग मुझमे स्थित हैं मुझसे तुम क्या पूछते हो, यह सारा जगत जो कुछ तुम देख रहे हो सब चिद्रूप ही है और चैतन्यता से भिन्न कुछ है नहीं । उसी मे यह सारा ब्रह्मांड स्थित है समग्र त्रिलोकी अपना ही रूप है । अपने ही मे सब कुछ भासता है और सब कुछ अपना ही स्वरूप है। जो अपने आप स्वरूप में स्थित हैं उनको ऐसा ही भासता है परन्तु जो स्व-भाव में स्थित नहीं हैं उनको जगत बाहर और अपने आप से भिन्न भासता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जगत कुछ बना नहीं। स्वप्न नगर एव गन्धर्व नगर के समान ही सब कुछ भासता है। किन्तु उस चैतन्यसत्ता से कुछ भिन्न नही है । अपने स्वभाव में स्थित होकर देखो तो तुमको ऐसा ही भासेगा। किन्तु अज्ञान दृष्टिसे देखोगे तो नाना प्रकार का जगत ही भासित होवेगा। हे राजन् दशरथ जब उस देवी ने मुझसे ऐसा कहा तब मैं वहाँ से एक दूसरी सृष्टि में चला गया और देखा तो वहाँ सब पुरुष ही पुरुष रहते हैं और स्त्री कोई नहीं है। फिर वहाँ से दूसरी सृष्टि में गया तो वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अग्नि आदि का कुछ भी प्रकाश दिखलाई न पड़ा, सब अपने ही प्रकाश से स्वय ही प्रकाशित हो रहे थे। फिर वहांसे आगे गया तो एक ऐसे आकाशमें पहुँच गया कि जहाँ आकाश से ही जीव उत्पन्न होकर आकाश मे ही लीन हो जाते थे। यहाँ न कोई

मनुष्य था न देवता न वेद, न शास्त्र, और न जगत कुछ भी न जान पडा और इस प्रकार सब कुछ विलक्षण ही दृष्टि आया। वहाँसे जब फिर आगे बढा तो क्या देखता हूँ कि समस्त जीव एक समान ही हैं और न किसी से कुछ रोग हैं न किसीको कुछ दुःख है, सबलोग एक सयान हो गंगा के तट पर बास कर रहे हैं। तब वहाँ से फिर एक दूसरी सृष्टिमे गया तो क्या आश्चर्य देखा कि वहाँ क्षीरसागर से ही मन्दराचल में मथा जा रहा है और !विष्णु भगवान बैठे हैं, शेषनाग रस्सी के समान मणियों के सदृश्य उसमें चमचमा रहा है। फिर मै और आगे बढ़ा तो क्या देखता हूँ कि मनुष्य आकाश में उड रहे हैं। देवताओ की पृथ्वी पर मनुष्य विचर रहे हैं और वे सभी वेद शास्त्र के ज्ञाता थे फिर एक सृष्टि में देखा कि कल्पतरु का वन शोभायमान है और और उसमे मन्दरका नामक अप्सरा वास करती है। तब मै उस वन मे जाकर सुख की नींद से सो गया तो ज्यों ही रात्रिका समय आया कि त्यो ही वह अप्सरा मेरे कण्ठमे आ लगी। तब मै जागकर बोला—हे सुन्दरी। तू मुझे क्यों जगा रही है। मेरे पास क्यों आई ? मै तो यहाँ सुखसे सोया था। तब उस सुन्दरी ने कहा—मैने तुम्हे इसलिए जगाया है कि देखो, अब चन्द्रमा का उदय हुआ है सो तुम उसके शीतल चन्द्रकान्त स्रवितधारामें आनन्द लूटो। अप्सरा ने ज्यो ही ऐसा कहा कि त्यों ही उस प्रकार की नदी का प्रबल वेग चल पडा और वह अप्सरा मुझे साथ लेकर आकाश में उड चली। बहुत दूर जाकर उसने मुझे एक पर्वत पर उतार कर बैठा दिया। तब वहाँ मै सात वर्ष तक रह कर फिर एक नवीन ब्रह्माण्डको देखने गया तो वहाँ क्या देखा कि उसमें तारे और नक्षत्र आदिक कुछ भी नहीं हैं और न तो सूर्य है न चद्रमा। इस प्रकार मैने अनेक ब्रह्माण्डोंको देखा। ऐसा कोई भी प्रदेश न था जिसे मैंने न देखा हो। समस्त पृथ्वी, नदी और पहाडो को मैने देख डाला। उस अवस्था में मैंने सब कुछ चेष्टा की, कई प्रकार से मैने शारी-

रिक सुख भोगे कितने ही वन, पर्वत और कन्दराओं में विचरण किया। कितने ही गुप्त स्थानों में घूमा। बारम्बार अग्नि देवता का वरदान प्राप्त किया। तब चलते २ मैं थक गया और एक अविद्यमान ब्रह्माण्ड में जाकर स्थित हुआ। उसके पश्चात अब मुझे यह ब्रह्मांड भासित हुआ है। सो देखो, मैंने वेद शास्त्र सब कुछ सुने और उन सब में मुझे यही प्रतीत हुआ कि यह जगत कुछ है नहीं तो भी दुःख ही देता है। जैसे बालक को अपनी परछाईं मे वैतालका भ्रम भासित होता है वैसे ही यह सारा जगत अविचार से ही भासित हो रहा हैं विचार करनेसे निवृत्त हो जाता है। हे राजन्! एक आश्चर्य और भी सुनो। मैं एक ऐसे ब्रह्माण्डमें पहुचा था कि जहाँ महाकाश ही दिखलाई पडा और जब मैं वहाँ से गिरा तो पृथ्वी पर जाकर नितान्त ही प्रगाढ़ निद्रामें सोकर सुषुप्ति रूप हो गया और मुझे जगत बिल्कुल ही भूल गया। किन्तु ज्यों ही वह सुषुप्ति हटी कि मुझेएक स्वप्न आया और उसमे यह सारा जगत भासित होने लगा। तब उसमे मुझे पर्वत, देश, कन्दरा और कितनेही गुप्त प्रकट स्थान भासित होने लगे। कहीं सिद्ध लोग विचर रहे थे, कहीं मैं विचर रहा था और कहीं सिद्धोंको भी गम नहीं थी। इस प्रकार मैंने कितनेही जगत देखे परन्तु आश्चर्य तो यह है कि वह सब कुछ स्वप्न के ही समान था और वह स्वप्न सृष्टि भी मुझको प्रत्यक्षके ही समान भासित हो हो रही थी। इससे यह सारा जगत स्वप्नवत ही है और इसी से यह भ्रम मात्र दृष्टि आता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध का सतासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८७ ॥



अट्ठासीवाँ सर्ग

अपना अन्य माहात्म्य वर्णन



हे राजन्! एक सृष्टि मैंने और भी देखी है। वह इसी महाकाश में स्थित है परन्तु तुम वहाँ पहुँच नहीं सकते। एक स्थान तो मैंने ऐसा देखा कि जो छाया केही समान स्फुरित हो रहा था परन्तु ऐसा था कि उसने दशों दिशाओं और सर्व मनुष्यों को रोक लिया था। ऊँचा तो ऐसा था कि आकाश से भी बडा जान पडता था। मैंने देखा कि उसने क्षण मात्र में सूर्य और चन्द्रमण्डल को भी ढँक लिया, भूकम्प आया, मानों प्रलय हो गया। तब मै व्याकुल होकर अपने इष्ट अग्निदेव से बोला—भगवान्! आप जन्म-जन्म से मेरी रक्षा करते आये हैं, सो अब भी रक्षा करें, मै नष्ट हो रहा हूँ। तब अग्निदेव ने मुझे अपने वाहन पर चढा लिया और कहा—भक्त! चिन्ता न करो, आवो मेरे स्थान पर चलो। मै अग्नि देवता के स्थान की ओर चला तो अग्नि ने मेरे उस शरीर को नीचे गिरा दिया जिसके वेग प्रहार से सुमेरु आदिक पर्वत भी चूर्ण-विचूर्ण होकर पाताल को धस गये और उस प्रकार मन्द्राचल, उदयाचल और अस्ताचल आदिक जो भी छोटे बडे पर्वत थे वे सभी नीचे को चले गये। पृथ्वी भी जर्जर होकर उसमें यत्र तत्र गद्दे पड गये, कितने ही मनुष्य, वृक्ष और स्थावर जगम सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गये। ऐसा कोलाहल मचा कि उससे दिशायें क्षुब्ध हो गईं, घोर उपद्रव होने लगा। तब मैंने अपने इष्ट देवता से कहा—प्रभो! अब यह उपद्रव क्यों हो रहा है, ऐसा शरीर तो मैंने कोई सुना था कि जिसके गिरने से इतनी हलचल मचे? अग्नि देवता ने कहा—वत्स, अब इस सम्बन्ध में तुम सर्वथा ही चुप रहो। ऐसा क्यों हुआ है, इसका कारण मै तुम्हें फिर बतलाऊंगा। अभी यह सब कुछ शान्त हो

जाने दो। मेरे अग्निदेव ऐसा कह ही रहे थे कि उस घोर उपद्रव को शान्त करने के विचार से समस्त देवता, सिद्ध, चारण एकत्र होकर गये। देवी की आराधना करने का निश्चय हुआ फिर तो—'हे देवी शववाहिनी! हम तेरी शरण आये हैं, इन सारे उपद्रवों को शान्त कीजिए,' ऐसी प्रार्थना होने लगी।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८८॥

नवासीवाँ सर्ग

मशक जन्मान्तर वर्णन



राजन् दशरथ! जब देवताओंने देवी से बहुत प्रकार की प्रार्थना की तो क्या देखा कि सातो ही द्वीप देवी के पेट में समा गये और उसकी भुजाओ से सुमेरु आदिक पर्वत भी आच्छादित हो गये, समस्त भूमण्डल क्षण भरमें ढक गया। विद्याधर और सिद्ध—गन्धर्वों ने स्तुति की झडी लगा दी। फिर तो देवी चण्डिका आकाशसे अपने पक्ष, वैताल और भैरव आदि गणों को साथ लेकर दिशाओंको आच्छादित करती हुई वहाँ आ पहुँची और उस समय उसका तेज मानों अग्नि के समान ही उद्दीप्त हो रहा था। लाल लाल नेत्र, उज्वल केश और दातोंसे वह महाभयानक जान पडती थी। वह कितने ही भयकर अस्त्र धारण किये हुये थी। कई कोटि योयनो तक उसका लम्बा विस्तार था। सारी दिशायें और सारा आकाश एक उससे ही ढका हुआ था। वह परमपद मे ही स्थित थी। वह ऐसी प्रकाशमान होरही थी मानो अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य के समस्त प्रकाश उसके आगे क्षीण हो रहे है। उसके हाथो में तलवार चमक रही थी और ध्वजा, मूशल तथा ऐसे सभी प्रकार के अस्त्र शस्त्र यथा स्थान सजे हुये थे। जब वह अपने ऐसे भयानक वेशसे देवताओं के निकट आई तो देवता फिर उसकी प्रार्थना करने लगे। तब देवताओ की

प्रार्थना से प्रसन्न होकर देवी चण्डिका ने प्राण वायु को खींचकर उस शव में जितना भी रक्त था सब पान कर गई। उससे देवी के सब अङ्ग पूर्ण हो गये और नेत्र लाल लाल हो गये तथा वह मग्न होकर नृत्य करने लगी। फिर तो उसके गण उस शव का भक्षण करने लगे। हे राजन् दशरथ। उस समय मैं अपने इष्ट देवके हमवाहन पर आरूढ़ होकर यह सब दृश्य देखता था। तब उन समग्र दृश्यों को देखते हुये मैंने अग्निदेवसे पूछा—हे भगवन्! वह शरीर जो पृथ्वी पर गिरा और जिससे ही इतना उपद्रव हुआ वह कैसा शव-शरीर है? तब अग्निदेवने मुझसे कहा—हे विपश्चित! एक परम आकाश का चिन्मात्र पुरुष है कि जिस सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त का ही यह शरीर है और वह केवल अपने आपही में स्थित है। वही सवेदन वश किंचन हो रहा है। वही जब जहां फुरता है तब तहा ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है और वह तेज अणु मैं ही हूँ। चित सवेदन ने ही अपने आपको अणु जान लिया है। उस ब्रह्म में जैसा स्फुरण हुआ है अधिष्ठान मे वैसा ही भासता है। तभी उस अणु में शरीर की भावना होती है और तभी वह अपने साथ शरीर को देखता है। तब वह उसी को अपना आप जानकर इन्द्रियो से विषयों को ग्रहण करने लगता है तब वही चिद्रूप जीव प्रमाद से आधार आधेयभाव को मानने लगा परन्तु उस अधिष्ठान मे कुछ उपजा नहीं, सब कुछ अद्वैत सत्ता हो अपने आपमे स्थित है। केवल प्रमादवश ही अपने को प्राण, मन और अहकार को धारण कर कहता है कि यह मेरे माता हैं, यह पिता हैं किन्तु मैं अनादि जीव हूँ। उसी जीव मे फुरनेसे अङ्ग प्रत्यङ्ग उत्पन्न हो गयेहैं। चित्तकलाके स्फुरणने हो अपनेको तेज अणु जान लिया है अहवृत्तिनेही अहकारको उत्पन्न कर लिया है। तब निश्चयात्मक बुद्धि और चैत्यतारूपी चित्त और सकल्प विकल्परूपी मन उत्पन्न होगया। तब तन्मात्रा उत्पन्न हुई और फिर उसकी इच्छा द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ हुई और वह देखने लगीं।

तब उस शक्तिसे जब आगे दृश्य भासित हुआ तब उस शक्तिने अपने को प्रमाद वश द्वेषसे द्वैत जाना और साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल कुटुम्ब फुर आये कि यह मेरी माता है यह मेरे पिता हैं, यह मेरा कुल है और यह चिदकाल से ही ऐसा चला आ रहा है। ऐसे ही एक दैत्य अहंकार वश विचरने लगा तो एक ऐसी कुटी में जा पहुंचा कि जहाँ एक ऋषी बैठे हुए थे। परन्तु कुटीमे पहुँचने के साथ ही उसने उसे चूर्ण कर दिया तब ऋषी के निकट गया तो ऋषी ने उससे पूछा कि रे दुष्ट तूने ऐसा क्यों किया, मैं तुझे शाप देता हूँ कि मच्छर हो जा। फिर तो ऋषि के शाप से उसका शरीर भस्म हो गया और उसकी निराकार चेतन सवित भूताकाश रूप हो गई और वह मच्छर हो गया और इस प्रकार दो तीन दिन तक उस शरीर में रह कर वह फिर और ही शरीर में प्रविष्ट हो गया। हे राजन्! दशरथ इसी प्रकार जितने भी जीव जन्म पाते हैं वे जन्मसे जन्मान्तर को आते जाते ही रहते हैं। कितने ही ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं, कितनों को पूर्व की वासना का ससरना होता है कि जिससे वे वैसी शरीर धारण करते हैं। परन्तु आदि में समस्त जीव सस्कार रूपी बिना कारण के ही उत्पन्न हुए हैं और फिर जन्म से जन्मांतर को प्राप्त होते हैं। जो जीव बिना सस्कार के ही उत्पन्न होते हैं उन्हे यह समझना चाहिये कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मासे हुई है और जिसकी सृष्टि सस्कार मय प्रतीत हो उसे जानना चाहिये कि यह कई जन्मातरों से होता हुआ आया है। इसी प्रकार जब उस राक्षस ने मच्छर का शरीर धारण किया तब घास, तृण और पत्तो के साथ मिलकर रहने लगा। एक दिन वह घास मे विचरण कर रहा था कि एक मृगका पाँव पड़ने से वह मृतक हो गया। मृतक होते ही वह फिर मृग योनि में उत्पन्न हुआ और वन वनमें विचरने लगा। उसे एक वधिक ने मार डाला। इससे वह फिर वधिक हुआ। तब वधिक होकर जब कि वह वन में आखेट करने लगा तो उसे वहाँ एक तपस्वी दिखलाई

प्रार्थना से प्रसन्न होकर देवी चण्डिका ने प्राण वायु को खींचकर उस शव में जितना भी रक्त था सब पान कर गई। उससे देवी के सब अङ्ग पूर्ण हो गये और नेत्र लाल लाल हो गये तथा वह मग्न होकर नृत्य करने लगी। फिर तो उसके गण उस शव का भक्षण करने लगे। हे राजन् दशरथ। उस समय मैं अपने इष्ट देवके हंसवाहन पर आरूढ़ होकर यह सब दृश्य देखता था। तब उन समग्र दृश्यों को देखते हुये मैंने अग्निदेवसे पूछा—हे भगवन्! वह शरीर जो पृथ्वी पर गिरा और जिससे ही इतना उपद्रव हुआ वह कैसा शव-शरीर है? तब अग्निदेवने मुझसे कहा—हे विपश्चित! एक परम आकाश का चिन्मात्र पुरुष है कि जिस सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त का ही यह शरीर है और वह केवल अपने आपही में स्थित है। वही संवेदन वश किंचन हो रहा है। वही जब जहां फुरता है तब तहां ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है और वह तेज अणु में ही हूँ। चित संवेदन ने ही अपने आपको अणु जान लिया है। उस ब्रह्म में जैसा स्फुरण हुआ है अधिष्ठान में वैसा ही भासता है। तभी उस अणु में शरीर की भावना होती है और तभी वह अपने साथ शरीर को देखता है। तब वह उसी को अपना आप जानकर इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने लगता है तब वही चिद्रूप जीव प्रमाद से आधार आधेयभाव को मानने लगा परन्तु उस अधिष्ठान में कुछ उपजा नहीं, सब कुछ अद्वैत सत्ताही अपने आपमें स्थित है। केवल प्रमादवश ही अपने को प्राण, मन और अहंकार को धारण कर कहता है कि यह मेरे माता हैं, यह पिता हैं किन्तु मैं अनादि जीव हूँ। उसी जीव में फुरनेसे अङ्ग प्रत्यङ्ग उत्पन्न हो गये हैं। चित्तकलाके स्फुरणने ही अपनेको तेज अणु जान लिया है अहंवृत्तिनेही अहंकारको उत्पन्न कर लिया है। तब निश्चयात्मक बुद्धि और चैत्यतारूपी चित्त और संकल्प विकल्परूपी मन उत्पन्न होगया। तब तन्मात्रा उत्पन्न हुई और फिर उसकी इच्छा द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ हुई और वह देखने लगी।

तब उस शक्तिसे जब आगे दृश्य भासित हुआ तब उस शक्तिने अपने को प्रमाद वश द्वेषसे द्वैत जाना और साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल कुटुम्ब फुर आये कि यह मेरी माता है यह मेरे पिता हैं, यह मेरा कुल है और यह चिदकाल से ही ऐसा चला आ रहा है। ऐसे ही एक दैत्य अहंकार वश विचरने लगा तो एक ऐसी कुटी मे जा पहुंचा कि जहाँ एक ऋषी बैठे हुए थे। परन्तु कुटीमें पहुँचने के साथ ही उसने उसे चूर्ण कर दिया तब ऋषी के निकट गया तो ऋषी ने उससे पूछा कि रे दुष्ट तूने ऐसा क्यो किया, मै तुझे शाप देता हूँ कि मच्छर हो जा। फिर तो ऋषि के शाप से उसका शरीर भस्म हो गया और उसकी निराकार चेतन सवित भूताकाश रूप हो गई और वह मच्छर हो गया और इस प्रकार दो तीन दिन तक उस शरीर में रह कर वह फिर और ही शरीर मे प्रविष्ट हो गया। हे राजन्! दशरथ इसी प्रकार जितने भी जीव जन्म पाते हैं वे जन्मसे जन्मान्तर को आते जाते ही रहते हैं। कितने ही ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं, कितनों को पूर्व की वासना का ससरना होता है कि जिससे वे वैसी शरीर धारण करते हैं। परन्तु आदि मे समस्त जीव संस्कार रूपी बिना कारण के ही उत्पन्न हुए हैं और फिर जन्म से जन्मातर को प्राप्त होते हैं। जो जीव बिना सस्कार के ही उत्पन्न होते हैं उन्हे यह समझना चाहिये कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मासे हुई है और जिसकी सृष्टि संस्कार भय प्रतीत हो उसे जानना चाहिये कि यह कई जन्मातरों से होता हुआ आया है। इसी प्रकार जब उस राक्षस ने मच्छर का शरीर धारण किया तब घास, तृण और पत्तों के साथ मिलकर रहने लगा। एक दिन वह घास में विचरण कर रहा था कि एक मृगका पाँव पडने से वह मृतक हो गया। मृतक होते ही वह फिर मृग योनि में उत्पन्न हुआ और वन बनमें विचरने लगा। उसे एक वधिक ने मार डाला। इससे वह फिर वधिक हुआ। तब बधिक होकर जब कि वह वन मे आखेट [illegible] ता उसे वहाँ एक तपस्वो दिखलाई

पडे और वह तपस्वी के निकट जाकर बैठ गया। तब उन महात्मा ने कहा—हे वधिक। तुम यह क्या चेष्टा करते हो। तुम्हारी यह चेष्टा तो तुम्हे नरक में ले जाने वाली है यह आयु बड़ी ही क्षणभगुर है। जैसे अजुली का भरा क्षणभगुर होता है और जैसे बिजली का चमत्कार नितान्त ही अस्थिर होना है वैसेही यह आयुर्दा भी है। तब एसी अवस्था को पाकर तू अभिमान में फूला हुआ ऐसा अधन्य कार्य क्यो करता है? यह आयु क्षणभगुर और यह यौवन सर्वथाही निसार रूप है, इसमें भोगो को क्या भोगना है? ये भोग कदापि शान्ति को न देंगे। शान्ति चाहता हो तो सारी इच्छाओ का रमन कर दे। बिना इच्छाओ को निर्वाण किये दुःख नहीं मिटता। दुःख मिटाने के लिये तू मुझसे निर्वाण का प्रश्न करे। तभी दुःखों से मुक्त होगा अन्यथा तेरे ये कार्य तुझे अवश्य ही नरक में ले जायेंगे। तू अपने हाथ से ही अपने पाँव में कुल्हाडी क्यों मारता है? अपने नाश के लिये विपत्ति का बीज क्यों बोता है? अतः तू वही चेष्टा कर कि जिससे ससार सागर को पार कर जाये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८९॥

नब्बे का सर्ग

भीतरी महाप्रलय एव स्वप्नावस्था वर्णन



हे रामजी। तपस्वी के इस प्रकार कहने पर वधिक ने कहा हे भगवन्। मै क्या करूँ इच्छायें तो निर्वाण होती ही नहीं। मैं तो चाहता हूँ कि ये न उठे। परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी इच्छाओं का दमन नहीं होता। आप ऐसा कहते हैं तो आप ही बतलावे कि इनका दमन कैसे होगा? परतु देखिए, वह युक्ति भी ऐसो होवे कि न तो अधिक कठिन हो और न अधिक मृदु मध्यम कोटि का होवे। मैं अवश्य ही इसे निर्वाण करना चाहता हूँ। तपस्वी ने कहा—हे वधिक। इसके लिये तुम

शम, दम को धारण करो। मन का निग्रह शम है और इन्द्रियों का दमन करना दम है मनको एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है कि जिससे जगत का भ्रम नष्ट होकर परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। हे राजन् दशरथ! जब उस तपस्वी ने वधिक से ऐसे कहा तब वह वधिक उठकर खड़ा हो गया और प्रणाम करके उसीके अनुरूप ही तप करने लगा। तब उस प्रकार से तप करते हुये उसने इन्द्रियों को वश में किया और तब जो कुछ अनिच्छित ही उसे ज्ञान प्राप्त होती उसे ही यथा शास्त्र भोजन करके हृदय से सर्व क्रियाओं को त्यागते हुये मौन वृत्ति धारण कर लिया। इस प्रकार से तप करते हुये जब उसे कुछ काल व्यतीत हुआ तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह ऋषिके निकट पहुँच दण्डवत करके आ बैठा और बोला—हे भगवन्! यह जो बाह्य दृष्टि है वह भीतर कैसे होगी और यह भीतरी दृष्टि बाह्य विषयोंमें क्योंकर चली गई कृपया इसे बतलाइये। तपस्वीने कहा—हे वधिक! यह तो तूने गूढ़ प्रश्न किया है। यही प्रश्न मैंने गणेशजी से किया था, तब गणेशजी ने मुझसे जैसा कहा, वैसा मैंने धारण किया। अब उसेही कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो ऐसीही शंका मुझे भी हुई थी और तब जो मैंने उपाय की थी वह यह है कि पद्मासन लगाकर ध्यान किया और उस ध्यान में मैंने अपनी समस्त बाह्यदृष्टि को रोककर पुर्यष्टका मे स्थित किया। फिर उसे भी शरीर से विरक्त कर निराधन आकाश स्थिर किया। परंतु वैसा करनेपर भी वह रह रहकर बारबार जहाँ २ मे ध्यान को एकाग्र करता वह वहाँ २ से भी निकल जाता। प्राण और मन उसे खैंच ले जाते थे। तब मैंने बड़ी ही दृढ़ता से ध्यान लगाया और भोगकी धारणा करके पद्मासन बाँधकर प्राण मार्ग से उसे भीतर किया। फिर तो मैं ही उसमे समा गया और इस प्रकार बलिष्ट ध्यान से भीतर पहुँचकर मैंने एक एक इन्द्रियो को देखा तब

पड़े और वह तपस्वी के निकट जाकर बैठ गया। तब उन महात्मा ने कहा—हे वधिक! तुम यह क्या चेष्टा करते हो। तुम्हारी यह चेष्टा तो तुम्हे नरक में ले जाने वाली है यह आयु बड़ी ही क्षणभगुर है। जैसे अजुली का भरा क्षणभगुर होता है और जैसे बिजली का चमत्कार नितान्त ही अस्थिर होता है वैसेही यह आयुर्दा भी है। तब एसी अवस्था को पाकर तू अभिमान में फूला हुआ ऐसा अधन्य कार्य क्यो करता है? यह आयु क्षणभंगुर और यह यौवन सर्वथाही निसार रूप है, इसमें भोगो को क्या भोगना है? ये भोग कदापि शान्ति को न देंगे। शान्ति चाहता हो तो सारी इच्छाओं का रमन कर दे। विना इच्छाओं को निर्वाण किये दुःख नही मिटता। दुःख मिटाने के लिये तू मुझसे निर्वाण का प्रश्न करे। तभी दुःखों से मुक्त होगा अन्यथा तेरे ये कार्य तुझे अवश्य ही नरक में ले जायँगे। तू अपने हाथ से ही अपने पाँव मे कुल्हाडी क्यों मारता है? अपने नाश के लिये विपत्ति का वीज क्यो बोता है? अतः तू वही चेष्टा कर कि जिससे ससार सागर को पार कर जाये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८९॥

नब्बे का सर्ग

भीतरी महाप्रलय एव स्वप्नावस्था वर्णन



हे रामजी! तपस्वी के इस प्रकार कहने पर वधिक ने कहा हे भगवन्! मै क्या करूँ इच्छायें तो निर्वाण होती ही नहीं। मैं तो चाहता हूँ कि ये न उठे। परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी इच्छाओं का दमन नहीं होता। आप ऐसा कहते हैं तो आप ही वतलावें कि इनका दमन कैसे होगा? परतु देखिए, वह युक्ति भी ऐसो होवे कि न तो अधिक कठिन हो और न अधिक मृदु मध्यम कोटि का होवे। मैं अवश्य ही इसे निर्वाण करना चाहता हूँ। तपस्वी ने कहा—हे वधिक! इसके लिये तुम

शम, दम को धारण करो। मन का निग्रह शम है और इन्द्रियों का दमन करना दम है मनको एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है कि जिससे जगत का भ्रम नष्ट होकर परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। हे राजन् दशरथ! जब उस तपस्वी ने वधिक से ऐसे कहा तब वह वधिक उठकर खड़ा हो गया और प्रणाम करके उसीके अनुरूप ही तप करने लगा। तब उस प्रकार से तप करते हुये उसने इन्द्रियों को वश मे किया और तब जो कुछ अनिच्छित ही उसे ज्ञान प्राप्त होती उसे ही यथा शास्त्र भोजन करके हृदय से सर्व क्रियाओं को त्यागते हुये मौन वृत्ति धारण कर लिया। इस प्रकार से तप करते हुये जब उसे कुछ काल व्यतीत हुआ तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह ऋषिके निकट पहुँच दण्डवत करके आ बैठा और बोला—हे भगवन्! यह जो बाह्य दृष्टि है वह भीतर कैसे होगी और यह भीतरी दृष्टि बाह्य विषयोंमें क्योंकर चली गई कृपया इसे बतलाइये। तपस्वीने कहा—हे वधिक! यह तो तूने गूढ़ प्रश्न किया है। यही प्रश्न मैंने गणेशजी से किया था, तब गणेशजी ने मुझसे जैसा कहा, वैसा मैंने धारण किया। अब उसेही कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो ऐसीही शङ्का मुझे भी हुई थी और तब जो मैंने उपाय की थी वह यह है कि पद्मासन लगाकर ध्यान किया और उस ध्यान मे मैंने अपनी समस्त बाह्यदृष्टि को रोककर पुर्यष्टका मे स्थित किया। फिर उसे भी शरीर से विरक्त कर निराधन आकाश स्थिर किया। परतु वैसा करनेपर भी वह रह रहकर बारंबार जहाँ २ मे ध्यान को एकाग्र करता वह वहाँ २ से भी निकल जाता। प्राण और मन उसे खैंच ले जाते थे। तब मैंने बड़ी ही दृढ़ता से ध्यान लगाया और भोगकी धारणा करके पद्मासन बाँधकर प्राण मार्ग से उसे भीतर किया। फिर तो मैं [illegible] समा गया और इस प्रकार बलिष्ट ध्यान से भीतर पहुँच- [illegible] एक इन्द्रियो को देखा त-

भावको प्राप्त हुआ है और वही प्राण वायु को अपना आश्रय भूत कल्पता हुआ करता है कि यह मेरा प्राण है, यह मेरा मन है, यह मेरा चित्त ऐसा कहता है इत्यादि। इस प्रकार जैसे २ वह कल्पना करता है वैसेही वैसे देह, इन्द्रियाँ और जगतका भान होता है। क्योंकि वह सर्व शक्तिमान परब्रह्म से ओत प्रोत है और उसमें वह जैसी २ भावना करता है वैसाही वैसा रूप होकर भासता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अन्य कुछ हुआ नहीं, सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। मनमें जैसे स्फुरण की दृढ़ता हुई है वैसेही वसे देह, इन्द्रिय और जगत भासने लगा है। परन्तु यह सब कुछ स्वप्नवत ही है। समस्त संकल्प विकल्पों को मनने ही रचकर खडा किया है। मनमें जब यह स्फुरण होता है कि यह पदार्थ सत्य है तो वह वैसा ही भासने लगता है और जब मन किसी वस्तु के सम्बन्ध में उसे असत्य जान लेता है तब वही असत्य हो जाता है। इससे यह जितने भी खेल हैं सबको इच्छा शक्ति एवं मनने ही रचा है। अत. मनके विस्मरणका ही उपाय करना चाहिए। मन न रहे तो आत्म ज्ञानसे भिन्न कुछ भी भासित न होवे। मनके शान्त हुये विना कोई भी शान्ति दुर्लभ है। सो मन कैसे शान्त होगा, सुनो। मनको ठहराने के लिये प्राणकी क्रिया करनी चाहिए। जब प्राण ठहर जाता है तब मन भी जड़ी भूत हो जाता है और उसी अवस्था का नाम सुषुप्ति अवस्था है। परन्तु अब यह देखना चाहिए कि मन कहाँ से चलता है। सो, सुनो–जिस स्थान में चर्वण किया हुआ अन्न जाकर स्थिर हो जाता है वहीं से मन चलता है, अस्तु वहींसे मनको रोकना चाहिये। जब वहाँ से वह वासना युक्त नाडी रोक दी जाती है तब मन ठहर जाता है। परतु उस अज्ञानी मनकी ऐसी कठिन गति है कि वह ससार को लेकर फिर उठ आता है और सुषुप्ति आदि का भी बन्धन नहीं भासता। इसके विपरीत जो ज्ञानी हैं उनका मन तो सर्वदा ही ठहरा रहता है और वे सर्वदा

ही चेतन भाव को प्राप्त रहते हैं। इसमे भी दो भेद हैं। एक योगीका मन और दूसरा ज्ञानी का मन। योगी समाधि अवस्था में पहुँच कर मन को स्थिर करता है और उसको समाधि निष्ठ चित्त कहते हैं। परन्तु जो जीवन्मुक्त और ज्ञानी हैं उनको चित्तकी वृत्ति सम्यक्ज्ञान से ही स्थित रहती है उसके मनमे कुछ भी वासना नही रहती और सर्वदा प्रतिक्षण शान्तस्वरूपसे स्थित ही रहता है और जो पुरुष इस प्रकारसे स्थित रहता है जानो कि उसे ही निश्चित शान्ति प्राप्त हुई है। किन्तु वासनायुक्त चित्तमे तो शान्ति कहाँ? उसके दुःख कभी नहीं मिटते और वह निर्वासनिक कभी नहीं होता। वासना रहित होनेके लिए तो यह महारामायण ही अत्युत्तम है। यह यथातथ्य ज्ञान को देनेवाला और सर्व शोक नाशक है। यदि मेरे उपरोक्त कथन के अनुसार अभ्यास करोगे तो शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जावेगी। यही विचार सर्वदा ही प्रयोग मे लाना चाहिए। इस प्रकार के विचार से चित्त निर्वासनिक हो जाता है। हे रामजी! अब उस वधिक का प्रसग फिर सुनो जब मैंने उस शव-शरीर मे प्राण मार्गसे प्रवेश किया तब देखा कि उसने जो अधिक से अन्न खा लिया था इसी कारण वह मृतक हुआ था। जब मैंने उसमें प्रवेश कर अन्न पचा दिया तो उसके प्राण फुरने लगे और वृत्तियाँ जडता भावको त्यागने लगीं। फिर तो क्रमश: ही उसकी सारी जडता नष्ट हो गई और फिर प्राणके स्फुरणसे सूर्य, चन्द्रमा आदिक सारा विश्व नाना प्रकार से भासने लगा। तब मै सकुटुम्ब हो रहने लगा और वहाँ रहते २ मुझे अपनी कुटी भास आई और स्त्री, पुत्र, भाई, जन, बान्धव सब जैसा तैसा ही भासित होने लगे। फिर कुछ क्षण पश्चात् देखा तो प्रलयके बादल उमड आये मूशलाधार जल वृष्टि होने लगी, सातों समुद्र उछ-लने लगे। प्रलयकाल जैसा अनेक उपद्रव उठ खड़ा हुआ। ऐसी प्रचंड अग्नि लगी कि उमसे सम[illegible] गये। तब जल का उपद्रव उठा और उसमें नगर, ग्राम [illegible] पशु, पत्ती सब बह चले।

क्षोभ उत्पन्न हुआ अनेक प्रकारका हाहाकार मच गया। उस भीषण प्रहार मे मेरी कुटी बह चली और स्त्री, पुत्र, भाई जन सब उस जल के प्रवाह मे बहचले। मैं जहाँ बैठा था वह स्थान भी लुढ़क चला। मुझे घोर कष्ट मिला। एक तरग ऊपर ले जाती तो एक नीचे। सारा जगत मुझे स्पष्ट रूप से भासने लगा। समस्त राग द्वेष मिट गये, दृश्य शान्त हो गया। मैंने स्पष्ट देखा कि उसमे नगरदेवा और मडलों के सहित महादेवजी और समस्त विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर जहाँ के तहाँ ही बह चले ब्रह्मा और रुद्र तथा, इन्द्र, कुबेर और शीरशायी विष्णुभगवान भी अपनी २ परियों के सहित कहाँ का कहाँ बह चले किसी में ऐसी सामर्थ्य न थी कि जो एक दूसरे को निकाले। फिर कौन निकाले, जब कि सब आप ही बह रहे थे। जिन देवताओ के पास महान ऐश्वर्यथा,जो बड़ेही प्रतापी और यशस्वी थे वे भी बह गये।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का नब्बे का सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

इक्कानवे का सर्ग

भीतरी प्रलयाग्नि दाह वर्णन



रामजी ! तपस्वी के ऐसा कहनेपर वधिकने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि तो सर्वथा ही स्वतन्त्र ईश्वर रूप हैं फिर वे किसी परतन्त्रके समान ही कैसे बहे जाते थे ? आपने उन्हे कैसे देखा ? वे गुप्त क्यों न हुए ? तपस्वी ने कहा—हे वधिक! यह महाप्रलय का क्रम युक्त नहीं था। जब जो महाप्रलय क्रम युक्त होता है तब उसमें ब्रह्मा आदिक ईश्वर समाधि से शरीर को अन्तर्ध्यान कर लेते हैं। परन्तु इनका भी तो कोई नियम नहीं है। ये भी तो संकल्प रूप ही हैं और सक्लपवश ही उन्होंने जगत को रचा है, इस कारण यह सारा जगत कुछ है नहीं, सब कुछ भ्रमरूप ही है। फिर उनमे क्या आस्था की जाये ? स्वप्न में क्या नहीं बनता ? स्वप्न भ्रमके कारण

ही सब कुछ विपर्यय होकर भासता है। तपस्वी के ऐसा कहने पर व्याधा ने प्रश्न किया—हे मुने! जब वह स्वप्न भ्रम पूर्ण हो था तब उसका वर्णन ही आपने क्यों किया? तपस्वीने उत्तर दिया—हे वधिक! सुनो, उसकी समता मैंने इस लिए दी है कि उस महाप्रलय में स्थावर जंगम सभी कुछ तो बह रहा था और स्वयं मैं भी बहा जा रहा था। परन्तु उन सारी तरंगों के थपेड़े खाकर भी मुझे रंच मात्र भी कष्ट न होता था। तब बहते-बहते मैं एक किनारे पर जा लगा तो क्या देखता हूँ कि मैं एक पहाड़ की कन्दरा में पड़ा हुआ हूँ। फिर क्या दिखलाई पड़ा कि जलके प्रवाह में जीव बह भी रहे हैं और जल सूख भी रहा है, उससे कीचड़ उत्पन्न हो गया है। किसी स्थान में कोई डूब रहा है, कहीं ब्रह्मा के हंस पड़े हुये हैं, कहीं यमदेव और विष्णुदेव के वाहन कीचड़ में पहाड़ की समान पड़े हुये हैं। कहीं इन्द्रका ऐरावत हाथी पड़ा हुआ है और कहीं विद्याधर के वाहन तथा कहीं देवता, लोकपाल और सिद्ध गन्धर्व ही पड़े हुये किनारे लगे हैं। हे वधिक तब ऐसे आश्चर्य को देखकर मैं वहीं पहाड़ की कन्दरा में सो गया और तब मुझे अपनी उस संवित में एक ऐसा स्वप्न आया कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदिक नाना प्रकारे के जगत जलते हुये दिखलाई पड़े, पर्वत भी जल रहे थे और जगत भी बड़े खेद को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार मैं सारी रात स्वप्न में ही पड़ा रहा और दूसरे दिन भी अनेकों प्रकार का स्वप्न ही दिखलाई पड़ा। उसमें मैंने अपने को देखा कि मैं १६ वर्ष का सुन्दर शरीर धारण किये अपने माता-पिता के पास स्थित हूँ। मुझे ज्ञात होता था कि ये मेरे माता पिता हैं, यह मेरी स्त्री है, ये मेरे कुटुम्ब हैं, ये मेरे बन्धु-बान्धव हैं। इस प्रकार तृष्णा युक्त बोध से रहित मुझे वह सब कुछ भासित हो आया। अहं-मम का मोह फुर आया। तब मैंने बहुत सा काठ का संग्रह करके एक ग्राममें अपनी कुटी बनाई, उसके चारों ओर पुष्प-वाटिका

नियत किया। फिर एक आसन बना कर वहाँ रख दिया और उसके पास ही माला और कमण्डल भी रख दिया। यद्यपि मै ब्राह्मण था तथापि मुझे धनकी इच्छा हुई किन्तु मेरा जो कुछ ब्राह्मण का धर्म था मै उसे करता ही रहा। मैंने वहाँ अपने कुछ शिष्य भी बना लिये सेवक हमारी पूजा करने लगे, मै उन्हे यथा योग्य सब को आशीर्वाद देता था। इस प्रकार से गृहस्थाश्रम में रह कर ही मैं सर्व चेष्टाओं को करता हुआ जीवन बिता रहा था कि मुझे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मेरा अमुक कर्तव्य है, अमुक कार्य करने से मेरा भला होगा। मैं नदियोंमें स्नान करूँ, गौ की सेवा करूँ, अतिथि की पूजा करूँ आदि-आदि। इस प्रकार से चेष्टा करता हुआ मैंने वहाँ पूरे सौ वर्ष व्यतीत किये। तब एक तपस्वी मेरे स्थान पर आया तो पहले मैंने उसे स्नान कराया, फिर भोजन से संतुष्ट कर रात्रि में उसे सुन्दर आसन पर सुख से शयन कराया और सारी रात हम उससे सत्सग करते ही रहे। उस तपस्वी ने भी हमे बहुत ही अच्छे २ आख्यान सुनाये, उपदेश दिये। तब उपदेश देते हुये उस तपस्वी ने मुझसे कहा—हे ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी मै तुमसे कह गया हूँ उन सबमे सार वस्तु एक चिन्मात्र स्वरूप ही है। सारा जगत उसीका चमत्कार और किञ्चन मात्र है, उससे भिन्न वस्तु कुछ भी नहीं है। तुम उसी सत्ता को ग्रहण करो। वही सबका अनुभव और परमानन्द स्वरूप है। तुम उसीमे स्थित हो रहो। हे व्याधे! जब उस तपस्वी ने मुझसे ऐसा कहा तब मेरा मन योगसे ऐसा निर्मल था कि उसका उपदेश मेरे हृदय में तुरत ही लग गया और मै अपने स्वभाव सत्ता मे स्थित हो गया तब मैंने देखा कि सब कुछ मेरा सकल्प ही है और मुझ से भिन्न कुछ नहीं है, मै मुनीश्वर हूँ और यह मुझे एक स्वप्न मात्र हुआ था। सो मैंने जागकर देखा कि यह तो उसी पुरुषका स्वप्ना था कि जिसके शरीर में मै प्रविष्ट हुआ था और वह पुरुष विराट है तथा उसीके प्रमाद से यह मै ऐसा हो गया हूँ। तब मैंने

पद्मासन लगाकर योगकी धारणा की तो उस विराट का शरीर मुझे दिखलाई पडा। फिर तो मैं विराके फुरने के साथ ही प्राण मार्ग से निकल कर अपनी कुटो में पहुचा तो वहां अपने शरीर को पद्मासन बाँधे बैठे देखा। तब उसमे पहुँच कर जो मैने नेत्र खोला तो अपने समस्त वहाँ शिष्यों को बैठे हुये देखा। फिर एक घड़ी के पश्चात् मुझे और क्या-क्या भ्रम, चेष्टाये आश्चर्य दिखलाई पडा कि जो वर्णनातीत है। एक मुहूर्त मे ही उस सौ वर्ष अनुभव हो आया। फिर मेरे मनमे यह उत्पन्न हुआ कि उमके चित्त में प्रवेश करके कुछ और भी कौतुक देखूँ। तब प्राणमार्ग से उसके चित्तमे मै प्रविष्ट हुआ और मेरी सारी कल्पनायें जाती रहो तथा मुझे फिर एक दूसरे ही कल्पका भान हो आया बारह सूर्य उदय होकर सारे विश्व को भस्म कर रहे थे बडवाग्नि दहक रही थी, मन्दराचल टूटकर गिर रहा था, पृथ्वी जर्जर हो गई थी, स्थावर जङ्गम सभी हाहाकारी शब्द कर रहे थे, बिजली चमक रही थी, महान क्षोभ उत्पन्न हो गया था। मै भी उस अग्निसे अछूत न बचा और मेरा भी शरीर जलने लगा किन्तु मुझे उसका तनिक भी कष्ट न हुआ। मै हृदय से ज्यों का त्यों-शीतल ही बना रहा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्धका, एक्यानवेका सर्ग समाप्त ॥ ९१ ॥

बानवे का सर्ग

कर्म क्या है ?



पक्षीने कहा-हे व्याधे! उस प्रलय के क्षोभ मे मै भी भटकता था परन्तु मुझे अपने पूर्व शरीरका विस्मरण न हुआ था, इस कारण मुझे शरीर का दुःख तनिक भी स्पर्श न किया। तब मैंने विचार किया कि यह संसार तो मिथ्या है, फिर इसमें विचरने से मेरा क्या प्रयोजन है-? यह तो स्वप्न मात्र ही है, फिर इसमें मैं किम लिए खेद करता हूँ।

अत. इस जगत से मै बाहर निकलूँ तो मेरा कल्याण होवे। व्याधने कहा—हे मुने! जो उस स्वप्न में आपको जगत दिखलाई पड़ा वह क्या वस्तु था और आपको वह स्वप्न क्यों हुआ? आपने तो जाग्रत अवस्था में वह स्वप्न देखा था फिर उसमें पहाड, नदियां और वृक्ष आदिक नाना प्रकार की भूत जातियां एवं आकाश, जल, वायु और अग्नि आदिक विश्वकी समस्त रचना कहाँ से आई—कृपाकर मुझे यह बतलाइये?

तपस्वी ने कहा—हे वधिक। यह स्वप्ना तो क्या है, स्वरूप के प्रमाद वश नाना प्रकार के भयानक स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। निद्रावस्था में ही स्वप्न नहीं आते बल्कि स्वरूपके प्रमाद एवं हृदयकी अशान्ति के कारण जाग्रत दशामें भी मनुष्य नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। अपने को भूल जाना महान अनर्थों का द्योतक हैं। अपने को भूला नहीं कि हृदय मे नाना प्रकार के जगत दीखने लगते हे और उसीको जब अपना आप करके देखता है तो सब कुछ स्पष्ट ज्ञात होता है। कारण से उपजी हुई वस्तु सत्य होती है और बिना कारण के उपजी हुई असत्य होती है। मुझे जो सृष्टि उसके स्वप्न में भासित हुई थी वह बिना कारण ही थी—इससे मैं उसको भ्रम मात्र ही कहूँगा। क्योंकि वह बिना कारण ही भास आई थी। ऐसे ही भ्रम वश आत्मा में जगत का आभास हुआ है। जगत न भासा होता तो अद्वैत आत्मसत्ता ही थी। उसमें सवेदन के स्फुरण से जगत उत्पन्न हुये के समान भास रहा है। परन्तु यह किंचन एवं अभास मात्र ही है। उसमें शरीर, हृदय, पृथ्वी जल, वायु, अग्नि, आकाश और उत्पत्ति-प्रलय कुछ भी नहीं हुआ, वह केवल चिन्मात्र रूप ही है। ज्ञान दृष्टिसे देखिए तो सब चिदानन्द ही भासता है कि जो सर्व दुःखों से रहित परमानन्द रूप ही है—वही जगतरूप से भासित हो गया है। परन्तु तुम्हारे जैसे को तो यह जगत शब्द युक्त ही भासता है। किन्तु उस आत्मा में जगत कुछ

हुआ नहीं केवल चिन्मात्र सत्ता ही अपने आप मे स्वतः स्थित है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, उत्पत्ति और प्रलय न कभी था न है—सब केवल चिन्मात्र रूप ही है। ज्ञान दृष्टि से देखो तो सब कुछ शुद्ध, दुःखरहित आदि पुरुष परमात्मा ही भास रहे हैं। तुम्हारे ही जैसा कोई होगा कि उसमे कुछ और शब्द अर्थ भासता है। किन्तु मेरे को तो आत्मासे परे कुछ और नहीं दिखलाई पड़ता, केवल चिन्मात्र सत्ता ही अपने आप में स्थित है। यह हमको सब प्रकार से आत्मरूप ही भासता है। यदि तुम्हे भी ऐसी इच्छा हो तो तुम भी अपनी सर्व कलनाओं को त्याग दो फिर देखो तो अन्त मे तुम्हे भी भासता है कि नहीं। फिर भासेगा क्यों नहीं? फिर तो वही शेष बचना है कि जो सब का अनुभव रूप, प्रत्यक्ष शुद्ध और सर्वदा ही स्वभाव सत्ता में स्थित और अमर है। तुम उसी स्वभाव सत्ता मे स्थित रहो। आत्म-सत्ता ही परम सूक्ष्म अपने आपमें स्थित है। उसमे आकाश भी स्थूल ही भासता है। उसकी सूक्ष्मता को ऐसे ही जान लो कि बस वह आत्मतत्त्व मात्र ही है, उसमे कोई उत्पन्न नहीं, केवल स्वभाव सत्ताही आभास रहित स्थित हैं और उसीमे यह सारा जगत भासित हो रहा है। जैसे एक घडी मे ही पल, घडी, पहर, दिन, मास वर्ष और युग की सञ्ज्ञा होती है सो काल ही है वैसेही एक ही आत्मा में अनेक नाम रूप और जगत होता है। जैसे एक बीज मे ही फल, फूल डाल और पत्ते आदि होते हैं वैसे ही एक आत्मा मे नामरूप सहित जगत उत्पन्न होता है। तब उसे आत्मा से ही भिन्न कैसे कहा जाय। सब कुछ तो आत्म स्वरूप ही है। यदि आत्मा से कुछ भिन्न भासित होवे तो उसे भ्रम मात्र ही समझो। सकल्पपुर के समान ही यह जगत है। इससे यह आत्मा में कुछ उत्पन्न नही हुआ। आत्मा ही अपना अनुभव रूप परम शुद्ध स्थित है। उसमे जन्म, मरण कुछ भी नहीं है। वह मृत्यु, चिदाकाश, अपने आप में ही स्थित और अनुभव रूप ही है। उस शुद्धसत्ता को मेरा नमस्कार है। हे वधिक!

तू उसी शुद्धसत्ता मे स्थित हो जा, तभी तेरे दुःख नष्ट होवेंगे। अज्ञानी को ही यह जगत सत्य भासता है, ज्ञानवान को तो सर्वदा आकाशरूप ही भासित होता है। जैसे कोई एक पुरुष सोया हो तो उस को स्वप्न में महल आदिक जगत ही भासता है और है वह आकाश रूप ही वैसे ही अज्ञानी को जगत भासता है—यद्यपि वह आकाश रूप ही है। किंतु ज्ञानवान को तो सब आत्मरूप ही है। यदि आत्मासे कुछ और भासे तो वह भ्रम है। जैसे सकल्प पुर होता है वैसे ही यह जगत है, कुछ बना नही। अज्ञानी को ही सत्य जान पडता है। ज्ञानवान के लिए तो यह सर्वदा आकाशरूप ही है। जैसे मान लो कि कोई दो मनुष्य सो रहे हैं परन्तु उनमें एक तो सो गया है और एक जाग रहा है तो जो सो गया है उसे ही स्वप्न होता है और उस स्वप्न मे उसेही महल, नदी और पर्वत आदि के दृश्य दिखलाई पडते है और जो सोया नहीं है तो उसे नहीं दिखलाई पड़ता, उसे तो आकाशरूप ही भासता है। वैसे ही अज्ञानी को जगत ही भासता है क्योंकि वह स्वरूप से शून्य है, स्वरूप में सोया हुआ है। परन्तु ज्ञानीजन जाग्रतरूप है इससे उनको सब कुछ आत्मरूप ही भासता है। इस पर व्याधे ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर ! किसी-किसी का कहना यह है कि जीव कर्म से होता है और कोई कहते हैं कि विना कर्म के ही जीवों की उत्पत्ति होती है। सो इन दोनों में क्या ठीक है, यह आप मुझे बतलाइये ? तपस्वीने कहा—देखो, आदि परमात्मा में जो ब्रह्मा आदिक फुरे हुए हैं। सो कुछ कर्म से नहीं बलिक बिना कर्म के ही उत्पन्न हुए हैं। न उनका कहीं जन्म है, न मरण हैं। सब ब्रह्मस्वरूप ही स्फुरित हुए हैं और उनका शरीर भी ज्ञान स्वरूप ही है। उनकी कोई अवस्था नहीं है और वे सर्वदा ही अधिष्ठान सत्ता में अहके कारण विश्वासनीय हो रहे हैं। हे वधिक ! सृष्टि के आदि मे जो ब्रह्मा आदिक फुरे हुए हैं वे सब ब्रह्मा से भिन्न कुछ नहीं है और इस प्रकार यह जितने भी अनन्त जीव स्फुरित हुए हैं वे सब

आत्मपद से ही प्रकट हुये हैं और वे भी ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न वे कुछ हुए नही। सब का ही आदि चेतन वह स्वयभू ही है उसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश और यह अविद्या आदि कुछ भी स्पर्शित नही है। सब कुछ विद्यारूप ही है और उसमे दूसरे जीव अविद्या के वश से प्रमाद करके परतन्त्र ही उदय हुए हैं। वे ही कर्म करके कर्म के आधीन हुए और तब उन्हे शरीरकी प्राप्ति हुई है। जब उनको आत्मज्ञान होता है। तब वे कर्मके बधनसे मुक्त होते हैं। इस प्रकार यह जो आदि सृष्टि उत्पन्न हुई सो बिना कर्मके ही उत्पन्न हुई है और फिर वही अज्ञान वश कर्मानुसार जन्म-मरणको देखती है। जैसे स्वप्नके सृष्टिके आदि में कुछ कर्म नही होता और उसका फलरूप कर्म पश्चात् ही मे उदय होता है वैसेही यह जगत भासता है। इस प्रकार आदि जीव बिना कर्म के ही उत्पन्न हुये हैं और फिर कर्म के अनुसार ही जन्म पाते हैं। ब्रह्मा यादि का शरीर शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही है क्योंकि उनका कर्म कोई नहीं, केवल आत्मा ही भासता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न मे द्रष्टा ही दृश्य रूप होता है और वह नाना प्रकार के कर्म पुरुप ही भासता है, पर वास्तव मे वह कुछ हुआ नहीं वैसे ही यह जगत जो कुछ दृष्टि आता है सब चिन्मात्ररूप ही है। सुख दु:ख भी जो भासता है वह अज्ञान से ही भासता है जब तक अज्ञा-नता रहती है तभी तक जगत की प्रतीति होती है और तभी तक यह जीव कर्मरूपी फाँसी से बँधा हुआ दु:ख पाया करता है किन्तु जब स्वरूप में स्थित हो जाता है तब उसके निकट कर्मो का बन्धन कुछ नहीं रहता और वास्तमें कम तथा बन्धन कुछ है भी नहीं। यह कर्म आदिक तो मिथ्या भ्रमसे ही केवल आत्मसत्ता मात्र अपने आपमे ही स्थित है, दूसरा कुछ नही है। फिर कैसे कहा जाय कि अमुक कर्म ने अमुक को बन्धन मे कर लिया है। यह सारा जगत आत्मा में ऐसा ही है कि जैसे जलमें तरग होता है सो वह जल से कुछ भिन्न नहीं है। फिर उसका क्या रूप होवे। ऐसेही यह सारा

जगत आत्मस्वरूप ही है और आत्मा से अन्य कुछ नहीं है—यदि उसमें दूसरा कुछ होवे तो उसे अविद्या ही समझो। यह सब वृत्तियों का ही खेल है। जब तक वृत्तियाँ वहिर्मुख फुरती हैं तभी तक जगत भासता है और तभी तक सब कर्म दृष्टि आते हैं जब वृति अन्तर्मुख होती है तब जगत कोई नहीं रहता और न कुछ कर्म ही दृष्टि आते, सब आत्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे हमको सर्वदा आत्मसत्ता का ही भाव होता है वैसे ही तब मुझको भी भासित होवेगा ज्ञानी पुरुषों को यह सारा जगत आत्मतत्व ही दिखलाई पड़ता है। किंतु जो अज्ञानी हैं उनको तो प्रमादवश द्वैतरूप ही भासता है और यही कारण है कि वे पदार्थो को सुख रूप जानकर उसे पाने का प्रयत्न करते हैं। वे उसीके सुख से सुखी और उसीके दुःख से दुःखी रहते हैं। उनका उसीमे राग द्वेप चला करता है और वे उसीके पाने का यत्न करते हैं। किन्तु जो ज्ञानी हैं वे सवदा ही परमानन्द मे स्थित रह कर सब जगत को ब्रह्मस्वरूप ही जानते हैं। यह जो सारा जगत तुमको दिखलाई पडता है सब चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म में न कोई स्वप्ना है, न कोई जाग्रत है, न कोई कर्म है और न कोई अविद्या है। ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमे स्थित है। उसमे कुछ द्वैतका स्फुरण नहीं हुआ। जैसे जल में तरगे स्थित रहती हैं और वे जलरूप ही है वैसे ही यह सारा जगत ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नही हुआ। सारा जगत ब्रह्म का ही स्वरूप है। इस विचार से देखोगे तो तुम्हारे समस्त दुःखों का अन्त हो जावेगा। परन्तु जब तक विचार विचार पूवक न देखोगे तब तक दुःखोंका अन्त न होगा। स्वरूपको पा जाओगे तो सारे कर्म आप ही आप नष्ट हो जावेंगे जितना ही विचार करोगे उतना ही सुख पाओगे। विचार से ही अन्धकार दूर होता है और विचार से ही सत्य की प्राप्ति होती है। विचारही अविद्या को नाश करनेवाला है और विचार करनेमेही संसार चक्रसे छुटकारा मिलता है। विचारवान कभी दुःखी नही हो सकते। ज्ञानको धारण

करने से दुःख नही होता और वह सर्वथा ही परमानन्द पदको प्राप्त कर लेता है। फिर तो उसे जैसा सुख मिलता है वैसा सुख आकाश, पाताल और पृथ्वीमें कही भी नही मिलता। तब भला वह ऐसे आनन्द को त्यागकर और किसीकी इच्छा ही क्या करेगा। परतु यह आत्मानन्द बिना आत्म अभ्यास के नही प्राप्त होता। आत्मा शुद्ध और सर्वदा अपने आपमे ही स्थित है। उसमें जो कुछ भासता है वह अविद्या का ही विलास मात्र है। यदि तुम अपने में स्थित हो जाओ तो तुमको सब कुछ ब्रह्म ही भासित होगा। उसमें यह पृथ्वी आदिक तत्व कुछ भी नहीं है। यदि यह कुछ होते तो इनका कारण भी होता परन्तु जब ये नहीं हैं तब इनका कारण भी कहाँ से और कैसे होगा। अतः यह सब कुछ भ्रम मात्र ही है। विचार करनेसे जगतका नितान्त ही अभाव हो जाता है। जैसे जेवरीका सर्प मिथ्या है वैसेही आत्मा में जगत मिथ्या ही है। सारा जगत ब्रह्म के संकल्पमे ही स्थित है। सो यह उअ आदि परमात्मा का किञ्चनमात्र ही है। अज्ञान से ही सारे कर्म उत्पन्न हो गये हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रम मात्र ही है वैसे ही यह सारा जगत भ्रममात्र ही है। ज्ञान से देखिए तो जगत का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। अहं ममरूपी चित्तमे ही जगत को उत्पन्न किया है, निश्चयके अनुसार ही भासता है—इसीको नेति भी कहते हैं। उसी नेतिमे यह देशकाल और पदार्थकी सज्ञा भासित हो गई है और वही कार्य और कारण भी है। बिना कुछ उपजेही यह नाना प्रकारका जगत भास रहा है। परन्तु यह अविचार ही है। विचार किए से आत्मा ही दृष्टि आता है। जैसे निश्चय आत्मा मे होता है वैसा ही प्रत्यक्षरूप से भासता है। इससे यह सारा जगत सकल्प मात्र ही है। सकल्प शक्तिसे ही लोग उड़ते फिरते हैं और इस प्रकार अनुभव सत्ता ही संकल्प वश परलोक को देखती है।

तिरानवे का सर्ग



शिष्ठजी बोले—हे रामजी। जब इस प्रकार उस तपस्वी वधिकसे कहा तब वधिक वैसाही ध्यानावस्थित होगया कि जैसे मानो कागज पर कोई चित्र लिखा होवे। परतु उउ ध्यानावस्था मे भी उसे कुछ शान्ति न प्राप्त होती थी कारण कि उसने अभ्यास काल को नहीं देखा था अर्थात् अभ्यास नहीं किये था—इस कारण उसे उस तपस्वी महात्मा का उपदेश कुछ भी प्रभावकर नहीं हुआ और मुर्खतावश केवल यही विचारने लगा कि यह ससार सर्वथा ही अविद्यामान है उसको जिस प्रकार भी होवे मे अन्त कर दूँ तभी मुझे आत्मपद भासित होवेगा। ऐसो भावना कर वह उठा और उस तपस्वी के पास ही इधर-उधर कुछ टहलकर फिर बैठ गया। तब तपस्वी जैसी चेष्टा करता व्याध भी वैसीही अधिकाधिक चेष्टा करने लगा और उसने अपना व्याध कर्म भी त्याग दिया तथा तपस्वी के समान ही पवित्र चेष्टा एव अभ्यास मे लग गया। परन्तु उसके मन मे यह चेष्टा लगी ही रही कि मैं इस अविद्यमान जगत को अविद्यमान ही देखूँ कि यह कहाँ तक चला गया है। क्योंकि जब इस अविद्याका अन्त होवेगा तभी, आत्मदर्शन भी होवेगा। इस कारण अब मै हजार वर्षकी समाधि लगाऊँ। निदान उसने समाधि ली और जब समाधि से उतरा तब गुरुके निकट जाकर दण्डवत किया और बोला कि हे गुरुदेव! मैंने इतने काल तक तप किया है परंतु मुझे शान्ति न प्राप्त हुई—कृपाकर बतलाइये कि क्या बात है? तब तपस्वी बोला— हे वधिक। तुझे लाभ इस कारण नहीं हुआ कि तुझे मैने जो आदेश दिया था, तूने उसका ठीक रूपमे पालन नही किया यदि तू उसका ठीक रूपमे अभ्यास किये होता तो अवश्य ही तुझे लाभ होता और तुझे शान्ति मिलती। मै क्या करूँ। मैने तो तेरे हृदय मे ज्ञानरूपी चिनगारी डाल दी थी यदि तू अभ्यासरूपी

पवनसे उसे जगाता तो वह जाग जाती और
परन्तु तूने तो उसे प्रमादरूपी राखसे ढँक दिया
न हुआ। इससे अब न तो तू मूर्ख रहा न
तो आत्मपद में स्थित ही हो जाता। अच्छा,
हुई है तो फिर अभ्यास करो और उस प्रकार
तुझे ज्ञान और शान्ति प्राप्त हो जायगी।
बात है। तब जैसा कुछ मुझे ज्ञात होगा
मुझे ज्ञात हो गया। क्या तू उस अविद्या
था ? व्याधने कहा—हाँ, मुनीश्वर मेरे
थी। तपस्वीने कहा, तो इसी कारण से
जब तू सौ युग तक उग्र तप करेगा तब
एक अवसर हाथ लगेगा और ब्रह्माजी
तेरे पास आकर तुझे वर देवेंगे और उस
मैं यह भी जान रहा हूँ। वधिकने कहा—
भी बतला दीजिए। तपस्वी ने कहा—
वर माँगेगा कि—"मेरी शरीर बहुत
करूँ तथा मैं इस जगत का अन्त
होने का और ब्रह्माण्ड खप्पर को
अरोग्यता भी माँगेगा। तब ब्रह्माजी
तब तेरा तपसे सूखा हुआ शरीर
प्रकार हे वधिक! तुझसे और क्या
आगे फुरता है। जो होना होता
मिटा नहीं सकता। वह इतनी
नहीं कर सकता। जब तक
कर्म का बन्धन नहीं छूटता
पर न होवे तब कोई
ही का अनुभव हो।

श्री योगवशिष्ठ भाषा,

चौरानवे का सर्ग

तपस्वी की निर्वाणता

तपस्वी के ऐसा कहने पर व्याधने पूछा—हे भगवन् ! आपके इस कथन से तो मै वडे ही आश्चर्य मे पड गया हूँ कि यह क्या होने वाला है। अच्छा तो जब सौ वर्ष की तपस्या के बाद मेरा शरीर गिरेगा तब मेरी क्या अवस्था होगी, कृपाकर यह भी बतलाइये। तपस्वी ने कहा—हे व्याधे ! जब तेरा यह शरीर छूटेगा तब तेरी प्राण शक्ति आकाश रूप और महान सूक्ष्म से भी सूक्ष्म एक अणु के समान हो जावेगी और तब उस संवित शक्ति में तुझे फिर नाना प्रकार का जगत भास आवेगा। तब वहाँ तुझे यह फुरेगा कि मै दश वर्ष का राजा हूँ और मेरा पिता इन्द्र है तथा मेरी माता प्रद्युम्न की पुत्री वध लेखा है, पिता मुझे राज्य देकर वनमें तपस्या करने गये हैं और इस प्रकार मै आसमुद्रान्त पृथ्वी का राजा हूँ। तू सिद्ध नाम से विख्यात होकर सौ वर्ष तक राज्य भोग करेगा। तब एक विदूरथ नाम का और राजा उत्पन्न होगा कि जिससे तेरी शत्रुता हो जायगी और तू अभिमान मे चूर्ण होकर कहेगा कि यह मेरा क्या कर सक्ता है मैं इसको मारता। तब तेरी वह वासना ऐसी प्रबल होगी कि तुमसे और विदूरथ से घोर युद्ध चलने पर तू विदूरथ द्वारा बारम्बार मारा काटा जावेगा किन्तु वासना की प्रबलता से तेरी पराजय न होगी और तू विदूरथ को समर युद्ध में मार डालेगा। तब तुझे अपने पर खेद होगा और तू दुःख करेगा किन्तु जब तेरे मन्त्रिगण तुझे ऐसा समझा देंगे कि विदूरथ तो मोक्ष चाहता ही था। और उसकी स्त्री लीला सरस्वतीकी उपासना कर रही थी कि मै राजा रानी दोनों ही मुक्त होऊँ सो विदूरथ मुक्त हो गया, तुम उसके लिए खेद न करो। हे राजन् ! वह मोक्ष चाहता था इससे उसे मुक्ति मिली और तू उसे मारकर विजय चाहता था इससे तुझे

विजय मिली। तेरा पूर्व जन्म तामसी सस्कार था—इससे तुझे शान्ति न मिली। तब तू राज्य से उदासीन होकर फिर बनमें तपस्या करने के लिए जायगा और किसी सत के स्थान मे बैठकर वैराग्य को प्राप्त करता हुआ तू फिर कथा सत्सग करेगा, तब तेरे हृदय की वासना नष्ट होवेगी और तब तू उन महात्मा से कुछ भी न माँगेगा परन्तु सन्तजन ऐसे दयालु होते हैं कि यदि उनसे कुछ भी न माँगो तब भी वे अपने अमृतरूपी बचनोकी वर्षा कर ही देते हैं। जैसे पुष्प बिना माँगे ही सुगन्धि वर्षा देते हैं वैसे ही सन्तजन बिना माँगे ही अमृत वस्तु प्रदान करते हैं। बस, इसी प्रकार से तेरी भावी है। जैसा कुछ मुझे ज्ञात हुआ वह मैंने तुझसे कहा। अब तेरी जो इच्छा हो वह करे। ऐसा कह कर तपस्वी उठ पड़ा और उसके साथ ही वधिक भी उठ खड़ा हुआ। फिर दोनों एक ही साथ स्नान करने गये और जब स्नान करके आये तब दोनों ही एक साथ तप करने बैठे। शास्त्रों का विचार होने लगा। तब इस प्रकार शास्त्र चिन्तन एव तपश्चर्या करते हुए जब उन्होंने कुछ काल व्यतीत कर दिये तब तपस्वी तो निर्वाण हो गया और वधिक तप में ही पड़ा रह गया। पश्चात् जब उसका वह सौ युगवाला तप पूर्ण हुआ तब जैसा कि ब्रह्माजी के आने का निश्चय था वैसा ही हुआ और ब्रह्माजीने आकर उसे वर दिया फिर तो वह (वधिक) ब्रह्माजीके वर से विशाल शरीरवाला होकर जैसी २ भावना उसने की थी वैसा ही वैसा देखने लगा। उस अवधि मे उसने अनेकों सृष्टियाँ देखी कि जो बड़ीही विलक्षणता को प्राप्त थी।

श्रीयोगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध का चौरानबे का सर्ग समाप्त ॥ ९४ ॥



पंचानबे का सर्ग

विपश्चित आख्यान एवं स्वर्ग नर्क व्याख्या


वाल्मीकिजी बोले—हे भारद्वाज ! जब इस प्रकार विपश्चित ने राजा दशरथसे कहा तब सायंकाल का समय हो गया था, इससे सबके सध्या-वन्दनका समय जान कर वशिष्ठजी ने कथा कहना स्थगित किया और सब लोग राजा दशरथजी की जय जयकार करते हुए यथा स्थान को उठ कर जाने लगे। घड़ी-घंटा और नौबत नगारों के बजने के शब्दसे आकाश मण्डल भर गया। फिर तो राजा दशरथ बड़े उत्साह से राजा विपश्चितका पूजन कर अनेक प्रकार से धन वस्त्र दान करने लगे। पश्चात् सभाके समस्त श्रोता अपने २ स्थानों को जा सध्या-वन्दन किये और विचार सहित रात्रि व्यतीत कर जब सूर्यकी किरणें प्रकाशित हुईं तब फिर अपने २ स्थानों पर एक दूसरेको नमस्कार करते हुए कथा सुनने आ बैठे। तब वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! यह बड़ा आश्चर्य है कि यह अविद्यामान अविद्या कहीं है भी नहीं और प्रत्यक्षके समान ही भासती है। परन्तु आत्मसत्ता अनुभव रूप है और उसमे यह जगत कुछ हुआ नहीं फिर भी स्पष्टरूपसे ही भासता है। हे रामजी ! अब तो मैं तुम्हे बहुत कुछ सुना चुका हूँ। राजा विपश्चित्के मन्त्रियों से लेकर, तपस्वी और वधिक की ज्ञानचर्या तथा पुनः राजा विपश्चित्तके मुखसे ही इनका वृतात भी तुम सुन चुके हो—इससे अब मेरा तुमसे कुछ अधिक कहना नहीं है। अब यह देखो कि इस विपश्चित की अविद्या हमारे आशीर्वाद और हमारे ही यथार्थ वचनों से कैसे नष्ट होती है। अब मैं इसकी अविद्या को शीघ्र ही नष्ट कर दूँगा और अब यह जीवन्मुक्त होकर विचरण करेगा। हे रामजी ! जब यह जीव आत्माकी ओर जाता है तब इसका अविद्या नष्ट होती है। आत्मज्ञान से ही अविद्या का नाश होता है। अन-

कार तभी तक रहता है कि जब तक सूर्यदेव उदय नहीं होते। सूर्य उदय हुआ नहीं कि अंधकार नष्ट हो जाता है। जब आत्मदेवका दर्शन हो जाता है तब अविद्या का सर्वथा ही लोप हो जाता है। बडे आश्चर्य का बात है कि यह अविद्यमान अविद्या असम्यकदर्शी को सत्यके समान ही भासती है। इस अविद्यारूपी विपकी वेलि देखने मात्रको ही सुदर है, स्पर्श करतेही मार डालती है। इन्द्रियोंके शब्द, स्पर्श, रूप रस, और गन्ध आदिक जितने भी विपय हैं ये सब देखने ही को सुंदर जान पड़ते हैं। जब इनका स्पर्श होता है तब तृष्णा रूपी कांटे वह चुभते हैं कि जिनसे महान कष्ट होता है। इनको भोगकर राग द्वेषके अतिरिक्त और मिलता ही क्या है? ये तो सर्वथा ही शून्य रूप है। आकाश धनुप देखने में सुन्दर और नाना रगो युक्त जान पडता है किन्तु वह निःसार हा है, अनहोता ही भासता है भला, उसमे जल और बादल कहाँ होता है? इसी प्रकार यह अविद्या भी कहीं हुई नहीं, अनहोतेही भासित होती है। परतु खेद है कि इतने पर भी मूर्ख इसके साथ पडे ही रहते हैं। हे रामजी! यह अविद्यारूपी धूलि जिसको घेर लेती है उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, वह ज्ञानसे सर्वथा ही शून्य हो जाता है। पर यह है कुछ नहीं। विचार करने से उसका सर्वथा ही अभाव हो जाता है। विचार के आगे इसकी चञ्चलता सर्वथा ही नष्ट हो जाती है। अविद्यारूपी नदी में तृष्णारूपी जल पड़ा हुआ है सो उसमे इन्द्रियों के अर्थरूपी भौंरे और राग द्वेप रूपी व्याघ्र भरे हुए हैं। जो मनुष्य इस नदीके प्रवाह मे पड जाता है वह बडे कष्टको प्राप्त होता है। तृष्णारूपी प्रवाह और अविद्यारूपी नदीका अन्त नही मिलता। परन्तु हाँ, यदि वैराग्य और अभ्यासरूपी नौका बैठ जाय तो इस नदी को सुगमता से ही पारकर लेवे। किन्तु इन अविद्यारूप पदार्थों का भावना करनी बड़ीही मूर्खता है। फिर इस अविद्याका बिलास भी बडा लम्बा है। इसमें नाना [illegible] ियाँ फुर रही हैं। कोई [illegible] ुप है,

कोई अन्धकार युक्त, कोई दुखी है, कोई अनन्दित है, किसीमें जीव सम भाव से स्थित हैं और किसीमे करोड़ों सूर्य उदय हो रहे हैं। किसीमे जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं, कोई वृद्ध हो रहे हैं, किसी मे कोई सर्वदा एक रस रहता है। किसी सृष्टिमें कोई स्त्री ही नहीं है, किसी में जीव पहाड के समान हैं और किसी में मरना भी नहीं है। परतु प्रलयकाल में तो सभी इकट्ठे ही मर जाते हैं। एक अविद्या में हो इतने ब्रह्माण्डोंका स्फुरण हो रहा है। परमात्मरूपी समुद्रसे जगत रूपी तरङ्ग अविद्यारूपी वायु के सयोग से ही उठती और मिटतीहैं। बडे से बडे मोती, मूंगा, सोना, चादी और इस प्रकार धातु सम्बन्धी जितने भी पदार्थ हैं और भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य जो कुछ भी है सब उस परमात्मा से अविद्यावश फुर कर आये हैं। किन्तु यह सब कुछ सकल्परूप और अविद्या से ही रचे हुये हैं। सारा स्थावर जङ्गम जो कुछ भी तुम देख रहे हो सब अविद्याका ही विलास मात्र है। जैसे मरुस्थल में अनहोते ही नदी भासती है और विचार किये से उसका अभाव हो जाता है, वैसेही आत्मविचार करनेसे अविद्या के विलास जगतका अभाव हो जाता है। हे रामजी! आत्म प्रमादी को ही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका इष्टानिष्ट अनेक प्रकारके पदार्थ भासते हैं और इस प्रकार उन्हीं को यह कार्य-कारण जगत स्पष्टतया भासित होता है किन्तु जिनको आत्म साक्षात्कार हो गया है उनको तो सर्व आत्मा ही भासता है। सारा जगत सकल्प मात्र ही है। जिसको जैसा सकल्प होता है उसे वैसी सृष्टि आत्मा मे भासती है। अस्तु, आत्मरूपी डब्बे में ही सृष्टि रूपी अनेक रत्न भरे पड़े हैं। जिनको आत्म साक्षात्कार हो गया है उनको सब आत्म स्वरूप ही भासित होता है। जैसा सकल्प दृढ़ होता है वैसाही पदार्थ हो भासता है। इससे यह जितना कुछ जगत है सब सकल्प मात्र ही है। देखो, जब तुम्हें यह तीव्र सवेग होता है कि आकाश में कोई नगर बसा हुआ है तो वास्तव में वहाँ नगर बसा हुआ दृष्टि आता है। ऐसे ही तुम

जिस ओर दृढ़ दृष्टि डालोगे उधर वैसा ही सिद्ध होवेगा। आत्मा की ओर एकत्र होवोगे तो आत्मा ही भासेगा और यदि दोनो ओर लगोगे तो भटकते ही रहोगे। परन्तु तुम मेरा कहना मानो कि जगत की सत्यता को छोडकर आत्मपरायण बन जाओ। यदि तुम आत्मा मे तीव्र भावना करोगे तो निश्चय ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा। जिज्ञासु जैसा अभ्यास करता है वैसा ही पाता है। सृष्टिका आदि कारण भी यही है कि जैसी भावना हुई वैसा ही स्थापित हो गया। जो धर्मकी भावना करता है उसकी वृत्ति धर्मकी ओर जाती है और जो सकाम कर्म करता है उसे स्वर्ग आदिक सुख प्राप्त होते हैंऔर जो अधर्मकी भावना करता है उसको नरक आदिक दु ख प्राप्त होता है। किन्तु शुभ कर्मों से तो शान्ति की भी इच्छा नही रहती। कोई स्वर्ग–सुख चाहता है कोई सिद्ध–सुख चाहता है, और यह दोनों भावना के ही आधीन हैं। भावनावश जो चाहे प्राप्त कर लेवे। ऐसेही अशुभ की भावना नाना प्रकारके नरक दुःखोंको प्रदान करती है। हे रामजी। जब यह सवित शक्ति अनात्मामे आत्माभिमान करके उनके कर्मो मे लग जाती है तो वह ऐसे २ जघन्य पाप करती है कि जिनमें वह अपनेको ही कर्त्ता मान बैठती है। फिर तो उसे ऐसे अनेक प्रकार के दु.ख प्राप्त होते हैं कि वर्णन ही नहीं किये जा सकते। कही वह शक्ति पहाड़ों में पीस दी जाती है, कहीं उसपर अग्निके अङ्गारे बरसाये जाते हैं, कहीं अधकार कूपमें वह छोड दी जाती है और कहीं उसे कोल्हूमे जोत दिया जाता है। कहीं उसे लहकते हुये अङ्गारोंको स्पर्श कराया जाता है और इसी प्रकार जो स्त्री पर पुरुष गामिनी होती है उसे अन्धकूपरूपी ओखलीमें खड्ग रूपी मूशल से कूटा जाता है। देहाभिमानी एव देव पितृ निन्दक यमराज के दूतों द्वारा तलवार और बर्छीसे मारे जाते हैं। वे यमके दूत उनके शरीर को काटकर टुकड़े टुकडे कर देते हैं, भूख और प्यास का कष्ट देते हैं [illegible] प्रकार जो पुरुष व्यभिचारी होते हैं, जिन्होंने अपनी अ [illegible] यो पर कुदृष्टि [illegible] नारी है उनपर

भी यमके दूत छूरी का प्रहार करते हैं । परन्तु जो शुभ कर्मी हैं उनको स्वर्ग का सुख मिलता है । इसी प्रकार जो जसा कर्म करता है उसे वैसा जगत देखना पड़ता है । शरीर त्याग के समय जैसी चिन्तना हाती है, उनको वैसा ही प्राप्त होना है । अस्तु ! यह संसार वासना मात्र ही है । निश्चय के अनुसार ही भासता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का पचानवे का सर्ग समाप्त ॥९५॥

छानबे का सर्ग

निर्वाण उपदेश



तनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे मुनीश्वर ! यह जो आपने तपस्वी और व्याधे का आख्यान कहा है वह तो बड़ा ही आश्चर्य जनक है । क्या यह आख्यान स्वाभाविक हुआ है या इसका कोई कार्य-कारण है ? वशिष्ठ जी कहने लगे-हे रामजी ! ब्रह्मसत्ता अपने आप में ही स्थित है और वह चिन्मात्र स्वरूप ही है । उसमे कोई भी प्रतिमा स्वभावतः ही उठती है । जैसे समुद्र में तरंगों का उठना स्वाभाविक है वैसे ही आत्मा मे चमत्कार स्वाभाविक है । सारा जगत उस आत्मा का ही चमत्कार है । उसमे स्वभावतः ही समस्त रचनायें उठ खड़ी हुई हैं । किन्तु सामग्रस्फुरणो और समस्त स्थितियो के प्रकट होने हुये भी वह चिन्मात्र सत्ता ज्यों की त्यो ही स्थित है । जैसे शुद्ध चिदाकाश में स्वप्न सृष्टि भासती है तो उसमें वही सृष्टि साररूप है और चित्त के चमत्कार से ही फुरी हुई है । किन्तु वह वैसा ही है कि जैसे समुद मे तरंगो का फुरना समुद्ररूप ही होता है । इससे भिन्न कुछ नही है । सर्व शब्द अर्थों के सयुक्त यह जितना कुछ जगत भासता है सब कुछ वह चिन्मात्र ही है, उससे भिन्न कुछ वस्तु नही है । सारा जगत स्वप्नपुर के समान ही सकल्पवत ही है । उसमें यह पृथ्वी आदिक पिण्डाकार कुछ भी

नहीं भासित होता, सब कुछ ब्रह्म का ही स्वरूप है। फिर इसको ऐसे भी समझ लेना चाहिए कि जो वस्तु व्यभिचारी और नाशवान है वह अविद्यारूप ही है और जो अव्यभिचारी एव नश्वर है वही ब्रह्मसत्ता है। वह सत्ता सर्वथा ही ज्ञान स्वरूप है और वह अपने भाव को कदाचित भी नहीं त्याग करती। वह अनुभव युक्त सर्वदा ही प्रकाश करती है। तब उसमें अविद्या कैसे हो? क्या कहीं समुद्रमे भी धूलि होती है? सो आत्मा में अविद्या नहीं है। उससे सब कुछ प्रकट होने हुये भी वह सर्वदा चिदाकाश रूप ही है। जैसा संकल्प होता है वैसा ही भासता। यदि तुम अपने मानमें इन्द्र की भावना धारण करके बैठोगे और चेष्टा भी इन्द्र के ही समान करोगे अथवा अपने ध्यान में इन्द्र की ही रचना करोगे तो तुम्हे इन्द्र की ही प्रतिमा सिद्ध होवेगी और जब तक वह संकल्प रहेगा तब तक तुम्हारा चिन्मात्र इन्द्ररूप ही भासित होवेगा। इसी प्रकार जो यह सारा जगत भासता है सो सब कुछ चिन्मात्र रूप ही है। संवेदना से ही पिंडाकार हो भासता है। जब संवेदन में फुरना नहीं रहती जब सारा जगत आत्मस्वरूप ही भासता है। ब्रह्मसत्ता सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है। जैसा फुरना होता है, वैसा ही भासता है। सारा जगत उसीका चमत्कार है। जैसे समुद्रकी लहरें समुद्र रूप ही हैं वैसे ही उस निराकार सत्ता में जगत निराकार ब्रह्मस्वरूप ही है। वही परमबोध स्वरूप भी है और उसीको पाने से मोक्ष होता है। जब उसका सच्चा बोध हो जाता है तब सारा जगत ब्रह्मस्वरूप और अपना आप ही भासने लगता है। पर जिसको सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त होता उसे तो यह नाना प्रकार का जगत ही भासता है। जो वैराग्य अभ्यास द्वारा शास्त्र चिन्तन करते हुये अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बना लेता है, उसे निश्चय ही आत्मपद प्राप्त हो जाता है। परन्तु जिसने ऐसा नहीं किया उसे अज्ञानयुक्त यह जगत ही भासता है। सारा जगत् स्वप्न मात्र ही है। वह स्वाप्ना अल्पकाल का

होता है तो यह जाग्रत एवं दीर्घ काल का स्वप्न कहलाता है। पर आत्मा में दोनों ही एक समान हैं। जैसे जुड़वे दो भाई जन्मते हैं तो नाम मात्र मे ही वे दो हैं किन्तु वास्तव में वे एक रूप ही हैं—इसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न एक समान ही है। जैसे स्वप्ने से जागकर स्वप्न के पदार्थों को भ्रम मात्र जानता है और जाग्रत को ही सत्य मानता है वैसे ही जब यह जीव परलोक को जाता है तब वह इस जगत को स्वप्न तुल्य ही जानता है और वहाँ यही कहता है कि वह जगत मेरे लिए एक स्वप्न जैसा था। फिर तो उसे परलोक ही सत्य हो भासता है और यह जगत कि जिसे वह पहले सत्य जानता था परलोकमें पहुंचकर स्वप्नवत मिथ्या भ्रम समझने लगता है। तब फिर वहाँ से गिरकर जब इस लोकमें आता है तब उस परलोक को ही भ्रम जानने लगता है। इस प्रकार जब तक शरीर का सम्बन्ध है तब तक अनेक बार जाग्रतको देखता हुआ अनन्त स्वप्नों को देखता है। परन्तु जैसे मृत्यु मे अनेक स्वप्न आते हैं वैसे ही मोक्ष पर्यन्त अनेक जाग्रत जगतरूपी स्वप्ने आते ही रहते हैं किन्तु यह सब कुछ भ्रम मात्र ही है। जैसे सिद्ध ज्ञानवान होकर अपने पूर्व जन्मों को जान लेता है और फिर भी कहता है कि मेरे वे सभी जन्म भ्रम मात्र ही थे वैसे ही जब यह जीव अपने स्वरूप में जाग जावेगा तब यह सारी प्रतिमायें इसे भ्रम मात्र ही प्रतीत होवेंगी। तब इसे पूर्ण निश्चय हो जायगा कि बन्ध-मोक्ष कुछ भी नहीं है सब चित्त मे ही स्थित है। जब चित्त की वृत्तियाँ निर्विकल्प हो जावेंगी तब मोक्ष ही भासित होगा। किन्तु जब तक वासनायें दृढ़ता पूर्वक बैठी हुई हैं तब तक बन्ध ही भासित होगा। इस प्रकार आत्मा में बन्ध मोक्ष कुछ भी नहीं है। बन्ध मोक्ष दोनो ही चित्त संवेदन में ही भासते हैं। जब चित्त निर्वासनिक एवं निर्वाण हो जावेगा तब सारी कल्पनायें मिट जावेंगी। इससे तुम उस निर्मल ज्ञान मात्र आत्मसत्ता हीमे स्थित हो जाओ। खाना, पीना, चलना, बोलना आदिक

सब चेष्टायें करो परन्तु हृदयसे परम पदको ही पानेका प्रयत्न करो। पहले नेति-नेति ऐसा कहकर अन्य सर्व शब्दों एवं सर्व कल्पनाओं का त्यागकर फिर अभाव का भी अभाव कर दो। तब उसके पश्चात् जो शेष बचे उसीको आत्मसत्ता समझो, वही परम निर्वाण रूप कहा जाता है और तुम उसी में स्थित हो रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छानबे का सर्ग समाप्त ॥९६॥

सत्तानवे का सर्ग

अविद्या को नाश करो



हे रामजी! यह जितने भी पदार्थ भासित हो रहे हैं सब उस चिदाकाश आत्माका ही स्वरूप है। यह रूप, दृश्य, अव-लोक, मनस्कार और इन्द्रियो युक्त जो कुछ फुरना आदिक भास रहा है सब अज्ञान का ही स्वरूप है और सब आत्मा से ही प्रकट हुए हैं। जो उस चिन्मात्र आत्मा मे जागा है उसे अपना आपही भासित होता है। अपनी चेतन्यसत्ता ही जगत होकर भासित हो रही है जैसे अपनी चैतन्यता ही स्वप्न नगर होकर भासती है। वैसे ही जो आदि सत्ता है वही जगतरूप होकर भासित हो रही है। सारा जगत आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है और सब कुछ आत्माका ही स्वरूप है। जैसे जल में द्रवता ही जल का स्वरूप है वैसे ही आत्मा में चेतन्यता आत्मा का ही स्वरूप है। बस, चैतन्यतावश ही आत्मसत्ता जगताकार होकर भास रही है। इस प्रकार यह जगत कुछ है नहीं। असत्यही सत्य होकर प्रत्यक्षसा भासता है। यही तो आश्चर्य है कि निष्किञ्चन होते हुए भी उसमें किञ्चनता भासित हो रही है। परन्तु आत्मसत्ता सर्वदा अद्वैत और निराकार ही है। अज्ञान दृष्टि से ही उसमें नाना प्रकार के दृश्य भासित हो रहे हैं जब सर्व विकारों को असत्‌रूप जानकर उनका त्याग कर देवे तब आत्मसत्ता ही शेष रहती है। जब सत्‌शास्त्र एवं सत्संग में दृढ़ अभ्यास होता है तब

स्वभाव सत्तामें स्थिति प्राप्ति होती है। परन्तु आत्मामें यह अनउपजा जगत वैसे ही उत्पन्न हो गया है कि शून्य स्थान में वैतालका भ्रम हो जाता है। तब मूर्ख अपनी अज्ञानतावश उसी को दृढ़ समझने लगते हैं। किन्तु यह सर्वथा ही असत्य है और इसी प्रकार इसके जितने भी पदार्थ अपनी क्षणिक चमत्कार दिखला रहे हैं और जिनके लिये मनुष्य दिन रात एड़ी से चोटी तक पसीना ढुलकाते रहते हैं वे सर्वथा ही नश्वर और क्षण-क्षणमें उदय और नष्ट हो जानेवाले हैं। विचार न होनेसे ही वे दृढ़ भासित होते हैं, मूर्ख ही उनकी इच्छा करते हैं और उन्हींको यह जगत और इसके पदार्थ सत्य भासते हैं। ज्ञानी।को जगत के पदार्थों की तृष्णा ही नहीं होती। वे जगत को मृग तृष्णा के ही समान असत्य जानते हैं। उनके हृदय में ब्रह्मकी ही भावना दृढ़ रहती है। तब भला ऐसे ज्ञानियोंके निश्चयको अज्ञानी कैसे जान सकता है। परन्तु अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानीजन वैसे ही जानते हैं कि जैसे सोये हुए पुरुष को निद्रा दोष से स्वप्न जान पड़ता है और वहीं पर जो बैठा हुआ जाग रहा उसे स्वप्न कोई नहीं वह उसे सोया हुआ समझता है और वह जानता है कि इसे जो स्वप्न हुआ वह भ्रममात्र है। ऐसेही ज्ञानीजन अज्ञानीको भली भाँति जानते हैं। जैसे मिट्टी की सेना को बालक ही सेना जानता है सयाने पुरुष उसे मिट्टी ही जानते हैं वैसे ही ज्ञानीजन अज्ञानियोंके मन्तव्य को जानते हैं कि यह कहाँ अज्ञान कर रहा है। हे रामजी! जब मनुष्य को आत्म अनुभव हो जाता है तब उसे जगतके पदार्थों की इच्छा नहीं रहती। फिर इच्छा को भी तो किस लिए? शरीरके लिए। शरीर भी तो क्षणभंगुर है। जैसे वायु के लगने से पत्ते गिर जाते हैं वैसे ही यह शरीर भी नाशवान है। फिर किसके लिए यत्न करें? मूर्खता के कारण ही लोग दुःख उठा रहे हैं। विषय पदार्थों को सत्य जानना बड़ी मूर्खता है। जो इसमें पड़ेगा वह अवश्य ही कष्ट पावेगा। विषयों के लिए यत्न करनेवाला कष्टके सिवा तृप्ति कदापि

नहीं पा सकता। अपना आप ही मित्र है, अपना आपही शत्रु है। सत्य मार्ग से उद्धार होता है, पुरुष प्रयत्न से अपना आपही मित्र हो जाता है। किन्तु जो सत्य मार्ग मे नहीं विचरता और पुरुष प्रयत्न करके जो अपना उद्धार नहीं करता वह आवागमन के चक्कर से नहीं छूटता और वही अपना आत्म शत्रु है। किन्तु जो अपना उद्धार करता है वह अपने पर दया करता है। हे रामजी! शान्ति तब तक नहीं मिल सकती कि जब तक इन्द्रियों को दमन न करेगा। जो इन्द्रिय रूपी कीचड़ से निकलने का यत्न नहीं करता वह महान मूर्ख है। क्योंकि बालक अवस्था मे बुद्धि से शून्य होता है और वृद्धावस्था मे अङ्ग शिथिल पड जाते हैं और यौवन अवस्थामे कामकी प्रबलता होती है कि जिससे वह विषयो को दमन कर नहीं पाता। जब इस प्रकार तीनो ही अवस्थायें निकल जावेंगी तब कब प्राप्त करेगा। फिर तिर्यक आदिक योनियाँ तो मृतक ही हैं। पुरुषार्थ का समय युवावस्था ही है। जब इसमें भी लम्पट ही रहा तब तो निश्चय ही वह नर्कके गोते खावेगा। अस्तु! विषयोमे प्रसन्न कदापि न होना चाहिए। यह शरीर सर्वथा ही नाशरूप है। फिर विषय किसके लिये भोगे? विषयों का सेवन तो मूर्ख ही करते हैं, दूसरे नहीं। हे रामजी! तुम अपने आप में जागृत न होकर उस अविनाशी पद को ही प्राप्त करो कि जो सर्वदा ही अच्युत और परमानन्द स्वरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का सत्तानवे का सर्ग समाप्त ॥९७॥

अट्ठानवे का सर्ग

जीवन्मुक्त का लक्षण



इतनी कथा सुनकर रामजीने पूछा—हे मुनीश्वर! जो पुरुष इन्द्रियों के सुख को पाकर न तो सुखी होता है और न उनके वियोग मे दुखी होता है, वह पुरुष कैसा है। मैं तो उसे जड ही कहूँगा। क्योंकि यदि वह चैतन्य

होता तो उसे हर्ष शोक अवश्य होना। परन्तु इसमें क्या यथार्थता है, वह आप मुझे कृपाकर बतलाइये? वशिष्ठजी कहने लगे—हे राम जी! वह जड़ क्यों है? वह तो सर्वथा ही जीवन्मुक्त है। क्योंकि जब उसे इष्टानिष्ट का कुछ भी राग द्वेष नहीं होता और जब कोई भी उसे शब्द, अर्थद्वैत नहीं भासते तब वह जीवन्मुक्त ही है। ऐसे पुरुषों का चित्त तो सर्वदा आत्माकी ही ओर लगा रहता है। फिर सुख और दुःख तो तब होता है कि जब चित्तका भगत का सम्बन्ध होता है। जब चित्तको जगतसे कुछ संबध ही नहीं रहेगा तब तो वह चिन्मात्र ही है, फिर उसे उपाधिक सुख दुःख कैसे होवेंगे? वह तो सर्वदा अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है। वे सब कुछ करते हैं परन्तु उनको स्वरूपतः कुछ उत्थान नहीं होता और वे सर्वदा ही अद्वैतमें निश्चय वान बने रहते हैं। वे अपने नेत्रों से देखते तो सब कुछ हैं परन्तु उन्हे द्वैत को भावना कुछ भी नहीं होती। तब जिसे द्वैत भासता ही नहीं उसे राग द्वेष का कष्ट हो कैसे होगा? जैसे अत्यन्त उन्मत्त को सारे पदार्थ दृष्ट आते हैं परन्तु पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। ऐसे ही जिसकी बुद्धि अद्वैत में घनी भूत हुई है उसको द्वैत रूप पदार्थ नहीं भासते और तब जिनको द्वैत नहीं भासता उनको सुख-दुःख कैसे भासेगें, क्योंकि उन पुरुषों ने तो वहाँ विश्राम किया है कि जहाँ न जाग्रत है न स्वप्न है न सुषुप्ति है। वे सर्व द्वैत से रहित अद्वैत रूपी शय्या में विश्राम कर रहे हैं और ससार मार्ग को पार कर गये हैं। जो अपनी ऐसी विभूति विद्याको त्यागकर प्रसन्न होता है और फिर ससार के क्रूर मार्ग में कष्ट पाता है वह मनुष्य नहीं मानो मृगा है। वह ससार रूपी वनमें भटक रहा है। जब तृष्णा उसे कायर बना देती है तब वह उसकी ओर दौड़ता है परन्तु वह जहाँ जाता है वहाँ कष्ट ही पाता है। भला कहीं मृग तृष्णा का जल भी सुखी बनाता है? तब इस प्रकार जब उसे किसी एकस्थान में विषय नहीं मिलता तब वह उसे पाने के लिये और आगे दौड़ता

है और उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ती ही जाती है। परन्तु विषयों को सुख तो मिलता ही नहीं इससे वह उसके लिये नित्यशः दौड़ लगाता ही रहता है और इस प्रकार दौड़ते २ वह जड़ एवं मूर्ख हो जाता है कि जिससे अन्त में मृत्यु भी निकट आ जाता है और वह विषयरूपी मृगतृष्णा का जल उसे प्राप्त नहीं होता ? हे रामजी! यह मनरूपी एक ऐसा मृग है जो संसाररूपी जङ्गलमें आन पड़ा है। वह इन्द्रियों के विषयरूपी जलाभासको सत्य जानकर शान्तिके निमित्त उनकी तृष्णारूपी मार्ग मे दौड़ लगाता है। किन्तु विषयों का तो सर्वथा ही अभाव है वे मिले भी तो कैसे ? शांतिरूपी जलतो वहाँ है ही नहीं। तब इस प्रकार जब दौड़ते २ वह वृद्धावस्था में जा पड़ता है तब थक जाता है और जड़ होकर महान कष्ट को पाता है और तृप्त नहीं होता। हे रामजी! इस मनुष्यरूपी मजदूर के शिर पर एक बहुत बड़ा भार लगा हुआ है जब वह दुष्ट मार्ग से जाता है तब उसे वे इन्द्रियरूपी चोर लूट लेते हैं। इससे वह महान दुःखी होता है। राग-द्वेष रूपी चोर उसके विचाररूपी धनको अपहरण कर लेते है। तब वह तृष्णारूपी में अग्नि जलने लगता है पर यह महान आश्चर्य है कि ऐसे दुष्ट मार्ग को त्याग कर लोग परमपद मोक्षमे विश्राम नहीं लेते। किन्तु जिन्होंने विषय रूपी आनन्द को त्याग दिया है वे परम आनन्द को प्राप्त हुये हैं उन मुक्त पुरुषों को संसार का दुःख सुख नहीं लगता और वे परम अद्वैत शुद्ध सत्ता को प्राप्त हो गये हैं। वे सबको देखते हैं पर उन्हे कोई नहीं देख पाता। उन्होंने ग्रहण और त्यागरूपी अग्निका सर्वथा ही त्याग दिया है, उन्होंने परमपदमें विश्राम पाया है, वे इन्द्रियों के विषयकी ओर से सदा सोते ही रहते हैं। उनके भीतर सर्वदा ही शान्ति विद्यमान रहती है। उनको जड़ता का दोष नहीं लगता और वे आकाश से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। उन्हें इन्द्रिय जन्म विषयों की तृष्णा कोई नहीं होता। वे विषयों

से रहित होकर सर्वदा ही विश्राम पाते हैं। किन्तु जो आत्माकी ओर से सर्वदा ही सोये रहते हैं उनको महान कष्ट प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का अट्ठानवे का सर्ग समाप्त ॥९८॥

निन्नावे का सर्ग

सदुविचार--शक्ति वर्णन



रामजी ने प्रश्न किया--हे मुनीश्वर! उधर आपने कहा है कि आपहो अपना मित्र है और आपही अपना शत्रु है तो कृपाकर बतलाइये कि वह मित्र कौन है? वशिष्ठजी कहने लगे-हे रामजी! एक अकृत्रिम कर्म होता है। अपना सुकर्म ही उसका नाम है और अपना प्रयत्न ही उसका मित्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीनों ताप अज्ञानी को सदा जलाते ही रहते है। किन्तु ज्ञानी को नहीं जलाते। ज्ञानी इतना निर्द्वन्द्व होता है कि यदि उसे कोई महान से भी महान कष्ट क्यों न प्राप्त हो जावे वह उसे स्पर्श नहीं करता। जैसे कमल को जल स्पर्श नहीं करता वैसे ही ज्ञानी को कष्ट स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह मित्र उसके साथ रहता है। जैसे बालक का मित्र बालक ही होता है और बडा होनेपर भी वह उसका मित्र ही रहता है वैसे ही ज्ञानी जिस वस्तुका चिरकाल से अभ्यास किये रहता है तो वह अभ्यास ही उसका मित्र होता है। जो उसने चिर-कालसे दुष्ट क्रियाको त्याग कर शुभाचरण किया है वही शुभाचरण उसका मित्र होता है। जैसे पिता पुत्रको अशुभ को ओर से मनाकर शुभकी ओर लगाता है वैसेही विचाररूपी मित्र उसे तृष्णा से भागकर आत्मा की ओर लगाता है। विचाररूपी उसे राग-द्वेषरूपी अग्नि मे नही पडने देता और समतारूपी शीतलता ही प्रदान करता है। अतः विचार ही उसका मित्र है और वही उसे सर्व दु:खोंसे मुक्त देता है। जैसे केवट नदीसे पार कर देता है वैसेही विचार क्लेशों

से मुक्त कर देता है। विचार के जैसा सुन्दर मित्र कोई नहीं है। अहो, क्या कहना है विचाररूपी मित्र बडा ही शान्त स्वरूप है। जैसे सुवर्ण की मैलको अग्नि भस्म कर दे उसे निर्मल बना देती है वैसेही विचार रूपी अग्नि मनुष्यके सर्व मैलों को भस्म कर देती है। विचाररूपी मित्रके आते ही मनुष्य बडा निर्मल और सुन्दर हो जाता है। तब उसकी सारी चेष्टायें स्वभावतः ही सौन्दर्य पूर्ण हो जाती हैं। तब उसे देखकर सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं और तब उसमे दया, कोमलता, निराभिमानता, निष्क्रोध आदिक गुण स्वभावत. ही आन प्राप्त होते हैं। विचाररूपी मित्र एक ऐसा महाबली योद्धा है कि यदि उसके समक्ष कोई अनिष्ट विचाररूपी शत्रु आता है अथवा ऐसे भी कोई शत्रु आ जावे तो पहले तो वह उसे खूब पीटता है अथवा उसे अपने विचाररूपी कसौटी पर धरकर खूब परखता है, विचारता है फिर उसका नाश कर देता है। कदापि भी अन्धकूप में नहीं गिरने देता। हे रामजी! ये विषय भोग तो एक अन्धकूप के ही समान हैं। विचार उनमें गिरने से बचा देता है। वह चारों ओर से ही उसकी रक्षा करता है। तब वह पुरुष जिस ओर जाताहै उधर ही उसे देखकर सबको प्रसन्नता ही होती है। उसके शब्द मीठे हो जाते हैं। उसका एक-एक शब्द सिग्ध और मधुर हो जाता है। उसकी वाणी मे मधुरता कूट-कूटकर भरी रहती है। वह जो कुछ बोलता है पराये हितकी दृष्टि से ही बोलता है। उसकी वाणी सुनकर सभी लोग प्रसन्न होते हैं। वह सर्वदा ही शांतरूप और परम औदार्य होता है। वह सर्वदा ही प्रसन्न रहता है और वाणी देवी तो मानो उसको प्रतिक्षण प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती है। जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने पुरुष को सर्वदा प्रसन्न करने की ही चेष्टा किया करती है वैसे ही विकाररूपी मित्र उसे सर्वदा प्रसन्न ही करना चाहता है। वह जब चलता है तब शुभाचार मे ही चलता है। मिथ्या चार को वह दूर ही से लगा देता है। वह स्वयं भी दान-यज्ञ आदिक शुभ कर्मों को करता

है और दूसरोंसे भी शुभकर्म ही करता है। तब इस प्रकार जिसके अन्त:करणमे विवेकरूपी मत्र आ जाता है वह अपने परिवार को भी ले आता है। स्नान, दान, तप, और ध्यान यह उसके पुत्र हैं। मुदिता उसकी स्त्री है और सर्वथा नमस्कार करने के ही योग्य है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को देखकर सभी प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं वैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं। हेरामजी! उस मुदितारूपी स्त्री से करुण और दया नामक दो सहेलियाँ उसके ही साथ सर्वदा बनी रहती हैं और समतारूपी द्वार-पालनी उसके समक्ष हो खडी रहती है। जब उसका विवेकरूपी राजा अन्तःपुर में आता है तब वह सन्मुख खडी होकर उसे सर्व स्थानोंका दिग्दर्शन करती है और इस प्रकार छायावत उसके प्रत्येक कार्यों के साथ बनी रहती है। तब जिस ओर वह विचाररूपी राजा जाता है उधर ही समता दृष्टि आती है। वह महा आनन्द को देनेवाली है वह अपने दो पुत्रों को साथ लेकर अपने पुरीमे घूमती है और जिस ओर राजा भेजता है उस ओर धैर्य और धर्म को लेकर जाती है। जब राजा अपने विचाररूपी अश्व पर सवार होकर चलता है तब वह भी अपने समतारूपी अश्वपर सवार होकर राजाके साथ जाती है और जब राजा विषयरूपी पाँचो शत्रुओं से युद्ध करता है तब उसे धैर्य और सन्तोषरूपी मन्त्री मत्र देता है और वह विचाररूपी बाणों से उन्हें नष्ट करता है। इस प्रकार वह विचारको अपना संघाती बना कर सर्वदा ही साथ लिए फिरता है और वह विचार ही उसके सर्व कार्यों को पूर्ण करता है। उसे कर्त्ता और भोक्तापन का कुछ भी अभिमान नहीं होता और वह सर्वदा ही अमान बना रहता है। तब उसकी सारी चेष्टायें स्वभाविक होती हैं और वह कागज पर लिखी हुई मूर्ति के समान निराभिमान चित्रित हो जाता है। उसका कोई भी शब्द ऐसा नहीं निकलता कि जो परमार्थसे रहित होवे। जो क्रिया शास्त्रों और लोगोंसे विरोध की गई हो वह उसे नहीं करता जैसे शब्द

कुछ क्रिया नहीं होती, वैसे ही उसको क्रियाका कुछ भी उत्थान हीं होता। उसमे समस्त शुभ क्रियायें स्वाभाविक ही होती रहती हैं।

योगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध का निन्यानवे का सर्ग समाप्त ॥९९॥

एक सौ का सर्ग

सृष्टिका-निर्णय



रामजी बोले—हे मुनीश्वर ! यह तो मैं समझ गया कि विचार ही मित्र है और अविचार ही अपना शत्रु है परन्तु आप मुझे यह बतलाइये कि जगत के संबंध में आपने जो यह बात कहा है कि यह जगत तो अनेक बार और अमरूप से उत्पन्न होता है और आगे भी होवेगा सो आपने मुझे उन जगतोंका उदाहरण देकर क्यों नहीं समझाया ? वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! उनको क्या कहूँ और इस जगत को भी क्या कहूं ? सभी तो शब्द अर्थ से शून्य हैं। किसीमे भी तो कुछ हुआ नही। तब व्यर्थ ही मै क्या कहूं ? हे रामजी ! जब तुम विदितवेद्य हो जाओगे, जब तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो जावेगी तब तुम आपही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालकी बातों को जानने लगोगे। मुझे कहना ही क्या है ? इसपर मैंने आगे भी बहुत बारकहा है। बारंबार कहने से पुनरुक्ति दोष होता है। परन्तु मैंने जो कुछ कहा है वह तुम्हारे समझाने के निमित्त ही कहा है। सो तुम अब इसको इसी प्रकार समझ लो कि जैसे अन्न की ढेरमे से एक मुट्ठी अन्न लेकर देख लिया जाता है कि सब ऐसाही होगा ऐसे ही एक ही जब सृष्टिको जान लिया तो वैसेही सब सृष्टियोंके तारतम्य को जान लो। हे रामजी ! यह सारा जगत किसी कारण से नही उत्पन्न हुआ, बिना कारण ही भास रहा है और जब जो पदार्थ बिना कारण ही भासित होवे तब उसे जानो कि वही रूप है। सृष्टि के आदि में भी वही सत्ता रही। अन्त में भी वह रहेगी और मध्य मे भी वही

विद्यमान है। तुमको विदितवेद्य होने भर की विलम्ब है तुम निर्मल हुये नहीं कि सारा जगत तुमको अपना आपरूप ही भासित होवेगा। प्रत्येक अणुमें सृष्टि विद्यमान है और वह सब कुछ आकाशरूप हो है। कुछ हुआ नहीं ? इसपर मै एक आख्यान कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! एक समय मैंने ब्रह्माजीको एकांत मे पाकर पूछा कि हे भगवन् ! यह सृष्टि कितनी है और किसमे विद्यमान है ? तब पितामह ब्रह्माजी ने मुझसे कहा—हे वशिष्ठ मुनि ! यह शब्द अर्थ सयुक्त जितने भी जगत भासते है सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, ब्रह्म से भिन्न कुछ हुआ नहीं। अज्ञानीको ही नाना प्रकारका जगत भासता है, ज्ञानीको नहीं। ज्ञानीको तो सारा जगत आत्मरूप ही जान पडता है। फिर भी यह जगत जैसे हुआ है। वह सुनो। हे ब्रह्मरूपी अणु आकाश के ही समान निर्मल और सूक्ष्म है, उसीमे यह स्फुरण हुआ है कि—"मैं ब्रह्म हूँ।" जब उसमें ऐसी फुरना हुई तब वही जीव हो गया। क्योंकि उसका ऐसा कहना अहकार ही तो हुआ। बस अहकार को धारण करके वह अपने को जीव जानने लगा और इस प्रकार उसमे जो निश्चय हुआ वही बुद्धि हो गई। तब जिस प्रकार वायु में गमनता होती है वैसे ही उसमें सकल्प विकल्प का फुरना रूप मन उत्पन्न हो गया और मनके साथ मिल कर जो वह चला तो उसके आगे शरीर को खड़े देखा। फिर तो वह बोल बैठा कि अहो यह मेरा शरीर है। परन्तु यह सब कुछ स्वप्नवत ही है और इसमे जो कुछ देश, काल और पदार्थ भासि आये हैं सब कुछ हैं नहीं। चित्त शक्तिका बहिर्मुख फुरना ही नाना प्रकार से जगतरूपमे भासित हो गया। जब वही वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है तब वह अवाच्यरूप हो जाता है। जैसे वायु मे गमनता और ठहर जाना एक ही रूप है वैसे ही फुरना अफुरना सब एक ही रूप सवित ही है। सारा जगत आकाशरूपसे अपने आपही में स्थित है और अणु में सृष्टि विद्यमान है। किन्तु सब कुछ आकाशमात्र ही है। अविद्या

ने ही सृष्टि को उत्पन्न किया है और वह अविद्या भी चैत्य ही है। जब तुम अपने आप स्वरूपमें स्थित हो जाओगे तब सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही भासित होवेगा और कल्पना कुछ न रहेगी उसीको चाहे जगत कहो, चाहे ब्रह्म सब कुछ एक ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का एक सौ का सर्ग समाप्त॥१००॥

एक सौ एक का सर्ग

ब्रह्मगीता वर्णन



शिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी बोले—हे भगवन्! अब मुझे यह शंका है कि जो पदार्थ अन्धकारमें नही दिखलाई पड़ता वही प्रकाश मे कैसे दिखलाई पड़ने लगता है? परन्तु इसके साथ ही मै यह भी उत्तर रखता हूँ कि संशयरूपी अन्धकार के कारण ही वह ज्यों का त्यो नहीं भासता। किन्तु आपके वचनरूपी सूर्यके प्रकाश से जो पदार्थ सत्य है मै उसे सम्यक प्रकारेण जान सकूँगा—यह मुझे विश्वास है। हे भगवन्! ऐसे ही एक समय मुझे और शका हुई था। सो उसका यह प्रसंग है कि जब मै विद्यालय में विपश्चित पण्डित से अध्ययन करता था और जहाँ बहुतसे ब्राह्मण एवं विद्यार्थी बैठे हुए थे तब एक ब्राह्मण जो शरीर से बड़ा ही सुन्दर हृष्ट पुष्ट चारो वेदों का वक्ता, बड़ा तपस्वी और ब्रह्मलक्ष्मी से ऐसा तेजस्वी कि मानो जैसे दुर्वासा ब्राह्मण है, ठीक उसी के आकार प्रकार का ब्राह्मण सभास्थलमे एक दूसरेको नमस्कार करते हुए आकर बैठ गया। उस समय विद्यालय मे वेदात, साख्य और पातञ्जलादिक शास्त्रों का वाद-विवाद चल रहा था। पर उसे देखते ही सब के सब मौन हो गये मैने जो उसकी ओर देखा तो वह महान तेजस्वी था इस कारण मै उससे पूछ बैठा कि—अहो तुम यहाँ किसलिये आये हो, तुम्हे कौन सा परमार्थ चाहिये और तुम्हारा कहाँ स्थान है? तब उस ब्राह्मण

विद्यमान है। तुमको विदितवेद्य होने भर की विलम्ब है तुम निर्मल हुये नहीं कि सारा जगत तुमको अपना आपरूप ही भासित होगेगा। प्रत्येक अणुमें सृष्टि विद्यमान है और वह सब कुछ आकाशरूप हो है। कुछ हुआ नहीं ? इसपर मैं एक आख्यान कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! एक समय मैंने ब्रह्माजीको एकांत मे पाकर पूछा कि हे भगवन् ! यह सृष्टि कितनी है और किसमें विद्यमान है ? तब पितामह ब्रह्माजी ने मुझसे कहा—हे वशिष्ठ मुनि ! यह शब्द अर्थ संयुक्त जितने भी जगत भासते हैं सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, ब्रह्म से भिन्न कुछ हुआ नहीं। अज्ञानीको ही नाना प्रकारका जगत भासता है, ज्ञानीको नहीं। ज्ञानीको तो सारा जगत आत्मरूप ही जान पडता है। फिर भी यह जगत जैसे हुआ है। वह सुनो। हे ब्रह्मरूपी अणु आकाश के ही समान निर्मल और सूक्ष्म है, उसीमे यह स्फुरण हुआ है कि—"मैं ब्र हूँ।" जब उसमें ऐसी फुरना हुई तब वही जीव हो गया। क्यों उसका ऐसा कहना अहंकार ही तो हुआ। बस अहंकार को धा करके वह अपने को जीव जानने लगा और इस प्रकार उसमे निश्चय हुआ वही बुद्धि हो गई। तब जिस प्रकार वायु में ग होती है वैसे ही उसमे संकल्प विकल्प का फुरना रूप उत्पन्न हो गया और मनके साथ मिल कर जो वह तो उसके आगे शरीर को खड़े देखा। फिर तो वह बोल अहो यह मेरा शरीर है। परन्तु यह सब कुछ स्वप्नवत ही इसमे जो कुछ देश, काल और पदार्थ भासि आये हैं स नहीं। चित्त शक्तिका बहिर्मुख फुरना ही नाना प्रकार से भासित हो गया। जब वही वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती अवाच्यरूप हो जाता है। जैसे वायु मे गमनता और एक ही रूप है वैसे ही फुरना अफुरना सब एक ही र है। सारा जगत आकाशरूपसे अपने आपही में स्थित में सृष्टि विद्यमान है। किन्तु सब कुछ आकाशमात्र ह

ने ही सृष्टि को उत्पन्न किया है और वह अविद्या भी चैत्य ही है। जब तुम अपने आप स्वरूपमें स्थित हो जाओगे तब सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही भासित होवेगा और कल्पना कुछ न रहेगी उसीको चाहे जगत कहो, चाहे ब्रह्म सब कुछ एक ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का एक सौ का सर्ग समाप्त॥१००॥

एक सौ एक का सर्ग

ब्रह्मगीता वर्णन



शिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी बोले—हे भगवन्! अब मुझे यह शंका है कि जो पदार्थ अन्धकारमें नहीं दिखलाई पड़ता वही प्रकाश मे कैसे दिखलाई पड़ने लगता है? परन्तु इसके साथ ही मै यह भी उत्तर रखता हूँ कि संशयरूपी अन्धकार के कारण ही वह ज्यों का त्यों नहीं भासता। किन्तु आपके वचनरूपी सूर्यके प्रकाश . जो पदार्थ सत्य है मे उसे सम्यक प्रकारेण जान सकूँगा—यह मुझे ... है। हे भगवन्! ऐसे ही एक समय मुझे और शंका हुई। सो उसका यह प्रसंग है कि जब मे विद्यालय मे विपश्चित ... से अध्ययन करता था और जहाँ बहुतसे ब्राह्मण एव विद्यार्थी ... हुए थे तब एक ब्राह्मण जो शरीर से बड़ा ही सुन्दर हृष्ट पुष्ट वेदों का वक्ता, बड़ा तपस्वी और ब्रह्मलक्ष्मी से ऐसा तेजस्वी मानों जैसे दुर्वासा ब्राह्मण है, ठीक उसी के आकार प्रकार का ... सभास्थलमें एक दूसरेको नमस्कार करते हुए आकर बैठ गया। ... समय विद्यालय मे वेदांत, सांख्य और पातञ्जलादिक शास्त्रों का ... चल रहा था। पर उसे देखते ही सब के सब मौन हो ... मैंने जो उसकी ओर देखा तो वह महान तेजस्वी था इस कारण उससे पूछ बैठा कि—अहो तुम यहाँ किसलिये आये हो, तुम्हें कौन परमार्थ चाहिये और तुम्हारा कहाँ स्थान है? तब उस ब्राह्मण

उसे देवता समझ कर शरीर मन और वाणी से उसका पूजन किया तब उस तेजस्वी पुरुषने कहा—हे तपस्वी ! अब इस तपको त्याग दे और तुझे जो इच्छा हो वह वर माँग। तब उसने कहा—मैं सातों द्वीपका राजा होना चाहता हूँ। इसपर उस पुरुषने एवमस्तु कहकर कहा तू सात हजार वर्ष तक राज्य करेगा। हे रामजी ! ऐसा कह कर वह पुरुष अन्तर्ध्यान हो गया और मैंने उस तपस्वी की रस्सी खोल दी। फिर तो हम दोनों वहाँ पासही मे विद्यमान एक सरोवर में जाकर खूब स्नान किये और पुनः आकर संध्याचन्दन करके फिर हम दोनो एक वृक्षके नीचे आकर बैठे और जो कुछ फल मूल मिल सका उसे खाकर विश्राम किये। इसके तीन दिन बाद हम वहाँ से चल पडे। तब वह मुझसे बोला—हे साधो ! अब हम भी तुम्हारे ही साथ अपने देशको चलेगे। जब तक शरीर है तभी तक शरीरके स्वभाव भी हैं। हमने कहा, अच्छा चलो। इस प्रकार हम दोनो ही साथ-साथ चले थे कि जब हम मथुरापुरी के निकट पहुँचे तो हमारा साथ छोडकर एक टेढे मार्ग को जाने लगा। तब मैंने कहा—अहो, तुम सीधा मार्ग छोड कर टेढ़े मार्ग से क्यों जाते हो। उसने कहा—इधर ही गौरा पार्वती का एक स्थान है आवो इधर हीसे उनका भी दर्शन करते चलें। मेरे और भी सात भाई हैं जो यहीं गौरा भवानी के स्थान पर ही तप कर रहे हैं। चलो, इधर ही से उनकी भी सुधि लेते चलें। गौरा देवी का स्थान बड़ा पवित्र है, वहाँ पहुँचते ही पाप ताप सभी नष्ट हो जाते हैं तब मैंने कहा, जब पवित्र स्थान है तब तो वहाँ अवश्य ही चलना चाहिये, चलो देखते चलें। हे रामजी ! ऐसा विचार कर हम दोनों चले ही जाते थे कि आगे एक बडाही रेतीला मैदान आया। उसमें पहुँच कर वह तपस्वी खडा ही गिर पडा और बोला-हाय, हाय, हमें बडा कष्ट हुआ, हम कहाँ आन पडे। फिर तो मुझे भी बडा भ्रम हुआ कि यह क्या हो गया। फिर वह कुछ क्षण के पश्चात चैतन्य होकर

उठा और हम दोनों फिर आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक वृक्ष के नीचे एक तपस्वी ध्यान में स्थित बैठा है। हम उसके निकट पहुँचे और बोले कि हे मुनीश्वर! जाग-जाग। तब उसने नेत्र खोलकर मुझे देखा तो यह बोला कि तुम कौन हो? हे रामजी! ऐसा कहकर वह फिर अपने आप ही बोला कि यहाँ गौरा भवानी का जो स्थान था वह कहाँ चला गया? अहो, यहाँ तो बड़ा परिवर्तन है। महान आश्चर्य है, यह क्या हो गया? तब मैंने कहा—हे साधो! हम नहीं जानते, हम तो अभी ही यहाँ आये हैं। यह तो तुम्हीं जानो कि यहाँ क्या था और अब क्या नहीं है। तब उसने कहा—बड़ा आश्चर्य है। हे रामजी! ऐसे कहकर उसने फिर आँखें बन्द करलीं और ध्यानमें स्थित हो गया। पश्चात् उसने फिर नेत्र खोले तो बोला—देखो, यहाँ एक भगवती देवी का स्थान था जिसमें शिवकी गौरा भवानी अपने अर्द्ध शरीरसे सर्वदा ही विद्यमान रहती थीं, सो अब नहीं हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्धका एक सौ एक सर्ग समाप्त ॥१०१॥

एक सौ दो का सर्ग

सप्त ब्राह्मणों की कथा

हे रामजी! ऐसा कहकर वह तपस्वी मुझसे फिर बोला—हे साधो! तुम कहाँ से आते हो, मेरा वृत्तांत यह है कि मैं यहाँ आठ ब्राह्मण तपस्या करने आया था। तब एक तो इसी पहाड़ पर तप करने लगा, दूसरा स्वामिकार्तिक के पहाड पर तप करने गया, तीसरा काशी में तप करने लगा चौथा हिमालय पर तप करने चला गया। इस प्रकार चार तो चार स्थान में रहे और जो चार बचे थे वह यहीं पर एक साथ तप करते थे। हम सब की यह मनोकामना था कि हम पृथ्वी के सातों द्वीपों के राजा हों। सो हे साधो! इसको सूर्यदेवने वर दे ही दिया है और जो सात बचे उन्हें

वागेश्वरी देवी वर दे गई हैं। इस प्रकार सातों ने एक ही प्रकार के वर माँगे हैं। अब वागेश्वरी देवी भी अन्तर्ध्यान हो गईं और यहाँ का सारा स्थान भी शून्य हो गया। केवल यह एक कदम्ब वृक्ष बच गया है क्योंकि इसे स्वय देवीने ही अपने हाथों से लगाया था। हे साधो! उन हमारे आठों भाइयों में सात भाई तो आ गये और एक मैं कदम्ब ऋषि बैठा हूँ। अब मुझे भी घर जाना है। फिर वहाँ हम इकट्ठे होंगे। जब हम सब घर से तप करने निकले थे तब हमारी स्त्रियोंने भी तप करने का ही निश्चय किया। इसलिये उन्होंने भी चान्द्रायण व्रत किये। तब उन्हे एक तो भर्ता का वियोग, दूसरे तपका कठिन क्लेश, इससे वे शरीर से कृशित हो गई। तब वागेश्वरी देवीने आकर उनसे कहा वर माँगो तो वे सब प्रसन्न होकर बोलीं कि हमारे पतिको अमर कर दीजिये। तब वागेश्वरी देवी ने कहा—हे सुभगे! शरीर से कोई अमर नहीं होता। अमरत्व कुछ दूसरी ही वस्तु है। यह शरीर तो सर्वथाही नाशवान और अस्थिर है। इस कारण तुम सब कुछ दूसरा ही वर माँगो। तब उन स्त्रियों ने कहा—अच्छा तो अब यह वर दीजिए कि जब हमारे पति मृतक हों तब उनकी सवित हममें ही आकर स्थित होवे। वागेश्वरी देवीने कहा—एवमस्तु! ऐसाही होगा। यह कहकर देवी अन्तर्ध्यान हो गई। तब हे रामजी! कदम्ब ऋषि से ऐसा सुनकर मुझे महान् आश्चर्य हुआ और मैंने उनसे कहा—हे मुनीश्वर! यह तो आपने बड़ी विस्मयुक्त कथा कह सुनाई है। सो अब तो बतलाइये कि जब सातो ब्राह्मण एक ही वर पाये हैं तब सात द्वीप का राज्य उन्हें कैसे प्राप्त होगा? इस पर कदम्ब ऋषिने मुझसे कहा—अहो, इसमे आश्चर्य क्या करते हो? जब वे आठो भाई तपके लिये घर से निकले थे तब उनके माता पिता ने भी विचार किया कि हमारे पुत्र जो तप करने गये हैं तो हम भी उनके हेतु तप करने जावे और उनकी स्त्रियों को भी साथ ले जावें। तब उन्होंने भी तप करके वागेश्वरी देवी को प्रसन्न

किया और जब देवी को प्रसन्न कर वर लेकर वे घर की ओर लौटे तो उन्हे एक स्थान में दुर्वासा ऋषि मिले कि जो जटा खोले बैठे हुये थे। उन्हे देखकर वे पास ही से चले गये और दण्डवत न किया इससे दुर्वासाजी ने क्रुद्ध होकर उन्हे शाप दे दिया कि तुम जो वर लेकर लौटे तो वह तुम्हारे अहकार के कारण नष्ट हो जावे। निदान वहो दुःख और वे वहुओ सहित चिन्ता करते हुये घर चले आये। सो हे महान्! देखो, जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक अनेक दुःख होतेही रहते हैं और जब आत्मदर्शन एवं आत्म ज्ञान हो जाता है तब ससारकी कोई भी विलक्षणता आश्चर्य जनक नही भासती। सब कुछ चिदाकाश मे ही स्थित है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्द्ध का एकसौ दो का सर्ग समाप्त ॥१०२॥

एक सौ तीन का सर्ग

ब्राह्मणों का भविष्य द्राज प्राप्ति



दम्बतपा के ऐसा कहने पर कुन्ददन्त ने उससे कहा– हे साधो! यह तो बड़ा आश्चर्य है कि एक ही द्वीप में सात राजा होवेंगे और यह सात भी तो किसी प्रकार सवरण होता है कि वे आपस में एक-एक द्वीप ले लेंवे परन्तु यहाँ तो अब आठ का भी प्रश्न हो गया है न? सो यह आठों कैसे राज्य करेंगे? फिर ये वर और शाप दोनों ही पाये हैं सो यह एकत्र कैसे होंगे? क्या धूम और छाया एकत्र हो सकतो है? क्या रात्रि और दिन इकट्ठे हो सकते हैं? ऐसे ही वर और शाप एकत्र नहीं हो सकते। इसपर कदम्ब तपने कहा-हे साधो! इनका भविष्य यह होगा कि अभी तो ये कुछ समय तक गृहस्थी मे ही रहेंगे और फिर जब शरीर छूटेगा तब इनके कुटुम्बी इनका अग्नि संस्कार करेगे। तब इनकी पुर्यष्टका जो अनुभव से मिली हुई है वह इनको एक घड़ी तक के लिये जड़वत सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होगी

और फिर चैतन्यता फुर आवेगी। तब शख, चक्र गदा और पद्म धारी विष्णु भगवान अपना प्रत्यक्ष रूप धारण किये आवेंगे और उन्हींके साथही त्रिनेत्रधारी शकर भगवान भी महाकुपित होकर आवेगे। तब विष्णु जी तो वर के रूपमे होंगे और शकर जी शापके रूपमे वहाँ उपस्थित होंगे तब वह कहेगा कि हे शाप! तुम क्यों आये हो, अभी तो हमारा समय है। तब शाप कहेगा कि, नहीं हमारा समय है। इसमे विवाह हुआ तो वे दोनों ही एक तीसरे न्याय कर्ता के पास चले और चलते २ ब्रह्माजी के पास जायँगे। तब ब्रह्माजी कहेंगे हे साधो! तुम दोनों का निबटारा यह है कि जिसका अभ्यास उनके भीतर दृढ़ होवे वह प्रवेश करे। तब वर के स्थान में शाप जाकर ढूँढ़े और शापके स्थान मे वर ढूँढ़ेगा। इस प्रकार वरकी विजय होगी और शाप पराजित हो जायगा। परन्तु हे साधो! यह वर और शाप भी कुछ है नहीं, सब कुछ संकल्प रूप ही है। हाँ, सकल्प सवित से जो एकता होती है वह उसके निश्चय मे दृढ़ हो जाता है और वही परिणाम स्वरूप में प्रकट होता है। जैसा संकल्प अनुभव हृदयाकाश में दृढ़ होता है वैसा ही भासता है। अनुभव सत्ता ही वर देने वाला है और वही सकल्प के अनुसार भासमान होता है। अस्तु वर और शापके सम्बन्धमें कोई बाह्य कर्म फल देने वाले नहीं होते। जो कुछ भीतर सार होता है वही होता है। ऐसा समझ कर शाप चला गया और वर विद्यमान ही रहा। तब ब्रह्माजी कहेगे कि हे वर! अब तुम शीघ्र ही उनके पास जाओ और वह वर और दूसरा वर कि जो उनकी स्त्रियों ने लिया था उनकी पुर्यष्टका अन्तःपुरमें रहे। फिर पूछना कि हे प्रभो! अब हमारे लिये क्या आज्ञा है, हमको तो राज्य भी भोगना है और दिग्विजय भी करना है। तब ब्रह्माजी कहेंगे कि उन्हें सप्तद्वीप का राज्य करना है तो उनका तुम्हारे से कुछ भी विरोध नहीं है तुमको भी उसी मन्दिर में अपनी पुर्यष्टका छोड़ देनी चाहिये, सो अब तुम

ऐसा ही करना। बस, इसी प्रकार से वे आठो ही अपने २ मन्दिर में राज्य करेगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का एक सौ तीनका सर्ग समाप्त॥१०३॥

एक सौ चार का सर्ग

जगत–सत्ता–विवेचन



शिष्ठ जी के इतना कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आप कहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है तो यदि सब ब्रह्म ही रहा तो उसमें नेति क्या रही और यह जो नाना प्रकार के पदार्थ भासित हो रहे हैं सो यह ऐसे क्यों भासते हैं? कृपा करके आप मुझे बतलाइये कि यह जगत संकल्प से कैसे रचित है और इनमे जो यह असंख्य पदार्थ भासित हो रहे हैं उनकी संख्या क्यों नही की जाती। फिर इन सब पदार्थों का स्वभाव अचलरूप से कैसे स्थित है। समस्त देवताओं मे सूर्यका प्रकाश अधिक क्यो है और जब कि सूर्य एक ही है तब दिन और रात्रि छोटे और बड़े कैसे होते हैं। यह सब विलक्षणता कैसी?

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! उस शुद्ध चिन्मात्र सत्ता मे जो अकस्मात ही आभासका फुरना हुआ है, उस आभास का ही नाम नेति है। यह सृष्टि भी आभास मात्र हा है और इसकी उत्पत्ति का कोई भी कारण नहीं है। अधिष्ठान वस्तु वही है कि जिसके कारण से आभास होवे। सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नही है। चिन्मात्र सत्ताही अपने आपमें स्थित है। उसमें उदय अस्त कुछ भी नहीं हे वह परिणाम से रहित सर्वदा अद्वैतरूप अपने आपमे ही स्थित है। उसमे जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति कुछ भी नहीं है। वह तीनो ही अवस्थाये आभास मात्र हैं और उस चैतन्य सत्ता में द्वैत कुछ नही [illegible] इसीका स्वभाव प्रकाशरूप से स्थित है। इसमे [illegible] है शुद्ध चिन्मात्र मे जो

भाव उदय हुआ है उसीमें चैतन्यता का आभास फुरा है तब उसमे जैसा संकल्प फुरा है वैसा ही स्थित हुआ है। उसी सकल्पका नाम नेति है। वह नेति आदि कालमें जब जैसे सकल्प रूपमे दृढ हुआ है तबसे आज तक यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश अपने अपने स्वभावमें ज्यों का त्यों स्थित है। परन्तु वह सब कुछ आत्मा से भिन्न नही है। जैसे समुद्र का द्रवना ही तरग रूप है वैसे ही संवेदन द्वारा नेति और जगत जो फुरे हुये है वह आत्मरूप ही है। सारा विश्व आत्मा का ही स्वभाव है। जब संवेदन चित्तके समक्ष आत्मा है तब शब्द तन्मात्रा फुरती है। फिर शब्दसे आकाश उत्पन्न हो जाता है और जब उसने स्पर्श को चेता तो वायु तन्मात्रा फुरा और जब वायु को चेता तो अग्नि प्रकट हुई। फिर रस तन्मात्रा चेता तो जल प्रकट हुआ। फिर गन्ध हुआ और गन्ध से पृथ्वी प्रकट हो गई ऐसे ही यह पञ्चभूत उत्पन्द हो गये हैं। परन्तु जो आदि में शब्द तन्मात्रा का स्फुरण हुआ है उसीसे यह सर्व-शब्द समूह उत्पन्न हो गये हैं कि जिन सबका बीज वही है, उसी से सारे शब्द उत्पन्न हो गये हैं। उसी से यह सारे पदार्थ और वेद शास्त्र पुराण और पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश आदिक जो है सब उत्पन्न हुआ है। वही सचित सत्ता सबका बीज मात्र है। जैसे बीज से अकुर उत्पन्न होता है वैसे ही यह समस्त भूत सकल्प से ही उदय हुये है। सकल्प का स्फुरण सवेदन से ही हुआ है और सवेदन आत्मा का ही स्वरूप है। वह आत्मा ही अद्वैत, अच्युत, निर्विकल्प और सर्वदा ही अपने आप में ही स्थित भी है। उसी के आश्रय से सवेदन का आभास स्फुरित हुआ है। इस प्रकार सकल्प से ही जगत फुरा है और उसी मे लीन होना है। वह चैतन्यरूप है इससे समस्त पदार्थ चैतन्यरूप ही हैं। सारे पदार्थ जो देखने सुनने मे आते हैं सभी चैतन्य और एक उस आत्मामे ही स्थित हैं। आत्मा में भिन्न कुछ है नहीं। अपना अनु-

भव ही पदार्थ रूप में भासित हो रहा है। परन्तु वह कुछ बना नहीं। जब संवेदन फुरता है तब जगत भासता है। नहीं फुरता तो नहीं भासता। उत्पत्ति और प्रलयको ऐसेही समझना चाहिये। दोनों ही आत्मा का आभास मात्र है। जैसे बालक अपने संकल्प से मिट्टी का हाथी घोडा, मनुष्य, पर्वत रच लेता है वैसे ही ब्रह्माने संकल्प से आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, चक्र, आदिक क्रमसे रच रखे हैं। परंतु संवेदन से कुछ भिन्न नहीं है। इन्द्रियाँ अपने २ विषयोंको ग्रहण कर रही हैं।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा,निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकसौ चारका सर्ग समाप्त॥१०४॥

एक सौ पाँच का सर्ग

ब्रह्म विवेचन

हे रामजी! यह जितना कुछ जगत तुम देख रहे हो सब संवेदन रूप ही है। उस शुद्ध चिन्मात्र सत्ता में जो आदि आभास हुआ है वही 'अहं अस्मि ब्रह्म' ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। उसी को विष्णु, शिव और और प्रजापति नाम से भी कहते हैं। उसीने संकल्प के स्फुरण से सारे विश्व की रचना कर डाली है कि जो बिना कारण ही है उसमे कारण कोई नहीं। बिना कारण ही अकस्मात और आभास मात्र स्फुरण हो गया है। किन्तु वह अन्तवाहक ही है। वह व्यवहार में भले ही आती हो किन्तु वह अव्यवहारिक है। तब उस अव्यवहारिक अन्तवाहक ने संवेदन वश जो यह समस्त विश्वकी रचना कर डाली है वह भी अन्तवाहक रूप ही है और अज्ञानी को संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिकरूप हो भासता है। इससे वह संकल्पपुर और स्वप्न नगर से भिन्न कुछ है नहीं। सब कुछ संकल्प की दृढ़ता से ही आकाररूप पहाड़, नदियाँ और घर पर आदिक पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से दृढ जान पड़ते हैं। किन्तु वे बने कुछ नहीं। सब कुछ [illegible]रूप ही हैं। ऐसे ही यह जगत निराकार और शून्य रूप है। अन्त वाहकरूप संवेदन के

वहिर्मुख फुरनेसे ही देश, काल और पदार्थरूप होकर स्थित हुये हैं। जब वाह्य स्फुरण मिट जाता है तब जगत का भी आभास मिट जाता है। यह स्वप्ना भास जाग्रत तो तभी तक भासता है कि जब तक अज्ञान निद्रामें सोया हुआ है। जब अज्ञान मिटे तब एक अद्वैतरूप अपना आप ही भासता है। सारा जगत निराकार स्वरूप ही है। संकल्प की दृढ़ता से आकारवत भास रहा है। सवेदन मे जो संकल्प फुरा है, वही ऐसा दृढ हो गया है कि वह आकारवत होकर भासता है और वही अन्तःकरण चतुष्टय हो गया है। जब वह पदार्थों की ओर चितवता है तब चित्त होता है, सकल्प विकल्प करता है तो मन होता है और जैसा तैसा करके जो कुछ निश्चय कर लेता है वह वुद्धि होता है। वही वासना का समूह मिलने से पुर्यष्टका होती है किन्तु सब कुछ सक्ल्प मात्र ही है। इन्द्रजाल की बाजी के समान ही दृढ़ हो रहा है। परन्तु यह सब कुछ आकाशरूप ही है आत्मासे भिन्न कुछ नहीं बना। देश, काल, नदियाँ, पहाड़, पृथ्वी मनुष्य, देवता, दैत्य और ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जो कुछ स्थावर जगमरूप जगत भासता है सब ब्रह्मरूप ही है। वही निराकार अद्वैत ब्रह्मसत्ता सवेदनवश जगतरूप होकर भासित हो रही है। किन्तु जैसे स्वप्ने मे अपना अनुभव ही सृष्टिरूप होकर भासित होता है वैसे ही अपना अनुभव जगतरूप होकर भासित हो रहा है। शुद्ध सत्ता के सवेदन से ही जगत का आभास फुरा है। किन्तु वह सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्धका एकसौ पाँचका सर्ग समाप्त॥१०५॥

एक सौ छः का सर्ग

विविध प्रश्नोत्तर

हे रामजी! यह दृश्यरहित जो शुद्धसत्ता है, उसको तुम केवल बोध मात्र ही जानो। उसमें वाणी की गम नहीं। वह केवलीभाव

से अचेत चिन्मात्र ही स्वय स्थित है। फिर उसे जगतका भाव कैसे हुआ। उससे जो सवेदन एव चेत्यता हुई है वह चेतनारूप दृश्य होकर भासित हो रही है। किन्तु वह सब कुछ स्पन्द रूप ही है, स्पर्श से भासती है। उसको ज्यों का त्यो जानना ही सम्यक ज्ञान है। जब उसका सम्यक ज्ञान होता है तब जगत का कोई भ्रम नहीं रहता और वह आत्मसता सर्वदा निराकार रूप अपने आप मे ही स्थित है। विचार करके देखा जाय तो दृश्योंका भ्रम कोई नहीं रहता और मोक्ष ही हो जाता है। उसमे व्यभिचार कोई नहीं हुआ। अविचार ही के कारण ही वह ऐसा भासता है। हे रामजी ! यह अहत्व आदिक जगत कल्पनामात्र ही है। जैसे शशे की सींग और आकाश में दूसरा चन्द्रमा कल्पना एव भ्रम मात्र ही हैं वैसे ही यह जगत भी भ्रम मात्र ही है। जैसे मृग तृष्णा का जल और संकल्प नगर भ्रम मात्र है वैसे ही यह समस्त जगत भ्रममात्र है। यह किसी कारण से नहीं उपजा है। भ्रममात्र ही है। यदि इसमें कुछ कार्य-कारण होता तो सत्य भी होता। परन्तु कारण तो कुछ भी नहीं है। बीज से वह होने में क्या कारण है। रामजी ने कहा—हे भगवन्! तो क्या यह जगत जो सूक्ष्म अणु से उत्पन्न होता है वह फिर उसी सूक्ष्म तत्व के अणु में ही स्थित हो जाता है। इस पर वशिष्ठ जी ने पूछा हे रामजी। सूक्ष्म अणु तुम किसको कह रहे हो और वह आयु किसमें रहता है? राम जी ने कहा—हे भगवन्। जो महाप्रलयमे शुद्ध चिन्मात्र सत्ता शेष रहती है उसीमें अणु विद्यमान रहते हैं वशिष्ठ जी ने कहा—तो महाप्रलय क्या है? महाप्रलय तो वह न हुआ कि जिसमे सभी शब्दों और अर्थों का सर्वथा ही अभाव होवे। तब वहाँ तो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता ही शेप रहती है कि जिस में वाणी की भी गम नहीं है तब भला उससे सूक्ष्म अणु और कार्य कारण भाव कहाँ से और कैसे हुआ? हे रामजी। यदि यह जगत कुछ उत्पन्न हुआ होता तो मैं तुमसे कहता परन्तु यह तो कुछ उपजा

ही नहीं, तब मैं इसे क्या कहूँ ? चिन्मात्र मे जैसी चैत्यता फुरती है वैसा ही अहं त्व आदिक जगत भासने लगता है। हे रामजी। यह जो ज्ञान है वहीं जब दृश्य-भ्रमसे मिलता है तब वही बंधनका कारण हो जाता है उसका अभाव होना ही मोक्ष है। इसपर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! ज्ञान के उत्पन्न होने से जगत का अभाव कैसे हो जाता है ? तब तो जगत और भी दृढ एव स्पष्ट प्रतीत होने लगता है, फिर उससे शान्ति कैसे मिले। वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया–हे रामजी! सत्य का ज्ञान हो जाने पर जो बोध हो जाता है तो उससे दृश्य का सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है। इससे वह बोध निराकार और ऐसा शीतल स्वरूप है कि उसमें पडकर फिर मोक्ष ही हो जाता है। रामजी ने प्रश्न किया हे मुनीश्वर! सह सत्य ज्ञान क्या है, बोध तो मैं जानता हूँ कि केवल रूप है। सो कृपाकर बतलाइये कि यह सत्य ज्ञान किसको कहते है कि जिसमे जीव बन्धन से मुक्त हो जाता है। वशिष्ठ जी ने कहा–हे राम जी! जो ज्ञान दृश्यों का सयोग नहीं करता, वह अविनाशी रूप कहाता है। और जब इस प्रकार ज्ञेय का भी अभाव हो जाता है तब सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे यह जगत ज्ञेय सर्वथा ही अविचार से प्रतीत होता है। अत बोध को ही ज्ञान कहते हैं और उससे ज्ञान ज्ञेय कुछ भी भिन्न नहीं है। रामजी ने प्रश्न किया–हे भगवन् अहं त्व आदिक जो प्रत्यक्ष भासमान होते हैं उनका अभाव कैसे होगा ? वशिष्ठजी बोले–हे राम जी! यह सारा जगत उस विराटका ही शरीर है सो जब वह विराट भी आदि मे नहीं उत्पन्न हुआ तो औरको ही उत्पन्न हुआ कैसे कहे ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकसौ छः का सर्ग समाप्त॥१०६॥

एक सौ सात का सर्ग

राम विश्रान्ति वर्णन



वशिष्ट जी बोले—हे रामजी! न कोई द्रष्टा है न दृश्य है। सब कुछ निर्विकार ब्रह्म सत्ता हो अपने आपमे स्थित है जैसे वृक्षके झुण्ड मे दूरसे भ्रमवश मनुष्य भासते हैं वैसेही अज्ञानी को जगत भासता है। किन्तु हमको तो सर्वदा वह आत्मसत्ता ही अपने आपमें भासित होती है। उसमे न कोई जाग्रत है, न सुषुप्ति है, न स्वप्न है। सब कुछ आभास मात्र आत्मसत्ता ही स्थित है।

यह सुनकर रामजीने वशिष्ठजीसे कहा—हे भगवन्! यह महान आश्चर्य है कि अब तक मै अज्ञान से जगत को ही देखता था। किन्तु यह जगत तो कुछ हुआ नहीं, केवल अज्ञान से ही भासित होता है। परन्तु अब मुझे पूर्ण निश्चय होगया कि यह न तो पहले था और न आगे होवेगा। सब कुछ शान्त और निरावलम्बरूप विज्ञान-घन सत्ता ही अपने आपमे सर्व व्यापक हो रही है। उसमें भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। सारा जगत अनुभव रूप ही है। हे मुनीश्वर! अब आपकी कृपासे मुझे ऐसा निश्चय हो गया है कि यह जगत अविचार मात्र ही सिद्ध है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। परन्तु यह तो देखिए कि इस असत्यरूप अविद्या ने किस प्रकार जगत को मोहित कर रखा है। सो यह अविद्या कुछ वस्तु है नहीं, अपना संकल्प—विकल्प ही अपने को बन्धन कर रहा है। विचार आया नहीं कि इसका पता भी नही लगता। जैसे रस्सीमें भ्रमवश सर्पका भान हो जाता है और जब वह भ्रम नही रहा तब रस्सी ही जान पड़ती है वैसेही आत्मामे भ्रमके दूर होने से यह अविद्यारूप जगत नष्ट हो जाता है बन्ध्याका पुत्र भ्रममात्र है और स्व मे मरना भ्रममात्र है अविद्या रूप जगत भ्रममात्र है

असत्य ही भासता है प्रमाणरूप नहीं है। प्रमाण तो उसे कहते हैं कि जो यथार्थतः ज्ञानका साधक होवे। किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी यथार्थरूप में कर्ता नहीं है क्योंकि वस्तुरूप आत्मा है सो वह भी जैसे का तैसा नहीं भासता और सोया रहता है। ज्ञानवान और विचारवान हो जावे तो जगत कुछ नहीं रहता। हे मुनीश्वर! यह जगत कुछ वस्तु नहीं सब कल्पना मात्र ही है। आत्मा में जैसा २ संकल्प हुआ है वैसाही जगत भासने लगा है। जैसे यदि कोई पुरुप स्वर्ग में बैठा होवे और उसके हृदय में यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जावे तो उसके लिये वह 'स्वर्ग भी नरक के समान ही है। ऐसे ही यह सारा जगत वासनामय है। उसमें आरम्भ परिणाम युक्त यह जगत कुछ नहीं बना, चित्त में हो स्थित है। हे मुनीश्वर! अब मुझे निश्चय हो गया कि यह जगत न आगे कुछ था, न अब है और न आगे होवेगा, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। वही सर्व स्वच्छ, अद्वैत, मौनरूप और निर्विकल्प सर्व साधारण एवं परम मुनीश्वरों के भी सेवने योग्य है। हे भगवन्! सो अब मैं उस पदको प्राप्त हो गया और अब मुझे कोई दुःख नहीं रहा। अब मुझको सारा जगत आत्मरूप ही भासता है। अब मुझे ज्ञात हो गया कि विद्या, अविद्या, सुख, दुःख कोई नहीं है, मैं सर्वदा अपने आप पद में ही स्थित हूँ। वह पद ऐसा है कि और किसी उपासे नहीं जाना जाता वरन् वह अपने आप ही जाना जाता है। वह ऐसा भी नहीं है कि कुछ शब्द बोलकर उसे किसी पर प्रकट किया जा सके। वह आपही जानने योग्य और बोधस्वरूप ही है। उसमें यह भ्रम पूर्ण जगत कुछ नहीं बना, सब कुछ आत्मा ही है। फिर उसमें ज्ञान और अज्ञान भी कहाँ रहा? सब कुछ तो सूर्य रूप ही उदय हुआ है। जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्नका अन्धकार और प्रकाश कुछ भी नहीं रहता वैसे ही उसमे जागृत होने पर द्वैत का सर्वथा ही अभाव हो जाता है संवेदन ही जगत रूपसे भासित हो

रहा है। जैसे आकाश और शून्यता मे कुछ भेद नहीं होता वैसे ही आत्मा और जगत में कुछ भेद नही है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नही होता वैसेही आत्मा और जगत मे कुछ अन्तर नही होता, आत्मा और जगत दोनों ही अभेद रूप हैं। अज्ञानी ही इसे सत्य जानता है। किन्तु जो ज्ञानवान हैं वे अपने स्वभाव में ही स्थित हैं। उन्हे जगत की सत्यता नही भासती। वे जगत की ओर से सर्वदा ही सोये रहते हैं। सो हे मुनीश्वर ! अब मैं अपने आपमें जागृत हुआ हूँ और मुझे सारा जगत अपना आपही भासता है। अब मुझे दुःख कोई नहीं है।

रामजी के ऐसा कहने पर वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! निश्चय ही अब तुम अपने आप में जाग गये हो और यह तुम्हारा बडा कल्याण हुआ। हे राघव ! जो अपने आपमे स्थित हो जाता है उसको व्यवहार और समाधि दोनो ही अवस्था मे एक समान हो जाती हैं। वह जगत के व्यवहारों में भी लगा रहता है तौ भी उसके निश्चय मे कर्तापन का कुछ भी अभिमान नही होता और वह सर्वदा ही परमध्यान मे स्थित रहता है। जैसे पाषाण की शिला मे स्पन्दता कुछ नहीं रहती वैसेही उनको कुछ कर्त्तव्य बुद्धि नही होती और उनका शरीराभिमान नष्ट हो जाता है तथा वे अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हुये रहते हैं। वह आत्मपद परम शान्तरूप और द्वैत कलनासे सवथा ही रहित और एकपद है। वही कहलाता है और उसीको मोक्ष भी कहते है। हे रामजी ! मै उसी पद में सर्वदा ही स्थित रहता हूँ। यह ब्रह्मा और विष्णु आदिक जितनी भी ऊंची आत्माये हैं सब उसीपद मे स्थित रहते है। यद्यपि वे देखने मे अनेक प्रकार की चेष्टा भी करते है तौ भी सर्वदा शान्तरूप ही रहते है। उनको क्रिया और समाधि दोनो में एकही भासता है और इस प्रकार उन्हे आत्मा ही निश्चय रहता है। जैसे वायु और स्पन्द दोनो एकही है, ठहरने मे एकहीं वैसेही [illegible]

में ही एक समान है। आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं होता। वैसे ही तुम्हारी कृपासे मुझे कोई कलना नहीं फुरती और ब्रह्मा, विष्णु रुद्र आदिक जो कुछ कीट पतंग आदिक हैं सब मुझे आकाशरूप और अपना आपही भासित होता है। इस प्रकार मे अपने आपमेंही स्थित और अद्वैत रूप ही हूँ। मुझमें जगत की कोई कलना नहीं है। चित्तका सवेदन ही जगत रूप से भास रहा है। मै स्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होता। हे रामजी! ऐसे ही मै तुमको भी जानता हूँ कि अब तुम जाग गये हो किन्तु मेरा कहना यह है कि अभी तुम मुझसे और भी प्रश्न करो ताकि जो कुछ शका तुममे और बैठी हो वह भी निकल जाये। रामजी ने कहा—हे भगवन! इस जगत के सम्बन्ध में आपसे तो मै तब पूछूं कि जब मुझे जगत कुछ भासता होवे। मुझे तो जगत का कुछ आकार ही नहीं भासता। फिर जगत के सम्बन्ध में आपसे और क्या पूछूँ?

श्री योगवाशिष्ठ–भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का एक सौ सात का सर्ग समाप्त॥१०७॥

एक सौ आठ का सर्ग

गुरु और शास्त्र



ल्मीकि जी बोले-हे भारद्वाज! ऐसा कहकर रामजी मौन हो गये और एक घडी तक वैसेही चुप साधे बैठे रहे। उन्हे देखकर सबको ऐसा ही प्रतीत हुआ कि मानों अब उनके मनकी वृत्ति आत्मपद मे स्थित हो गई है। पश्चात् वे वशिष्ठ जी से बोले हे मुनीश्वर! अब यों तो मुझे शका कोई नहीं रही तो भी मै एक अत्यत ही कोमल प्रश्न आपसे करता हूँ, कृपाकर मेरे इस सशय को दूर कीजिए। हे भगवन्! आत्मा तो मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है तब वह गुरु शास्त्रों द्वारा कैसे जाना जा सकता है? वशिष्ठ जी बोले- हे रामजी! दोनो

ही हो सकता है। गुरु और शास्त्रके द्वारा नहीं जान जाता और गुरु और शास्त्र बिना भी उसका ज्ञान नहीं होता। शास्त्र भी तो नाना प्रकार के विकल्प ही है। तब भला उनसे निर्विकल्प का ज्ञान कैसे हो सकता है? इस पर एक उदाहरण देता हूँ। देखो एक समय व्यवधान देश मे घोर दुर्भिक्ष पडा, लोग अन्न जल से दुःखी होकर मरने लगे। सारे देशमें महान चिन्ता उत्पन्न हो गई। प्रत्येक मनुष्य यही सोचा करता कि किस प्रकार से हमारा उदर पोषण होवे। तब इस दुखःसे कुछ लोग वनमें लकडियाँ बटोरने चले जाते कि इसी से हमारा कष्ट दूर हो जावे दिन भर वन मे लकडियाँ चुने और सध्या समय उसे बाजार मे लाकर बेच देवे और जो कुछ मिले उसी में उदर पोषण करे। इस प्रकार लोग नित्य ही लकडियाँ बटोर कर बाजार मे बेच खाते थे। एक दिन किसीको बहुत सी चन्दन की लकड़ी मिली। वह लाकर बाजार मे बेचा तो उस बहुत पैसे मिले। ऐसेही किसीको ढूँढते २ रत्न मिल गये कि जिससे उनको महान ऐश्वर्य प्राप्त हुआ और तबसे उन्होने लकडी इकट्ठा करना और बेचना छोड दिया। तब वे और भी दूसरे २ प्रान्तों मे जाकर रत्न से भी अधिक कुछ और ही ढूँढने लगे और उस प्रकार ढूँढते २ उन्हें चिन्तामणि हाथ लगगई। फिर तो उनको अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त हो गया और तब वे मानो इन्द्र और ब्रह्मा ही हो गये। तब हे रामजी! इस प्रकार जिसने उद्यम द्वारा वनका सेवन किया उन्हे अत्यत सुख प्राप्त हुआ और लकड़ियाँ उठाते २ उनका उदर पोषण हुआ और इस प्रकार उनके समस्त दुःख नष्ट हो गये और जिनको चन्दन की लकडी मिली उनका तो उदर पोषण के साथ २ अन्य दुःख भी मिट गये और जिनको चिन्तामणि मिली उनके तो जानो सभी दुःख नष्ट हो गये - परम शोभाको प्राप्त हुये - सबको वन से ही प्राप्त हु[illegible] वनमे नहीं गये आ[illegible] कर गृह में ही बैठे रह[illegible] मृत्युने ग्रास करके

हे रामजी। ऐसेही समस्त जीवों को अज्ञानरूपी आपदा लगी हुई है। किसी को आध्यात्मिक है, किसीको आधिदैविक और किसी को आधिभौतिक ताप जला रहे हैं। आध्यात्मिक क्रोध आदिक मानसिक ताप कहलाते हैं और आधि दैविक हैं ग्रह आदिका अनिच्छित दुःख प्राप्त हो जाना। ऐसेही आधिभौतिक दुःख वह कहलाता है कि जो शरीर के दुःख होवें जैसे वात, पित्त और कफ आदिक। इन सबकी निवृत्ति के लिये शास्त्ररूपी वन बसा हुआ है। जो इस वनमें जाता है वह अवश्य ही सुखी होता है। जिस का जो अर्थ होता है उसे शास्त्ररूपी वन पूरा कर देता है। शास्त्रों के सेवन से सत्कर्मरूपी लकडियाँ प्राप्त हो जाती हैं और उनसे नरकरूपी उदर पूर्ण होता है, वे स्वर्गका सुख पाते हैं। ऐसेही शास्त्ररूपी वनकी सेवा करते २ उपासनारूपी वह चन्दन का वृक्ष प्राप्त होता है कि जिससे दुःखों की निवृति के साथ-साथ और भी कई प्रकार के विशेष सुख प्राप्त हो जाते हैं। जब शास्त्रानुसार जो अपने इष्ट देव की (जैसा जिसका इष्ट हो) सेवा करता है तब उसे वैसाही सुख प्राप्त होता है। तब इसी प्रकार शास्त्ररूपी वनकी सेवा करते रहने से विचाररूपी विशेष रत्न प्राप्त हो जाते हैं कि जिससे सत्यासत्यका विचार होकर सारे दुःखों का नाश हो जाता है और जैसे चन्दन और लकडियाँ आदिक पदार्थ तो वनमें प्रकट थे और चिन्तामणि गुप्त थी वैसेही शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थ गुप्त हैं—जो खोजता है वह पाता है। उसके खोजने की विधि यह है कि वैराग्य और अभ्यास के बलसे उसे खोजे। इसी प्रकार ये शास्त्र और गुरु वन रूप हैं, इनमें जो जैसी खोज करेगा वह वैसी ही वस्तु को पावेगा। गुरु और शास्त्र हृदयकी मलीनता को नष्ट कर देते हैं। अज्ञानी रहने से तो यही अच्छा है कि गुरु और शास्त्र की ही शरण जावे। शास्त्र में सब कुछ है। जिसकी जो इच्छा हो वह ले लेवे। शास्त्र में भोग भी हैं और मोक्ष

भी है। अज्ञानी भोग चाहते हैं और ज्ञानी मोक्ष। अतः आत्म पद पाने के लिये शास्त्र का श्रवण करना ही उचित है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का एक सौ आठका सर्ग समाप्त ॥१०८॥

एक सौ नौ का सर्ग



हे रामजी! जितना कुछ सिद्धान्त मुझे कहना था सो मैंने तुमसे कह दिया। इसको बारंबार कहने सुनने और विचार करने से बुद्धिमान तो बुद्धिमान ही हैं किन्तु मूढ़ भी बुद्धिमान हो जायगा। हे रामजी! इस जगत की नश्वरता के सम्बन्ध में ही मैंने पहले तुम्हे उत्पत्ति प्रकरण सुनाया है और उसमे तुम्हे यह बतला दिया है कि जगत चित् संवेदन के स्फुरण से ही उत्पन्न हुआ है। तब वह फुरना क्या है-यह समझने के लिये ही मैंने तुम्हे उपशम प्रकरण सुनाया है। हे रामजी! जब मन उपशम हो जाता है तब जगत की कल्पना भी नहीं होती। उसके पूर्व मैंने तुम्हे मुमुक्षु प्रकरण सुनाया है। उसमें मैंने तुम्हें आत्मज्ञान उत्पन्न होने का उपाय बतलाया है और यह भी कहा है कि ज्ञानियो का यह यह लक्षण है। उसके पूर्व वैराग्य प्रकरण कहा है। यह सबसे पहली और आरम्भिक अवस्था का उपदेश है। इस बाल्य अवस्थामे सबसे पहले सतो का साथ करके सच्छास्त्रों का विचार करना चाहिये, तब इस प्रकार के अभ्यास द्वारा आत्मपद प्राप्त होता है। फिर तो उसके हृदयमें समतारूपी बुद्धि बैठ जाती है और वह मनुष्य सबका सुहृद हो जाता है। हे रामजी! सुहृदयता मनुष्य की परम आनन्द रूप भाता है कि जो सर्वदा ही उसके साथ बनी रहती है। वह उस पुरुष को वैसा ही अपना परम प्रिय समझती है कि जैसे किसी अपने सुन्दर पुत्र को देखकर स्त्री प्रसन्न होती है और उस ... में अपना प्राण भी स्वीकार करती है कि ... त्यागती,

पुरुष ज्ञान लक्ष्मी से सुन्दर कान्तिवाला है उसे समता, मुदिता और सुहृदयतारूपी स्त्री नहीं त्यागती और उसके शुभाचार से वह पुरुष भी परम प्रसन्न ही रहता है। हे रामजी! जिसको ज्ञान प्राप्त हो जाता है उससे अधिक प्रसन्न कोई नहीं रहता। समता के कारण मनुष्य के पास द्विधारूपी अन्धकार नहीं आता और उसके हृदय के समस्त ताप नष्ट हो जाते हैं। सुहृदयता मनुष्य का परम सौभाग्य सूचक है। जैसे चन्द्र किरणों द्वारा अमृत को पान करके चकोर तृप्त हो जाता है वैसेही आत्मरूपी चन्द्रमा की समता और सुहृदयता को पाकर ब्रह्म आदिक चकोर प्रसन्न एवं तृप्त हो जाते हैं। फिर तो वह ज्ञानवान् ऐसी शोभा को प्राप्त हो जाता है कि जो फिर कभी नहीं मिटती। चन्द्रमा में तो फिर भी कालिमा होती है किन्तु ज्ञानवान का मुख सर्वथा ही प्रकाशमान एवं निर्मल होता है। हाँ, उसकी उपमा चिन्तामणि के समान भले ही हो सकती है। उसे राग द्वेष कुछ भी नहीं होता और वह सर्वदा ही प्रसन्न रहता है। सब लोग उसके कृत्य की प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं। वह ब्रह्मादिकों के भी पूजने योग्य है और सभी लोग उसका मान और उसकी इज्जत करते हैं। उसके दर्शनों की सभीको इच्छा होती है और सब लोग उसका दर्शन करके प्रसन्न होते हैं। उसको देखकर सबको उत्साह प्राप्त होता है और वह चाहे जो करे उसकी निन्दा कोई भी नहीं करता। वह सदर्शी हो जाता है। शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं और इस प्रकार समता से वह सभी का सुहृद एवं मित्र हो जाता है। उसको अग्नि, जल और वायु का भय नहीं रहता और वह जैसी कुछ इच्छा करता है वैसा ही सिद्ध होता है। वह अतोल हो जाता है और उसके समान सांसारिक मनुष्य तुच्छ हो जाते हैं। वह अपने शत्रुको भी मित्र बना लेता है। सो हे रामजी! अब तुम निश्चय ही आत्मपद में जाग गये हो और अब तुम्हारा राग-द्वेष नष्ट हो गया है। मुझे भी तुमसे जो कुछ

कहना था, कह चुका। अब तुम निर्द्वन्द होकर विचारो तुम्हे कोई भी शंका न रहेगी और अब इस प्रकार तुम्हें चय और अतिशय से रहित पद प्राप्त हो गया है। ऐसा कहकर वशिष्ठ जी चुप हो गये। तब समस्त सभाके लोग उनकी ओर एक टक से देखने लगे और आकाश से फूलो की अपार वृष्टि हुई। देवताओं ने वशिष्ठ जी को धन्य-धन्य कहा। तब उन वशिष्ठ जी का बारम्बार चन्दनादिसे पूजाकर राजा दशरथने हाथ जोड कर कहा—हे भगवन्! आपकी कृपा मृत वाणी से हम सर्वथा ही कृत कृत्य हो गये और इस प्रकार सदा ही आप हमारा उपकार ही करते हो कि जिससे हम सर्व ऐश्वर्यो से सम्पन्न हो गये हैं। सो हे भगवन्! हम आपकी क्या पूजा करें और आपको क्या धन्यवाद दे, यह हमारा जो कुछ राज्य है और हमने जो कुछ लोक मे यश और परलोक मे पुण्य प्राप्त किया हो वह सब कुछ आज तुम्हारे चरणो में अर्पित करता हूँ। ऐसा कहकर राजा दशरथ वशिष्ठ जी के चरणो मे गिर पड़े। तब वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी! तुम्हे भी धन्यवाद है कि जो तुममे ऐसी श्रद्धा विद्यमान है। हमारा क्या है, हम तो ब्राह्मण हैं। हमको राज्य तो करना नहीं है, भला हम ब्राह्मण राजकीय व्यवहारो को क्या जान सकते हं—इससे आप अपना राज्य तो अपने ही पास रखे हाँ, मैं आपके शरीर को अपना ही शरीर जानता हूँ और यह जो तुम्हारे चार पुत्र हैं इन्हे मै अपना ही पुत्र करके जानता हूँ। हम तो तुम्हारे ही प्राण मे स्थित हैं और यह राज्य हमने ही तुमको दिया है। तब राजा दशरथ ने कहा—हे भगवन्! यह सब तो आपकी ही विभूति है, इसमे मेरा कुछ नही है। परन्तु मैंने जो आपसे यह मोक्ष उपायक शास्त्र श्रवण किया है उसकी दक्षिणा मैं आपको किस रूपमे दू—यह मुझे कुछ नहीं जान पड़ता। अतः मैं आपका [illegible] पूजन ही किया चाहता हूँ सब देवों के [illegible] समग्र ब्रह्माण्डके [illegible]

आपको यह भी कहते मुझे लज्जा ही आ रही है। तब मैं किस विधि से आप को उपमा दूँ, मुझे कुछ सूझ नहीं पडता। तब वशिष्ठ जी ने कहा—बैठो राजन्! बैठो। दशरथ जी बैठ गये। तब रामजी बडी ही नम्रता पूर्वक उठकर बोले-हे सर्व संशयों के नाश कर्ता सूर्य! आपका पूजन हम किस प्रकार करें? अब तो आपके उपदेशों से मैं समझता हूँ कि मेरे गृह में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसे लेकर मैं आपकी पूजा करूँ। सो हे गुरुदेव मैं आपको केवल नमस्कार ही करता हूँ। ऐसा कहकर रामजी वशिष्ठ जी के चरणों पर गिर पडे। तब वशिष्ठ जी ने कहा—अचत—अच्छा बहुत हुआ, अब बैठ जाओ। रामजी भी बैठ गये। उनके नेत्रों से जल बहने लगा। तब तक लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और राजर्षि ब्रह्मर्षि आदिक सब उठकर अर्ध्यपाद्य से वशिष्ठ जी का पूजन करने लगे और इस प्रकार फूल मालाओं से वशिष्ठ जी का शरीर ऐसा ढंक गया कि जब उन्होंने अपने हाथ से फूलों को हटाया तब उनका मुख दिखलाई पडा। तब उन्होने व्यासदेव, वामदेव, विश्वामित्र और नारद और अत्रि तथा भृगु आदिक ऋषियों से कहा–हे सन्तो! अब तक तो मुझे जो कुछ ज्ञात था सो मैंने कहा। परन्तु अब तुम लोग भी कुछ कहो। तब व्यास आदिक ऋषियों ने कहा—हे तपोधन! जो आपने कहा है उसे न्यूनाधिक्य कह कर भला कौन पाप का भागी होगा। आपके समस्त वचन परम पद पाने के कारण हैं। आप के इन वचनों से तो हमारा जन्म जन्म का आवरण नष्ट हो गया। यद्यपि हम लोग पूर्ण ज्ञानी हैं तथापि पूर्व में हमने जो २ जन्म धारण किये हैं उनका स्मृति हमारे चित्त में स्थित थी की जो अब आप के उपदेश से नष्ट हो गई है। इससे अब हम जानते है कि न कोई जन्मा है न कोई मरा है, हम अपने ही आप में स्थित हैं। हे मुने! आप समस्त संसार के आचार्य

साक्षात् ज्ञान स्वरूप हैं, अतः हमारा आपको नमस्कार ही है। ये महाराज दशरथ भी धन्य है कि जिनके योगसे हमने यह मोक्ष शास्त्र का श्रवण किया है। और यह रामजी तो साक्षात् विष्णुभगवान के अवतार ही है सो अब हम इनकी भी स्तुति करते हैं। राम दशरथ में हयास्तुल हैं कि जिनके गृह मे ये विष्णुरूप राम अवरित हुए हैं। सो हे वशिष्ठजी ! हम सभी लोग आपको बारंबार नमस्कार करते हैं। आप गुरु के भी गुरु हैं। आपके उपदेश के समान ऐसा युक्ति पूर्ण उपदेश और ऐसे मृदु शब्द तो सरस्वती भी नहीं कह सकती। आप को मेरा बारंबार नमस्कार है।

राम आदिक ऋषीश्वर ऐसा कह ही रहे थे कि स्थित मण्डली ने वशिष्ठजी पर फूलो की वर्षा करने लगी। यहाँ तक कि वे उसमें फिर ढंक गये और ज्योंही उन्होने वे पुष्प अपने शरीर से हटाये थे कि त्योंही आकाशवासी देवता और ब्रह्मर्षि भी अपने २ विमानो में बैठकर उन पर पुष्प वर्षा करने लगे। सब लोग प्रसन्नता से वैसे ही हँसे कि जैसे कोई स्वप्न सृष्टि का कौतुक देखकर जाग उठे और हसने लगे। तब वशिष्ठजी बोले—हे रघुकुलके चन्द्रमा रूपी रामचन्द्र ! कहो अब तुम किस अवस्थामे स्थित हो और अब तुम क्या जान रहे हो ? तब रामचन्द्र बोले—हे भगवन् ! अब मै आपकी कृपासे अपने आप ही में स्थित हूँ और मुझे दूसरी कोई कल्पना नहीं है। अब मै परम शक्तिमान हो गया हूँ और अब मुझे संशय कुछ भी नही रहा। अब मुझे कोई सकल्प नही उठते और मै सर्वदा ही निरुपाधि भाव से स्थित हूँ। हे भगवन् ! अब आपकी कृपा से मुझे समान पद प्राप्त हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकसौ नौ का सर्ग समाप्त॥१०९॥

एक सौ दश का सर्ग

आनन्दोत्सव

वाल्मीकि जी कहते हैं--हे भारद्वाज ! जब रामने ऐसा कहा तब तो सभा मण्डल में बडाही हर्ष उत्पन्न हुआ और सब लोग कृतकृत्य हो गये। तब दशरथने खडे होकर कहा-हे मुनीश्वर ! अब हमे परमपद प्राप्त हो गया है और अब हमारे सभी ताप नष्ट हो गये हैं। अब हमे इस संसार मे चलते २ शान्ति और विश्राम प्राप्त हुआ है। फिर शान्ति मिलती भी तो कैसे नही ? आपके दृष्टांत ही अपूर्व थे। जैसे जेवरीमें सर्प, मृगतृष्णा का जल, आकाश मे दूसरा चन्द्रमा, गन्धर्वपुर, स्वर्ण मे भूषण सकल्पपुर स्वप्नपुर, वन्ध्याका पुत्र आदि यह कोई साधारण दृष्टान्त नहीं थे। दशरथजी के ऐसा कह चुकने पर रामजीने हाथ जोडकर वशिष्ठजी से कहा-हे मुनीश्वर ! आपकी कृपा से निश्चय हो अब मेरा नष्ट हो गया है और अब मैं परमपदको प्राप्त हुआ हूँ। अब मुझे कुछ भी राग द्वेष नहीं और इस प्रकार अब मै परम शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। सो हे मुनीश्वर ! यह आपकी कृपा ही है। अब मेरे समस्त सन्देह नष्ट हो गये और अब मुझे सब कुछ ब्रह्माकार ही भासता है। जब राम जी ऐसा कह कर बैठ गये तब लक्ष्मण जी ने उठकर वशिष्ठ जी से हाथ जोड कर कहा-हे मुनीश्वर ! मै सर्वदा से ही आप सन्तों की वाणी का सग्रह कर रहा था सो अब निश्चय ही उसका यह फल प्रकट हुआ कि आप की कृपा से मेरे सभी सशय नष्ट हो गये और मैं परमपद को प्राप्त हो गया। आपके ये वचन चन्द्रमा की किरणों के ही समान शीतल और सर्व तापो के नष्ट कर्ता हे। लक्ष्मण जी के ऐसा कह चुकने पर भरत और शत्रुघ्न जी उठे और हाथ जोडकर वशिष्ठ जी से बोले-हे मुनीश्वर ! अब आप की कृपा से मेरे सभी भ्रम नष्ट हो गये और अब तो मै सर्वथा ही अजर अमर हो गया हूँ, नही तो इस जगत

मे आकर क्षण-क्षण मे मृत्यु को प्राप्त होता था । किन्तु आपको अमृत वाणी में मुझे अमृत पिलाकर सदा के लिये अमर बना दिया और अब इस प्रकार हमारे सभी संशय नष्ट हो गये और हमे आत्मपद की प्राप्ति हो गई । तब इसी प्रकार विश्वामित्र और नारद आदिक ऋषीश्वरो ने भी महाज्ञानी वशिष्ठ जी की कोटिश. प्रशंसा करके उन्हे साधुवाद देने लगे। तदनन्तर वशिष्ठजो ने रामजी से कहा–हे राम जी ! अब जो तुम इस मोक्षोपायक शास्त्रोंका श्रवण किये हो उसके उपलक्ष्य मे सब ब्राह्मणों की यथा योग्य पूजा करके उन्हे ज्ञान मान से सन्तुष्ट करो । राजा दशरथ ने उठ कर एक हजार मथुरावासी ब्राह्मणों को भोजन कराया और वस्त्राभूषण हाथी घोड़े धन रत्न जो कुछ हो सका सब को दान मान देकर सन्तुष्ट किया । आनन्द के वाजे बजे । अगनाये नृत्य करने लगीं । इस प्रकार राजा दशरथ ने बड़ा उत्सव किया । दीन दुखियों को धन देकर सन्तुष्ट कर दिया ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकसौ दशवाँ सर्ग समाप्त ॥११०॥

श्री निर्वाण-प्रकरण का उत्तरार्द्ध समाप्त हुआ ।

